"डॉ॰ राममनोहर लोहिया एवं डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर का राजनीतिक चिंतन तुलनात्मक अध्ययन वर्तमान परिप्रेक्ष्य"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

से

पी-एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

शोध निर्देशक

डॉ. राजीव रत्न द्विवेदी

रीडर एवं विभागाध्यक्ष

राजनीति विज्ञान विभाग

अतर्रा पी.जी. कॉलेज अतर्रा, बाँदा

शोधार्थी

Ram Murat

राममूरत

एम.ए. (राजनीतिक विज्ञान)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अतर्रा पी॰ जी॰ कालेज, अतर्रा

(बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी)

डॉ॰ राजीव रत्न द्विवेदी

एम.ए. (राजनीति विज्ञान)

पी-एच.डी.

रीडर एवं विभागाध्यक्ष,

अतर्रा पी.जी. कॉलेज, अतर्रा,

जनपद-बाँदा (उ.प्र.)
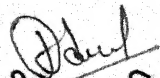
प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री राममूरत, एम.ए. (राजनीति विज्ञान), इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, पी-एच.डी. डिग्री हेतु बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से **''डॉ. राममनोहर लोहिया एवं डॉ. भीमराव आम्बेडकर का राजनीतिक चिन्तन : तुलनात्मक अध्ययन, वर्तमान परिप्रेक्ष्य''** विषय पर मेरे निर्देशन में आपके पत्रांक- बु.वि./प्रशा./शोध/2005/2934-36 दिनांक 06.04.2005 द्वारा पंजीकृत हुये थे। इन्होंने मेरे निर्देशन में आर्डिनेंस-7 द्वारा वांछित अवधि तक शोध कार्य किया है तथा इस अवधि तक विभाग में उपस्थित रहे हैं। मेरे पूर्ण संज्ञान और विश्वास के अनुसार शोध, अभ्यर्थी का स्वयं का कार्य है। शोध ग्रन्थ में दिये गये तथ्य एवं उपलब्धियाँ मौलिक हैं।

मैं इनकी पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ।

शोध निर्देशक

दिनांक- 18-05-2008

(डॉ. राजीव रत्न द्विवेदी)

रीडर एवं विभागाध्यक्ष

राजनीति विज्ञान विभाग

अतर्रा पी.जी. कॉलेज, अतर्रा (बाँदा)

आभार-प्रदर्शन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में जहाँ तक बन सका है मैंने उपलब्ध सामग्री को एकत्र कर एवं संजोकर डॉ. राममनोहर लोहिया एवं डॉ. भीमराव आम्बेडकर के राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन को तुलनात्मक दृष्टिकोण से वर्तमान संदर्भ को लेते हुये सुस्पष्ट, व्याख्यात्मक, विवेचनात्मक और विश्लेषणात्मक बनाने का प्रयत्न किया है। प्रायः सभी अध्यायों में डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर द्वारा रचित मूल ग्रन्थों के साथ-साथ सहायक ग्रन्थों से संदर्भ दिये गये हैं। दोनों विचारकों के राजनीतिक विचारों के प्रस्तुत अध्ययन को ऐतिहासिक संदर्भों के साथ ही वर्तमान राजनीतिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है कि दोनों का राजनीतिक चिन्तन वर्तमान समय में अनेक राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में सक्षम साबित हो सकता है।

इस शोध प्रबन्ध की पूर्णता में मैं अपने विद्वान निर्देशक डॉ. राजीव रत्न द्विवेदी, रीडर एवं विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, अतर्रा पी.जी. कॉलेज, अतर्रा के प्रति आभार प्रकट करना मेरी शब्द क्षमता से परे है जिन्होंने अमूल्य निर्देशन-गवेषणात्मक दृष्टि और पग-पग पर अपने संतुलित विचारों से इस शोध-प्रबन्ध को स्थान-स्थान पर परिष्कृत किया है। उनके परामर्श व सहयोग के बिना तथा निरन्तर स्नेहपूर्ण प्रेरणा के अभाव में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का पूरा हो पाना असम्भव ही था। मैं स्वर्गीय चन्द्रधर द्विवेदी, पूर्व प्रधानाचार्य, आदर्श बजरंग इण्टर कॉलेज, बाँदा का आभारी हूँ जिन्होंने अपनी आयु के अन्तिम पड़ाव में मेरी रुचि को जागृत एवं उत्साहित करके मेरा सही मार्गदर्शन किया। मैं, श्रीमती राजकुमारी द्विवेदी, प्रवक्ता डॉ. भीमराव आम्बेडकर विधि महाविद्यालय, गिरवाँ (बाँदा) के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने समय-समय पर शोध-प्रबन्ध को पूरा करने में सहयोग दिया।

मैं अपने महाविद्यालय के प्रो. आई. पी. सिंह गौतम, पूर्व विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग अतर्रा पी. जी. कॉलेज अतर्रा, डॉ. किशन सिंह यादव, रीडर, राजनीति

विज्ञान विभाग अतर्रा पी. जी. कॉलेज अतर्रा, डॉ. के. बी. राम प्रवक्ता राजनीति विज्ञान विभाग अतर्रा पी. जी. कॉलेज अतर्रा, डॉ. आर. एस. उपाध्याय, रीडर राजनीति विज्ञान विभाग, पं. जे. एन. कॉलेज, बाँदा के सतत् सहयोग का आभारी हूँ। मैं अपने मित्र श्री नरेन्द्र सिंह, श्री राहुल मिश्र, श्री अमित शुक्ल, श्री धर्मेन्द्र गुप्त, कु. शिखा जैन, श्री अरुण श्रीवास्तव, श्री प्रकाशनारायण मिश्र तथा अपने अग्रज श्री रामखेलावन गुप्त से प्राप्त सहयोग के लिये सभी को धन्यवाद देना चाहता हूँ।

मेरा शोध कार्य में लोहिया ट्रस्ट लाइब्रेरी लखनऊ, सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग लाइब्रेरी लखनऊ, अमीरूद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी लखनऊ, आचार्य नरेन्द्रदेव लाइब्रेरी लखनऊ, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर सामाजिक विज्ञान राष्ट्रीय संस्थान लाइब्रेरी महू-इन्दौर (म.प्र.), पब्लिक लाइब्रेरी इलाहाबाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय की सेन्ट्रल लाइब्रेरी तथा राजनीति विज्ञान विभाग की बी. पी. मेमोरियल लाइब्रेरी, कानपुर एवं झाँसी विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी, नागरी प्रचारिणी पुस्तकालय बाँदा, राजकीय पुस्तकालय, बाँदा तथा अतर्रा पी. जी. कॉलेज, अतर्रा से जो सामग्री और सहायता प्राप्त हुई है इसके लिये मैं इन पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों का भी अनुग्रहीत हूँ।

अन्त में मैं अपनी धर्मपत्नी स्मृति एवं अन्य परिवारीजनों का भी कृतज्ञ हूँ क्योंकि पारिवारिक कार्यों के भार को वहन करते हुये भी समय निकालकर इस कार्य में मेरी सहायता कर सभी ने अपना पूरा उत्तरदायित्व निभाया।

मैं अपने इस शोध-प्रबन्ध के टंकणकर्ता श्री सम्पूर्णान्द तिवारी जी को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने टंकण कार्य में पर्याप्त उत्साह का परिचय दिया।

दिनांक- 18/05/2008

शोधार्थी

Ram Murat

(राममूरत)

एम.ए. (राजनीति विज्ञान)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

घोषणा-पत्र

यह घोषित किया जाता है कि पी-एच.डी. उपाधि हेतु बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी के विचारार्थ प्रस्तुत **"डॉ. राममनोहर लोहिया एवं डॉ. भीमराव आम्बेडकर का राजनीतिक चिन्तन : तुलनात्मक अध्ययन, वर्तमान परिप्रेक्ष्य"** शीर्षक पर शोध-प्रबन्ध मेरी मौलिक कृति है। कृति में उपलब्ध मार्गदर्शन एवं सुझावों का उपयोग किया है जिसका यथास्थान उल्लेख किया गया है। यह भी घोषणा की जाती है कि प्रस्तुत कृति अन्य व्यक्ति द्वारा इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी विश्वविद्यालय में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का अंश नहीं है।

दिनांक- 18/05/2008

शोधार्थी,

RamMurat

(राममूरत)

एम.ए. (राजनीति विज्ञान)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

"प्राक्कथन"

1. शोध ग्रन्थों का अवलोकन,
2. शोध कार्य का उद्देश्य,
3. उपधारणा,
4. उपकरण,
5. अनुसंधान विधियाँ।

प्रथम अध्याय
प्राक्कथन

1.1. शोध ग्रन्थों का अवलोकन -

डॉ॰ राममनोहर लोहिया एवं डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर के तुलनात्मक राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के संदर्भ में दोनों चिन्तकों द्वारा लिखे गये मौलिक ग्रन्थों तथा इन ग्रन्थों पर लिखे गये अन्य अनेक ग्रन्थों में जो चिन्तन प्राप्त होता है उसे विभिन्न विद्वान लेखकों यथा- **इन्दुमती केलकर, ओंकार शरद, लक्ष्मीकान्त वर्मा, राजेन्द्र मोहन भटनागर, मधुलिमये, धनंजय कीर, विजय कुमार पुजारी, डॉ॰ डी॰ आर॰ जाटव, रामगोपाल सिंह** आदि ने अपने ग्रन्थों/पुस्तकों में समेकित करने का प्रयास किया है। मैंने जिन ग्रन्थों के आधार पर **''डॉ॰ राममनोहर लोहिया एवं डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर का राजनीतिक चिन्तन- तुलनात्मक अध्ययन वर्तमान परिप्रेक्ष्य''** शीर्षक नामक शोध-प्रबन्ध लिखने का संघर्षात्मक प्रयास किया है उनमें से कुछ ग्रन्थों का सिंहावलोकन निम्नलिखित है-

लोकसभा में लोहिया[1] शीर्षक से सीरीज शृंखला का प्रकाशन सन् 1971 ई॰ से हैदराबाद से बदरी विशाल पित्ती, अध्यात्म त्रिपाठी एवं ओमप्रकाश निर्मल के

---

1. लोकसभा में लोहिया (खण्ड 1 से 16 तक) का प्रकाशन राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास 4-5-46 सुलतान बाजार, हैदराबाद- 500195 द्वारा किया गया।

सम्पादकत्व में शुरू किया गया। अब तक कुल 16 भाग प्रकाशित हो चुके हैं। इन सभी भागों में डॉ. राममनोहर लोहिया के लोकसभा का सदस्य निर्वाचित होने के बाद उनके द्वारा लोकसभा में समय-समय पर दिये गये भाषणों एवं वक्तव्यों का संग्रह प्रस्तुत किया गया है। इन सभी खण्डों में डॉ. लोहिया के विस्तृत रूप से राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं भारत की विदेश-नीति से सम्बन्धित विचार देखने को मिलते हैं। लोकसभा में लोहिया भाग 16 सन् 1986 में प्रकाशित हुआ जिसमें चौथी लोकसभा के दूसरे सत्र (01 अगस्त, 1967 से 12 अगस्त 1967 तक की कार्यवाही) के अन्तर्गत बज़ट अधिवेशन (भाग-3) के समय डॉ. लोहिया के लोकसभा में प्रस्तुत किये गये विचार हैं।

'लोहिया : सिद्धान्त और कर्म'[1] इन्दुमती केलकर द्वारा लिखा गया एक वृहद ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में दो परिशिष्ट एवं अनुक्रमणिका दी गयी है तथा अन्त में संदर्भ साहित्य का उल्लेख है। यह पुस्तक 30 विस्तृत अध्यायों में विभाजित है जिसमें 528 पृष्ठ हैं। पुस्तक का प्रथम अध्याय जो 'विश्वनागरिक' शीर्षक से है, में डॉ. लोहिया पर गाँधी जी व कार्लमार्क्स के प्रभाव की व्याख्या की गयी है इसमें लिखा गया है कि लोहिया पर गाँधी का गहरा प्रभाव था परन्तु उन्हें गाँधी व मार्क्स दोनों की विचारधारायें अधूरी लगती थीं। उन्होंने अपनी निजी विचार परम्परा बनायी जिसको समाजवाद का नवदर्शन कहा गया है।[2] पुस्तक के दूसरे व तीसरे अध्याय में बचपन, शिक्षा और राजनीति में प्रवेश से सम्बन्धित बातें कही गयी हैं। इसके बाद के अध्यायों में मानवता की रक्षा के लिये डॉ. लोहिया के संघर्ष की कहानी है। अध्याय 4 और 29 में विदेश-नीति से सम्बन्धित विचार है। कांग्रेस के परराष्ट्र विभाग पर कार्य करते हुये डॉ. लोहिया ने जो रिपोर्ट तैयार की थी उसमें कहा था कि हिन्दुस्तान और इंग्लिस्तान की विदेश-नीतियों का सम्बन्ध तोड़ देना

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद (1963)
2. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद (1963) पेज सं. 3-4.

चाहिये। क्योंकि ये सम्बन्ध केवल इंग्लिस्तान का ही हित साधन करते हैं। अध्याय 5 और 6 में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय डॉ. लोहिया का अंग्रेजों के साथ संघर्ष छेड़ने का उतावलापन, संघर्ष के समय भूमिगत जीवन एवं अंग्रेजी शासन द्वारा पकड़े जाने पर लाहौर किले की कठोर यातनाओं का उल्लेख किया गया है। यातना के बारे में लिखा गया है कि लोहिया की यातना जबरदस्ती सोने न देने से शुरू हुई। लोहिया को अपनी आँखें ज़बरन खुली रखनी पड़ती थी बलात् जागरण की अवधि आहिस्ता-आहिस्ता तीन दिनों की हुई और यातना के दूसरे और तीसरे महीने में 5 दिनों की हो गयी।[1] अध्याय 8 में लोहिया द्वारा गोवा वासियों को पुर्तगाली शासन से मुक्त कराने के लिये आन्दोलन के सूत्रपात का वर्णन है। अध्याय 11, 12, 15 में डॉ. लोहिया के समाजवाद से सम्बन्धित विचार और उसके व्यावहारिक रूप का उल्लेख है। "समाजवादियों का उन्होंने आह्वान किया कि बराबरी, समाजवाद, जनतंत्र आदि उसूलों के लिये जनता में भूख पैदा करके नाउम्मीदी के काले बादलों को हटाकर, उनमें साहस की प्रेरणा और नवनिर्मिति की स्फूर्ति पैदा करनी होगी।"[2] अध्याय 21 में तीन आधारशिला- भाषा, जाति और औरत के बारे में डॉ. लोहिया के विचारों को प्रस्तुत किया गया है। अध्याय 23 में डॉ. लोहिया के सप्तक्रान्ति एवं अंग्रेजी हटाओ सम्मेलन की चर्चा की गयी है। अध्याय 24 में 1962 के चीनी आक्रमण पर डॉ. लोहिया की कड़ी प्रतिक्रिया को कलेजे की छलनी शीर्षक के अन्तर्गत पिरोने का प्रयास किया गया है। अध्याय 24, 26, 27 एवं 29 में लोहिया के संसद में प्रवेश व वहाँ पर पं0 नेहरू सरकार की आन्तरिक एवं विदेशी नीति के खिलाफ संघर्ष छेड़ने की कहानी दी गयी है। पुस्तक का अन्तिम अध्याय 'अन्तिम लड़ाई' शीर्षक से है जिसमें डॉ. लोहिया का मृत्यु के साथ संघर्ष को दर्शाया गया है।

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद (1963) पेज सं. 94
2. वही, पेज सं. 170.
3. ओंकार शरद, लोहिया (एक प्रामाणिक जीवनी) लोकभारती प्रकाशन, 15-ए महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1 (2001)

लोहिया[1] (एक प्रामाणिक जीवनी) - ओंकार शरद की तथ्यों से परिपूर्ण एक महत्वपूर्ण कृति है जो डॉ॰ लोहिया के जीवन का जन्म से लेकर मृत्यु तक का चित्रण प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक 13 अध्यायों में विभक्त है जिसमें कुल 232 पृष्ठ हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में विषयक्रम के बाद 'लोहिया की याद' शीर्षक के अन्तर्गत ओंकार शरद ने लिखा है कि डॉ॰ लोहिया के 40 साल के राजनीतिक जीवन में कभी उन्हें देश में सही माने में नहीं समझा गया और जब देश ने उन्हें समझा तथा उनके प्रति लोगों में चाह बढ़ी, लोगों ने उनकी ओर आशा की निगाहों से देखना शुरू किया तो अचानक ही वे चले गये। हाँ जाते-जाते अपना महत्व लोगों के दिलों में जमा गये।[2] पुस्तक के अध्याय 1, 2 एवं 3 में लोहिया के जन्म तथा शिक्षा का वर्णन है। अध्याय चार 'संघर्ष की राह ही अपनी......' शीर्षक के अन्तर्गत लोहिया के राजनीति में प्रवेश तथा उसके बाद के अध्यायों में लोहिया के राजनैतिक व्यवहार का पता चलता है। पुस्तक के लेखक ने लिखा है कि डॉ॰ लोहिया राजनीति में काम करने का जो हौसला और उत्साह लेकर जर्मनी से आये थे, देश के वातावरण और कलकत्ते की हवा देखकर कुछ उलझन में पड़े। अब उनमें स्वभावगत गम्भीरता आ गयी थी। डॉ॰ लोहिया बहुत कुछ करना चाहते थे, पर कहीं कोई रास्ता न दिखता था। गरीब बाप का बेटा होने के कारण गरीबों की सभी असुविधाएं अपने विशाल रूप से सामने खड़ी रहती थीं। हीरालाल जी तीव्र स्वाभिमान प्रवृत्ति के व्यक्ति होने के कारण पैसे के सामने झुकना नहीं जानते थे। अतः डॉ॰ लोहिया को अपना मार्ग स्वयं बनाने की विवशता को अंगीकार करना पड़ा।[3] अध्याय पाँच में डॉ॰ लोहिया को ब्रिटिश शासन द्वारा प्रथम कारावास दिये जाने तथा उनका अपने देश और गाँधी जी के प्रति आकर्षण की चर्चा है। लेखक ने लिखा है कि, 'लोहिया ने मन से पट्टाभि के मुकाबले सुभाषचन्द्र बोस के समर्थक होकर भी सुभाष को अपना मत नहीं

---

1. ओंकार शरद, लोहिया (एक प्रामाणिक जीवनी) लोकभारती प्रकाशन, 15-ए महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1 (2001)
2. वही, पेज सं॰ 9
3. वही, पेज सं॰ 53-54

दिया। वे तटस्थ बने रहे। गाँधी का विरोध वे न कर सके अपने विचारों को बहुत निडर होकर व्यक्त करने वाले लोहिया, गाँधी के सामने सकुचाए ही नहीं, गाँधी के प्रति लोहिया का मोह, पक्षपात की सीमा तक आ पहुंचा था।[1] अध्याय 6 में सन् 1942 के आन्दोलन और लाहौर किले में डॉ. लोहिया को दी गयी कठोर यातनाओं का वर्णन है। अध्याय 7 जो 'भक्ती ने आर्पिन लोहिया ना' नामक शीर्षक से है, में डॉ. लोहिया के जेल से छूटने के बाद गोवा में पुर्तगाली सरकार के खिलाफ वहाँ के लोगों को मुक्ति दिलाने के लिये संघर्ष की कहानी है। 1946 के जून में डॉ. लोहिया ने गोवा में जो मशाल जलायी उससे गोवा के कमज़ोर व निश्चेष्ट लोगों में आत्मविश्वास और स्फूर्ति तो आयी ही, लोहिया की इस कृति को इतिहास कभी न भूल सकेगा।[2] अध्याय 8 में भारत में आज़ादी के बाद फैली साम्प्रदायिकता की आग में डॉ. लोहिया की भूमिका का वर्णन है जिसमें डॉ. लोहिया ने हिन्दू व मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँधने का असफल प्रयास किया। अध्याय 8 में पड़ोसी देशों के प्रति भारतीय दृष्टिकोण की चर्चा है तथा अध्याय 9 में लोहिया द्वारा कल्पित विश्व सरकार का वर्णन है। अध्याय 11 में समाजवादी आन्दोलन में डॉ. लोहिया की भूमिका का उल्लेख है और अध्याय 12 में फर्रुखाबाद लोकसभा सीट के उपचुनाव में विजयी लोहिया के लोकसभा पहुंचने तथा वहाँ कांग्रेस हटाओ, देश बचाओ युक्ति को चरितार्थ करने की दास्तान है। पुस्तक का 'अन्तिम अध्याय' डॉ. लोहिया के जीवन के अन्तिम समय की कहानी कहता है।

'अवधूत लोहिया'[3] राजेन्द्र मोहन भटनागर कृत एक वृहद ग्रन्थ है जो लेखक द्वारा रचित 'समग्र लोहिया' नामक ग्रन्थ से कुछ अधिक व नवीन तथ्य प्रस्तुत करता है। अध्याय के प्रारम्भ होने के पूर्व ग्रन्थ में पुरस्तात्, लोहिया विमर्श,

---

1. ओंकार शरद, लोहिया (एक प्रामाणिक जीवनी) लोकभारती प्रकाशन, 15-ए महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1 (2001) पेज सं. 71
2. वही, पेज सं. 134
3. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया', प्रकाशक शिवानी बुक्स 4856/24, हरबंश स्ट्रीट, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002 (2003)

लोहिया के जीवन की चन्द चित्र झांकियाँ तथा अवधूत लोहिया प्रसंग का उल्लेख है। इसके बाद पुस्तक की विषय सूची के रूप में अनुक्रम दिया गया है। यह ग्रन्थ कुल 536 पृष्ठों में लिखा गया है जिसमें 31 अध्याय हैं। ग्रन्थ में डॉ॰ लोहिया के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक विचारों की व्याख्या सटीक ढंग से प्रस्तुत की गयी है। लेखक ने लिखा है कि, डॉ॰ लोहिया उन प्रतिभासम्पन्न, मानवतावादी, बुद्धिजीवी, समाज सुधारक, अर्थशास्त्री राजनीतिज्ञों में से एक थे जो अपने लिये नहीं, समूची मानवता के लिये मरे-खपे। समूचे विश्व को एक कुटुम्ब बनाकर चलने के लिये प्रयत्नशील रहे। उनका मन एक सन्त की खोज़ था, उनका हृदय एक सन्त का उपहार था। उनमें कबीर बोल रहा था, उनमें ईसा विराज़मान था। वे नास्तिक थे- फिर भी राम, कृष्ण, शिव को मानते थे और पुराण में अटूट आस्था रखते थे। उनमें वर्णित कथाओं की विलक्षणता पर मुग्ध थे। वे अकेले थे पर सबके थे। उन्होंने अपने जीवन को समाज के लिये समर्पित कर दिया था।[1] पुस्तक के अध्याय प्रथम में गाँधी और लोहिया के मध्य समानताएँ एवं असमानताएँ लिखने के बाद गाँधी का डॉ॰ लोहिया पर प्रभाव की व्याख्या की गयी है। दूसरे अध्याय में 'चेतना के संघर्ष का राही' के अन्तर्गत डॉ॰ भटनागर ने लिखा है, लोहिया का समग्र जीवन चेतन-प्रवाह की ऐसी अन्तर्कथा है जो अवरोधों को समेटती हुई अनवरत् विकासोन्मुखी रही। अध्याय 3 'जीवन-स्पन्दन' में डॉ॰ लोहिया के जन्म से लेकर सन् 1942 के आन्दोलन के दौरान उनके लाहौर किले की यातनाओं तक का सविस्तार उल्लेख है। 'गोवा में लोहिया' नामक चौथे अध्याय के अन्तर्गत गोवा में लोहिया का हस्तक्षेप से लेकर उनके अन्तिम जीवन-यात्रा तक की संक्षेप में कहानी है। अध्याय 5 में डॉ॰ लोहिया के समाजवादी चिन्तन की व्याख्या है। इसमें लेखक ने लिखा है कि, 'लोहिया को समाजवादी देशों को समझने, अनुभव करने का मौका मिला। वे उसकी अंतरंगता से जुड़ते चले गये। ऐसा उनके विदेश प्रवास के समय ही हो गया

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया', प्रकाशक शिवानी बुक्स 4856/24, हरबंश स्ट्रीट, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002 (2003) पेज नं. 393

था, जबकि वे यूरोप के समाजवादी देशों के चलन का सूक्ष्म निरीक्षण कर रहे थे।[1]

अध्याय 6 में 'भाषा' के बारे में लिखा गया है, डॉ. लोहिया की मान्यता थी कि लोकभाषा के बिना लोकतंत्र अधूरा ही नहीं अपितु पंगु भी है। 'अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन उन्होंने इसीलिये शुरू किया था। 'जाति' के सम्बन्ध में लिखा गया कि डॉ. लोहिया ने 'जाति तोड़ो' आन्दोलन शुरू किया था। उनकी दृष्टि में यदि जातियों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उन्नत कर दिया जाय तो जाति पर निर्भर वर्ग निर्मूल हो सकते हैं। दलित-विमुक्ति के बारे में लेखक ने लिखा है, पद्दलित वर्ग तथा निम्न जाति के प्रति डॉ. लोहिया में एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पीड़ा थी। वे उनमें 'अधिकार बोध' को जगाना चाहते थे और जगाना चाहते थे स्वाभिमान को।[2] अध्याय 7 में राजनीतिक चिन्तन के अन्तर्गत लोकतंत्र एवं विकेन्द्रीकरण पर चर्चा की गयी है इसमें डॉ. लोहिया की चौखम्भा योजना का उल्लेख किया गया है।

अध्याय 9 में डॉ. लोहिया के इतिहास चक्र की व्याख्या है। अध्याय 10 में भारत विभाजन के समय लोहिया की भूमिका का वर्णन है जिसमें 'डॉ. लोहिया ने अन्य लोगों के साथ अपने को भी इसका गुनहगार माना इस बात को स्पष्ट किया गया है। अध्याय 12 में सामाजिक कुरीतियों के अन्तर्गत वर्णयोनि भेद के अन्तर्गत लोहिया के विचारों की व्याख्या है। इसमें लेखक ने लिखा डॉ. लोहिया ने योनि-विषयक अवधारणा में जिस सामाजिक, आर्थिक स्तर को सामने रखकर विचार किया है उसमें आज बदलाव आया है परन्तु यह बदलाव दिशाहीनता का है और दिशा खोज़ने के लिये उत्सुकता से भरा हुआ भी है।[3] अध्याय 13 में मौलिक अधिकार के अन्तर्गत संवैधानिक विचारों की व्याख्या है। अध्याय 14 में डॉ. लोहिया की अखण्ड भारत के प्रति दृष्टिकोण की व्याख्या है। 15वें अध्याय में डॉ.

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया', प्रकाशक शिवानी बुक्स 4856/24, हरबंश स्ट्रीट, दरियागंज, नई दिल्ली- 110002 (2003) पंज नं. 206-207
2. वही, पेज नं. 220-221.
3. वही, पेज नं. 279.

लोहिया की तुलना मार्क्स व गाँधी से की गयी है। अध्याय 16 और 19 में डॉ. लोहिया का आर्थिक अनुचिन्तन, 17वें अध्याय में भाषायी दृष्टिकोण एवं हिन्दी का स्थान, 18वें अध्याय में रामायण मेला के बारे में डॉ. लोहिया के विचारों की व्याख्या की गयी है। धार्मिक विचारों की व्याख्या अध्याय 20 में है इसमें कहा गया कि लोहिया ईश्वरवादी नहीं थे, मन्दिरों में उनकी आस्था नहीं थी, वे नास्तिक थे। फिर भी, वे उन ईश्वरवादियों, तिलकधारियों और आस्तिकों से श्रेष्ठ थे जो स्वार्थ लोभ, प्रपंच-छल आदि दुष्प्रवृत्तियों पर पर्दा डालने के लिये उन आवरणों का प्रयोग करते थे। अध्याय 25 में 'सांसद लोहिया' शीर्षक के अन्तर्गत लोहिया के द्वारा संसद सदस्य के रूप में दिये गये विचारों की व्याख्या है जिसमें देश की आन्तरिक स्थिति के अतिरिक्त विदेश नीति या अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति- पाकिस्तान, चीन एवं अन्य देशों के बारे में लोहिया के दृष्टिकोण का वर्णन है। अध्याय 26 में डॉ. लोहिया द्वारा लिखे गये पत्र, 27 में डॉ. लोहिया के व्यक्तिगत पत्र, 28 में डॉ. लोहिया के आंग्लभाषी पत्र तथा 29 में डॉ. लोहिया के मन्तव्य को प्रस्तुत किया गया है। अध्याय 30 में डॉ. लोहिया के जीवन का घटनाक्रम तथा अन्त में अध्याय 31 में डॉ. लोहिया द्वारा लिखे गये पुस्तकों एवं ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।

'लोहिया के विचार'[1] नामक ग्रन्थ ओंकार शरद द्वारा सम्पादित एक ऐसी पुस्तक है जिसमें डॉ. लोहिया के विचारों को एक ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में विषय-सूची के रूप में 'अनुक्रम' तथा उसके बाद 'आमुख' प्रस्तुत किया गया है। इसमें लेखक ने लिखा है कि, "मूलतः लोहिया राजनीतिक विचारक, चिन्तक और स्वप्नदृष्टा थे, लेकिन उनका चिन्तन राजनीति तक ही कभी सीमित नहीं रहा।' व्यापक दृष्टिकोण, दूरदर्शिता उनकी चिन्तन धारा की विशेषता थी। राजनीति के साथ-साथ संस्कृति, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भाषा आदि के बारे में उनके मौलिक विचार थे। लोहिया की चिन्तन-धारा कभी

---

1. ओंकार शरद द्वारा सम्पादित, लोहिया के विचार, लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद- 1 (1969).

देश-काल की सीमा की बन्दी नहीं रही। विश्व की रचना और विकास के बारे में उनकी अनोखी व अद्वितीय दृष्टि थी। इसलिये उन्होंने सदा ही विश्व नागरिकता का सपना देखा था। वे मानव मात्र को किसी देश का नहीं बल्कि विश्व का नागरिक मानते थे। उनकी चाह थी कि एक से दूसरे देश में आने जाने के लिये किसी तरह की कानूनी रुकावट न हो और सम्पूर्ण पृथ्वी के किसी भी अंश को अपना मानकर कोई भी कहीं भी आ-जा सकने के लिये पूरी तरह आज़ाद हो।'[1] इस पुस्तक में कुल 345 पृष्ठ हैं जिसमें समाजवाद, समाज, जातिप्रथा, औरत, भाषा, गाँधी, सिविल नाफरमानी, हिन्द-पाक एकता तथा धार्मिक विचारों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। पुस्तक के अन्त में कुछ फुटकर चीजें जोड़ी गयी है- चीनी हमले के संदर्भ में, चीनी हमला, स्वदेश, दुनिया, बादशाह खाँ, भारतमाता, पृथ्वीमाता, भारतीय इतिहास लेखन, चाँद की यात्रा तथा अन्त में कुछ सूक्तियाँ जोड़ी गयी हैं।

'बाबा साहब डॉ. आम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय'[2] (भाग 1 से 17 तक) भारत सरकार द्वारा प्रकाशित अत्यधिक महत्वपूर्ण शोध सामग्री है। सम्पूर्ण वाङ्मय के सभी खण्डों में डॉ. भीमराव आम्बेडकर का पूरा विचार दर्शन देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ- खण्ड-। जो 289 पृष्ठों का है उसे तीन भागों में बाँटा गया है- प्रथम भाग में जातिप्रथा, द्वितीय भाग में भाषायी राज्यों के सम्बन्ध में एवं तृतीय भाग में नायक और नायक पूजा सम्बन्धी डॉ. आम्बेडकर के विचार है। अन्त में अनुक्रमणिका दी गयी है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वाङ्मय का खण्ड 17 मात्र 86 पृष्ठों का है जिसे 10 अध्यायों में बाँटा गया है। पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट एवं अनुक्रमणिका जोड़ी गयी है।

---

1. ओंकार शरद द्वारा सम्पादित, लोहिया के विचार के 'आमुख' से उद्धृत.
2. बाबा साहब डॉ. आम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय के खण्ड 1 से लेकर खण्ड 14 तक का प्रकाशन डॉ. आम्बेडकर प्रतिष्ठान, कल्याण मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा किया गया जबकि इसके 15वें, 16वें एवं 17वें खण्ड का प्रकाशन डॉ. आम्बेडकर प्रतिष्ठान सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय, भारत-सरकार, नई दिल्ली द्वारा किया गया।

'डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन'[1] नामक महानग्रन्थ प्रसिद्ध जीवन-चरित्र लेखक धनंजय कीर जी ने लिखा है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही विषय-सूची के रूप में अनुक्रम दिया गया है। ग्रन्थ को कुल 27 शीर्षक अध्यायों में बाँटा गया है तथा अन्त में सूची वर्णित की गयी है। ग्रन्थ को 500 से ऊपर पृष्ठों में लिखा गया है। अनुक्रम के बाद प्राक्कथन जिसे नामवर सिंह जी ने लिखा है इसके बाद डॉ. आम्बेडकर के जीवन की चित्र-झांकियाँ प्रस्तुत की गयी है तथा ग्रन्थ की प्रस्तावना धनंजय कीर जी ने लिखी है।

ग्रन्थ के प्राक्कथन में डॉ. आम्बेडकर के बारे में लिखा गया है कि, 'कूड़ेखाने में पैदा होना, अस्पृश्य के रूप में जिन्दगी की शुरुवात करना, बचपन में कुष्ठ रोगी की भाँति बहिष्कृत किया जाना और पूरी युवावस्था में समाज से झिड़काया जाना, केशकर्तनालयों, उपहार ग्रहों, वसतिगृहों, देवालयों, सरकारी कार्यालयों में हर समय अपमानित होकर गरदनियाँ पाना यह उनके जीवन का कटु अनुभव है, रिश्तेदारों के भोज के डिब्बे ले जाना, विश्वविख्यात विश्वविद्यालयों में पर्याप्त दाना-पानी के बिना तड़पते हुये अध्ययन करना, कभी हाथ में शास्त्र लेकर तो कभी शस्त्र लेकर लड़ते-लड़ते जिन्दगी की सीढ़ियाँ चढ़ना, साथ में परिवार का धन नहीं, राजनीति में राजनीतिक उत्तराधिकार का सहारा नहीं, फिर भी कट्टर राजनीतिक विरोध और विपत्तियों की परवाह न करते हुये देश के प्रथम श्रेणी के लोगों में कीर्ति पाना, यह बात सचमुच ही असाधारण और गौरवास्पद है।' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में लेखक ने डॉ. आम्बेडकर के पारिवारिक इतिहास पर प्रकाश डाला है, दूसरे एवं तीसरे अध्याय में बचपन व शिक्षा-दीक्षा में कड़े संघर्ष को रेखांकित किया है। अध्याय 4 में डॉ. आम्बेडकर के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश तथा पाँचवें अध्याय में अपने लोगों के अधिकारों की प्राप्ति के लिये विद्रोह का झण्डा फहराने की बात कही गयी है। लेखक ने लिखा कि, आम्बेडकर चवदार तालाब की सीढ़ियाँ उतर कर नीचे

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, लाइफ एण्ड मिशन, पाप्युलर प्रकाशन प्रा.लि. 4648/1, अन्सारी रोड, 21 दरियागंज, नई दिल्ली- 110002. (1981)

गये। वे नीचे झुके और उन्होंने तालाब का एक अंजुली भर पानी पिया। उस प्रचण्ड जन समुदाय ने भी अपने नेता का अनुकरण किया वह स्वर्णिम दिन 20 मार्च, 1927 था।"[1] अध्याय 6 में 'मानवी स्वतंत्रता की घोषणा है।' डॉ. आम्बेडकर द्वारा हिन्दू धर्म में असमानता की प्रतीक मनुस्मृति के अग्निदाह को 25 दिसम्बर 1927 को सम्पन्न करवाया गया। अध्याय 7 में डॉ. आम्बेडकर का राजनीतिक क्षितिज पर आगमन एवं आठवें अध्याय में किसान मज़दूर कल्याण व शिक्षा प्रसार की बात कही गयी। अध्याय 9 में 'अस्पृश्यों का दुःख विश्व में ज़ाहिर किया' शीर्षक से है। इसे डॉ. आम्बेडकर ने प्रथम गोलमेज सम्मेलन के माध्यम से किया। इसी अध्याय में नासिक सत्याग्रह आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया है। अध्याय 10 व 11 'युद्धपर्व' व 'पुणेकरार' शीर्षक से है जिसमें गाँधी-आम्बेडकर के बीच द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के समय एवं उसके बाद के संघर्ष और 'पूना पैक्ट' होने की परिस्थितियों को दर्शाया गया है। लेखक ने लिखा है कि, सभी ओर यह विश्वास फैलने लगा कि अब उन्हें कोई दबा नहीं सकता। उन्होंने दलितों को नये युग की दहलीज़ पर ला खड़ा किया था।[2] अध्याय 12, 13 में डॉ. आम्बेडकर ने अस्पृश्यों को मुक्ति का सच्चा पथ दिखाया तथा बौद्ध धर्म की ओर आकर्षण को दर्शाया गया है। चौदहवें अध्याय में हिन्दू समाज की पुनर्रचना तथा पन्द्रहवें में स्वतंत्र मज़दूर दल की स्थापना का वर्णन है। अध्याय 17 'संघराज्य या पाकिस्तान' शीर्षक से है इसके अन्तर्गत लेखक ने कहा है कि, 'जिस तरह संघराज्य भारत में आने वाला था, उस तरह की संघराज्य पद्धति के प्रति आम्बेडकर का विरोध था।"[3] अध्याय 18 व 19 में डॉ. आम्बेडकर को नित नई ऊँचाइयाँ छूने पर 'धूल से शिखर की ओर' एवं 'मज़दूर मंत्री' के रूप में व्याख्या की गयी है। अध्याय 20 व 21 में भारतीय संविधान जैसी 'नवीन संहिता' को कार्यरूप देने का विवरण है। लेखक ने लिखा है

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, लाइफ एण्ड मिशन, पाप्युलर प्रकाशन प्रा.लि. 4648/1, अन्सारी रोड, 21 दरियागंज, नई दिल्ली- 110002. (1981) पेज सं. 71.
2. वही, पेज सं. 190
3. वही, पेज सं. 303

कि भारत की नई मनुस्मृति के निर्माता, आधुनिक मनु के रूप में वे कीर्ति शिखर पर आरूढ़ हुये।[1] अध्याय 22 में 'बौद्ध धर्म की छाया' डॉ. आम्बेडकर पर पड़ने की बात लिखी गयी तथा 23वें अध्याय में हिन्दू कोड विल व अन्य कारणों से पं0 नेहरू सरकार के विधि मंत्री पद से स्तीफा देने का वर्णन है। 24वें अध्याय में वे सरकार की कटु आलोचना करते हुये दिखायी देते हैं। अध्याय 25 'सुनहरी साँझ' के रूप में है तथा 26वें अध्याय में डॉ. आम्बेडकर द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने की व्याख्या की गयी है। पुस्तक का अन्तिम अध्याय आखिरी यात्रा के रूप में है जो डॉ. आम्बेडकर के जीवन के अन्तिम समय का चित्रण है।

'डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर : जीवन दर्शन'[2] नामक पुस्तक विजय कुमार पुजारी जी द्वारा लिखी गयी एक महत्वपूर्ण पुस्तक है जो डॉ. आम्बेडकर के जीवन की घटनाओं को क्रमशः दर्शाती है। पुस्तक के प्रारम्भ में द्वितीय संस्करण के उपलक्ष्य में टी.आर. आनन्द का लेख तथा विजय कुमार पुजारी का लेख 'लेखक की ओर से' प्रस्तुत किया गया है इसके बाद विषय-सूची दी गयी है। पुस्तक को कुल 24 परिच्छेदों में बाँटा गया है प्रत्येक परिच्छेद डॉ. आम्बेडकर के जीवन के महत्वपूर्ण पहलू को दर्शाता है। पुस्तक में कुल 199 पृष्ठ है।

पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक ने लिखा है कि, भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता तथा अछूतों के महान नेता डॉ. बाबा साहेब भीमराव रामजी आम्बेडकर भारत की बीसवीं सदी की एक विशिष्ट विभूति थे। उनका जीवन हिन्दू समाज में सदियों से प्रचलित वर्ण-भेद, जाति-भेद तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध विद्रोह तथा संघर्ष की रोचक, रोमांचक, उत्तेजक तथा प्रेरक कहानी है। पुस्तक के परिच्छेद 1 व 2 में वर्णव्यवस्था, जातिभेद और अस्पृश्यता तथा डॉ. आम्बेडकर के वंश-जाति एवं परिवार का परिचय दिया गया है। परिच्छेद 3, 4 एवं 5 में डॉ. आम्बेडकर के

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, लाइफ एण्ड मिशन, पाप्युलर प्रकाशन प्रा.लि. 4648/1, अन्सारी रोड, 21 दरियागंज, नई दिल्ली- 110002. (1981) पेज सं. 377.
2. विजय कुमार पुजारी, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : जीवन दर्शन, प्रकाशक भारतीय बौद्ध महासभा दिल्ली प्रदेश, बुद्ध बिहार, आम्बेडकर भवन, नई दिल्ली- 110055. (1985)

बचपन की कहानी जिसमें उन्हें प्रेम और घृणा के अनुभव हुये, अस्पृश्यता के अभिशाप के कारण दी गयी यातनाएँ तथा उनकी शिक्षा-दीक्षा का चित्रण किया गया है। परिच्छेद 6 में कठोर यातनाओं के अन्तर्गत बड़ौदा और बम्बई में 'असह्य' अपमान को दर्शाया गया है। बड़ौदा के अपमान से उन्होंने अपने जीवन का एक मात्र ध्येय निश्चित किया और वह ध्येय था- हिन्दू समाज के अन्याय तथा अत्याचार का प्रतिकार करके अस्पृश्योद्धार तथा अस्पृश्यता निवारण करना।[1] सातवें, आठवें एवं नौवें परिच्छेद में अछूतोद्धार आन्दोलन का इतिहास, उसके लिये प्रयास तथा समकालीन हिन्दू सुधारकों के बारे में चर्चा की गयी है। दसवें व ग्यारहवें परिच्छेदों में डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा चलाये गये दो प्रमुख सत्याग्रहों- महाड़ एवं नाशिक सत्याग्रह की व्याख्या की गयी है। परिच्छेद 12, 13 और 14 में गोलमेज़ परिषद एवं उसके बाद पूनापैक्ट और गीता, वर्णभेद आदि विषयों पर गाँधी-आम्बेडकर मतभेद को दर्शाया गया है। गाँधी वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे जबकि डॉ॰ आम्बेडकर अस्पृश्यता की जड़, वर्णभेद को ही मानते थे।[2] परिच्छेद 15, 16 में डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा धर्म परिवर्तन की घोषणा एवं हिन्दू समाज के आचार धर्म की आलोचना प्रस्तुत की गयी है। डॉ॰ आम्बेडकर की धर्मान्तर की घोषणा परिस्थिति का स्वाभाविक परिणाम थी... घोषणा से भारत के सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में एक सनसनी सी फैल गयी।[3] 17वें, 18वें एवं 19वें परिच्छेद में डॉ॰ अम्बेडकर द्वारा अछूतोद्धार के लिये किये गये संघर्ष की व्याख्या है। परिच्छेद 20, '20वीं सदी का स्मृतिकार' शीर्षक से है जिसमें उनके संविधान निर्माण के कार्यों का लेखा-जोखा है। 21वाँ व 22वाँ परिच्छेद नेहरू मंत्रिमण्डल से त्याग-पत्र व उनके बौद्ध धर्म अपनाने पर प्रकाश डालता है तथा परिच्छेद 23 उनके जीवन के अन्तिम समय की परिस्थिति को स्पष्ट

---

1. विजय कुमार पुजारी, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : जीवन दर्शन, प्रकाशक भारतीय बौद्ध महासभा दिल्ली प्रदेश, बुद्ध बिहार, आम्बेडकर भवन, नई दिल्ली- 110055. (1985) पेज सं॰ 51.
2. वही, पेज सं॰ 120-132.
3. वही, पेज सं॰ 136.

करता है। अन्त में 24वें परिच्छेद में विजय कुमार पुजारी ने डॉ. आम्बेडकर के जीवन का मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

'बाबा साहब आम्बेडकर : एक चिन्तन'[1] नामक पुस्तक प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक एवं लेखक मधुलिमये ने लिखी है। पुस्तक के प्रारम्भ में विषय-सूची के रूप में क्रम दिया गया है तथा पुस्तक के अन्त में संदर्भक्रम जोड़ा गया है। पुस्तक को दस शीर्षक अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है जिसमें कुल 128 पृष्ठ हैं। प्रथम क्रम 'सामाजिक क्रान्तिकारी आम्बेडकर' में उनके संक्षिप्त परिचय के बाद संघर्ष को दर्शाया गया है। दूसरे क्रम में जाति-संस्था के उन्मूलन के सम्बन्ध में लेखक ने लिखा है कि, डॉ. आम्बेडकर का विचार था कि जाति-प्रथा से लड़ने के लिये चारो तरफ से प्रहार करना होगा। जाति ईंट की दीवारों जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं है। यह एक विचार है, एक मनः स्थिति है। इस मनःस्थिति की नींव शास्त्रों की पवित्रता में है। वास्तविक उपाय यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्रों के बन्धन से मुक्त किया जाये। तभी वे जाति-पांति का भेदभाव बन्द करेंगे।[2] पुस्तक का क्रम 3 एवं 4 गाँधी-आम्बेडकर एवं उनके मध्य विवाद से सम्बन्धित है। क्रम 5 में डॉ. आम्बेडकर की पाकिस्तान विषयक भूमिका का वर्णन है। क्रम 6 में डॉ. आम्बेडकर द्वारा केन्द्र को मज़बूत बनाने के मंतव्य की व्याख्या की गयी है। इसमें कहा गया है कि आम्बेडकर ने ग्राम पंचायत संस्था की इसलिये निन्दा की क्योंकि वे सोंचते थे कि ये गाँव, जाति-प्रणाली, अत्याचार और शोषण के मूर्तरूप है। वे पुरानी व्यवस्था को ध्वस्त करना चाहते थे और जाति, धर्म, लिंग आदि के भेदभाव को मिटाकर सभी मनुष्यों को समान महत्व देने के सिद्धान्त के आधार पर नई व्यवस्था का ढाँचा खड़ा करना चाहते थे।[3] क्रम 7 में 'भाषावार प्रान्तों की रचना और आम्बेडकर' पर लेखक का मत है कि हर विवाद में आम्बेडकर बिल्कुल तर्क की दृष्टि अपनाते थे। नये

---

1. मधुलिमये, बाबा साहब आम्बेडकर- एक चिन्तन, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली- 110006 (1991).
2. वही, पेज सं. 31.
3. वही, पेज सं. 83.

भाषायी राज्यों के निर्माण के बारे में ऐसा ही हुआ।[1] क्रम 8 में कानून मंत्री के रूप में अम्बेडकर की भूमिका को स्पष्ट किया गया है तथा क्रम 9 में डॉ. अम्बेडकर के आर्थिक विचार के अन्तर्गत लेखक ने कहा कि आम्बेडकर संविधान के द्वारा क्रान्तिकारी आर्थिक परिवर्तन लाना चाहते थे जैसा कि सोवियत रूस ने किया था।' पुस्तक का 10वां क्रम डॉ. आम्बेडकर के धर्म परिवर्तन से सम्बन्धित है। धर्म परिवर्तन के सवाल पर आम्बेडकर में बहुत अस्पष्टता थी। एक तरफ वे तीन धर्मों- इस्लाम, ईसाई धर्म और सिख धर्म- की विशेषताओं पर बहस करते थे दूसरी ओर कहते थे कि हिन्दू "धर्म-परिवर्तन के आन्दोलन के प्रति उदासीन नहीं रह सकते।" इसके बाद उन्होंने ईसाई धर्म या इस्लाम को अपनाने के परिणामों पर विचार किया। हिन्दुओं की दृष्टि से सिख धर्म सबसे अच्छा होगा ऐसा भी वे कहते थे।[2] यद्यपि अन्ततोगत्वा उन्होंने बौद्ध धर्म अपनाया।

'डॉ. आम्बेडकर : चिन्तन और विचार'[3] शीर्षक से पुस्तक की रचना डॉ. राजेन्द्र मोहन भटनागर ने की है। पुस्तक के प्रारम्भ में विषय-क्रम के बाद लेखक ने 'सम्बोधन' शीर्षक से अपना मनोगत प्रस्तुत किया है। पुस्तक कुल 13 शीर्षक अध्यायों में विभाजित है जिसमें कुल 240 पृष्ठ है। इसमें डॉ. आम्बेडकर के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं मानवतावादी चिन्तन की व्यापक व्याख्या की गयी है। पुस्तक के प्रथम अध्याय में 'लोकतांत्रिक चेतना' के अन्तर्गत डॉ. अम्बेडकर के द्वारा जनता में लोकतंत्र की चेतना को जाग्रत करने का परीक्षण किया गया है। लोकतंत्र एक प्रकार की ऐसी अन्तरचेतना है जो व्यक्तिपरक होते हुये भी समाजोन्मुखी रहती है और व्यष्टि में समष्टि की सृजन-प्रक्रिया से सम्बद्ध रहती है। डॉ. आम्बेडकर ने लोकतंत्र के इस व्यापक और गहन अर्थ-प्रकाश को

---

1. मधुलिमये, बाबा साहब आम्बेडकर- एक चिन्तन, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली- 110006 (1991). पेज सं.- 87.
2. वही, पेज सं. 112.
3. डॉ. राजेन्द्र मोहन भटनागर, डॉ. आम्बेडकर : चिन्तन और विचार, जगतराम एण्ड सन्स, 9/221, सरस्वती भण्डार, गाँधी नगर, दिल्ली- 110031 (2002).

अपने चिन्तन और अपने कार्यों से व्यक्त होने दिया था। वे लोकतंत्र को राज्य की सीमाओं से बाहर लाकर समग्र सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि समरसतामूलक समतावादी चेष्टाओं में प्रतिफलित होते देखना चाहते थे।[1] क्रम दो एवं पांच में सामाजिक प्रबुद्धता के अन्तर्गत 'जाति' व्यवस्था की हिन्दू समाज के पतन के कारण के रूप में व्याख्या की गयी है। क्रम 3 एवं 4 में धर्म एवं धर्म परिवर्तन से सम्बन्धित विषयों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। क्रम 6 में 'राजनीतिक अनुचिन्तन' के अन्तर्गत, साम्प्रदायिकता, विकेन्द्रीकरण, संवैधानिक विचार एवं राजनीतिक व्यवहार पर प्रकाश डाला गया है। लेखक ने लिखा है कि, डॉ॰ आम्बेडकर न होते तो न अछूतों में जागृति की लहर दौड़ती और न उनको राजनीतिक अधिकार के प्रयोग की गारन्टी मिल पाती। उन्होंने सवर्णों की काली करतूतों का पर्दाफाश कर हिन्दुओं की करुणा, अहिंसा, त्याग, सहानुभूति, प्रेम आदि गुणों की बखिया उधेड़ दी।[2] क्रम 7 एवं 8 में आर्थिक एवं सामाजिक अनुचिन्तन की व्याख्या की गयी है। 'डॉ॰ आम्बेडकर का आर्थिक चिन्तन मानव मूल्यों, जीवन स्तर, न्यूनतम आवश्यकता और समग्र' अर्थव्यवस्था में समुचित तथा संतुलित भागीदारी से सम्बद्ध था। विशेष रूप से डॉ॰ आम्बेडकर अछूतों के आर्थिक विकास से चिन्तित थे क्योंकि उनके लिये अर्थव्यवस्था की कतई गुंजाइश नहीं थी क्योंकि वे अति-निर्धनता में सामाजिक कोढ़ लिये जन्मे हैं और उनके लिये स्वतंत्र अर्थ विकास के न तो कोई अवसर हैं और न उनके पास अवसर तलाशने वाली मानसिकता है।'[3] क्रम 9 एवं 11 में डॉ॰ आम्बेडकर के मानववादी चिन्तन पर प्रकाश डाला गया है। इसमें लेखक ने कहा है कि आम्बेडकर सम्पूर्ण मानव थे। उन्होंने अन्धविश्वास, जातिभेद, असमानता, श्रमिक किसान आदि के शोषण के विरुद्ध संघर्ष करते हुये यह स्थापना की कि मानव का मानव के प्रति विश्वास और आदर होना सामूहिक जीवन की पहली शर्त है। क्रम 10 में

---

1. डॉ॰ राजेन्द्र मोहन भटनागर, डॉ॰ आम्बेडकर : चिन्तन और विचार, जगतराम एण्ड सन्स, 9/221, सरस्वती भण्डार, गाँधी नगर, दिल्ली- 110031 (2002). पेज सं.- 13.
2. वही, पेज सं. 107.
3. वही, पेज सं.- 140.

गाँधी, जिन्ना, नेहरू से आम्बेडकर की तुलना की गयी है। क्रम 12 में आम्बेडकर की संकल्पना के भारत का चित्र खींचा गया है और अन्त में क्रम 13 में आम्बेडकर के चिन्तन के निष्कर्ष निकाले गये है जिसमें कहा गया कि डॉ. अम्बेडकर संविधान निर्माता के रूप में अधिक प्रसिद्ध हुये जबकि उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण में सन्निहित रहा।

'डॉ. बी.आर. आम्बेडकर का राजनीति दर्शन'[1] नामक ग्रन्थ डॉ. डी.आर. जाटव कृत है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में द्वितीय संस्करण एवं प्रथम संस्करण का आमुख लेखक द्वारा लिखा गया है इसके बाद विषय-सूची तथा 'परिचय' प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ को कुल छः प्रमुख अध्यायों में बाँटा गया है तथा उपसंहार और ग्रन्थ सूची अन्त में जोड़े गये हैं। ग्रन्थ कुल 262 पृष्ठों में सीमित है। लेखक ने 'परिचय' के अन्तर्गत लिखा है कि डॉ. आम्बेडकर के राजनैतिक विचारों की तह में जॉनलाक, जैफरसन, जॉन डीवे, एडमन्ड बर्क और अन्य पश्चिमी उदारवादी विचारकों के राजनैतिक एवं सामाजिक सिद्धान्तों का प्रभाव मिलता है। उनके ज्ञानात्मक पहलू में अनुभववाद, तत्वज्ञान में यथार्थवाद और नीतिशास्त्र में मानववाद सन्निहित है। साथ-साथ उन्हें आधुनिक विज्ञान से भी प्रेम था। इसलिये डॉ. आम्बेडकर ने वैज्ञानिक एवं लौकिक नीतिशास्त्र की खिड़कियों के द्वारा भगवान बुद्ध की शिक्षाओं की ओर देखा। पुस्तक के अध्याय एक में 'मनुष्य और दर्शन' पर व्यापक विचार किया गया है जिसमें डॉ. आम्बेडकर के मानववादी दर्शन तथा धर्म के प्रति दृष्टिकोण का पता चलता है।

अध्याय दो में 'राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद' सम्बन्धी दर्शन की व्याख्या की गयी है। इसमें लेखक ने लिखा है कि, डॉ. आम्बेडकर में राष्ट्रवाद की भावना का उदय उन लोगों में आस्था के साथ हुआ जो निर्धन, शोषित एव अछूत थे। वे उन लोगों के लिये समानता एवं नागरिक अधिकार चाहते थे जिनको उनसे वंचित कर रखा था।[2] इस

---

1. डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. बी.आर. आम्बेडकर का राजनीति दर्शन, समता साहित्य सदन, 40-मीना कॉलोनी, इमली वाला फाटक, जयपुर- 302005, राजस्थान (1990).

2. वही, पेज सं.- 56.

अध्याय में भाषावाद, साम्प्रदायिकता एवं धर्म-निरपेक्षता पर विचार किया गया है। 'जनता एवं जनतंत्र' नामक तीसरे अध्याय में 'लोकतंत्र' सम्बन्धी विचारों की व्यापक व्याख्या की गयी है। लेखक ने लिखा है कि, आम्बेडकर ने प्रजातंत्र को एक जीवन मार्ग के रूप में स्वीकार किया। उनकी राय में प्रजातंत्र कोई कोरी बातचीत नहीं है, उसका आनुभाविक एवं बौद्धिक आधार होता है। बुद्धिवाद का तात्पर्य बुद्धि में अटूट आस्था से है जिसका प्रयोग मानव के यथार्थ जीवन में किया जाता है।[1] अध्याय 4 में समाज एवं समाजवाद से सम्बन्धित डॉ. आम्बेडकर के विचारों की व्याख्या है। निर्धनता, अनैतिकता, असमानता, जातिवाद के विरुद्ध समाजवादी समाज की स्थापना से सम्बन्धित बातें इस अध्याय का केन्द्र बिन्दु है। डॉ. आम्बेडकर के 'राज्य समाजवाद' के बारे में लेखक ने लिखा है कि, इसमें संदेह नहीं कि डॉ. साहेब राज्य समाजवाद को चाहते थे, लेकिन वे परम्परावादी दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। वे यह स्वीकार करते थे कि, समाजवाद में श्रमिक और शोषित वर्गों की आर्थिक सुरक्षा का अधिक ध्यान रखकर योजनाएं तैयार करनी चाहिये। सम्पत्ति तथा स्वामित्व के एकाधिकार पर प्रभावशाली प्रतिबन्ध होने चाहिये ताकि उत्पादित धन का समान वितरण हो सके।[2] पाँचवें अध्याय में 'राज्य और सरकार' के सम्बन्ध में डॉ. आम्बेडकर के विचारों की व्यापक चर्चा है। इसमें सरकार के संसदीय स्वरूप और राज्य के संघात्मक ढाँचा को स्वीकार किया गया है। अन्तिम अध्याय में न्याय और शान्ति पर प्रकाश डाला गया है।

1.2. शोधकार्य का उद्देश्य -

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उद्देश्य है- डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर के तुलनात्मक राजनीतिक चिन्तन की वर्तमान बदलते राजनीतिक परिदृश्य में उपादेयता/ प्रासंगिकता को ज्ञात करना। साथ ही यह जानकारी हासिल करना कि इन दोनों विचारकों के तुलनात्मक विचारों को हम भारतीय समाज व्यवस्था एवं विश्व व्यवस्था

---

1. डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. बी.आर. आम्बेडकर का राजनीति दर्शन, समता साहित्य सदन, 40-मीना कॉलोनी, इमली वाला फाटक, जयपुर, राजस्थान (1990) पेज सं.-96.
2. वही, पेज सं.- 138.

में आज की परिस्थितियों में किस सीमा तक लागू कर सकते हैं जिससे मानव मात्र का दिन-प्रतिदिन उत्थान हो सके।

जहाँ डॉ॰ राममनोहर लोहिया ने अपना सम्पूर्ण जीवन कठिन संघर्षों से जूझते हुये समाजवाद की जड़ों को मज़बूत करने में लगा दिया वहीं पर डॉ॰ भीमराव रामजी आम्बेडकर ने अपने चिन्तन के हर पहलू पर निर्बलों व दलितों के उत्थान के लिये हर सम्भव अथक प्रयास किया। हमें इस शोध प्रबन्ध के माध्यम से यह ज्ञात करना है कि, ये दोनों चिन्तक अपने-अपने कार्यक्षेत्र में किस मायने में सफल व असफल रहे। इनकी कौन-कौन सी बातें भारत व विश्व के विभिन्न देशों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक समस्याओं को दूर करने में किस हद तक प्रभावी हो सकती हैं।

आज भी जबकि भारतीय व विश्व के राजनीतिक, सामाजिक परिदृश्य में सम्प्रदायवाद, आतंकवाद, भाषावाद, जातिवाद, क्षेत्रीयतावाद, अलगाववाद, वंशवाद, आर्थिक विषमता, अस्पृश्यता, गरीबी, बेरोजगारी आदि विकराल समस्याएं दिन-प्रतिदिन पैर फैलाती चली जा रही हैं तथा इनके निदान हेतु प्रयास भी समय-समय पर किये जाते रहे हैं परन्तु इन समस्याओं का व्यावहारिक समाधान आज तक नहीं हो सका है। अतः उपरोक्त दोनों विद्वानों के चिन्तन के तुलनात्मक अध्ययन से उपरोक्त समस्याओं के निदान हेतु उपायों की खोज़ करने का प्रयास किया जायेगा।

राजनीतिक क्षेत्र में शोध कार्य के उद्देश्य यह हैं कि इस शोध-प्रबन्ध के माध्यम से यह जानने का प्रयास होगा कि जनता में राज-व्यवस्था के प्रति विश्वास को किस शासन व्यवस्था के तहत बनाये रखा जा सकता है- संसदात्मक या अध्यक्षात्मक शासन द्वारा तथा राज्य के संघीय या एकात्मक रूप के द्वारा। सरकार के कौन-कौन से कार्य एवं अंग होंगे जो जनता के कल्याण के लिये सदैव तत्पर रहेंगे। उस व्यावहारिक आदर्श राज्य में अधिकारों के क्या मानने होंगे। राज्य द्वारा बनाये गये कानून (संविधान) लोगों का किस सीमा तक पोषण करेंगे, कहीं उनके लिये चुनौती तो नहीं बन जायेंगे। सम्बन्धित राज-व्यवस्था में प्रजातंत्र कैसे सफल हो सकता है या लोगों में प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली के प्रति विश्वास को कैसे स्थिर किया जा सकता है। जनतंत्र के ऐसे कौन-कौन से मौलिक तत्व हैं जिनके

द्वारा राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक प्रजातंत्र की स्थापना व्यावहारिक दृष्टिकोण से सम्भव हो सके। केन्द्रीकृत या विकेन्द्रीकृत सत्ता में से कौन, जनता के लिये अधिक लाभदायक हो सकती है। इतना ही नहीं यह भी जाँच-पड़ताल की जायेगी कि निर्धनता के विरुद्ध समाजवादी समाज की स्थापना कैसे की जा सकती है। राज्य का स्वरूप समाजवादी कैसे बन सकता है। व्यक्तिवाद और समाजवाद में अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख या कल्याण कौन कर सकता है। क्या दोनों व्यवस्थाओं का समन्वित रूप सफलता के उच्च शिखर को छू सकता है। साम्यवादी विचार क्या वर्तमान प्रासंगिक है या यह असफल हो चुका है। मनुष्यों में समानता, स्वतंत्रता कैसे कायम रह सकती है। देश का दूसरे देशों से अहिंसात्मक व्यवहार तथा शान्ति एवं व्यवस्था कैसे स्थापित की जा सकती है। भारत को अपने पड़ोसी देशों एवं एशिया, यूरोप, अमरीका तथा अफ्रीका आदि के विभिन्न देशों के साथ मधुर सम्बन्ध बनाने के लिये कैसी विदेश-नीति का अनुसरण किया जाना चाहिये। ऐसा सुझाव देना भी शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य होगा। साथ ही मनुष्य-मनुष्य के बीच, मनुष्य और समाज के बीच तथा समाज और राज्य के बीच किस प्रकार से अहिंसात्मक शान्ति की स्थापना सम्भव होगी यह भी जानने का प्रयास किया जायेगा।

राष्ट्रवाद की नींव कैसे मज़बूत होगी, तथा देश में सच्चे राष्ट्रवाद की स्थापना के लिये कौन-कौन से तत्व उत्तरदायी हो सकते हैं, शोषितों को स्वतंत्रता कैसे मिल सकती है, देश की एकता और अखण्डता कैसे कायम रह सकती है, राजनैतिक उद्दण्डता के विरुद्ध किन-किन हथियारों का प्रयोग किया जाय कि लोगों में व्यवस्था के प्रति आक्रोश और कुण्ठा न पैदा हो सके। राज्य को लोगों के प्रति तुष्टिकरण की नीति को अपनानी चाहिये, या नहीं भाषावाद एवं साम्प्रदायिकता जैसी विघटनकारी शक्ति को कैसे नियंत्रण में रखा जा सकता है तथा किस प्रकार से देश के धर्म-निरपेक्ष स्वरूप को कायम रखा जा सकता है आदि समस्याओं/ प्रश्नों के उत्तर देना भी शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य होगा।

आर्थिक क्षेत्र में शोध कार्य का उद्देश्य इस तथ्य या उपाय की खोज़ करना है कि, किसी देश की आर्थिक स्थिति को कैसे मज़बूत बनाया जा सकता है तथा

वहाँ का आर्थिक ढाँचा कैसा हो कि लोग यह महसूस करें कि निश्चित रूप से हमें आर्थिक आत्म-निर्भरता प्राप्त है। क्या आर्थिक सुदृढ़ता को प्राप्त करने के लिये कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों को पूरा का पूरा अपनाया जा सकता है या फिर उसमें संशोधन की गुंजाइश है। आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण का निर्माण कैसे सम्भव हो हो सकता है राज्य समाजवाद का सिद्धान्त आर्थिक स्थिति को कैसे मज़बूती प्रदान कर सकता है ताकि लोकतांत्रिक अर्थव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हो सके। एक देश का अन्य देशों के साथ किस प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध हो जिससे देश की अर्थव्यवस्था की हालत बिगड़े बिना अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके साथ ही साथ आर्थिक सम्बन्धों के कारण राजनीतिक सम्बन्धों में दरार न पड़े। देश के आर्थिक विकास में महिलाओं एवं दलित वर्ग की भूमिका क्या होनी चाहिये ? आदि महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर ढूँढना शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है।

सामाजिक क्षेत्र में शोध कार्य का उद्देश्य समाज में फैली सामाजिक कुरीतियों के नाश हेतु उपायों को खोजना तथा एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना हेतु सुझाव देना है जिसमें शोषण, गरीबी, बेरोज़गारी, अशिक्षा, अत्याचार, छुआछूत, अस्पृश्यता, असमानता, भेदभाव, जातिवाद, वर्णवाद, बाल-विवाह, दहेज-प्रथा एवं पर्दाप्रथा जैसे विकृतियाँ नहीं होंगी। शोध-प्रबन्ध के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया जायेगा कि, जातिवाद एवं छुआछूत जैसी असमानता पर आधारित विकृति का अन्त कैसे किया जा सकता है, दलितों एवं महिलाओं को कैसे अधिकारों से सम्पन्न बनाया जा सकता है ताकि वे समाज के उच्च वर्गों तथा पुरुष वर्ग के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चल सके जिससे देश और समाज का उत्थान सम्भव हो सके। भाषावाद देश की एकता व अखण्डता के लिये बाधक है या साधक है।

प्राचीनकाल से चली आ रही भारतीय समाज में व्याप्त हिन्दूवादी व्यवस्था- वर्णवाद, पुरोहितवाद एवं ब्राह्मणवाद- जो कि असमानता पर आधारित हैं और लगातार निम्न वर्ग के लोगों या शूद्रों का शोषण करती चली आ रही है इस व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेकने के लिये कौन-कौन से उपाय सम्भव हो सकते हैं। क्या व्यक्ति को यदि वह किसी धर्म विशेष जिसमें पैदा हुआ है यदि उसमें उसका शोषण होता रहा है तो क्या उसमें आजीवन बने रहने के लिये बाध्य है या फिर वह उस

धर्म को त्याग कर कोई अन्य धर्म जिसमें असमानता नहीं है अपना सकता है ताकि उसके शोषण और गुलामी का अन्त हो सके आदि प्रश्नों के उत्तर इस शोध-प्रबन्ध में ढूँढने का प्रयास किया जायेगा।

इस प्रकार शोध प्रबन्ध का उद्देश्य राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में बहुत व्यापक है। हम दोनों महान चिन्तकों- डॉ. राममनोहर लोहिया एवं डॉ. भीमराव आम्बेडकर के तुलनात्मक राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन से इन उपरोक्त उद्देश्यों को पूरा करने का प्रयास करेंगे।

1.3. उपधारणा -

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु निम्नलिखित उपधारणाओं को निर्धारित किया गया है-

1) डॉ. राममनोहर लोहिया एवं डॉ. भीमराव आम्बेडकर के राजनीतिक चिन्तन के तुलनात्मक अध्ययन से भारतीय उपमहाद्वीप सहित विश्व में फैली अनेक ज्वलन्त समस्याओं के निदान हेतु उपाय प्राप्त किये जा सकते हैं।

2) सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में यह शोध-प्रबन्ध समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों, कुप्रथाओं को दूर करने एवं निर्बलों के उत्थान में सहायक हो सकेगा।

3) राजनीतिक क्षेत्र में डॉ. लोहिया एवं डॉ. अम्बेडकर के प्रयासों से भारतीय राजनीति की विभिन्न समस्याओं- जातिवाद, क्षेत्रीयतावाद, सम्प्रदायवाद, वंशवाद, आतंकवाद, अलगाववाद एवं भाषावाद को दूर करने में सहायता मिलेगी।

4) सांस्कृतिक क्षेत्र में शोध-प्रबन्ध द्वारा विश्व के सभी मनुष्यों में आपसी सहयोग, समन्वय, भाईचारा तथा उनमें सांस्कृतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में सहायता मिल सकती है।

5) यह शोध-प्रबन्ध राष्ट्रीय स्तर पर लोगों में पारस्परिक सौहार्द्र, सहयोग, समन्वय एवं भाईचारे की भावना उत्पन्न करने में सहायक हो सकेगा जिससे राष्ट्र की एकता व अखण्डता अक्षुण्ण रह सकेगी।

6) प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आर्थिक क्षेत्र में नई सम्भावनाओं को तलाशने में कारगर

सिद्ध हो सकता है।

7) जन कल्याण के क्षेत्र में यह नवीन सम्भावनाओं को प्रारम्भ कर सकता है।

8) यह शोध-प्रबन्ध राजनीतिज्ञों के लिये दूसरे देशों के साथ सम्बन्धों को सुमधुर बनाने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

9) यथार्थ धरातल पर इस शोध-प्रबन्ध के द्वारा लोकतंत्र की जड़ों को मज़बूत करने में सहायता मिल सकती है।

10) प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मानववादी एवं अन्तर्राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के विकास में सहायक सिद्ध होगा।

1.4. उपकरण -

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पूर्ण करने में विभिन्न प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता पड़ी जिसमें पत्र-पत्रिकाएं, संस्मरण, डॉ॰ राममनोहर लोहिया एवं डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर द्वारा लिखित पुस्तकें, अन्य शोध ग्रन्थों तथा विभिन्न विद्वानों, राजनीतिज्ञों से प्राप्त सहायता आदि मुख्य रूप से शामिल है।

किसी भी अनुसंधान का उद्देश्य एक घटना विशेष के संदर्भ में वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालना होता है जो वास्तविक तथ्यों पर आधारित यथार्थ व निश्चित निष्कर्ष होता है।

1.5. अनुसंधान विधियाँ -

अनुसंधान कार्य में वास्तविक तथ्यों, सूचनाओं तथा आंकड़ों का संकलन करने के लिये मैंने मुख्य रूप से वैज्ञानिक अनुसंधान पद्धति, ऐतिहासिक अनुसंधान पद्धति, उप कल्पना पद्धति तथा तथ्य विश्लेषण एवं प्रतिवेदन लेख पद्धति का प्रयोग किया जो कि निम्नलिखित है :-

I) **वैज्ञानिक अनुसंधान पद्धति -**

वर्तमान वैज्ञानिक युग में प्रत्येक समस्यामूलक तथ्य की परीक्षा वैज्ञानिक ढंग से की जाती है। सामाजिक, राजनीतिक अनुसंधानों में तो इसका महत्व और भी अधिक है क्योंकि इनमें तथ्य और घटनाएं बड़ी ही विचित्र, परिवर्तनशील एवं जटिल प्रकृति की होती है। इसलिये हमको वैज्ञानिक अनुसंधान पद्धति का प्रयोग सामाजिक, राजनीतिक अनुसंधान

में बहुत ही सावधानीपूर्वक करना होता है।

साधारणतया वैज्ञानिक अनुसंधान पद्धति वह पद्धति है जिसे एक वैज्ञानिक किसी विषयवस्तु के अध्ययन के प्रयोग में लाता है। कोहन एवं नेगेल के अनुसार :-

"वैज्ञानिक पद्धति की सर्वप्रथम विशेषता यह होती है कि इससे वास्तविक तथ्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है न कि इच्छित तथ्यों को। इसकी द्वितीय विशेषता यह है कि प्रत्येक अनुसंधान स्वयं में विशिष्ट होता है।"

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार -

"वैज्ञानिक पद्धति एक सामूहिक पद है जो उन विभिन्न प्रक्रियाओं के विषय में उल्लेख करता है जिनकी सहायता से विज्ञान बनते हैं। विस्तृत अर्थ में कोई भी अध्ययन पद्धति जिसके द्वारा वैज्ञानिक अथवा निष्पक्ष और व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त किया जाता है, एक वैज्ञानिक पद्धति कहलाती है।"[1]

यदि उपरोक्त परिभाषाओं का अवलोकन करें तो हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक पद्धति में निम्नलिखित विशेषताएँ तथा तत्व समाहित है :-

1) तथ्यों का सतर्कतापूर्वक सम्यक विभाजन।
2) तथ्यों का पारस्परिक सम्बन्धों का संयोजन।
3) सृजनात्मक कल्पना के आधार पर वैज्ञानिक नियमों का निर्धारण।
4) **वस्तुनिष्ठता या पक्षपातहीनता**- अनुसंधान के अन्तर्गत हम अपने अध्ययन में व्यक्तिगत भावनाओं पूर्व कल्पनाओं को न आने दें और न ही स्वार्थवश तथ्यों को तोड़ें-मरोंडें।
5) सत्यापनशीलता (Verifiability)
6) निश्चितता (Definiteness)

---

1. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, खण्ड-20, पेज सं.- 127.

निर्धारण को अतीत की त्रुटियों के प्रति सतर्क रखते हैं तथा भविष्य के लिये भी सचेत रखते हैं।

ऐतिहासिक अनुसंधान के स्रोत (Sources) -

प्राथमिक स्रोत -

इनका सम्बन्ध प्रदत्त के मूल व मौलिक साधनों से होता है। करलिंगर ने लिखा है कि-

"प्राथमिक स्रोत एक ऐतिहासिक प्रदत्त का मूल भण्डार होता है। यह किसी एक महत्वपूर्ण अवसर का मौलिक अभिलेख होता है, या एक प्रत्यक्षदर्शी द्वारा एक घटना का विवरण होता है, या फिर एक छायाचित्र अथवा किसी संगठन की बैठक का विस्तृत विवरण आदि होता है।"[1]

गौण स्रोत -

करलिंगर के अनुसार -

"गौण स्रोत वे स्रोत हैं जो अपने मूल स्रोतों से एक या अधिक चरण दूर होते हैं।" गौण साधनों का उपयोग ऐतिहासिक अनुसंधानकर्ता के लिये सापेक्षित कम विश्वसनीय ही रहता है।

III) तुलनात्मक अनुसंधान पद्धति -

तुलनात्मक पद्धति, राजनीतिक विश्लेषण का महत्वपूर्ण और अपरिहार्य साधन है। इसे राजनीतिक विश्लेषण का मुख्य संचालक (Chief Conductor) और हृदय कहा गया है। तुलनात्मक पद्धति समानताओं और विभिन्नताओं का अध्ययन करती है। जब हम इस पद्धति को राजनीतिक विश्लेषण के लिये अपनाते हैं, तब हम राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं की तुलना करके किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचते हैं।

परन्तु हमें तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग अत्यन्त सावधानी और स्पष्टता के साथ करना होता है। क्योंकि हम जिस पद्धति से संव्यवहार

---

1. F.N. Kerlinger : Foundation of Behavioural Research (Holt) 1961, P. 698.

करते हैं उनको नियंत्रण करने वाले व्यक्ति ही होते हैं जो न केवल विचारधारा, सिद्धान्तों द्वारा ही शासन सत्ता को चलाते हैं बल्कि कभी-कभी अपने हितों की रक्षा जैसे अपनी शक्ति को बनाये रखना तथा अपनी भावनाओं द्वारा भी प्रभावित होते हैं। अतः त्रुटि होने की सम्भावना रहती है।

IV) तथ्य-विश्लेषण और प्रतिवेदन लेख पद्धति -

अनुसंधान में तथ्यों का संकलन एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, परन्तु मात्र संकलन किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता। अतः सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि तथ्यों को सुव्यवस्थित करके उनका विश्लेषण किया जाय। तथ्यों का विश्लेषण किये बिना, उसका वास्तविक उपयोग अनुसंधान कार्य में नहीं हो सकता है। इस प्रक्रिया को पूर्ण किये बिना, अनुसंधान का कार्य सच्चे अर्थों में अधूरा ही रहेगा।

पी. वी. यंग के अनुसार -

"वैज्ञानिक विश्लेषण की यह धारणा है कि एकत्र तथ्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण व भेद खोलने वाली बात और कुछ भी है, यदि सुव्यवस्थित तथ्यों को सारे अध्ययन से जोड़ा जाये तो उनका एक महत्वपूर्ण सामान्य अर्थ प्रकट हो सकता है जिसके द्वारा प्रामाणिक व्याख्याएं निकाली जा सकती हैं।"[1]

अनुसंधान कार्य में प्रतिवेदन (Report) लेख उसका अन्तिम चरण है। अनुसंधान कार्य को अधूरा ही समझा जायेगा जब तक कि प्रतिवेदन तैयार नहीं किया जाता। कितने ही सुन्दर ढंग से उप-कल्पनाओं का निर्माण, विश्वसनीय प्रणालियों का प्रयोग, तथ्यों का संकलन, उनका विश्लेषण, वर्गीकरण एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन क्यों न किया गया हो, प्रतिवेदन को तैयार किये बिना उनका महत्व नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रतिवेदन द्वारा अनुसंधान कार्य को दूसरों तक पहुँचाया जाता है। यह तभी

---

1. P.V. Young : Scientific Social Surveys and Research, Asia Publishing House, Bombay, P. 509.

सम्भव हो सकता है जब प्रतिवेदन लिखित, सुव्यवस्थित और स्पष्ट हो।

गुडे एवं हॉट्ट ने अपनी पुस्तक "Methods in Social Research" में लिखा है कि-

"प्रतिवेदन को तैयार करना अनुसंधान की अन्तिम अवस्था (Stage) है, और इसका उद्देश्य रुचि रखने वाले लोगों को अध्ययन के सम्पूर्ण परिणाम को पर्याप्त विस्तार में बतलाना है एवं इस तरह व्यवस्थित करना है जिससे पाठक तथ्यों को समझने और स्वयं के लिये निष्कर्षों की प्रामाणिकता (Validity) का निश्चय करने के योग्य बन जायें।[1]

---

1. Quoted by Goode and Hatt in 'Methods in Social Research' P. 359.

द्वितीय अध्याय

''डॉ॰ राममनोहर लोहिया एवं डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर का संक्षिप्त जीवन-परिचय एवं राजनैतिक व्यवहार''

1. बचपन,
2. शिक्षा-दीक्षा,
3. कठोर यातनाएँ एवं संघर्ष,
4. राजनीति में प्रवेश,
5. राजनैतिक व्यवहार।

द्वितीय अध्याय

"डॉ॰ राममनोहर लोहिया एवं डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर का संक्षिप्त जीवन-परिचय एवं राजनैतिक व्यवहार"

2.1. बचपन -

डॉ॰ राममनोहर लोहिया का जन्म 23 मार्च, 1910 ई0 (अक्षय तृतीया, चैत्र कृष्ण तृतीया) को अकबरपुर उत्तर-प्रदेश में हुआ था।[1] अकबरपुर तमसा नदी के किनारे बसा एक कस्बा था। राममनोहर के पिता श्री हीरालाल अपने पिता श्री शिवनारायण के चौथे पुत्र थे। हीरालाल के अन्य तीनों भाई[2] भरी जवानी में काल-कवलित हो गये थे। राममनोहर की माता का नाम **'चन्दा'** था जो कि मिथला प्रदेश के चनपटिया नामक गाँव के झुनझुनवाला परिवार की बेटी थी।

मूलरूप से राममनोहर लोहिया का परिवार उत्तर-प्रदेश के मिर्जापुर जिले का रहने वाला था। मिर्जापुर शहर गंगा नदी के किनारे स्थित है जिसके पूर्व में वाराणसी और पश्चिम में प्रयाग है। 19वीं शताब्दी में मिर्जापुर में एक सम्पन्न वैश्य परिवार रहता था। इस परिवार के मुखिया का नाम लाला मनसुखराम था। लोहे का व्यापार करना इस परिवार की परम्परा में था और कई पीढ़ी से लोहे का व्यापार

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 25 (1963).
2. हीरालाल के तीन भाई थे- गणेश नारायन, शंकरलाल और बाबूलाल।

करते चले आने के कारण इस परिवार को कई पुश्त से **'लोहिया'** नाम मिल गया था।

मनसुखराम अधिक दयालु थे उनकी सज्जनता की आस-पास के इलाकों में शोहरत थी और उसी शोहरत का सहारा लेकर एक दिन उनके पास एक गरीब ब्राह्मण अपनी जमीन बेचने के लिये आया परन्तु मनसुखराम ने ज़मीन खरीदने के बजाय उसे गिरवी रख ली ताकि ब्राह्मण जब चाहे रुपये लौटाकर अपनी ज़मीन वापस ले ले।

लेकिन मनसुखराम के जीवनकाल में ब्राह्मण कर्ज़ से मुक्त न हो सका और जब वह कर्ज़ नहीं चुका पाया तो आत्महत्या कर लिया। इस प्रकार ब्राह्मण तो अपनी ग्लानि व पश्चाताप से मरा परन्तु लोगों ने कहा कि लोहिया के परिवार को ब्रह्महत्या का दोष लगेगा। उस समय लोग पाप-पुण्य का ध्यान अधिक रखते थे। अतः समस्त लोहिया परिवार भय-त्रस्त हो उठा।

मनसुखराम के चार पुत्र थे- गोपीलाल, किशनलाल, शिवनारायण और विशुनदयाल।[1] इन्होंने ब्रह्म कोप का परिणाम अपनी आँखों से देखा। गोपीलाल निःसंतान रहे और अकाल मृत्यु के शिकार हुये। किशनलाल भी दो बेटों को छोड़कर काल के ग्रास में समा गये। किशनलाल के दो बेटों- रामकुमार और रामनिरंजन में से रामनिरंजन की बाल मृत्यु हुई। इससे चिन्ता बढ़ी कि क्या पूरे परिवार को ही कोपभाजन बनना होगा ? काशी से आये पण्डितों के विचार के बाद सुरक्षा के लिये किशनलाल के पुत्र रामकुमार को कलकत्ता भेजकर शिवनारायण और विशुनदयाल ने पूरे परिवार के साथ बिस्तर बाँधा तथा माँ गंगा को प्रणाम कर मिर्जापुर से सरयू के तट पर बसे अकबरपुर आ गये और यहाँ व्यापार जमाने का प्रयास किया।

शिवनारायण के चार पुत्र थे- गणेशनारायण, शंकरलाल, बाबूलाल और हीरालाल।[2] अकबरपुर आने पर भी ब्रह्म कोप का प्रहार समाप्त न हुआ। गणेशनारायण,

---

1. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 28. (2001).
2. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 24 (1963).

शंकरलाल और बाबूलाल की अकाल मृत्यु हो गयी। केवल हीरालाल पर ब्रह्म प्रकोप का प्रहार नहीं पड़ा। जब हीरालाल की पत्नी चन्दा को पुत्ररत्न के रूप में राममनोहर का जन्म हुआ तो उन्होंने लोहिया परिवार के बच्चों की अकाल मृत्यु की आशंका के कारण राममनोहर को एक भंगिन के हाथ आधे पैसे में बेचा और फिर खरीद कर अपनाया ताकि अनिष्ट की सम्भावना दूर हो और बच्चा बच जाये।[1] वास्तव में यह टोटका फलीभूत हुआ और बालक किलकारी मारता बढ़ने लगा। इस तरह बच्चा तो बच गया लेकिन मातृसुख का भोग वह अधिक समय तक न कर सका। जब राममनोहर मात्र ढाई वर्ष के थे तब चन्दा उन्हें लेकर मुण्डन करवाने शिवपुर क्षेत्र गयी। उसी समय बच्चे के साथ वह मायके भी गयी थी। उधर से वापस घर आने के कुछ समय बाद ही उनकी मृत्यु हो गयी। माँ के निधन पर राममनोहर के पालन-पोषण का कार्य तीन औरतों के स्नेह संरक्षण में हुआ[2]- राममनोहर की **दादी** पड़ोस के मेवालाल सुनार की माँ और लोहिया परिवार की नाईन **सरजूदेई**।

राममनोहर की माँ की मृत्यु के बाद पिता हीरालाल ने दोबारा शादी न करने का व्रत ले लिया। यद्यपि वे अभी युवा ही थे परन्तु अपने सुख के लिये अपने प्यारे बेटे को सौतेली माँ की गोद में सौंपना उन्हें पसन्द नहीं आया। उन्होंने अपना मन बहलाने के लिये राष्ट्र सेवा का व्रत ले लिया और कांग्रेस के कार्यों में समय लगाने लगे।

सरयूदेई का बेटा रामनन्दन यद्यपि राममनोहर से आयु में 8-10 वर्ष बड़ा था परन्तु यही राममनोहर के बालपन का एकमात्र सखा था। वह राममनोहर का सच्चा साथी था। राममनोहर उसे नन्दा कहकर पुकारते थे।

भारतीय भू-भाग के दक्षिण में स्थित वर्तमान 'महाराष्ट्र' प्रान्त के रत्नागिरि जिले में एक छोटे से शहर 'मण्डनगढ़' से लगभग 5 मील दूर पर **'आम्बावडे'** नामक गाँव स्थित है।[3] यह गाँव ही डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर के पूर्वजों का मूल गाँव था।

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 25 (1963).
2. वही, पेज सं.- 26.
3. धनंजय कीर : डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-8 (1981).

भीमराव के घराने का कुलनाम **'सकपाल'** तथा कुलदेवी **'भवानी'** थी। उनके पूर्वज अपने गाँव में धार्मिक त्यौहारों के समय देवी-देवताओं की पालकियाँ उठाने का कार्य किया करते थे जो उनके पारिवारिक सम्मान का द्योतक था। भीमराव के पूर्वज **'महार'** जाति के थे जो महाराष्ट्र के अछूत समूहों में एक प्रमुख जाति थी। महार जाति की बस्ती गाँवों के बाहर होती थी जिसे **'महारवाड़ा'** कहा जाता था। यह गन्दे लोगों की गन्दी बस्ती की प्रतीक महार शब्द की उत्पत्ति **'महा-अरि'** से मानी जाती है जिसका अर्थ है **'महानशत्रु'**।

भीमराव के पितामह का नाम मालोजी सकपाल था। वे एक सेवानिवृत्त फौजी सैनिक थे।[1] मालोजी सकपाल की दो सन्तानें जीवित रही। एक पुत्री मीराबाई एवं दूसरे पुत्र रामजी सकपाल। रामजी सकपाल के पिता चूंकि सेना में थे इसलिये उन्हें शिक्षा प्राप्ति के साधन सुलभ थे। सेना के बाहर सभी स्कूलों के द्वार महार बच्चों के लिये उस समय बन्द थे क्योंकि घोर छुआछूत का सामाजिक वातावरण विद्यमान था। रामजी सकपाल शिक्षा प्राप्त करने के बाद सेना में भर्ती हो गये थे और लगभग 1965 ई0 के आस-पास उनका विवाह सूबेदार मेज़र धर्मा मुरबाड़कर की पुत्री भीमाबाई के साथ सम्पन्न हुआ।[2] बाद में पुणे के नार्मल नामक स्कूल की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर रामजी सेना में अध्यापक बने तथा धीरे-धीरे फौजी छावनी के स्कूल के प्रधानाध्यापक भी हो गये।

सन् 1890 ई. तक रामजी सूबेदार की पत्नी भीमाबाई से तेरह सन्तानें पैदा हुईं जिनमें से बालाराम, गंगा, आनन्दराव, मंजुला, तुलसा जीवित रहे। शेष सन्तानें बचपन में ही मर गयीं। बेटियों के विवाह फौजी व्यवसाय करने वालों के साथ ही हुये।

रामजी सकपाल का अलग-अलग फौजी छावनियों में तबादला होते-होते अन्त में मध्य भारत के महू (इन्दौर) की फौजी छावनी के एक स्कूल में उनको स्थायित्व मिल गया। यहीं पर 14 अप्रैल 1891 ई. को उस तपोनिष्ठ भीमाबाई को

---

1. धनंजय कीर : डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-8 (1981).
2. वही, पेज सं.- 9.

पुत्ररत्न पैदा हुआ। सूबेदार रामजी व भीमाबाई से उत्पन्न इस चौदहवीं सन्तान का नाम '**भीम**' रखा गया। भीम को उसकी माँ एवं बुआ (मीराबाई) प्यार से '**भिवा**' कहकर पुकारती थीं। भीम अपनी माँ को '**बय**' कहता था।

भीम जब ढाई-तीन वर्ष का था तब उसके पिता 25 वर्ष तक सेना में नौकरी करने के बाद 1894 ई॰ में सेवानिवृत्त हो गये। कुछ समय महू में बिताने के बाद रामजी अपने परिवार सहित पैतृक गाँव आम्बावड़े के पास दापोली आ गये। दापोली के मराठी स्कूल में भीम के बड़े भाई आनन्दराव की शिक्षा शुरू हुई तथा इसी स्कूल में भीम ने भी श्रीगणेश लिखने का शुभारम्भ किया।[1] रामजी एवं उनका परिवार दापोली में अधिक दिनों तक नहीं ठहर पाया क्योंकि **प्रथमतः** वहाँ का वातावरण भीमाबाई को पसन्द नहीं आया और **द्वितीयतः** उस समय रामजी को 50 रु0 मासिक पेन्शन मिलती थी जो पारिवारिक खर्च के लिये पर्याप्त नहीं थी। फलस्वरूप वे दापोली छोड़कर अपने पूरे परिवार सहित 1896 ई॰ में सतारा (बम्बई) आ गये। वहाँ की जान-पहचान और प्रयास के कारण उनकी सतारा के सरकारी सार्वजनिक काम के विभाग (पी॰डब्लू॰डी॰) के दफ्तर में स्टोरकीपर (कोठारी) के पद पर नियुक्ति हुई। उन्होंने सतारा के महारवाड़ी के नज़दीक ही अपना घर बसाया।

भीम बचपन में शरीर से काफी चुस्त और मस्त किन्तु नटखट था। वह हमउम्र बच्चों को खूब पीटता था। पिता रामजी भीम को धमकाते ज़रूर थे, परन्तु उसको मारते नहीं थे- शायद इसलिये कि उनको भीम के उज्ज्वल भविष्य का कुछ आभास सा हो गया था। परन्तु भीमाबाई कभी-कभी भीम को खूब पीटती थी। ऐसे समय में भीम की रक्षा उसकी बुआ मीराबाई करती थी।[2] जब रामजी का सतारा से गोरेगाँव तबादला हो गया तो वे अकेले गोरेगाँव में रहने लगे। इधर भीमाबाई बीमार हो गयीं और दिन-प्रतिदिन हालत खराब होती चली गयी। अन्त में एक दिन सारे परिवार को रोता-बिलखता छोड़कर 1896 ई॰ में भीमाबाई चल बसी। भीमाबाई की मृत्यु के बाद सारा परिवार अनाथ जैसा हो गया। कई दिनों तक भी 'माँ' को याद

---

1. धनंजय कीर : डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं॰-11 (1981).
2. विजय कुमार पुजारी, डॉ॰ आम्बेडकर जीवन दर्शन, पेज सं॰- 30-31 (1988).

करके रोता रहा।[1]

माँ की मृत्यु के बाद भीम व आनन्द राव का लालन-पालन उनकी बुआ मीराबाई ने किया। यह रामजी की बड़ी बहन थी जो पति से अनबन के कारण मायके में ही रहती थी। माँ से वंचित भीम पर उसका अतिशय प्रेम था। वह उसका लाडला था।[2] परन्तु मीराबाई के पंगु होने के कारण घर का सारा काम नहीं हो पाता था इसलिये रामजी सूबेदार ने शिरकावले नामक सेवानिवृत्त ज़मादार की बहन **'जिजाबाई'** नामक विधवा स्त्री से पुनर्विवाह कर लिया। भीम इस बात को सहन नहीं कर पाता था। वह अपनी सौतेली माँ को माँ के रूप में कभी स्वीकार नहीं कर पाया। उसका मन सदैव कचोटता रहा। कभी-कभी वह सौतेली माँ से झगड़ पड़ता था और फिर भीमाबाई को याद करके रोने लगता था।[3] डॉ. आम्बेडकर ने अपने बचपन के बारे में कहा है कि-

"मेरे बचपन के बारे में कहूँ तो मुझे उसके बारे में आश्चर्य महसूस होता है। बारह-तेरह साल का होने तक मेरे बारे में सभी लोगों का ऐसा विश्वास था कि यह बच्चा वंश को कालिख लगा देगा। इसके हाँथों कुछ नहीं होगा। मैंने बारह-तेरह वर्ष की उम्र तक लंगोटी के सिवा दूसरा वस्त्र नहीं पहना। इसके सिवाय घर-घर जाकर गाँव की स्त्रियों से पूछताछ करता कि क्या तुम्हारी लकड़ियाँ चीरनी है। पहले-पहल मुझे शिक्षण का कोई मूल्य ही महसूस नहीं होता था। माँ की मृत्यु के बाद मेरी परवरिश बुआ ने की। मुझे लगता था कि पढ़-लिखकर क्या करना है ? छः महीने मैंने कुंजड़े का धन्धा किया। मिलिट्री कैम्प में बाग-बगीचे थे। वहाँ के कुंजड़ों के लड़कों से दोस्ती की। कंकर-पत्थर हटाये, जगह साफ की, नल से बाग को पानी देना था पर जम नहीं पा रहा था। तब मैंने घर की खपरैले निकाली और उनसे नालियाँ बनायीं कुछ ऐसी ही मेरी जिन्दगी रही।[4]

---

1. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर जीवन दर्शन, पेज सं.- 31 (1988).
2. धनंजय कीर : डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-13 (1981).
3. डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. आम्बेडकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पेज सं.-11 (1988).
4. हिमांशु राय, युग पुरुष : बाबा साहब आम्बेडकर, पेज सं.-5.

भीम के पितामह मालोजी सकपाल आम्बावड़े गाँव के निवासी होने के कारण उनके परिवार के लोग आम्बावडेकर 'उपनाम' से जानते थे। भीम का उपनाम आम्बावड़ेकर था परन्तु उनके एक ब्राह्मण मास्टर जो कि उन्हें अत्यधिक प्रेम करते थे तथा जिनका उपनाम आम्बेडकर था को भीम का उपनाम बोलने में कठिनाई महसूस होती थी फलस्वरूप उन्होंने अपना 'आम्बेडकर' उपनाम भीम को दे दिया तथा वैसा ही स्कूल के रजिस्टर में चढ़ा लिया।[1]

2.2. शिक्षा-दीक्षा -

राममनोहर की शिक्षा किसी एक स्थान/शहर में पूरी नहीं हुई। प्राथमिक शिक्षा के लिये उन्हें घर (अकबरपुर) के समीप टण्डन पाठशाला में भर्ती करवाया गया। परन्तु इस समय उनका ध्यान पढ़ाई से ज्यादा गुल्ली-डण्डा और कबड्डी में ही लगता था। पाँचवीं कक्षा में पढ़ने के लिये उन्हें नये स्कूल विश्वेश्वरनाथ हाईस्कूल में दाखिल कराया गया। पढ़ाई के इन्हीं दिनों में राममनोहर ने अलगुजा बजाना सीखा। राममनोहर का एक अलगुजा आज भी अकबरपुर में सरयूदेई के घर में सुरक्षित है।[2]

जब हीरालाल अकबरपुर से कामकाज़ के सिलसिले में बम्बई गये और वहीं बस गये तो उन्होंने पुत्र राममनोहर का नाम बम्बई के मारवाड़ी विद्यालय में लिखवाया। यहाँ राममनोहर को शहरी वातावरण मिला। पढ़ाई के विकास के साथ ही नटखट व शरारती स्वभाव को बढ़ावा मिला। जब 01 अगस्त, 1920 को भारतीय देशभक्ति के प्रतीक लोकमान्य तिलक का स्वर्गवास हुआ[3] तो राममनोहर ने इसे 'महान-मृत्यु' माना और तत्काल ही विद्यालय के लड़कों को हड़ताल करने का संकेत किया। इसी वर्ष भारतीय राजनीतिक आकाश पर महात्मा गाँधी का आगमन हुआ।[4] 1920 में जब गाँधी जी बम्बई आये तो हीरालाल अपने साथ

---

1. मराठी 'नवयुग' 13 अप्रैल 1947.
2. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.-32 (2001).
3. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.-29 (1963).
4. वही, पेज सं.- 29.

राममनोहर को लेकर महात्मा गाँधी से मिलने गये। गाँधी को देखते ही राममनोहर ने अपनी आदत के विपरीत महात्मा गाँधी के चरण छुए और गाँधी जी का हाथ बरबस राममनोहर की पीठ थपथपाने लगा।[1] 1921 में हीरालाल अकबरपुर गये वहाँ पर राममनोहर की अपने ही घर में पं0 जवाहरलाल नेहरू से मुलाकात हुई।

1925ई॰ में राममनोहर ने मारवाड़ी विद्यालय बम्बई से मैट्रिक की परीक्षा 61 प्रतिशत अंकों के साथ पास की।[2] परन्तु इसी वर्ष बम्बई छूट गयी। राममनोहर की इण्टर की पढ़ाई मदनमोहन मालवीय के काशी विश्वविद्यालय में हुई। इस समय इतिहास उनका प्रिय विषय था। उन्होंने इतिहास की पुस्तक में वर्णित **'काल कोठरी'** की घटना को झूंठा व मनगढ़न्त सिद्ध किया इतना ही नहीं उन्होंने इतिहास में शिवाजी के लिये 'लुटेरा सरदार' शब्द को गलत कहा। राममनोहर ने कहा कि ऐसे हर इतिहास की पढ़ाई बन्द होने चाहिये और शुद्ध व सच्चा इतिहास पुनः लिखा जाना चाहिय।[3]

1927 ई॰ में राममनोहर ने वाराणसी से इण्टर पास किया और आगे की पढ़ाई के लिये कलकत्ता चले गये।[4] उन्होंने कलकत्ता के 'ताराचन्ददत्त स्ट्रीट' स्थित 'पोद्दार छात्र निवास' हॉस्टल में रुकने का स्थान खोज़ा और 'विद्यासागर कॉलेज' जैसे भेड़िया धसान कॉलेज में जहाँ अध्यापकों की विचारधारा राष्ट्रीय थी में प्रवेश लिया। हीरालाल कलकत्ता में रहते हुये राष्ट्रीय तथा कांग्रेस सम्बन्धी कार्यों में ज्यादा समय लगाते थे और धन कमाने को उतना ही काम करते थे जितने में उनका निज़ी सीमित खर्च तथा राममनोहर की पढ़ाई का खर्च निकल आये। कॉलेज के दिनों में 1928 में राममनोहर ने **'साइमन कमीशन'** का पूरे छात्र संगठन के साथ विरोध किया था। इन्हीं दिनों छात्रावास के नियम उनके व्यक्तिगत नियमों से बहुत कम मिल पाते थे।

---

1. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 34 (2001).
2. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.-30 (1963).
3. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 36 (2001).
4. वही, पेज सं.-37.

1929 ई॰ में राममनोहर ने द्वितीय क्रमांक से प्रथम श्रेणी में बी.ए. की परीक्षा अंग्रेजी ऑनर्स के साथ पास की।[1] बी.ए. पास करने के बाद राममनोहर के सामने आगे की शिक्षा प्राप्त करने की समस्या उठ खड़ी हुई। हीरालाल जी की आर्थिक स्थिति पहले जैसी तो नहीं थी और राममनोहर की विदेश में पढ़ाई का पूरा खर्च उठा सकने की उनमें सामर्थ्य भी नहीं थी परन्तु किसी प्रकार (कुछ ट्रस्टों द्वारा छात्रवृत्ति की मदद से) से जुलाई 1929 में राममनोहर विदेश में शिक्षा प्राप्त करने के लिये रवाना हो गये।[2] वे सीधे लन्दन गये परन्तु इस बीच उनके मन में लन्दन या बर्लिन में पढ़ने की दुविधा बनी रही। इंग्लैण्ड में कुछ समय रुकने के बाद उन्होंने बर्लिन (जर्मनी) में पढ़ने का निर्णय किया। ऐसा निर्णय उन्होंने दो कारणों से लिया-

1) राममनोहर ने लन्दन में अनुभव किया कि वहाँ हर भारतीय को नीची निगाह से देखा जाता है और उनके साथ कुत्तों जैसा बर्ताव किया जाता है।

2) उन्हें इंग्लैण्ड के एक पुस्तकालय के प्रबन्धक से यह सलाह मिली कि यदि कुछ नया सीखना हो तो बर्लिन जाओ वहाँ विचारों की ताज़गी मिलेगी।

राममनोहर बर्लिन पहुंचकर अपना नाम बर्लिन विश्वविद्यालय में लिखवाया। विश्वविद्यालय के नियम[3] के तहत राममनोहर ने प्रो0 बर्नर जेम्बार्ट को अपना अध्यापक चुना और धरती का नमक/नमक सत्याग्रह शीर्षक से शोध प्रबन्ध लिखने में जुट गये।

उन्हीं दिनों जर्मनी के हुम्बोल्ट विश्वविद्यालय में संसार के सुविख्यात **'आइन्सटीन'** भौतिक शास्त्र पढ़ाते थे। राममनोहर यद्यपि अर्थशास्त्र के शोध छात्र थे तथापि आइन्सटीन के सापेक्षता सिद्धान्त ने विज्ञान में एक नये युग की शुरुआत की थी। राममनोहर उनकी कक्षा में जा बैठे। वहाँ वे आइन्सटीन से बहुत प्रभावित

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.-34 (1963).
2. राममनोहर के विदेश प्रवास के लिये अग्रवाल जाति के कोष ने खर्च दिया था।
3. बर्लिन विश्वविद्यालय का नियम था कि छात्र अपना अध्यापक व परीक्षक स्वयं चुनता था।

हुये।

बर्लिन के विद्यार्थियों में पढ़ाई के साथ ही राजनीति में रुचि लेने की आदत थी। इसी वातावरण का असर था कि राममनोहर भी बर्लिन में शिक्षा काल में राजनीति से दूर न रह सके। उनकी प्रेरणा से वहाँ के प्रवासी भारतीय विद्यार्थियों ने एक संस्था 'मध्य यूरोप हिन्दुस्तानी संघ' बनायी। वे इस संस्था के मंत्री बने यह संस्था भारत के बाहर भारतीय राष्ट्रीयता के प्रचार का कार्य करती थी।

1932 ई. में राममनोहर ने 'नमक सत्याग्रह' विषय पर अपना शोध प्रबन्ध 'जर्मन भाषा' में पूरा किया और बर्लिन विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की।[1] बर्लिन में जो प्रोफेसर थे वही परीक्षक होते थे। चार परीक्षकों ने राममनोहर की परीक्षा ली और अन्तिम परीक्षा के काफी दिनों पूर्व प्रो. शूमाखर ने राममनोहर को बुलाकर बहुत गोपनीय ढंग से कहा 'तुम अब ज़र्मनी में मत ठहरो हिटलरवाद की विजय होने ही वाली है, ऐसे वातावरण में तुम्हारा ज़र्मनी में रहना उचित नहीं है।' यह कहकर उन्होंने राममनोहर की परीक्षा का निश्चित तिथि के पूर्व ही प्रबन्ध भी करा दिया।

इस प्रकार 1933 ई. के शुरू होते-होते डॉक्टर की उपाधि से विभूषित राममनोहर लोहिया विद्यार्थी जीवन समाप्त कर स्वदेश के लिये रवाना हुये।

डॉ. भीमराव आम्बेडकर की भी पूरी शिक्षा किसी एक स्थान में नहीं हुई। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा सतारा और बम्बई में हुई प्राथमिक शिक्षा के बाद प्रारम्भ में भीमराव मराठा माध्यमिक स्कूल में जाने लगे। परन्तु यहाँ अस्पृश्यता के दंश (विष) के कारण वह नहीं पढ़ सके और उनका दाखिला एल्फिस्टन हाईस्कूल बम्बई में करवाया गया।[2] यह विद्यालय सरकारी था परन्तु उसमें भी भीमराव को अस्पृश्यता के अभिशाप से अपमानित होना पड़ा। उस स्कूल के बच्चों ने भी जाने-अनजाने भीमराव को अपमान के दाग दिये।[3]

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.-43 (1963).
2. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 20 (1981).
3. वही, पेज सं.- 21.

रामजी सकपाल चाहते थे कि भीमराव संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करें परन्तु उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी, क्योंकि भीमराव अछूत था। भीमराव एवं आनन्दराव दोनों संस्कृत पढ़ना चाहते थे परन्तु संस्कृत के ब्राह्मण अध्यापक ने साफ कहा कि, "मैं अछूत लड़कों को संस्कृत नहीं सिखाऊँगा।" लाचार होकर दोनों भाई फारसी भाषा सीखने लगे। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि-

"मुझे संस्कृत भाषा पर अत्यन्त अभिमान है और मैं चाहता था कि संस्कृत का अच्छा विद्वान बनूँ, परन्तु ब्राह्मण अध्यापक के संकुचित दृष्टिकोण से मुझे संस्कृत भाषा से वंचित रह जाना पड़ा।"[1]

भीमराव की भेंट चर्नी रोड गार्डेन में सिटी हाईस्कूल के हेडमास्टर श्री कृष्णा जी से हुई। केलुस्कर भीमराव का परिचय प्राप्त करके अत्यन्त चकित व खुश हुये और वे भीमराव को पढ़ने हेतु अच्छी पुस्तकें देने लगे।[2] यही केलुस्कर आगे चलकर भीमराव के गुरू ही नहीं वरन् उसके उज्ज्वल भविष्य में सहायक सिद्ध हुये। भीमराव को इस समय कोर्स के बाहर की पुस्तकें पढ़ने व संग्रह करने का शौक था। इससे रामजी को अनेक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अप्रैल 1906 को भायखला मार्केट के खुले शेड में भीमराव और भिकूधुत्रे की पुत्री रामीबाई का विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह के समय भीमराव 15 वर्ष के तथा रामीबाई 9 वर्ष की थी। वधू का ससुराल का नाम रमाबाई रखा गया।[3]

भीमराव ने 1907 ई. में एल्फिस्टन हाईस्कूल बम्बई से मैट्रिक (हाईस्कूल) की परीक्षा पास की। उन्हें 750 में से 282 अंक प्राप्त हुये परन्तु उस समय एक अछूत लड़के का मैट्रिक तक पहुंच जाना बहुत बड़ी बात थी। इससे घर-परिवार में और बम्बई की अस्पृश्य जनता में खुशी की लहर दौड़ गयी। अस्पृश्य जनता ने भीमराव का अभिनन्दन करने के लिये बम्बई के परेल दादर क्षेत्र में एक स्वागत सभा का आयोजन किया। इस सभा में श्री केलुस्कर ने स्वयं द्वारा मराठी में लिखी

---

1. 'नवयुग', 13 अप्रैल 1947.
2. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.-37 (1988).
3. वही, पेज सं.- 38.

'बुद्ध-चरित्र' पुस्तक भीमराव को भेंट की जो आगे उनके जीवन में क्रान्तिकारी साबित हुई।[1]

1908 में भीमराव ने एल्फिस्टन हाईस्कूल से एल्फिस्टन कॉलेज बम्बई में प्रवेश लिया। इस कॉलेज से 1910 में आट्र्स विषयों के साथ इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की। इस समय तक रामजी ने भीम की पढ़ाई का खर्च बहुत ही मुश्किल से संभाला था। अतः इसके बाद भीमराव को आगे पढ़ाने की समस्या थी। बाद्र में शिक्षा प्रेमी बड़ौदा नरेश महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने भीमराव को आगे की पढ़ाई जारी रखने के लिये 25 रुपये मासिक छात्रवृत्ति देना स्वीकार किया और भीमराव ने बी.ए. की पढ़ाई शुरू कर दी।

सन् 1912 ई. में उन्होंने बी.ए. की परीक्षा तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण की। जब भीमराव बी.ए. की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे उसी समय दिसम्बर 1912 में पत्नी रमाबाई के सहयोग से पिता बने और रामजी सकपाल दादा बने। बच्चे का नाम यशवन्तराव रखा गया।[2]

जब भीमराव बड़ौदा सरकार के ऋण से मुक्त होने के लिये बड़ौदा में नौकरी कर रहे थे तब उनके पिता रामजी के अस्वस्थ होने का तार मिला। भीमराव के घर पहुंचते-पहुंचते 2 फरवरी, 1913 को रामजी का निधन हो गया। इस पर अम्बेडकर फूट-फूटकर रोये।[3]

भीमराव ने बड़ौदा के महाराजा की सहमति से वहाँ के शिक्षामंत्री के सम्मुख 4 जून, 1913 को एक करार पर हस्ताक्षर किये। इसके तहत बड़ौदा महाराज ने भीमराव को 11$^{1}/2$ पौण्ड मासिक छात्रवृत्ति 15 जून, 1913 से लेकर 14 जून, 1916 तक अमरीका में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये देना मंजूर किया। बदले में भीमराव ने अध्ययन के बाद बड़ौदा राज्य की 10 वर्षों तक सेवा करना स्वीकार किया।

---

1. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.-39 (1988).
2. हिमांशु राय, युग पुरुष : बाबा साहब आम्बेडकर, पेज सं.- 14.
3. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.-42 (1988).

भीमराव 15 जून 1913 को पानी के जहाज़ से अमरीका रवाना हो गये और 21 जुलाई, 1913 को न्यूयार्क पहुंचे। यहाँ कोलम्बिया विश्वविद्यालय में एम.ए. में प्रमुख विषय अर्थशास्त्र एवं सहायक विषय समाजशास्त्र, राज्यशास्त्र, मानववंशशास्त्र व तत्वज्ञान के साथ प्रवेश ले लिया।[1] पहले भीमराव विश्वविद्यालय के आवास में रहने लगे लेकिन बाद में एक ऐसे स्थान पर रहने लगे, जहाँ कुछ भारतीय विद्यार्थी रहते थे। वे **नवलभथेना** नामक पारसी विद्यार्थी व मित्र के साथ लिविंगस्टन हाल शयन मन्दिर में रहने लगे।[2] न्यूयार्क का जीवन भीमराव के लिये एक अभूतपूर्व अनुभव था। वहाँ के विद्यार्थियों के साथ वे बराबरी के साथ वार्तालाप करते, भोजन करते और घूमते थे। सभी जगह समता का वातावरण था। उन्होंने अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित करके वहाँ पर 16-17 घण्टे से लेकर 18 घण्टे तक प्रतिदिन विद्या का अभ्यास करने लगे। भूखा शेर जैसे अपने शिकार पर झपटता है वैसे ही ज्ञान के भूखे भीमराव ग्रन्थों पर टूट पड़ते।[3]

1915 ई. में भीमराव ने "Ancient Indian Commerce" विषय पर प्रबन्ध लिखकर कोलम्बिया विश्वविद्यालय से एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। मई 1916 में डॉ. गोल्डेनवेज़र के सेमिनार में उन्होंने "Caste in India their Mechanism Genesis and development" विषय पर एक निबन्ध पढ़ा।[4] जो 1917 में प्रकाशित हुआ।

1916 ई. में ही भीमराव ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर "नेशनल डिविडेन्ड ऑफ इण्डिया : ए हिस्टारिकल एण्ड एनालिटिकल स्टडी" नामक प्रबन्ध लिखा जिसे जून 1916 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने स्वीकार करके भीमराव को पी-एच.डी. की उपाधि प्रदान की। यह प्रबन्ध 1924 में लन्दन से 'ब्रिटिश भारत में प्रान्तीय वित्त का उदय' नामक शीर्षक से प्रकाशित किया गया।

अमरीका में अध्ययन पूरा करने के बाद भीमराव की ज्ञान पिपासा और बढ़ गयी। अतः जुलाई, 1916 में वे अमरीका से लन्दन गये। परन्तु इसी बीच उनकी

---

1. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.-44 (1988).
2. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 28 (1981).
3. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.-44 (1988).
4. The Indian Antiquary, May 1917.

छात्रवृत्ति की अवधि समाप्त हो गयी और बड़ौदा महाराज द्वारा इसकी अवधि आगे न बढ़ाने के कारण उन्हें मज़बूर व निराश होकर भारत लौटना पड़ा। भारत में अत्यधिक कठिनाइयों से पैसा एकत्र करने के बाद वे पुनः लन्दन जाकर अध्ययन शुरू कर दिये।

जून, 1921 ई. में लन्दन विश्वविद्यालय ने भीमराव को "Provincial Decentralization of Imperial finance in British India" नामक प्रबन्ध पर एम.एस-सी. (अर्थशास्त्र) की उपाधि प्रदान की और फिर भीमराव डी.एस-सी. के लिये प्रबन्ध लिखने में लग गये। उन्होंने डी.एस-सी. उपाधि के लिये लिखा हुआ "The Problem of Rupee" नामक प्रबन्ध लन्दन विश्वविद्यालय को 1922 की प्रथम तिमाही में प्रस्तुत किया।[1] उसी समय भीमराव बैरिस्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण हुये। डी.एस-सी. उपाधि हेतु प्रस्तुत प्रबन्ध 1923 के अन्त में स्वीकृत हुआ और लन्दन विश्वविद्यालय ने भीमराव को 'डॉक्टर ऑफ साइन्स' की उपाधि प्रदान कर दी।

2.3. कठोर यातनाएँ एवं संघर्ष -

डॉ. राममनोहर लोहिया को कठोर यातनाएँ भारत में स्थापित ब्रिटिश शासन के द्वारा दी गयी। वह जैसे ही विदेश से अपना अध्ययन समाप्त करके आये वैसे ही भारत में स्थापित ब्रिटिश कुशासन के खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया फलस्वरूप उन्हें खौफनाक शारीरिक, मानसिक प्रताड़नाएँ दी गयी।

24 मई, 1939 ई. को डॉ. लोहिया को पहली बार उनकी कर्मभूमि कलकत्ता में गिरफ्तार किया गया जब वह दक्षिण कलकत्ता कांग्रेस कमेटी द्वारा आयोजित एक सभा में 'कांग्रेस और हमारा वर्तमान कर्तव्य' शीर्षक पर अपना भाषण समाप्त कर चुके थे। डॉ. लोहिया ने अपने मुकदमें की पैरवी स्वयं की। 14 अगस्त, 1939 ई. को मजिस्ट्रेट ने डॉ. लोहिया को रिहा करते हुये उनके कानून सम्बन्धी ज्ञान की सराहना की और कहा कि डॉ. लोहिया अगर बैरिस्टर होते तो बड़ी भारी सफलता अवश्य ही हासिल करते।[2]

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 48 (1981).
2. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 69 (1963).

7 जून, 1940 ई॰ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी कार्यालय के हाते में 'भारत सुरक्षा कानून' के अन्तर्गत उन्हें पुनः गिरफ्तार किया गया। इसका कारण डॉ॰ लोहिया का 11 मई, 1940 को सुल्तानपुर जिला राजनैतिक सम्मेलन दोस्तपुर में दिया गया भाषण था। इसमें उन्होंने कहा था कि- 'दुनिया की अन्य जातियों का शोषण और गुलामी की बुनियाद पर खड़ी हुई ब्रिटिश साम्राज्य की विशाल इमारत अब लड़खड़ा रही है और ब्रिटिश सरकार द्वारा परिश्रमपूर्वक तैयार किये गये इसके विशाल स्तम्भ अब गिरकर इसे चकनाचूर होने से बचा नहीं सकते हैं।''[1]

डॉ॰ लोहिया को स्वराजभवन इलाहाबाद में गिरफ्तार करके पुलिस के द्वारा सुल्तानपुर ले जाया गया और रात में कोतवाली के एक अंधेरे कमरे में रखा गया। मुकदमें की पेशी के लिये ज़बरन वज़नी हथकड़ियाँ डालकर तीन मील पैदल ले जाया गया। अदालत ने 01 जुलाई, 1940 को फैसला सुनाया और भारत सुरक्षा कानून की 38वीं धारा के तहत उन्हें दो वर्ष की सख्त कैद की सज़ा दी गयी। डॉ॰ लोहिया को सुल्तानपुर से बरेली ले जाया गया। जहाँ उनके साथ अनेक दुर्व्यवहार किये गये। बाद में परिस्थितियाँ प्रतिकूल होने पर 04 दिसम्बर, 1941 को ब्रिटिश सरकार ने अन्य नेताओं के साथ डॉ॰ लोहिया को भी रिहा कर दिया।

08 अगस्त, 1942 को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई जिसमें **'भारत छोड़ो'** प्रस्ताव पूरे बहुमत से स्वीकृत हुआ। इसी दिन महात्मा गाँधी ने राष्ट्र के नाम **'करो या मरो'** का संदेश दिया।[2] 09 अगस्त से पूरे देश में क्रान्ति शुरू हो गयी इसी क्षण की डॉ॰ लोहिया को प्रतीक्षा थी। ब्रिटिश सरकार अपनी तमाम शक्तिशाली फौज और पुलिस दल के साथ दमन के लिये तैयार थी। देश में निर्मम हत्या तथा जोर-जुल्म का नंगा नाच जारी हुआ। लाठी, गोली, अश्रुगैस आदि द्वारा आन्दोलन दबाने की कोशिश हुई लेकिन इस पर भी ज़ालिम सरकार नाकामयाब हुई। डॉ॰ लोहिया जैसे समाजवादी नेताओं ने भूमिगत आन्दोलन के माध्यम से ब्रिटिश राज्यतंत्र ठप करने की योजना बनायी और अंग्रेजों की

---

1. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 77-78 (2001).
2. वही, पेज सं.- 88.

खुफिया पुलिस को चकमा देकर 08 अगस्त, 1942 से लेकर 20 मई, 1944 तक लगभग 21-22 महीनों तक भूमिगत रहकर डॉ॰ लोहिया ने आन्दोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने अपने भूमिगत जीवन का ज्यादा समय बम्बई और कलकत्ता में बिताया तथा इन्हीं स्थानों पर दो गुप्त रेडियो केन्द्रों की स्थापना भी की गयी।[1]

गिरफ्तारी से काफी बचने के बावजूद अन्ततोगत्वा डॉ॰ लोहिया को पुलिस ने 20 मई, 1944 को बम्बई के बाबुलनाथ रोड पर स्थित एक मकान की तीसरी मंजिल से गिरफ्तार कर लिया[2] और डॉ॰ लोहिया के फरारी जीवन का अन्त हो गया व 34 वर्ष का नौज़वान अनन्तकाल के लिये अंग्रेजों के खूनी पंजों के बीच फँस गया। एक महीने बम्बई में रखने के बाद सरकार ने उन्हें **'लाहौर फोर्ट'** जैसे ज्यादा यातना देने वाले किले में भेज दिया। लोहिया के प्रकरण में केन्द्र सरकार ने मुख्य रूप से साज़िश रची थी।[3]

लाहौर किले के अन्दर कोठरी तक लोहिया को हर समय बन्द गाड़ियों में ही लाया गया। लाहौर किले में बन्द होने के बाद भी काफी लम्बे समय तक डॉ॰ लोहिया को यह पता ही नहीं चल सका कि वे दुनिया के किस भू-खण्ड में एवं कहाँ बन्द है। उन्हें भयानक अंधेरे, बदबूदार कमरों में डाला गया जहाँ पता ही न चले कि दिन है या रात है ? आदमी तो आदमी किसी पक्षी की भी सूरत देखने के लिये न मिलें।

हाँ,....हाँ...., वह लोहिया ही था जिसने यातनाओं को सहा, लगातार सहा और बार-बार बेहोश होता गया। चारो ओर अंधेरा और बदबूदार दम तोड़ती हुई हवा। भीड़ में रहने वाला इन्सान एकदम एकान्त में जा फँसा। न वहाँ धूप और न कोई खुली खिड़की। एकदम दीमाग में सन्नाटा, शरीर में शून्यता। न कुछ सोंचना सम्भव और न असोचना ही। मार ही मार। क्रमबद्ध यातनाओं का पुरज़ोर चल पड़ा अन्तहीन सिलसिला जहाँ एक से एक जल्लाद अफसरों को रखा जाता और

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं॰- 88 (1963).
2. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 103 (2001).
3. इन्दुमती केलकर, लोहिया .: सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 92 (1963).

सुविख्यात लाहौर का किला।[1]

सताने वाले आदमी कर्मकुशल थे और जानते थे कि कोई भी व्यक्ति अक्सर करीब-करीब अन्ततः झुकता है। केवल उसके मन और जिस्म की कमज़ोर जगहों को जगाना चाहिये। कैदी के पास कोई दोस्त नहीं रहता है। न उसके पास बोलने लिखने की चीज, न किताबें, न कागज, न कलम रहती है। ऐसा आदमी तुरन्त सोंचने लगता है कि निकट की दुनिया उसकी हस्ती के बारे में न सोचती है, न जानती है, दुश्मन आइन्दा की ज़िन्दगी की दृष्टि से केवल दुश्मन ही उसे मिलते हैं।

वास्तविक यातना का क्रम डॉ॰ लोहिया को जबरदस्ती सोने नहीं देने से शुरू हुआ। सोने न देने का यह ढंग, बिछौना सामने बिछा रहे परन्तु उस पर लेटने न देना, इतना आसान व सहज़ न था। कुर्सी पर बैठे-बैठे भी कोई व्यक्ति सो सकता है लेकिन डॉ॰ लोहिया को ज़बरन आँखें खुली रखने को विवश किया जाता। नींद से मतवाले व्यक्ति को आँखें बन्द न करने दिया जाये, इससे बड़ी यातना और क्या होगी। जागृत अवस्था में सामान्यतः जितनी देर में पलकें गिरती हैं उतनी ही समय आँखें बन्द करने दिया जाता था। अगर एक पल से अधिक आँखें बन्द रखते तो पुलिस का पहरे पर तैनात अफसर तुरन्त असाधारण रूप से वजनी हथकड़ियों से लगी जंजीर को झिटककर झकझोर देता या सिर को चारों ओर थोड़े झटके से हिलाता। इस प्रकार की सख्त निद्रा रहित हालत ने डॉ॰ लोहिया को सशंक बना दिया।

बलात् जागरण की अवधि धीरे-धीरे लगातार तीन दिनों की हुई और यातना के दूसरे व तीसरे महीने में यह 5 दिनों की हो गयी। बाद में अनिद्रा की अविध एक हफ्ते बढ़ा दी गयी और उसके बाद यह अवधि दस दिन व दस रात तक एक साथ कर दी गयी। उस समय तक शारीरिक लड़ाई की इच्छा भी अगर उनमें कभी थी तो वह नहीं रह गयी थी।[2] इस समय डॉ॰ लोहिया के नाक व मुँह से खून गिरने लगा। नाक के भीतर खून के छोटे-छोटे गड्ढे बन गये। कई-कई घण्टों तक तेज़ बुखार भी

---

1. द लाहौर फोर्ट टार्चर कैम्प : शार्दूल सिंह कवीश्वर।
2. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 94 (1963).

रहने लगा। जब कभी डॉ. लोहिया जबरदस्ती आँख बन्द किये रहते तो उन्हें एक सिपाही खींचकर ज़मीन के खुरदुरे फर्श पर चक्करदार गोलाई में घसीटता था। लगातार एक घण्टा घसीटते रहने पर डॉ. लोहिया की हथेलियाँ व केहुनियाँ लहू-लुहान हो जाती। डॉ. लोहिया को चार महीने तक साबुन या कोयले की बुनकी/राख से दाँत साफ करने पड़े। इसी यातनाकाल में उनके दाँत खराब हुये और हृदय कमज़ोर हो गया।[1]

असह्य यातनाओं को सहते-सहते डॉ. लोहिया ने कुछ ऐसा नहीं सोंचा जिससे प्रतिशोध की दुर्गन्ध आती हो। उन्होंने कहा है कि, "अक्सर यातनाएँ असह्य भी लगती, लेकिन काल के रहस्य के साथ उन यातनाओं का दर्द घटता-बढ़ता रहा। कभी-कभी सह्य-असह्य लगने लगता और असह्य सह्य। वर्तमान की यातनाएँ सदा ही सहा लगती और भविष्य में आने वाली यातनाएं सदा असह्य लगती।"[2]

छः महीनों की कठोर यातना देने के बाद जब अंग्रेज सरकार डॉ. लोहिया से कोई भेद नहीं जान सकी तब उसने उन्हें आगरा जेल भेज दिया जहाँ डॉ. लोहिया के पिता हीरालाल उनसे जीवन में अन्तिम बार मिलने आये। बाद में जेल में ही उन्हें अपने पिता के निधन की ख़बर मिली थी। अंग्रेज़ सरकार द्वारा 11 अप्रैल, 1946 को जयप्रकाश नारायण के साथ डॉ. लोहिया को रिहा कर दिया गया।

भारत को आज़ादी मिलने के बाद भी डॉ. लोहिया को समय-समय पर सरकार व पुलिस द्वारा यातनाएँ देने का सिलसिला जारी रहा। यद्यपि आज़ादी के बाद की यातनाओं की मात्रा आज़ादी के पहले की यातनाओं की तुलना में काफी कम थी। परन्तु स्वतंत्र भारत में डॉ. लोहिया जैसे समाजवादी चिन्तक को कदम-कदम पर जेल की सलाखों के पीछे बन्द किया गया।

डॉ. भीमराव आम्बेडकर का जन्म अछूत जाति (महार) में होने के कारण उन्हें अपने बचपन के दिनों से छुआछूत व अस्पृश्यता रूपी दानव का भारतीय हिन्दू समाज में सामना करना पड़ा। उन्हें अनेक प्रकार की कठोर यातनाए दी गयीं

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 96 (1963).
2. राजेन्द्र मोहन भटनागर, समग्र लोहिया, पेज सं.- 71 (1982).

जिससे उन्हें जीवन के कटु अनुभव हुये फलस्वरूप उनसे संघर्ष करते हुये उन्होंने अपना सारा जीवन दलितोत्थान के लिये समर्पित कर दिया।

जब भीमराव सतारा में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे तब उन्हें छुआछूत से सम्बन्धित ऐसे बुरे अनुभव हुये जिन्हें वह जीवन भर नहीं भूल पाये। भीम को अस्पृश्य होने के कारण विद्यालयों में प्रवेश मिलना अत्यन्त कठिन था और यदि उन्हें विद्यालय में प्रवेश अनेक कठिनाइयों के साथ मिलता तो स्कूल में उनके साथ अत्यन्त घृणास्पद एवं छुआछूत का भेद-भाव किया जाता। उन्हें भूमि पर घर से लाये एक टाट के टुकड़े पर अलग बैठना पड़ता था ताकि अन्य सवर्ण बच्चे उसे पहचान लें कि वह अछूत है।[1] इच्छा होते हुये भी वह स्कूल के अन्य बच्चों के साथ क्रिकेट, फुटबाल जैसे खेल नहीं खेल सकते थे। अध्यापक उनकी किताबों और कॉपियों को हाथ नहीं लगाते थे। कई अध्यापक तो अस्पृश्य छात्रों से न तो कोई प्रश्न पूछते थे और न ही कविता पाठ आदि करवाते थे क्योंकि वे प्रदूषित एवं अपवित्र होने से डरते थे। भीम स्कूल में नल की टोंटी से स्वयं पानी नहीं पी सकता था। नल की टोटी को जब कोई चपरासी या सामान्य बालक खोलता तब भीम व अन्य अछूत बालक पानी पीते थे। कभी-कभी उन्हें प्यासा रह जाना पड़ता था और घर आकर ही अपनी प्यास बुझाते थे।[2]

भीम के स्कूल के रास्ते में एक सार्वजनिक कुआँ पड़ता था जिस दिन उसे स्कूल में पानी नहीं मिलता था उस दिन वह इस कुएँ से पानी पी लिया करता था। कुछ समय बाद वहाँ के सवर्णों को इस बात का पता चल गया और एक दिन सवर्ण हिन्दू उस पर टूट पड़े। उन्होंने भीम की निर्दयता से पिटाई की। भीम एक बालक ही था वह पिटकर रह गया।[3]

जब भीम सतारा में रहते थे और उनके पिता की तबदीली गोरे गाँव में हो गयी थी तो एक दिन भीम व उसका भाई आनन्द एवं बहन के बच्चे अपने पिता से

---

1. डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. आम्बेडकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पेज सं.- 12 (1988).
2. हिमांशु राय, युगपुरुष : बाबा साहब आम्बेडकर, पेज सं.-10.
3. डॉ. धर्मवीर, बालक आम्बेडकर, पेज सं.-22.

मिलने के लिये निकले। मसूर तक ट्रेन से गये एवं मसूर से गोरे गाँव के लिये रेल सुविधा न होने के कारण सभी बच्चे एक किराये की बैलगाड़ी में जा रहे थे। बैलगाड़ी के कुछ आगे बढ़ने पर बच्चों के संवाद से गाड़ीवान ने यह जाना कि ये बच्चे महार के हैं, उसके रोएं खड़े हो गये। उसे ऐसा लगा कि उसकी गाड़ी महार के बच्चों ने अपवित्र कर दी। वह गुस्से में आकर उन बच्चों को गाड़ी से इस तरह फ़ेक दिया जैसे टोकरी से कूड़ा-करकट फेका जाता है। बाद में दुगुना किराया देने की बात करते ही गाड़ीवान इस शर्त पर तैयार हुआ कि बच्चे ही गाड़ी चलायें और वह पैदल चलेगा। दूसरे दिन बच्चे भूखे-प्यासे अधमरी स्थिति में गोरे गाँव पहुंचे।[1]

सतारा में ही भीम जब नाई के पास अपने बाल कटवाने जाता तो नाई उसे अछूत कहकर भगा देता। घर में बहन तुलसी उसे समझाती व शान्त कराकर उसके बाल काटती थी।[2]

एक दिन स्कूल जाते समय भीम को रास्ते में अचानक तेज़ बारिश होने लगी। भीम ने पास में एक मकान देखकर उसकी दीवार की ओट में शरण ले ली। मकान की मालकिन जो सवर्ण थी ने भीम से कहा 'ए महार के, तू हमारी दीवार से लगकर क्यों खड़ा है ? क्या तुझे अपवित्र करने के लिये हमारा ही घर मिला है ? चल भाग यहाँ से।" उसने बाहर आकर भीम को बरसते पानी में धक्का दे दिया। वह बरसते हुये पानी में गिर पड़ा। उसकी किताबें, कलम और कॉपियाँ व बस्ता कीचड़ में बिखरकर सन गयी।[3]

जब भीमराव आम्बेडकर बी.ए. में पढ़ने लगे तो उन्हें यह प्रसन्नता हुई कि जीवन में पहली बार छुआछूत के दमघोटू वातावरण से बाहर निकलूंगा क्योंकि सभी सहपाठी और गुरुजन अच्छे विचारों के होंगे परन्तु भीमराव का यह केवल स्वप्न ही था। कॉलेज के सहपाठियों, प्राध्यापकों और कर्मचारियों से उन्हें उपयुक्त व्यवहार नहीं मिला जिसके कारण मन में सदैव असंतोष और एक प्रकार की

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 60 (1981).
2. डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. आम्बेडकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पेज सं.- 13-14(1988).
3. डॉ. धर्मवीर, बालक आम्बेडकर, पेज सं.-34-35.

असुरक्षा का भय व्याप्त रहता।

1917 ई. में जब डॉ. आम्बेडकर को बड़ौदा राज्य से प्राप्त होने वाली छात्रवृत्ति का समय खत्म हो गया तो वे बड़ौदा महाराजा की आज्ञा को मानकर लन्दन में अधूरा अध्ययन छोड़कर भारत आ गये और बड़ौदा राज्य की सेवा हेतु पहुँचे। परन्तु वहाँ उन्हें किसी हिन्दू एवं मुस्लिम होटल में जगह न मिली। सब होटलों के दरवाजे उनके लिये बन्द थे। बड़ौदा के महाराज को सूचित करने पर भी उनके निवास की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी। हिन्दू समाज, हिन्दू धर्म व हिन्दू संस्कृति से इस प्रकार से अपमानित होकर डॉ. आम्बेडकर ने अपना नाम बदला और बनावटी पारसी नाम 'एदल जी सोहराबजी' रखकर जहाँगीर जी होटलवाला के पारसी होटल में रहने लगे।[1] बड़ौदा महाराजा के मन में डॉ. आम्बेडकर को वित्तमंत्री बनाने की योजना थी, परन्तु उन्हें विभिन्न विभागों में काम करने का अनुभव न होने से सेना सचिव पद पर उनकी नियुक्ति हुई।[2]

सचिवालय के अधिकारियों और उनके अधीनस्थ सेवकों ने उन्हें वहाँ शान्ति से काम नहीं करने दिया। सभी डॉ. आम्बेडकर को तिरस्कार व उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे और उनको छूने से जहाँ तक हो सके अपने आपको बचाने लगे। मामूली चपरासी भी फाइलें दूर से डालते या फेंकते थे। डॉ. आम्बेडकर के बाहर निकलते समय वे चटाई तक लपेट लेते थे। उन्हें कार्यालय में लिपिकों के लिये रखा पीने का पानी तक नहीं मिलता था।

बड़ौदा में यह बात आम जनता में फैल चुकी थी कि महाराजा एक पढ़े-लिखे महार लड़के को बड़ौदा लाये हैं और उसको एक ऊँचा पद देना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में बनावटी पारसी नाम धारण करके पारसी होटल में रहने की डॉ. आम्बेडकर की युक्ति खुल गयी। इसका परिणाम जो हुआ वह डॉ. आम्बेडकर के अनुसार, "मैं भोजन आदि से निवृत्त होकर ऑफिस जाने के लिये होटल से बाहर निकला ही था कि हांथों में लट्ठ लिये 15-20 पारसी लोग मुझे मारने के लिये वहाँ आये। उन्होंने

---

1. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.- 48 (1988).
2. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 34 (1981).

पहले मुझसे पूछा- "तुम कोन हो ?" मैंने कहा- "हिन्दू हूँ।' परन्तु इस उत्तर से उनका समाधान नहीं हुआ। उन्होंने तू-तू, मैं-मैं करके कहा- "होटल से फौरन निकल जाओ।" उस समय मेरे मनोधैर्य ने मेरा पूरा साथ दिया। मैंने उनसे निर्भयतापूर्वक आठ घण्टे की मोहलत मांगी और उन्होंने वह दी। मैं दिन भर निवास के लिये स्थान प्राप्त करने की कोशिश करता रहा परन्तु मुझे कहीं भी जगह नहीं मिली। मैं कई मित्रों से मिला। उन्होंने कई बहाने बनाकर मुझे टरका दिया और मैं नहीं सोंच पा रहा था कि अब मुझे क्या करना चाहिये। आखिर मैं भूख और प्यास से व्याकुल एक पेड़ के नीचे बैठ गया। मेरा मन उद्विग्न हुआ और मेरी आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे।"[1] ऊपर आसमान और नीचे ज़मीन, यही डॉ॰ अम्बेडकर का उस समय सहारा था।

जब डॉ॰ आम्बेडकर सिडनहैम कॉलेज में नवम्बर, 1918 से अस्थायी प्रोफेसर पद पर 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' विषय को पढ़ाते थे तो वहाँ भी छुआछूत का विषाक्त वातारण बना हुआ था। कुछ गुज़राती हिन्दू प्रोफेसरों ने डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा स्टाफ के लिये रखे गये बर्तन में से पानी पीने पर ऐतराज़ किया। डॉ॰ आम्बेडकर को बड़ा दुःख हुआ कि इतने पढ़े-लिखे व्यक्तियों में भी ऐसा अमानुषिक भेदभाव विद्यमान है।

2.4. राजनीति में प्रवेश -

डॉ॰ लोहिया का राजनीति में आगमन उस समय हुआ जब वह बर्लिन में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उनकी ही प्रेरणा से वहाँ के प्रवासी भारतीय विद्यार्थियों ने 'मध्य यूरोप हिन्दुस्तानी संघ' का गठन किया। डॉ॰ लोहिया इस संस्था के मंत्री थे। सम्भवतः भारत के बाहर प्रवासी युवकों की यह पहली संस्था थी उसने भारतीय राष्ट्रीयता के प्रचार का कार्य किया।[2] डॉ॰ लोहिया अपनी शक्ति भर जर्मनी के राजनीतिक जीवन में पूरी दिलचस्पी लेते थे। शहर में होने वाली सभी पार्टियों की सभाओं में वे तो निर्द्वन्द होकर आते जाते थे। उन्होंने ऐसी भी चार सभाओं में

---

1. 'जनता' 23 मई, 1936.
2. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 48 (2001).

हिस्सा लिया था जिसमें हिटलर ने भाषण दिये थे।

1930 ई॰ में जेनेवा में 'लीग ऑफ नेशन्स' की बैठक हो रही थी। इस बैठक में हिन्दुस्तान की अंग्रेज सरकार के प्रतिनिधि बीकानेर के महाराजा थे। राममनोहर लोहिया ने भारत की स्थिति पर विश्व का ध्यान आकर्षित करने के लिये किसी तरह से लीग की बैठक में अपने गोवावासी मित्र जुलियोमेनेजिस के साथ प्रवेश हासिल कर लिया। जैसे ही बीकानेर के महाराजा ने भाषण शुरू किया तो राममनोहर ने दर्शक गैलरी से ही सीटी बजायी। सभा के अध्यक्ष ने चकित होकर दर्शक गैलरी की ओर देखा और पहले तो हँसा पर शीघ्र ही उसने आदेश दिया कि महाराज के भाषण में व्यवधान देने तथा महाराजा का अपमान करने वाले को फौरन बाहर निकाल दिया जाय। लोहिया व उनके मित्र को बाहर निकाल दिया गया परन्तु वे इतने से संतुष्ट न हुये। लोहिया ने लीग की दूसरे दिन की बैठक के पूर्व लीग के उस दिन की बैठक के अध्यक्ष रुमानिया के प्रतिनिधि टिटलेसमू को खुली चिट्ठी लिखी और वही चिट्ठी उन्होंने प्रकाशनार्थ अख़बारों को भेजी। लोहिया ने पत्र में लिखा था कि यह महाराज अंग्रेजों का दलाल है और यह जो भी यहाँ बोलता है वह झूंठ और भ्रम का मिथ्या प्रचार है। भारत की जनता अंग्रेजों से अप्रसन्न ही नहीं बल्कि विद्रोह के कगार पर खड़ी है।

1933 ई॰ के प्रारम्भ में डॉ॰ लोहिया बर्लिन से शिक्षा पूरी करके हिन्दुस्तान आ गये थे। उस समय कांग्रेस के नामी नेता और गाँधी भक्त सेंठ जमनालाल बजाज, हीरालाल जी के मित्र थे। उन्होंने डॉ॰ लोहिया को अपने पास बुलाया। उन्हें जब डॉ॰ लोहिया के राजनीतिक जीवन बिताने के निर्णय का पता चला तो वे डॉ॰ लोहिया को लेकर महात्मा गाँधी के पास गये। गाँधी जी से उन्होंने बताया कि "यह लड़का राजनीति करना चाहता है।" गाँधी जी ने पूंछा "खाते-पीते घर के हो क्या?" इस पर डॉ॰ लोहिया तो कुछ न बोले। जमनालाल जी ने कहा- "नहीं, पर इसके लिये आर्थिक चिन्ता की कोई बात नहीं है।"

जर्मनी से वापस आने के बाद, एक वर्ष के कलकत्ता के राजनीतिक जीवन ने डॉ॰ लोहिया के दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन जरूर किया था। जीवन के प्रति उनकी दृष्टि अधिक गम्भीर हो गयी थी। स्वच्छन्द जीवन की भावुकता अब कुछ

कम थी और उनका दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा अधिक बुद्धिनिष्ठ हो रहा था।[1]

21-22 अक्टूबर, 1934 को ही बम्बई के वर्ली स्थित 'रेडीमनीटेरेस' में समस्त भारत से लगभग 150 समाजवादी इकट्ठे हुये और 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' का स्थापना सम्मेलन जोर-शोर के साथ हुआ। यहाँ पार्टी की जो पहली राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति बनी, डॉ॰ लोहिया उसके सदस्य चुने गये। यहीं पर यह भी निश्चय हुआ कि कलकत्ता से पार्टी का साप्ताहिक पत्र 'कांग्रेस सोशलिस्ट' का प्रकाशन किया जाये जिसके सम्पादक डॉ॰ लोहिया हों। इस सम्मेलन के अध्यक्ष डॉ॰ सम्पूर्णानन्द थे।[2]

सन् 1935 ई॰ में पं0 जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें डॉ॰ लोहिया भी शामिल थे। इसके पूर्व 1928 में नेहरू की, कलकत्ता युवक सम्मेलन के समय डॉ॰ लोहिया से भेंट हो चुकी थी। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने अखिल भारतीय समिति के अन्तर्गत एक 'परराष्ट्र विभाग'[3] खोलने का निर्णय लिया। इस विभाग का कार्यभार नेहरू ने डॉ॰ लोहिया को सौंप दिया यानि डॉ॰ लोहिया परराष्ट्र विभाग के मंत्री नियुक्त हुये।[4]

अब तक डॉ॰ लोहिया का व्यक्तित्व एक गम्भीर विचारक प्रबुद्धचेता और दूरदर्शी राजनायक के रूप में आ चुका था। यद्यपि अभी डॉ॰ लोहिया की आयु कुल 26 वर्ष की ही थी परन्तु तत्कालीन बड़े-बड़े कांग्रेस नेता भी डॉ॰ लोहिया की शक्ति व चिन्तन का लोहा मान गये थे।

वर्ष 1924 में तीन प्रचण्ड शक्तियाँ भारत के सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र में अवतरित हुई।[5] वीर सावरकर, महात्मा-गाँधी और डॉ॰ आम्बेडकर। डॉ॰ आम्बेडकर

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं॰- 49 (1963).
2. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं॰- 63 (2001).
3. परराष्ट्र विभाग का कार्यालय इलाहाबाद में स्थापित किया गया, फलस्वरूप डॉ॰ लोहिया को कलकत्ता छोड़कर इलाहाबाद आना पड़ा। उधर कांग्रेस सोशलिस्ट पत्र भी कलकत्ता से हटाकर बम्बई ले जाया गया।
4. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं॰- 65 (2001).
5. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं॰-53 (1981).

ने अस्पृश्य वर्ग की सामाजिक और राजनीतिक समस्याएं सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिये एक मध्यवर्ती संस्था स्थापित करने के उद्देश्य से विचार-विमर्श करने के लिये 09 मार्च, 1924 को सायंकाल दामोदर ठाकरसी सभागृह, परेल बम्बई में एक सभा बुलायी। सभा के प्रस्तावानुसार 20 जुलाई, 1924 को **'बहिष्कृत हितकारिणी सभा'** स्थापित की गयी। सभा की कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष स्वयं डॉ॰ आम्बेडकर थे तथा सीताराम नामदेव शिवतरकर मंत्री थे। सभा का कार्यक्षेत्र पूरे बम्बई प्रान्त को बनाया गया।

बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना भारत के पददलितों के लिये आत्म-निर्भरता, स्वाभिमान और आत्मोद्धार की सीख देकर देश में महापरिवर्तन लाने वाले युग का आरम्भ था। दलित छात्रों में ज्ञान की अभिरुचि पैदा हो और उनमें समाजसेवा की प्रवृत्ति जागृत होकर उसका विकास हो इस उद्देश्य से सभा ने एक हस्तलिखित मासिक पत्रिका सरस्वती विलास प्रकाशित की।[1] युवा और प्रौढ़ अस्पृश्यों में सुधार लाने की दृष्टि से सभा ने बम्बई में रात्रि स्कूल और वाचनालय शुरू किये। महारों के हॉकी क्लब जैसे मण्डलों की स्थापना की। इस सबका परिणाम यह हुआ कि अस्पृश्य युवकों के जीवन में एक नया मोड़ आने लगा।

इसके पूर्व अस्पृश्य वर्ग में जागृति लाने के लिये डॉ॰ आम्बेडकर ने 31 जनवरी 1920 से कोल्हापुर महाराज छत्रपति शाहू जी के आर्थिक सहयोग से **'मूकनायक'** नामक पाक्षिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। यद्यपि इस पत्र का सम्पादक पाण्डुराम नंदराम भटकर को नियुक्त किया गया परन्तु पत्र का सारा काम डॉ॰ आम्बेडकर ही करते थे। अस्पृश्यता निर्मूलन करने की दृष्टि से वह समय कितना प्रतिकूल व कठिन था इसकी कल्पना इस बात से ही सिद्ध होती है कि, तिलक 'केसरी' जैसे समाचार-पत्र ने मूकनायक के बारे में दो शब्द लिखना तो दूर रहा पैसे लेकर उसका विज्ञापन छापने से भी इन्कार कर दिया।[2] डॉ॰ आम्बेडकर ने पहले ही अंक में लिखा था कि- "हिन्दुस्तान एक ऐसा देश है, जो विषमता का

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 58 (1981).
2. 'बहिष्कृत भारत', 20 मई, 1927.

मायका है। हिन्दू समाज एक मीनार है और एक-एक जाति एक-एक मंजिल है। लेकिन यह ध्यान रखने की ज़रूरत है कि मीनार को कोई सीढ़ी नहीं है। जिस मंजिल पर जो पैदा होता है, वह उसी मंजिल पर मरे। तल मंजिल का व्यक्ति, चाहे वह कितना भी लायक क्यों न हो, उसे ऊपर की मंजिल पर प्रवेश नहीं मिलता और ऊपर की मंजिल पर पैदा हुये व्यक्ति को, चाहे वह कितना भी नालायक क्यों न हो नीचे ढकेलने की किसी की हिम्मत नहीं होती। युगों-युगों से चली आयी दासता, दरिद्रता से बहिष्कृत वर्ग की मुक्ति के लिये आकाश-पाताल एक करना होगा। उनकी आँखों में ज्ञान का काज़ल लगाकर उन्हें उनकी हीन परिस्थिति से अवगत कराना होगा।[1] मूकनायक पाक्षिक धनाभाव के कारण 1923 के पहले बन्द हो गया।

डॉ॰ आम्बेडकर चाहते थे कि अछूतोद्धार आन्दोलन का संचालन अछूत कार्यकर्ता ही करे। वह अछूतों में स्वावलम्बन की भावना पैदा करना चाहते थे। स्वावलम्बन के बिना आत्म-सम्मान की भावना पैदा नहीं होती और आत्म-सम्मान की भावना के बिना अछूतों का उत्थान हो ही नहीं सकता, इस बात को डॉ॰ आम्बेडकर स्वानुभव से भली-भाँति जानते थे।[2]

सन् 1927 ई॰ के प्रारम्भ में कोरेगाँव के 'युद्ध-स्मारक' जो एक ऐतिहासिक स्थान है में अछूत समाज का एक सम्मेलन हुआ जिसमें डॉ॰ आम्बेडकर ने अपने सम्बोधन में कहा कि, "सैकड़ों महार 1818 में और महायुद्ध में कम्पनी सरकार और ब्रिटिश सरकार की ओर से युद्ध में वीरतापूर्वक लड़े और इसका पुरस्कार ब्रिटिश सरकार की ओर से महार जाति को क्या मिला ? ब्रिटिश सरकार ने महार जाति को गैर लड़ाकू जाति मानकर महारों को सेना में भर्ती करना बन्द कर दिया। महार जाति का यह कितना अपमान ! ब्रिटिश सरकार की यह कितनी कृतघ्नता !! आप इसके विरुद्ध आन्दोलन करे और सरकार को मज़बूर करें कि वह अपनी नीति बदल दे। डॉ॰ आम्बेडकर स्पष्टवादी थे किसी का लिहाज़ करके सही बात बोलने से चूकने वाले नहीं थे। उन्होंने अछूतों को जो उपदेश दिया उनमें मरे पशुओं का मांस

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 41 (1981).
2. विजय कुमार पुजारी, डॉ॰ आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.- 82 (1988).

न खाने, शराब न पीने, बच्चों को स्कूल में पढ़ाने, सफाई से रहने और अपनें को छुद्र न समझने पर विशेष ज़ोर दिया।

सन् 1927 ई. में डॉ. अम्बेडकर को बम्बई सरकार ने विधान परिषद के सदस्य के रूप में नियुक्त किया। फरवरी 1927 ई. में अस्पृश्य समाज के अध्यापकों ने एक सभा बुलाकर डॉ. अम्बेडकर का अभिनन्दन करने का निर्णय लिया तत्पश्चात् अप्रैल 1927 ई. में परेल के दामोदर सभागृह में उनका अभिनन्दन किया गया।

डॉ. अम्बेडकर के राजनीति में प्रवेश करने के बाद उनके जीवन में अनेक छोटी-बड़ी घटनाएं घटी जिनका मुकाबला उन्होंने धैर्य व साहस के साथ किया। एक प्रमुख घटना यह थी कि उन्होंने महाड़ में अस्पृश्य समाज को अपने झण्डे के नीचे इकट्ठा करके मानव अधिकारों के लिये प्रेरित किया।

2.5. राजनैतिक व्यवहार -

डॉ. राममनोहर लोहिया मानवता के पुज़ारी थे। उनका राजनैतिक व्यवहार मनुष्यों के हित के लिये कांग्रेस तथा उसके नेताओं की स्वार्थपूर्ण नीतियों का विरोध करता हुआ प्रतीत होता है। जब अप्रैल 1938 ई. में लाहौर में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के अधिवेशन में डॉ. लोहिया को पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी का सदस्य चुना गया तब कांग्रेस ने नियम बनाया कि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का सदस्य कांग्रेस कमेटी के किसी विभाग का मंत्री नहीं हो सकता फलस्वरूप डॉ. लोहिया ने तुरन्त कांग्रेस के परराष्ट्र विभाग के मंत्री पद से इस्तीफा दे दिया।

सन् 1939 ई. के प्रारम्भ में विश्वयुद्ध की सम्भावना के साथ कांग्रेस की नीति के प्रश्न को लेकर सुभाषचन्द्र बोस और गाँधी जी के विचारों में संघर्ष पैदा हो रहा था। मार्च, 1939 ई. में त्रिपुरी कांग्रेस अधिवेशन में कांग्रेस के अध्यक्ष का चुनाव होना था। डॉ. लोहिया ने मन से पट्टाभिसीतारम्मैया के मुकाबले सुभाष के समर्थक होकर भी सुभाष को अपना मत नहीं दिया। वे तटस्थ बने रहे।[1]

कांग्रेस में युद्ध में सहयोग को लेकर दो मत चल रहे थे- एक पक्ष चाहता था कि युद्ध काल में ही अंग्रेजों को दबाकर आज़ादी लेने की कोशिश की जाय जबकि

---

1. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 71 (2001).

दूसरे पक्ष का मानना था कि युद्धकाल में अंग्रेजों से संघर्ष न किया जाय। डॉ॰ लोहिया को दूसरे पक्ष वालों की दलील पसन्द नहीं थी उनका कहना था कि, 'इंग्लैण्ड भारत के जन और साधनों को हमारी मर्ज़ी के विरुद्ध जबरदस्ती युद्ध में झोंककर हमारी राष्ट्रीय भावनाओं को चुनौती दे रहा है और हमें संघर्ष के लिये ललकार रहा है। हम भारतीय किसी भी प्रकार युद्ध में किसी पक्ष की ओर से नहीं जुड़ना चाहते। हम चाहते है कि इसी युद्धकाल में हम दुनिया के बाँकी हिस्सों को भी साम्राज्यशाही और महायुद्ध के चंगुल से बचाने का प्रयत्न करें। युद्ध से त्रस्त आज की दुनिया में अहिंसा की आवाज़ उठाना ही हमारा एकमात्र ध्येय होना चाहिये।''[1] डॉ॰ लोहिया ने सदैव राजनीति में संघर्ष का रास्ता अपनाया है राजनैतिक सौदेबाज़ी उन्हें कभी पसन्द नहीं थी।[2]

डॉ॰ लोहिया ने '**सत्याग्रह तुरन्त**' नामक एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने देश के सामने एक चार सूत्रीय नुस्खा भी रखा-

1) सब कौमे आज़ाद होंगी। जिन कौमों को अभी आज़ादी मिली है वे अपने विधान का निर्णय बालिग मताधिकार के आधार पर निर्वाचित विधान परिषद के द्वारा करेंगी।

2) सब जातियाँ समान है और दुनिया के किसी हिस्से में कोई जातिगत विशेषाधिकार नहीं होंगे। जो जहाँ चाहेगा, वहाँ उसके बसने में कोई राजनीतिक बाधा नहीं होगी।

3) दूसरे देश में किसी देश की सरकार और उसके अधिवासियों की साख और लगी हुई पूंजी रद्द कर दी जायेगी या अन्तर्राष्ट्रीय पंचायतों के सामने पुनः विचार के लिये पेश की जायेगी।

4) पूर्ण निःशस्त्रीकरण।[3]

मई 1942 ई॰ को इलाहाबाद में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में '**भारत छोड़ो**' प्रस्ताव पर बहस हुई जहाँ डॉ॰ लोहिया ने खुलकर पं0 नेहरू का

---

1. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 72 (2001).
2. वही, पेज सं.- 73.
3. 'हरिजन' 1 जून, 1940 का अंक।

विरोध किया और गाँधी जी के प्रस्ताव को कांग्रेस को ज्यों-का-त्यों मान लेने की सलाह दी।

अल्मोड़ा जिला राजनीतिक सम्मेलन में डॉ॰ लोहिया ने अपने अध्यक्षीय भाषण में बहुत साफ शब्दों में राष्ट्रीय भावनाओं के प्रति सावधान होने को नेहरू को चेतावनी दी। पं0 नेहरू की अदूरदर्शिता व प्रवृत्ति के बारे में अपनी खीझ प्रकट करते हुए डॉ॰ लोहिया ने उन्हें 'झट पलटने वाला नट' कहा[1] और सतर्क किया कि यदि नेहरू अपना रास्ता ठीक नहीं करेंगे तो लोग खासकर नौज़वान लोग जो आज भारत में केवल दो आदमियों (गाँधी व नेहरू) की बातें सुनते हैं अब केवल एक ही की बात सुनेंगे।

08 अगस्त को '**<u>भारत छोड़ो</u>**' प्रस्ताव पास हो गया। इस प्रस्ताव का समर्थन करते हुये डॉ॰ लोहिया ने कहा था कि- "पिछले कुछ महीनों में ब्रिटिश राष्ट्र के प्रति हिन्दुस्तान की भावना में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। घटनाक्रम से यह स्पष्ट हुआ कि ब्रिटिश राष्ट्र वैसा अजेय राष्ट्र नहीं है जैसा आज तक माना जाता था। फलस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य के पराधीन देशों में भी ब्रिटेन का डर नहीं है। हिन्दुस्तान के सवाल के बारे में ब्रिटेन ने जो मार्ग पकड़ा है उसके खिलाफ असंतोष दिन-ब-दिन बढ़ रहा है।[2]

फरवरी, 1947 ई॰ को कानुपर में डॉ॰ लोहिया की अध्यक्षता में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का ऐतिहासिक सम्मेलन 9 वर्षों बाद हुआ। इसमें पार्टी से 'कांग्रेस' शब्द हटा दिया गया। डॉ॰ लोहिया ने अपने अध्यक्षीय भाषण में नौ वर्षों की घटनाओं की संक्षेप में समीक्षा करके 'संविधान सभा' की आलोचना की। देश में जो झगड़े हुये थे उन्हें खत्म करने के लिये जनता की एकता की आवश्यकता बतायी। यह भी स्पष्ट किया कि, "अंग्रेज देश छोड़ेंगे, इसमें संदेह नहीं, लेकिन वे इस महान देश की एकता भंग करने की साज़िश करके देश छोर्डेंगे। इसलिये केवल राष्ट्रीय एकता नहीं साथ-साथ छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि सभी हिस्सों

---

1. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 84 (2001).
2. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 85 (1963).

में एकता की आवश्यकता है।"[1]

कांग्रेस कार्यसमिति के नेताओं के लिये सत्ता की भूख इस हद तक बढ़ गयी थी कि उन्होंने 1947 ई॰ में माउण्टबेटन योजना मान्य करके 'भारत विभाजन' का तत्व मंजूर कर लिया। डॉ॰ लोहिया के लिये विभाजन का यह मुद्दा बहुत महत्व का था। उन्होंने इसका मुखर विरोध किया। उनका तर्क था कि मन से सत्ता का लालच छोड़े बिना यह समस्या सुझलने वाली नहीं है। बात के रुख से नेहरू व पटेल को सत्ता के लिये इतना लालायित देखकर डॉ॰ लोहिया ऊब गये थे। उनकी अध्यक्षता में सोशलिस्ट पार्टी विभाजन के प्रस्ताव पर तटस्थ रही। वे मन से विभाजन के विरोधी रहकर भी तटस्थ रहे।

सितम्बर, 1952 ई॰ को 'सोशलिस्ट पार्टी' व 'किसान मज़दूर प्रजा पार्टी' की संयुक्त बैठक हुई जिसमें 'प्रजा सोशलिस्ट पार्टी' के रूप में नये दल का जन्म हुआ। मार्च, 1953 ई॰ में नेहरू से श्री जयप्रकाश नारायण के मिलने के बाद दोनों संयुक्त मंत्रि-मण्डल, राष्ट्रीय सरकार व कांग्रेस के साथ सह-कार्य आदि बातों पर सहमत होते दिख रहे थे परन्तु डॉ॰ लोहिया इस बुद्धि भ्रम से दूर रहने की चेष्टा में थे। उन्होंने कहा था कि- मैं संयुक्त मंत्रि-मण्डल के खिलाफ हूँ... प्रजा सोशलिस्ट पार्टी कुछ निश्चित बुनियादी सिद्धान्तों पर खड़ी है.... इन श्रद्धा स्थानों से दूर जाना आत्म-घातक सिद्ध होगा।"[2]

दिसम्बर 1953 ई॰ को इलाहाबाद में प्रजा-सोशलिस्ट पार्टी का पहला सम्मेलन हुआ। यहाँ डॉ॰ लोहिया ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये उन्हें लोहिया-थीसिस या इलाहाबाद थीसिस के नाम से जाना गया। डॉ॰ लोहिया ने सम्मेलन में पॉलिसी कमीशन की रिपोर्ट पेश की जिसमें चौखम्भा राज्य, विकेन्द्रीकरण, आर्थिक समानता, कृषि और औद्योगिक नीति इत्यादि कार्यक्रम निश्चित और ठोस आशय से पेश किये गये थे।

प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के अन्तर्विरोधों के बीच दिसम्बर 1955 ई॰ से जनवरी 1956 ई॰ तक सोशलिस्ट पार्टी का स्थापना सम्मेलन हैदराबाद में सम्पन्न हुआ जहाँ

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 104-105 (1963).
2. वही, पेज सं.- 249.

शुद्ध **'समाजवादी पार्टी'** का जन्म हुआ। सम्मेलन में अध्यक्ष पद से डॉ॰ लोहिया ने जो भाषण दिया वह समाजवादी आन्दोलन का ऐतिहासिक दस्तावेज़ सिद्ध हुआ।

1957 ई॰ के आम चुनाव में 'समाजवादी पार्टी' के लोगों ने डॉ॰ लोहिया को चुनाव लड़ने को विवश किया ओर परिस्थितियों के दबाव से उन्हें चुनाव के मैदान में कूदना पड़ा और उत्तर-प्रदेश के चकिया-चन्दौली निर्वाचन क्षेत्र से सांसद हेतु खड़े हुये। उन्होंने कहा कि, "चुनाव में मैं हारने वाले उम्मीदवारों के दुख में सहयोग देने के लिये ही खड़ा हो रहा हूँ।" डॉ॰ लोहिया को चुनाव में अपने कांग्रेसी प्रतिद्वन्दी से लगभग 30-35 हजार मतों से हार खानी पड़ी।

सन् 1962 के आम चुनाव में डॉ॰ लोहिया ने पं. नेहरू के विरुद्ध फूलपुर (उ.प्र.) से चुनाव लड़ा जिसमें नेहरू की विजय हुई। 1963 ई. में फर्रुखाबाद (उ.प्र.) सीट के लिये लोकसभा का उप चुनाव हुआ जिसमें डॉ॰ लोहिया खड़े हुये इस उप चुनाव में डॉ॰ लोहिया 58 हजार मतों से विजयी होकर तीसरी लोकसभा में प्रवेश किये। डॉ॰ लोहिया के लोकसभा में प्रवेश करने से देश की राजनीति में नये ढंग की उथल-पुथल शुरू हुई। सामान्य जनता का दिमाग भी घिसे-पिटे तरीके से सोंचने की अपेक्षा क्रान्ति और बदलाव की दिशा में तैयार होने लगा।

वास्तव में 'लोकसभा में लोहिया' यह एक अज़ीब विरोधाभास था। लोकसभा के वातानुकूलित शीत सभा गृह में एक झुलसता चिंगारियों की वर्षा करने वाला अग्निकुंड डॉ॰ लोहिया के रूप में प्रकट हुआ। डॉ॰ लोहिया मानते थे कि संसदीय राजनीति का भी क्रान्ति के हथियार के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। ब्रिटिश ताज़ के प्रति वफादारी की कसम लेना असंभव होने के कारण 1937 ई. में केन्द्रीय धारा सभा में निर्विरोध चुनाव से डॉ॰ लोहिया ने इन्कार किया। लेकिन आज़ादी के बाद संसदीय राजनीति का हथियार लोक प्रतिनिधि के रूप में हांथ में लेने की डॉ॰ लोहिया की चाह थी। उन्होंने अपनी यह भावना शुरू में व्यक्त करते हुये कहा कि, "मेरा जैसा आदमी पिछले 15 वर्षों से इस घड़ी के लिये आशा लगाये हुये था।"[1]

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 461 (1963).

विरोधियों को ज्यादा समय की मांग करते हुये डॉ॰ लोहिया के कहा कि, "सरकार अपने कार्यों से 15 वर्ष से बोल रही है। इस समय उसे 9 घण्टे देना अनुचित नहीं होगा।" लोकसभा की सदस्यता की शपथ लेने के बाद डॉ॰ लोहिया का सत्ताधारी लोगों से विरोध ऐसा प्रस्फुटित हुआ कि सत्ताधारी भय कंपित हो गये। सवाल, उप सवाल, स्थगन प्रस्ताव, ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, ढाई घण्टे की बहस, कामरोको, विशेषाधिकार इत्यादि जितने भी अस्त्र उपलब्ध थे उनका इस्तेमाल करके सरकार को हैरान करना डॉ॰ लोहिया ने शुरू किया।

डॉ॰ लोहिया ने 1964 ई॰ के बीतते-बीतते देश के समस्त समाजवादी संगठनों और शक्तियों को एकजुट होने का आह्वान किया। तत्कालीन दो समाजवादी दलो-प्रजा-समाजवादी पार्टी और समाजवादी पार्टी के सदस्यों ने डॉ॰ लोहिया के आह्वान पर दोनों पार्टियों को मिलाकर एक सशक्त समाजवादी संगठन बनाये जाने की आवश्यकता अनुभव की, फलस्वरूप '**संयुक्त समाजवादी दल**' की स्थापना डॉ॰ लोहिया की प्रेरणा से हुई।

सन् 1967 ई॰ के आम-चुनावों में डॉ॰ लोहिया का नारा था- "कांग्रेस हटाओ, देश बचाओ" डॉ॰ लोहिया इस बार पुनः फर्रुखाबाद कन्नौज के निर्वाचन क्षेत्र से लोकसभा के लिये खड़े हुये और जीत भी गये। यद्यपि कांग्रेस बहुमत से जीतने वाली सबसे बड़ी पार्टी थी परन्तु डॉ॰ लोहिया की प्रेरणा से अन्य सभी दलों ने एकता करके अपनी शक्ति को कांग्रेस से बड़ी बनाया विपक्षी-दलों की एकता डॉ॰ लोहिया के राजनीतिक जीवन की सम्भवतः सबसे बड़ी कृति सिद्ध हुई।

इस बीच डॉ॰ लोहिया के अस्वस्थ्य रहने के कारण दिल्ली के विलिंग्डन अस्पताल में उनकी पौरुष-ग्रन्थि का आपरेशन हुआ जो सफल नहीं हो पाया तथा 12 अक्टूबर, 1967 ई॰ को अस्पताल में ही डॉ॰ लोहिया का निधन हो गया।

डॉ॰ आम्बेडकर को भारतीय हिन्दू समाज द्वारा दी गयी कठोर यातनाओं ने मज़बूर कर दिया कि उनका राजनैतिक व्यवहार दलितों के उत्थान हेतु केन्द्रित रहे ताकि उसके बाद अस्पृश्यों पर होने वाला अत्याचार रुक सके और दलितों व दबे कुचले लोगों को इससे बचाया जा सके।

सन् 1923 ई. में बम्बई विधान परिषद में एक प्रस्ताव पेश हुआ जिसके अनुसार 'सरकार द्वारा या सार्वजनिक पैसों से संचालित संस्थाएं- कोर्ट, विद्यालय, अस्पताल, कार्यालय, धर्मशाला, कुएं, जलाशय, पनघट आदि स्थानों में प्रवेश करने तथा उनका उपयोग करने का अधिकार सरकार अछूत वर्ग को प्रदान करें।' 4 अगस्त, 1923 ई. को यह प्रस्ताव पास हो गया। इसके बाद बम्बई सरकार के आदेश के अनुसार '**कोलाबा**' जिले के '**महाड़**' नामक गाँव की नगरपालिका ने 1924 ई. में गाँव के '**चवदार तालाब**' के पानी का उपयोग करने का अधिकार अछूतों को दिया। परन्तु महाड़ के सवर्ण हिन्दुओं का बहुमत नगरपालिका के निर्णय के विरुद्ध होने से भय के कारण अल्पसंख्यक अछूत लोग तालाब के पानी को छूने का साहस नहीं कर सके। जबकि अन्य धर्मों के लोग उसका उपयोग करते थे। 19-20 मार्च, 1927 ई. को कोलाबा जिले के प्रमुख अछूतों के प्रयत्न से महाड़ में डॉ. अम्बेडकर की अध्यक्षता में एक दलित जाति परिषद् हुई जिसमें डॉ. आम्बेडकर ने कहा था कि, "ऐसे प्रयत्न करो जिससे तुम्हारे बाल-बच्चे तुमसे अधिक अच्छी अवस्था में जीवन बिता सकें। यदि आप ऐसा नहीं करोगे तो मनुष्य के माता-पिता और पशु के नर-मादा में कोई अन्तर नहीं रहेगा।" 20 मार्च, 1927 ई. को डॉ. आम्बेडकर के नेतृत्व में लगभग 5000 अछूतों का जुलूस महाड़ सत्याग्रह के लिये चल पड़ा। चवदार तालाब पर पहुँचकर डॉ. आम्बेडकर ने अंजुली भर पानी पिया। उस जनसमुदाय ने भी अपने नेता का अनुसरण किया। उन्होंने अपना नागरिक व मानवीय अधिकार प्राप्त किया।[1] इससे सवर्ण हिन्दुओं में खलबली मच गयी और वे अस्पृश्यों को लाठी-डण्डे लेकर दौड़-दौड़कर मारने लगे बाद में पुलिस हस्ताक्षेप से मामला कुछ शान्त हुआ परन्तु इसमें अनेक दलित घायल हुये। इसके बाद महाड़ नगरपालिका ने सवर्ण हिन्दुओं के दबाव में आकर अपना 1924 ई. का प्रस्ताव, जिसके अनुसार तालाब अछूतों के लिये खुला कर दिया था 4 अगस्त 1927 ई. को रद्द कर दिया। नगरपालिका का यह कार्य अछूतों के लिये एक चुनौती था और डॉ. आम्बेडकर ने इस चुनौती को स्वीकार किया।

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 71 (1981).

25 दिसम्बर 1927 ई॰ को दासगाँव की सभा में 'मनुस्मृति' के दहन का प्रस्ताव पारित होने पर रात नौ बजे सभा के सामने एक गड्ढे में अस्पृश्य वैरागी के हांथों हिन्दू समाज में असमानता व भेद-भाव की प्रतीक मनुस्मृति को जला दिया गया।[1] सवर्ण हिन्दुओं के कलेजे पर डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा की गयी यह एक करारी चोंट थी। मनुस्मृति के दहन से भारत के तथाकथित पण्डित, आचार्य और शंकराचार्य को सदमा पहुंचा। कुछ लोग तो डर गये और कुछ खामोश हो गये।

चवदार तालाब पर अछूतों के अधिकार का मुकदमा कई वर्षों तक कोर्ट में चलता रहा अन्त में बम्बई हाईकोर्ट ने 17 मार्च, 1937 ई॰ को अछूतों के पक्ष में निर्णय दिया और इस तरह काफी कष्ट व कठिनाइयों के बाद डॉ॰ आम्बेडकर को सफलता मिली।[2]

सन् 1927 ई॰ में डॉ॰ आम्बेडकर को बम्बई विधान परिषद में सदस्य नियुक्त किया गया उनका पहला भाषण 24 फरवरी को बज़ट पर हुआ जो जानकारी से परिपूर्ण, विचार प्रवर्तक और उद्‌बोधक रहा। इसमें उन्होंने नशाबन्दी व शिक्षा के बारे में व्यापक विचार प्रकट किये। विधान परिषद में काम करते हुये डॉ॰ आम्बेडकर ने गरीब वर्ग की उन्नति साध्य करने का एक भी मौका व्यर्थ नहीं जाने दिया। उन्होंने स्त्री, श्रमिकों का कल्याण, स्त्री-श्रमिक वर्ग के लिये प्रसूति काल में सहूलियत देने के बारे में एक विधेयक विधान परिषद में प्रस्तुत किया इस विधेयक के समर्थन में उन्होंने कहा कि, "मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक माता को प्रसूति पूर्व और प्रसूति बाद की अवधि में कुछ विशिष्ट समय तक विश्राम मिलना राष्ट्रहित की दृष्टि से लाभदायक है यह विधेयक तो उसी तत्व पर आधारित है।[3]

डॉ॰ आम्बेडकर ने सन् 1874 ई॰ के महार वतन सुधार कानून में सुधार से सम्बन्धित एक विधेयक 3 अगस्त, 1928 ई॰ को विधान परिषद में प्रस्तुत किया और कहा कि, "सम्प्रति वस्तुओं के दाम बढ़ गये हैं। रहन-सहन खर्चीला हो गया

---

1. धनंजय क़ीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं॰- 99 (1981).
2. वही, पेज सं॰- 108.
3. वही, पेज सं॰- 109.

है। सरकारी नौकरों के वेतन में वृद्धि हुई है, यद्यपि महारों की संख्या में वृद्धि हुई है फिर भी उन्हें मिलने वाली भूमि के क्षेत्र में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है या उन्हें मिलने वाले वेतन के बारे में सरकार ने तनिक भी सोंच-विचार नहीं किया है। वतन के रूप में मिली भूमि के पीढ़ी दर पीढ़ी होने वाले बँटवारे से टुकड़े होते गये हैं। अतः उससे मिलने वाले अपर्याप्त उत्पादन को हिसाब में न रखना ही उचित होगा।"[1] उन्होंने घोषणा की कि, "अगर यह विधेयक विधान परिषद ने नामंजूर किया, तो महार आम हड़ताल करेंगे और मुझे भी विधान मण्डल की सदस्यता से इस्तीफा देना पड़ेगा।" [2]

सायमन कमीशन को उसके कार्य में सहयोग देने के लिये बम्बई प्रान्तीय समिति में 3 अगस्त, 1928 ई. को अन्य सदस्यों के साथ डॉ. आम्बेडकर की भी नियुक्ति हुई। सायमन कमीशन के साथ सहयोग करने के कारण डॉ. आम्बेडकर को ब्रिटिशों का पिट्ठू, विश्वासघाती, देशद्रोही आदि चुने हुये विशेषणों से सम्बोधित किया जाता था। बहिष्कृत हितकारिणी सभा की ओर से सायमन कमीशन को डॉ. आम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत निवेदन में संयुक्त निर्वाचक मण्डल और दलित वर्ग के लिये आरक्षित सीटों की मांग की गयी थी। बहिष्कृत हितकारिणी सभा ने बम्बई विधान मण्डल की 140 सीटों में से 22 सीटों की मांग की। सदस्यों की नियुक्ति पद्धति का तीव्र विरोध दर्शाकर यह आग्रह किया कि चुनाव का तत्व दलित वर्ग के बारे में लागू किया जाये। दलित वर्ग को राजनीतिक शिक्षा की आवश्यकता है, इतना ही नहीं, मंत्री का पद एक महत्वपूर्ण विशेषाधिकार होने से मंत्रि-मण्डल में भी उनके प्रतिनिधियों का समावेश होना चाहिये।

2 मार्च, 1930 ई. को गाँधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने की सूचना वायसराय लार्ड इर्विन को एक पत्र के द्वारा देकर तूफानी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। 2 मार्च 1930 ई. को ही डॉ. आम्बेडकर ने **'नासिक के कालाराम मन्दिर'** में अछूतों के प्रवेशाधिकार के लिये सत्याग्रह शुरू कर दिया था।

---

1. Bombay Legistaltive Council Debates, Vol. XX III, Part XI, P. 708- 21.
2. Same, P. 708- 21.

गाँधी जी भारतीयों की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिये संघर्ष कर रहे थे जबकि डॉ. आम्बेडकर अछूतों की सामाजिक स्वतंत्रता के लिये संघर्ष कर रहे थे। मन्दिर प्रवेश सत्याग्रह की वज़ह से नासिक जिले में अस्पृश्यों को भयंकर छल सहना पड़ा। उनके लड़कों के लिये स्कूल के दरवाजे बन्द हो गये। रास्ते बन्द हो गये। हर गाँव में, बाज़ार में, नित्य के निर्वाह के लिये चीज़े मिलनी बन्द हुई। मन्दिर में प्रवेशाधिकार की प्राप्ति के लिये अछूतों में इतना अधिक ज़ोश पैदा हुआ था कि सनातनियों को एक वर्ष तक मन्दिर के दरवाज़े बन्द रखने पड़े। मन्दिर प्रवेश का कानून 1935 बन जाने पर अक्टूबर, 1935 ई. में कालाराम मन्दिर के दरवाज़े अछूतों के लिये खुले।[1]

12 नवम्बर 1930 ई. को इंग्लैण्ड में 'प्रथम गोलमेज़ परिषद्' में ब्रिटिश भारत के 53, रियासती भारत के 20, और ब्रिटिश दलों के 16 प्रतिनिधि शामिल हुये। परिषद् में डॉ. आम्बेडकर तथा श्रीनिवासन जैसे दलित नेता भी सम्मिलित हुये। सबसे अधिक मर्मस्पर्शी तथा सबका ध्यान आकर्षित करने वाला भाषण डॉ. आम्बेडकर का था।[2] डॉ. आम्बेडकर ने परिश्रमपूर्वक दलित जाति के राजनीतिक संरक्षण की योजना का स्मरण-पत्र तैयार करके अल्पमत उप समिति को पेश किया इसमें दलित जाति के लिये पृथक चुनाव, पृथक निर्वाचन संघ तथा सुरक्षित सीटों की मांग की गयी थी जो बाद में गाँधी-आम्बेडकर संघर्ष का कारण बनी। स्मरण-पत्र में अस्पृश्यता का खात्मा करने की, अछूतों को नागरिकता के समान अधिकार तथा पुलिस दल, नाविक दल, सेना आदि सब प्रकार की नौकरियों में प्रवेशाधिकार देने की मांग पर ज़ोर दिया गया था।

7 सितम्बर, 1931 ई. को दूसरी गोलमेज़ परिषद शुरू हुई जिसमें दलितों के प्रतिनिधि को लेकर एवं अछूतों के लिये राजनैतिक अधिकारों को लेकर डॉ. आम्बेडकर व महात्मा गाँधी में टकराव पैदा हुआ। गाँधी जी ने अछूतों के लिये अलग प्रतिनिधित्व का विरोध किया था जबकि डॉ. आम्बेडकर मुसलमानों की ही तरह अछूतों के लिये भी पृथक प्रतिनिधित्व चाहते थे। बाद में 20 अगस्त 1932 ई. को प्रधानमंत्री

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 114 (1981).
2. Indian Round Table Conference, P. 123-129.

मैक्डोनाल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय से डॉ॰ आम्बेडकर की जीत हुई जिस पर गाँधी जी ने पूना की येरवदा जेल में अनशन शुरू कर दिया। गाँधी जी की जान बचाने के लिये 24 सितम्बर 1932 ई॰ को डॉ॰ आम्बेडकर ने 'पूना पैक्ट' पर हस्ताक्षर किये।

डॉ॰ आम्बेडकर ने अपने साथियों के साथ मिलकर अगस्त 1936 ई॰ में 'स्वतंत्र मज़दूर दल' की स्थापना की और ऐसे कार्यक्रम की विस्तृत योजना प्रस्तुत की जिसमें भूमिहीनों, गरीब किसानों तथा मज़दूरों की तात्कालिक समस्याओं का विवेचन एवं समाधान था। इस दल का दृष्टिकोण केवल अछूतों तक सीमित नहीं था बल्कि समस्त किसान मज़दूर वर्ग तक व्यापक था। डॉ॰ आम्बेडकर ने 1942 ई॰ की क्रिप्स योजना को दलितों के साथ विश्वासघात कहा।

डॉ॰ आम्बेडकर की योग्यता तथा सेवाओं को देखते हुये भारत के वायसराय ने 2 जुलाई, 1942 ई॰ को उन्हें, उनकी श्रम समस्याओं में रुचि देखकर श्रम विभाग सौंपा गया। उन्होंने श्रम-मंत्री की हैसियत से, जो कुछ सम्भव था, वह दलितों की भलाई के लिये किया। सरकारी पद पर होते हुये भी वे दबी ज़बान से कभी नहीं बोले तथा दलितों के हितों की सुरक्षा के लिये वे सदैव काम करते रहे।

सन् 1946 ई॰ को कैबिनेट मिशन के समक्ष उन्होंने दलितों के लिये पृथक चुनाव, पृथक आवास और नये संविधान में उनके हितों की सुरक्षा की मांगे प्रस्तुत की। कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा की स्थापना हुई। संविधान सभा में डॉ॰ आम्बेडकर सीधे मार्ग से नहीं आ सके। वह बंगाल विधान सभा से मुस्लिम लीग की सहायता से दलितों के प्रतिनिधि के तौर पर निर्वाचित होकर आये।[1] संविधान सभा ने 29 अगस्त, 1947 ई॰ को संविधान का प्रारूप बनाने के लिये एक प्रारूप समिति नियुक्त की जिसका अध्यक्ष डॉ॰ आम्बेडकर को बनाया गया। प्रारूप समिति ने संविधान का प्रारूप तैयार किया जिसे संविधान सभा ने 26 नवम्बर, 1949 ई॰ को पास किया।

---

1. विजय कुमार पुजारी, डॉ॰ आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.- 164-165 (1988).

डॉ. आम्बेडकर को पं. जवाहरलाल नेहरू मंत्रि-मण्डल में स्वतंत्र भारत का प्रथम कानून मंत्री बनाया गया। बाद में 'हिन्दू कोड विल' को मूल रूप में सरकार द्वारा पास न किये जाने पर तथा कुछेक अन्य कारणों से उन्होंने नेहरू मंत्रि-मण्डल से सितम्बर 1951 ई. में त्याग-पत्र दे दिया। जनवरी 1952 ई. के लोकसभा चुनाव में डॉ. आम्बेडकर हार गये परन्तु मार्च 1952 ई. में राज्यसभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित हुये।[10]

6 दिसम्बर, 1956 ई. में 26 अलीपुर रोड, दिल्ली के अपने निवास स्थान पर डॉ. भीमराव रामजी आम्बेडकर ने परिनिर्वाण (मृत्यु) प्राप्त किया।

---

1. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.- 173-174 (1988).

तृतीय अध्याय

''डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर पर मुख्य प्रभाव''

1. डॉ॰ लोहिया एवं कार्लमार्क्स,
2. डॉ॰ लोहिया एवं धर्म,
3. डॉ॰ आम्बेडकर एवं कार्लमार्क्स,
4. डॉ॰ आम्बेडकर एवं धर्म (महात्मा बुद्ध),
5. डॉ॰ लोहिया एवं महात्मा गाँधी,
6. डॉ॰ आम्बेडकर एवं महात्मा गाँधी,
7. महात्मा गाँधी और डॉ॰ लोहिया व डॉ॰ आम्बेडकर।

तृतीय अध्याय

"डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर पर मुख्य प्रभाव"

3.1. डॉ. लोहिया एवं कार्लमार्क्स -

डॉ. लोहिया एवं जर्मन चिन्तक एवं विचारक कार्लमार्क्स दोनों में मूलभूत समानता यह थी कि दोनों निष्ठा से समाज के प्रति समर्पित थे। पूर्ण दोनों में से कोई नहीं था लेकिन पूर्णता की ओर दोनों थे और बड़े उद्यम, श्रम, विवेक और व्यवहार से मनुष्य को जटिलताओं के बीच से निकाल ले जाना चाहते थे।[1] दूसरी ओर ये दोनों ही विचारक पृथक इतिहासों, भौगोलिक स्थितियों तथा सामाजिक परम्पराओं की उपज हैं। मार्क्स भारत स्थित साम्राज्यवादियों, पूँजीशाहों और शोषकों के वर्ग से थे। डॉ. लोहिया उनके विद्यापीठों में शिक्षित एक प्रजा थे। दोनों अर्थशास्त्री थे। मार्क्स गोरा अर्थशास्त्री तो डॉ. लोहिया रंगीन। दोनों की समस्याएं भिन्न थीं। समझदारियाँ भिन्न थीं। डॉ. लोहिया ने यूरोप देखा था, सीखा था। उपनिवेश की गरीबी में वे पैदा हुये थे। उन्हें गुलामी का अनुभव था जबकि मार्क्स ने यहाँ की गरीबी पढ़ी थी, सुनी थी लेकिन देखी नहीं थी। वे भारत नहीं आये थे। रंगीन होने के कारण डॉ. लोहिया को अनेक होटलों, उद्यानों, नाचघरों, शालाओं के दरवाज़ों पर रुक जाना पड़ा लेकिन कार्लमार्क्स गर्भगृह तक गये।

---

1. डॉ. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया' पेज सं.- 299 (2003).

इससे दोनों की अनुभूति अलग-अलग होगी। मार्क्स दया दिखाने की स्थिति में है जबकि डॉ॰ लोहिया के अन्दर पीड़ा, क्रोध एवं विद्रोह है।

इसके बावजूद डॉ॰ लोहिया न तो मार्क्सवादी थे और न ही वे कार्लमार्क्स के विरोधी थे ठीक उसी प्रकार जैसे न वे गाँधीवादी थे और न ही गाँधी जी के विरोधी थे।[1]

डॉ॰ लोहिया ने मार्क्सवाद को 'आगे देखू' और पुनरुत्थानवादी को 'पीछे देखू' मन वाला कहा है। मार्क्स का सारा दर्शन मूल्य, शोषण, लाभ, अतिरिक्त मूल्य, उत्पादन और उत्पादन की शक्तियों को एक खास भौतिकवादी इतिहास दृष्टि के माध्यम से व्याख्यायित करता है। मूल्य, लाभ, अतिरिक्त मूल्य और अतिरिक्त लाभ के सामान्य वितरण में संतुलन न होने के कारण ही पूँजीवाद का प्रेत खड़ा होता है। मार्क्स के सिद्धान्तों पर डॉ॰ लोहिया के विचार निम्नलिखित हैं-

इतिहास की व्याख्या -

कार्लमार्क्स ने भौतिकवादी दृष्टिकोण से जिस इतिहास की व्याख्या की है, डॉ॰ लोहिया उस दृष्टि को अधूरी व अपूर्ण मानते हैं। मार्क्स मनुष्य की समस्त चेतना शक्ति, उदात्त-चिन्तन और उसकी नैतिक धार्मिक आस्था को भौतिक अनिवार्यताओं से अनुशासित मानते हैं। चेतना की क्षमता को नकारने के बाद मार्क्स इतिहास की गति को चार भागों में बाँटता है- आदिम साम्यवादी समाज, दास समाज, सामन्ती समाज और पूँजीवादी समाज।[2] इतिहास के इन चारो कालों में इतिहास मनुष्य की इच्छा शक्ति से नहीं वरन उत्पादन क्षमता से उत्पादन के तरीकों से और उत्पादनकर्ता व पदार्थ के सम्बन्धों से विकसित होता है। यही बात हीगल आत्मा के विकास के बारे में कहता है। डॉ॰ लोहिया के अनुसार मार्क्स और हीगल के विकास सिद्धान्त भौतिकवाद व आत्मा के विकासवाद

---

1. डॉ॰ लोहिया का भाषण, पंचमढ़ी, मई 1952 ई॰.
2. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं.- 22 (1955).

के एकांगी सिद्धान्तों पर आधारित हैं। न तो हीगल का आत्मा के विकास का सिद्धान्त पूर्ण है और न ही मार्क्स का भौतिकवादी सिद्धान्त ही पूर्ण है। परिणामस्वरूप दोनों दो विपरीत माध्यमों से एक ही निष्कर्ष पर पहुंचते हैं और इतिहास की एकांगी व्याख्या करते हैं।[1] डॉ॰ लोहिया मार्क्स की भौतिकवादी पद्धति को उतना ही अपूर्ण मानते हैं जितना ऐतिहासिक या आध्यात्मिक दृष्टि को।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद -

मार्क्स का मूलभूत सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। डॉ॰ लोहिया के अनुसार द्वन्द्वात्मक तर्क अपने आपमें अपूर्ण है क्योंकि वह द्वन्द्व और पूरक दृष्टि में भेद करने में असमर्थ है। मार्क्स कहता है कि मनुष्य की चेतना को भौतिकवादी परिस्थितियाँ निश्चित करती हैं जबकि डॉ॰ लोहिया के अनुसार मनुष्य की चेतना तथा भौतिक परिस्थितियाँ एक-दूसरे पर आश्रित हैं। मार्क्स मानते हैं कि आर्थिक उद्देश्य प्राप्त हो जाने पर दूसरे लक्ष्य अपने आप प्राप्त हो सकते हैं परन्तु डॉ॰ लोहिया के अनुसार आर्थिक लक्ष्य प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य लक्ष्य जैसे- सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि को अलग से प्राप्त करना होगा। उन्होंने कहा कि मार्क्स का सोचना कभी द्वन्द्व का नहीं रहा।[2]

डॉ॰ लोहिया के अनुसार इतिहास पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को जिस रूप से लागू किया गया है, उसके अन्दरूनी तर्क की इस जाँच से पता चलता है कि वह उतना ही आध्यात्मिक है जितना अद्वन्द्वात्मक और सरासर अनैतिहासिक है।[3] मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से यूरोप के पूँजीवाद को, साम्राज्यवाद के रूप में विकसित करने की प्रेरणा मिली है। यह साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद में बदलकर संसार में कितना असंतुलन पैदा कर सकता है इसका उल्लेख मार्क्सवाद में नहीं मिलता।

---

1. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं॰- 40 (1955).
2. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं॰- 40 (1969).
3. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं॰- 24 (1955).

वर्ग संघर्ष -

मार्क्स के अनुसार समाज में हमेशा दो वर्ग हो जाते हैं- एक शोषक वर्ग एवं दूसरा शोषित वर्ग। दोनों वर्गों में अपने-अपने हितों को लेकर वर्ग संघर्ष हमेशा चलता रहता है। मार्क्स विश्व के सम्पूर्ण इतिहास को इसी वर्ग संघर्ष का इतिहास मानते हैं। डॉ. लोहिया इस विभाजन को उपयुक्त नहीं मानते। उन्होंने वर्ग संघर्ष की आलोचना करते हुये कहा है कि, "मार्क्स का दावा है कि मानवजाति का इतिहास मूलतः वर्ग संघर्ष का इतिहास है, परन्तु वह भूल जाता है कि जातियों के संघर्ष का भी एक क्रम है जो हमेशा मानव इतिहास को प्रभावित करता रहा है। रोम ने एक ज़माने में पूरे यूरोप में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। भारत में तुर्क, मंगोल, मुगल आदि के आक्रमण होते रहे हैं। साथ ही भीतर ही भीतर राजपूत, गुप्त, मौर्य आदि जातियों के उत्कर्ष-पतन भी होते रहे हैं। इन सबकी व्याख्या केवल वर्ग संघर्ष के आधार पर नहीं की जा सकती है।"[1]

मार्क्स व डॉ. लोहिया में अन्तर यह है कि, जहाँ मार्क्स वर्ग संघर्ष के आधार को ही अन्तिम सत्य मान लेता है वहाँ डॉ. लोहिया वर्ग संघर्ष के आधार पर जाति, भाषा, सम्पत्ति आदि की भूमिका को भी महत्वपूर्ण मानते हैं। जाति और धर्म के अन्तर पर डॉ. लोहिया ने काफी गहराई से विचार किया और बताया कि कैसे वर्ग का परिवर्तन जाति में और जाति का परिवर्तन वर्ग में होता है।[2] केवल समाज के भीतर ही वर्ग संघर्ष सीमित नहीं है यह दो समाजों, दो राष्ट्रों के बीच भी काम करता है।

अतिरिक्त मूल्य -

मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में अतिरिक्त मूल्य से कई विसंगतियाँ पैदा होती हैं। इन विसंगतियों से सर्वहारा वर्ग का संघर्ष तीव्र होता है। डॉ. लोहिया मार्क्स के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि, यहाँ भी मार्क्स पूर्ण सत्य की बात नहीं करता। यदि उत्पादन शक्ति और उत्पादन सम्बन्ध

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं.- 42 (1955).
2. डॉ. राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं.- 32 (1955).

में पूंजीवाद वर्ग संघर्ष को तीव्र करता है तो इससे जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि दुनिया दो हिस्सों में बँटी है- एक हिस्से में शोषित हैं और दूसरे हिस्से में पूंजीवादियों में भी एक अधिक सम्पन्न वर्ग होता है और दूसरा कम सम्पन्न वर्ग होता है।

मार्क्सवादी चिन्तन की विडम्बना यह है कि, वह वर्ग संघर्ष के आन्तरिक संघर्ष की चर्चा तो करता है परन्तु बाह्य स्तर पर जो अमीर और गरीब राष्ट्रों का संघर्ष है उसकी चर्चा नहीं करता। डॉ॰ लोहिया के अनुसार, "हम पूंजीवाद की आन्तरिक और बाह्य दोनों ही शक्तियों को समझ सकें, ऐसा सिद्धान्त बनाने के लिये हमें किसी एक आर्थिक ढांचे के अन्दर श्रम के अलग उत्पादन का विचार छोड़कर सारे विश्व की मेहनतकश आबादी में औसत के आधार पर वितरित विश्व के कुल उत्पादन का विचार अपनाना होगा।[1]

उत्पादन शक्तियों और उत्पादन माध्यमों के सम्बन्ध -

मार्क्स की अपनी व्याख्या में केवल उत्पादन सम्बन्धों को नष्ट करने की बात कही गयी है वह उत्पादन शक्तियों के विषय में कुछ नहीं कहते हैं। डॉ॰ लोहिया पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट करने के लिये उत्पादन सम्बन्धों को नष्ट करना उतना ही आवश्यक मानते हैं जितना कि उपनिवेशों की शक्ति को, वह दोनों को नष्ट करने के पक्ष में थे। डॉ॰ लोहिया बड़ी से बड़ी मशीनों के खिलाफ थे वह इन बड़ी मशीनों को ही बेकारी, बेरोज़गारी और शोषण का कारण मानते थे।

अतिकेन्द्रीयकरण -

डॉ॰ लोहिया ने मार्क्स के अतिकेन्द्रीयकरण सिद्धान्त की आलोचना करते हुये कहा है कि केन्द्रीकृत पूंजी से ही केन्द्रीकृत उद्योग बनता है। केन्द्रीकृत उद्योग के लिये केन्द्रीकृत तंत्र का जन्म होता है, केन्द्रीकृत तंत्र से बड़ी जटिल मशीनों का दैत्याकार रूप बनता है। इससे केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का भी निर्माण होता है। इस जटिल केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था को संभालने के लिये अति केन्द्रीकृत

---

1. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, अर्थशास्त्र मार्क्स के आगे, पेज सं.- 34-35 (1980).

राजनैतिक व्यवस्था का पूरा ढाँचा नितान्त अनिवार्य हो जाता है जो मानवता के लिये खतरनाक होता है।

इतिहास और मनुष्य की व्याख्या -

डॉ॰ लोहिया के अनुसार मार्क्स ने अर्थ को प्रधानता देकर इतिहास और मनुष्य की जो व्याख्या की है वह नितान्त एकांगी है। मार्क्स का यह मानना कि आर्थिक तुष्टि ही उसकी सामाजिक, राजनैतिक और संस्कृतिक आकांक्षाओं की पूर्ति कर देगा, सर्वथा गलत है इनकी पूर्ति या संतुष्टि तभी होगी जब अर्थ, धर्म, काम और, मोक्ष पर आधारित एक समग्र दर्शन का विकास होगा। चूंकि मार्क्स ने इस पक्ष पर ध्यान नहीं दिया है इसलिये उसका दर्शन एकांगी व अधूरा है।

डॉ॰ लोहिया ने गाँधीवाद के परिप्रेक्ष्य में एशिया अफ्रीका की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का इतना गहन अध्ययन किया था कि उनके आधार पर उन्होंने मार्क्स के अनेक निष्कर्षों और भविष्यवाणियों को गलत सिद्ध कर दिया-

1) मार्क्स ने जिस समाज के आधार पर मज़दूरों के समाजीकरण की प्रक्रिया की भविष्यवाणी की थी, वह ठीक तो सिद्ध हुई लेकिन उस समाज में नहीं घटी जिसके लिये उसने भविष्यवाणी की थी।

2) मार्क्स का पूंजी के केन्द्रीकरण का सिद्धान्त भी उसकी कार्यशाला की अर्थव्यवस्था यानि इंग्लैण्ड में न घटकर रूस में घटित हुआ।

3) मार्क्स की कल्पना थी कि इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था में सर्वहारा वर्ग में ज्यादा गरीबी बढ़ेगी परन्तु गरीबी बढ़ी तृतीय विश्व के देशों में।

4) मार्क्स का निष्कर्ष था कि छोटे पूंजीपति नष्ट हो जायेंगे लेकिन इसके विपरीत यूरोप और अमरीका में छोटे पूंजीपति क्रमशः बड़े होते गये।

5) मार्क्स की यह धारणा थी कि पूंजीवादी देशों (अमरीका व इंग्लैण्ड) में मज़दूर संगठनों द्वारा समाजवाद पहले आयेगा परन्तु इसके विपरीत समाजवाद सबसे पहले रूस व चीन में आया जहां मज़दूर संगठन थे ही नहीं।

6) डॉ॰ लोहिया ने मार्क्स के उस नारे को झूंठा साबित किया जिसमें उसने दुनिया के मज़दूरों को एक छत्रछाया के नीचे जुड़ने का आह्वान किया था

क्योंकि दुनिया के मज़दूरों की परिस्थितियाँ एक जैसी नहीं है। अतः वह एक कैसे हो सकते हैं ?

3.2. डॉ॰ लोहिया एवं धर्म -

धर्म का सम्बन्ध ईश्वर, पूजापाठ, नैतिकता, आस्था, विश्वास आदि से होता है। ईश्वर को मानने वाला आस्तिक जबकि उसे न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। डॉ॰ लोहिया यद्यपि नास्तिक थे, ईश्वरवादी नहीं थे, मन्दिरों में उनकी आस्था नहीं थी तथापि वे उन ईश्वरवादियों, तिलकधारियों और आस्तिकों से कहीं ज्यादा श्रेष्ठ थे जो स्वार्थ, लोभ, छल-प्रपंच आदि दुष्प्रवृत्तियों पर पर्दा डालने के लिये उन आवरणों का प्रयोग करते थे। उन्होंने कहा है कि, "जहाँ तक मेरी बात है, मैं यह साफ कह देना चाहता हूँ कि मैं नास्तिक हूँ और कोई इस गलतफहमी में न आ जायें कि मैं भगवान में विश्वास करने लगा हूँ।"[1]

डॉ॰ लोहिया के लिये गंगा आत्मस्फूर्ति का हेतु थी और चित्रकूट घटाटोपी अंधकार से उन्हें बाहर लाने का सबल माध्यम। यथार्थतः डॉ॰ लोहिया विज्ञानवादी थे। समाजवाद का अन्तर्विश्लेषण विज्ञान के आधार पर था लेकिन उनका विज्ञान अध्यात्मवाद की संसृष्टि था। आत्मसंवाद उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग था। पूरा विश्व उनका घर था। पुराण से डॉ॰ लोहिया को प्रेरणा मिली थी और शबरी, द्रोपदी, सावित्री, राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, गणेश आदि उनके लिये प्रेरक तत्व रहे। यह एक विचित्र बात है कि एक नास्तिक आस्था के गहरे स्रोतों को कैसे मानता है ? वास्तव में डॉ॰ लोहिया आस्तिक-नास्तिक की सीमा से बहुत ऊपर थे। परन्तु उन्होंने मार्क्स की भाँति धर्म को अफीम नहीं माना।

डॉ॰ लोहिया ने कहा है कि आज भारत का वर्तमान जीवनक्रम और अतीत भी बहुत कुछ किसी न किसी नदी से जुड़ा हुआ है, यों यही हाल सारी दुनिया का है, परन्तु भारत में बहुत अधिक है। यदि मैं राजनीति करने के स्थान पर अध्ययन के क्षेत्र में होता तो इस सम्बन्ध में गहरी जांच करने में समर्थ होता। राम की अयोध्या सरयू के किनारे थी, कुरु, मौर्य और गुप्त साम्राज्य गंगा के

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 244 (1969).

किनारे पनपे तथा मुगल व सौरसेनी नगर व राजधानियाँ यमुना के किनारे बसीं।[1]

प्रसिद्ध तीर्थ चित्रकूट में डॉ॰ लोहिया ने 11 दिवसीय रामायण मेले के अन्तर्राष्ट्रीय महोत्सव की एक बड़े ही मौलिक तथा विराट परिकल्पना की थी। यद्यपि उस समय यह बात किसी के गले नहीं उतरती थी कि एक राजनीतिज्ञ धर्म के क्षेत्र में उतर रहा है ? डॉ॰ लोहिया ने इसका उत्तर देते हुये कहा था कि :-

"धर्म और राजनीति के दायरे अलग-अलग अवश्य है, परन्तु दोनों की जड़ें एक हैं। धर्म दीर्घकालीन राजनीति है : राजनीति अल्पकालीन धर्म है।[2] धर्म का काम है अच्छाई करे और उसकी स्तुति करे। राजनीति का काम है बुराई से लड़े और उसकी निन्दा करे। लेकिन जब धर्म अच्छाई न करे केवल स्तुति भर करता रहे तो वह निष्प्राण हो जाता है और राजनीति जब बुराई से लड़ती नहीं, केवल निन्दा भर करती है तो वह कलही हो जाती है इसलिये आवश्यक है कि धर्म और राजनीति के मूलभूत स्वरूप को समझा जाय। धर्म और राजनीति का अविवेकी मिलन दोनों को भ्रष्ट कर देता है, ज़रूरी है कि धर्म और राजनीति एक-दूसरे से सम्पर्क न तोड़े, मर्यादा निभाते रहे। डॉ॰ लोहिया के सामने यह विचार आया था कि यह मेला अयोध्या में होता तो अधिक समीचीन रहता। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि, "अयोध्या सदा तीर्थ होने के कारण और चित्रकूट रमणीक होने के कारण, पहला प्रयास चित्रकूट में ही अच्छा रहेगा। मेला किसी और त्यौहार से न टकराना चाहिये।" इस मेले का तात्पर्य हो सकता है- (1) आनन्द (2) दृष्टि (3) रस-संचार और (4) हिन्दुस्तानी को बढ़ावा।[3] जिस तरह हिमालय के निर्मल-निर्झर से शरीर और मन शान्त होता है, उसी प्रकार राम के निर्मल-निर्झर से मन धुलता है। रामायण उनकी दृष्टि से शान्त-रस का आगार है, तुलसी शान्त-रस की सीमा है, फलतः राम, रामायण और तुलसी का महत्व हमारे सांस्कृतिक जीवन में सर्वोपरि

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 244 (1969).
2. वही, पेज सं.- 301 (1969).
3. डॉ॰ लोहिया का 1 सितम्बर, 1960 का भाषण।

है। रामायण मेले में इसी सांस्कृतिक विरासत का लेखा-जोखा किया जायेगा।[1]

डॉ॰ लोहिया राम, कृष्ण और शिव को भारत में पूर्णता के तीन महान स्वप्न मानते हैं। यद्यपि इन तीनों के मार्ग अलग-अलग हैं, फिर भी इन तीनों में समता है और पूर्ण बनाने की दिशा में ये तीनों एक साथ प्रयत्न करते हुये प्रतीत होते हैं। राम की पूर्णता मर्यादित व्यक्तित्व में है, कृष्ण की उन्मुक्त व्यक्तित्व में और शिव की असीमित व्यक्तित्व में है। तीनों अलग-अलग होते हुये भी, अपने में पूर्ण हैं।[2] किसी एक का एक या दूसरे से अधिक या कम पूर्ण होने का कोई सवाल नहीं उठता। इनमें कोई किसी से अधिक या कम नहीं है। तीनों का समान महत्व है। यह चयन व्यक्ति पर आधारित है कि वह इनमें से किसे चुने। चुनने का अर्थ है उनके गुण विशेष।

राम को डॉ॰ लोहिया ने स्वीकार्य किया परन्तु कृष्ण को अस्वीकार्य नहीं किया। राम सामान्य जन की तरह अपनी भूमिका निभाते रहे और मर्यादा में बने रहने का पूरा-पूरा प्रयास करते रहे। वे आदर्श पुरुष थे- मर्यादा पुरुष थे। वे जनभावना के प्रतीक थे और हर छोटे-बड़े राज्य की स्वतंत्रता के कायल भी। कृष्ण सम्पूर्ण पुरुष थे। उनके चेहरे पर मुस्कान और आनन्द की छाप बराबर बनी रही और खराब से खराब हालत में भी उनकी आँखें मुस्कराती रहीं। राम के विपरीत कृष्ण का चरित्र शंकाओं से घिरा है और अधिक उन्मुक्त भी है। कृष्ण चोर, झूंठे, मक्कार और खूनी थे। वे एक पाप के बाद दूसरे पाप बिना हिचक के करते थे। उन्होंने अपनी पोषक माँ का मक्खन चुराने से लेकर दूसरे की बीबी चुराने तक का काम किया। उन्होंने महाभारत के समय में एक ऐसे आदमी से आधा झूंठ बुलवाया, जो अपने जीवन में कभी झूंठ नहीं बोला था। उनके अपने झूंठ अनेक है उन्होंने सूर्य को छिपाकर नकली सूर्यास्त किया ताकि उस गोधूलि में एक बड़ा शत्रु मारा जा सके। वीर भीष्म-पितामह के सामने उन्होंने नपुंसक शिखंडी को खड़ाकर दिया ताकि वे बाण न चला सके, और खुद सुरक्षित आड़ में रहे। उन्होंने अपने मित्र की मदद स्वयं अपनी बहन को भगाने में किया।[3] उनका गीता-प्रवचन सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है

---

1. डॉ॰ लोहिया का 1961 का भाषण।
2. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं॰- 267 (1969).
3. वही, पेज सं॰- 273.

जिसमें आत्मा के गीत है। डॉ॰ लोहिया यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम एक करना ही राम और कृष्ण का धर्म था।

डॉ॰ लोहिया के अनुसार राम और कृष्ण ने मानवीय जीवन बिताया लेकिन शिव बिना जन्म और बिना अन्त के है। ईश्वर की तरह अनन्त है, लेकिन ईश्वर के विपरीत उनके जीवन की घटनाएं समय-क्रम में चलती है और विशेषताओं के साथ, इसलिये वे ईश्वर से भी अधिक असीमित है। शायद केवल उनकी ही एकमात्र किंवदंती है जिसकी कोई सीमा नहीं है।[1]

शिव ने कोई भी ऐसा काम नहीं किया जिसका औचित्य उस काम से ही न ठहराया जा सके। आदमी की जानकारी में वह इस तरह के अकेले प्राणी है, जिनके हर काम का औचित्य अपने आप में था। शिव तात्कालिकता के सिद्धान्त के प्रतीक हैं। उनका हर काम स्वयं में तात्कालिक औचित्य से भरा होता है और उसके लिये किसी पहले या बाद के काम को देखने की ज़रूरत नहीं होती।

डॉ॰ लोहिया आज के संदर्भ में इन सभी पौराणिक प्रसंगों और उनसे जुड़े प्रतीकों का पुनर्मूल्यांकन कर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि शताब्दियों के बीच वे गिरावट का शिकार होती रही है। कभी-कभी ऐसा बीज, जो समय पर निखरता है, वह विपरीत हालातों में सड़ भी जाता है। राम के भक्त समय-समय पर पत्नी निर्वासक, कृष्ण भक्त दूसरों की बीबियाँ चुराने वाले और शिव के चक्र अघोर पंथी हुये हैं। गिरावट और क्षतिरूप की इस प्रक्रिया में मर्यादित पुरुष संकीर्ण हो जाता है, उन्मुक्त पुरुष दुराचारी हो जाता है, असीमित पुरुष प्रासंगिक और स्वरूपहीन हो जाता है। राम का गिरा हुआ रूप संकीर्ण व्यक्तित्व, कृष्ण का गिरा हुआ रूप दुराचारी, शिव का गिरा हुआ रूप स्वरूपहीन व्यक्तित्व बन जाता है। राम के दो अस्तित्व हो जाते हैं। मर्यादित और संकीर्ण, कृष्ण के उन्मुक्त और क्षुद्र-प्रेमी, शिव के असीमित और प्रासंगिक।

अन्त में डॉ॰ लोहिया कहते हैं कि, "ए भारत माता, हमें शिव का मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो तथा राम का कर्म और वचन दो। हमें असीम मस्तिष्क और

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 276 (1969).

उन्मुक्त हृदय के साथ-साथ जीवन की मर्यादा से रचो।[1] डॉ. लोहिया तीनों को सत्य, शिव और सुन्दर रूप में भी देखते हैं।

3.3. डॉ. आम्बेडकर एवं कार्लमार्क्स -

डॉ. आम्बेडकर मार्क्सवाद से प्रभावित थे और हमें डॉ. आम्बेडकर व मार्क्स में कुछ मूल समानताएँ भी देखने को मिलती हैं जैसे- दोनों विचारकों के द्वारा उत्पीड़ित जनसमुदाय की पक्षधरता, अतिमानवीयता, अत्यन्त विषम-परिस्थितियों में उत्पीड़ितों की मुक्ति का मार्ग तलाशने का प्रयत्न करना और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपना जीवन तथा सर्वस्व होम कर देना आदि। परन्तु इन समानताओं के बावजूद दोनों में अनेक विभिन्नताएं देखने को मिलती हैं दूसरे शब्दों में डॉ. आम्बेडकर मार्क्स की अनेक बातों से सहमत नहीं है-

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार अतीत के ज्ञान, अनुभव तथा चिन्तन की दृष्टि से बने सिद्धान्त, विकास की तेज़ दौड़ में रूढ़ि का रूप धारण कर लेते हैं इसलिये यह उचित नहीं है कि मार्क्स के विचार उपयोगी होते हुये भी उन्हें पूर्णतः स्वीकार किया जाय और उन्हें पूरा समर्थन दिया जाय, बल्कि चिन्तन की स्वतंत्रता के अधिकार के लिये किसी भी वाद में आदमी को जकड़ा न जाय। उन्होंने कहा कि यद्यपि भारत में बहुत गरीबी है, परन्तु उसका एकमात्र उपचार मार्क्सवाद नहीं है। भारत जैसे देश में जहाँ की समाज व्यवस्था रूस तथा चीन से भिन्न हो, वहाँ मार्क्सवाद को व्यवहार में लागू करना सम्भव नहीं है। यदि कार्लमार्क्स भारत में बैठकर 'दास कैपिटल' ग्रन्थ की रचना करता तो वह उसे दूसरे ढंग से लिखता।' इस देश में सामाजिक अनेकता है। यहाँ की समाज व्यवस्था चार वर्णों या हजारों जातियों में विभाजित है। प्रत्येक जाति अपने को उच्च और दूसरी को नीच मानती है। एक जाति दूसरी जाति से नफ़रत करती है।

मार्क्स यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य की चेतना उसकी सामाजिक सत्ता को निश्चित नहीं करती, वरन सामाजिक सत्ता ही उसकी चेतना को निश्चित करती है।[2] 'आर्थिक नियतिवाद' का सिद्धान्त यह संकेत करता है कि आर्थिक तत्व मानव

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 278 (1969).
2. डब्लू. एविन्स टाइम : टू डेज- इज़्म्स, पेज सं.- 5 (1956).

जीवन को भी नियंत्रित करते हैं।[1] डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार मार्क्स के कथन में आंशिक सत्य अवश्य है परन्तु उसमें पूर्ण सत्य नहीं है। यह सत्य नहीं है कि ऐतिहासिक परिवर्तनों में प्राकृतिक एवं आर्थिक शक्तियाँ ही प्रमुख हैं। वे ही सर्वोपरि हैं और मानव इतिहास के निर्माण में मनुष्य का कोई स्थान नहीं है। यदि भौतिक शक्तियाँ प्रमुख हैं तो, यह भी मना नहीं किया जा सकता कि इनका प्रयोग मनुष्य ही करता है। उनका सदुपयोग मानव बुद्धि पर निर्भर है।[2]

सामाजिक जीवन में अनेक भयंकर घटनाएं सामने आती हैं। प्राचीन रीति-रिवाज़ उनका समाधान करने में निरर्थक सिद्ध होते है। समाज को संकटों से बचाना समय का काम नहीं है यह काम मनुष्य का है। इसलिये डॉ॰ आम्बेडकर कहते थे कि, "मनुष्य इतिहास के निर्माण में एक आवश्यक तत्व है और वातावरण की शक्तियाँ, चाहे वे अमानवीय हों अथवा सामाजिक, यदि वे प्रमुख एवं प्रथम है तो अन्तिम नहीं हो सकती हैं।[3] कार्लमार्क्स का यह कथन कि आर्थिक शक्तियाँ ही सब कुछ है, पूर्ण सत्य नहीं है। मार्क्स इतिहास की एकात्मक व्याख्या देता है। यह व्याख्या एकांगी है क्योंकि अनेक विद्वान इतिहास की व्याख्या में अनेकत्व को आधार मानते हैं।[4]

मार्क्स के अनुसार आज तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है।[5] इस संघर्ष में उन लोगों का शोषण होता है, जो साधनहीन हैं और वे शोषण करते हैं जो साधन सम्पन्न हैं। शोषण का अन्त करने के लिये निजी सम्पत्ति के अस्तित्व को समाप्त करना अत्यन्त आवश्यक है।[6] निजी सम्पत्ति के अस्तित्व का अन्त **'सर्वहारा क्रान्ति'** के द्वारा ही सम्भव है। अतः बिना क्रान्ति के उनके दुःखों का अन्त नहीं हो सकता। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि महात्मा बुद्ध ने जीवन के वास्तविक

---

1. ई.टी॰ हिलर, सोशल रिलेशन्स एण्ड इस्ट्रक्चर्स, पेज सं॰- 301 (1947).
2. बी.आर॰ आम्बेडकर, गाँधी, रानाड़े एण्ड जिन्ना, पेज सं॰- 5-6 (1943).
3. वही, पेज सं॰- 7-8.
4. सी.ए. एलवुड, ए हिस्ट्री ऑफ सोशल फिलॉसफी, पेज सं॰- 336-337 (1950).
5. कार्ल मार्क्स, कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो, पेज सं॰- 46 (1957).
6. वही, पेज सं॰- 73.

तत्व पर अपना ध्यान केन्द्रित किया था कि "मानव जीवन में दुःख है।"[1] मार्क्स ने भौतिक दुःख की बात की जबकि महात्मा बुद्ध ने भौतिक एवं मानसिक दोनों दुःखों का अन्त करने पर बल दिया। बुद्ध ने दुःख का एक विशेष अर्थ लिया और मानव दुःखों को दूर करने के लिये जीवन भर प्रयास करते रहे। मानव दुःख के अनेक कारण हैं उनमें से बुद्ध के अनुसार निज़ी सम्पत्ति भी एक कारण है। मार्क्स अपने आदर्श को व्यवहार में लाने के लिये क्रान्ति अथवा हिंसात्मक पद्धति का प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार, विकासात्मक विधि सर्वहारा के पक्ष में धीरे-धीरे अग्रसर होती है, लेकिन उस समय को कम करने के लिये सर्वहारा क्रान्ति आवश्यक है। डॉ॰ आम्बेडकर मानते थे कि "मार्क्स और महात्मा बुद्ध में यही भिन्नता का एक महान बिन्दु है।" बुद्ध की सुधार की पद्धति प्रेम, अहिंसा, शान्ति एवं सुझाव पर आधारित है। प्रेम के द्वारा ही स्थायी परिवर्तन सम्भव है। दुःखों का अन्त करने के लिये शान्तिमय ढंग अपनाना ही श्रेयस्कर है। बुद्ध हिंसात्मक विधियों के बिल्कुल विरुद्ध थे।[2] शान्ति द्वारा लाये गये सुधार कहीं अधिक दृढ़ होते हैं। हिंसात्मक ढंग भयमुक्त एवं दुर्बल होते हैं।[3]

मार्क्स ने श्रमिक वर्ग की तानाशाही पर अधिक बल दिया है। डॉ॰ आम्बेडकर ऐसी समाज-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते जहाँ स्वतंत्रता न हो। उन्हें तानाशाही का राज्य पसंद नहीं है वह प्रजातांत्रिक समाज के समर्थक थे। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि मार्क्सवादी व्यवस्था में लोगों को खाने के लिये रोटी और रहने के लिये मकान तो मिल सकता है, परन्तु जनसाधारण को स्वतंत्र सोंचने, समझने और उसको अभिव्यक्त करने पर कड़ा प्रतिबन्ध लग जाता है। मानव प्राणियों में जो बौद्धिक अंग है उसका विकास रुक जाता है। यदि व्यक्ति का मन एवं हृदय साम्यवादी व्यवस्था को स्वीकार करता है तो, सोवियत समाज की भाँति अधिक पुलिस तानाशाही की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। व्यक्ति स्वयं उस विचार को मानेंगे।

---

1. डॉ॰ आम्बेडकर का भाषण, बुद्धिज्म एण्ड कम्युनिज़्म, इन्टरनेशनल बुद्धिष्ठ कान्फ्रेन्स, काठमाण्डू, नेपाल, 20 नवम्बर 1956, पैरा- 4.
2. वही, पैरा- 6.
3. वही,पैरा- 6.

शक्ति के द्वारा स्थायित्व की भावना शीघ्र नहीं आ सकती। जब तक शक्ति का प्रयोग है, तब तक वह व्यवस्था बनी रहेगी। पुलिस शक्ति के न रहने पर यह व्यवस्था भी नहीं रहेगी। मार्क्सवादी समाज में यही भय निरन्तर रूप से पाया जाता है।[1]

कार्लमार्क्स के चिन्तन में धर्म के लिये कोई स्थान नहीं है। धर्म साम्यवादियों के लिये एक ऐसी कल्पना है, जिसके सहारे पूँजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग का शोषण करता है।[2] इनके लिये धर्म अफीम के समान है जिसके द्वारा मनुष्य वास्तविकता को भूल जाता है। इसका अन्त करने के पश्चात ही सत्य की खोज़ की जा सकती है। मनुष्य का सच्चा सुख धर्म में नहीं आर्थिक समृद्धि में है।[3] डॉ॰ आम्बेडकर इस धर्म विरोधी दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। उनके अनुसार धर्म सामाजिक जीवन का एक आवश्यक अंग है। धर्म मनुष्य जीवन की एक उत्तम वस्तु है। धर्म के साथ-साथ सम्मान की भावना निहित है। धर्म एक ऐसी सामाजिक शक्ति है, जो शान्ति व्यवस्था के लिये आवश्यक है। धर्म के बिना मानव जीवन अधूरा है। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि धर्म एक प्रभाव है, जिससे व्यक्ति अपने चरित्र को सुव्यवस्थित बनाता है। अपने आचरण को शुद्ध करता है। व्यक्तिगत इच्छाएं एवं घ्रणाएं एवं प्रक्रियाएं अधिकांश किसी धर्म पर निर्भर होती हैं।[4] डॉ॰ आम्बेडकर धर्म को अफीम नहीं मानते थे। उन्होंने कहा था कि-

"साम्यवादी सफलताओं से लालायित मत होओ। मुझे पूरा विश्वास है कि हम सब दस में से एक बुद्ध की भाँति दैदीप्य हो जाये, तो उन्हीं मार्क्सवादी सफलताओं को प्रेम एवं सद्भावना से ला सकते हैं।"[5]

---

1. डॉ॰ आम्बेडकर का भाषण, बुद्धिज्म एण्ड कम्युनिज़्म, इन्टरनेशनल बुद्धिष्ठ कान्फ्रेन्स, काठमाण्डू, नेपाल, 20 नवम्बर 1956, पैरा- 6.
2. आर.ई॰ विक्स, मैन एण्ड मॉडर्न सोसाइटी, पेज सं॰- 195-196 (1958).
3. मार्क्स एण्ड एंगेल्स, ऑन रिलीज़न, पेज सं॰- 41-42 (1957).
4. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, मि॰ गाँधी एण्ड द इमैन्सीपेशन ऑफ द अण्टचेबिल्स, पेज सं॰- 55, (1943).
5. डॉ॰ आम्बेडकर का भाषण, बुद्धिज्म एण्ड कम्युनिज़्म, इन्टरनेशनल बुद्धिष्ठ कान्फ्रेन्स, काठमाण्डू, नेपाल, 20 नवम्बर 1956, पैरा-11.

डॉ. आम्बेडकर देश-काल और परिस्थितियों के अनुसार, किसी भी विचारधारा में पुनर्विचार तथा संशोधन को अनिवार्य समझते हैं। उनका विचार है कि मार्क्स ने जो कुछ अपने समय में कहा था वह आज शत-प्रतिशत सही उतरे यह आवश्यक नहीं। उसकी बहुत सी बातें गलत सिद्ध हो चुकी है और इसलिये लेनिन तथा माओं ने अपने देश, काल तथा परिस्थितियों के अनुकूल मार्क्सवादी विचारधारा में अपना क्रान्तिकारी योगदान किया। अतः यह कहा जा सकता है कि डॉ. आम्बेडकर ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण की अपने विचार से समीक्षा कर भारतीय समाज में मार्क्सवाद को अनुपयुक्त पाया, विशेषकर उन नेताओं के हांथों में जिनमें अब भी ब्राह्मणी प्रावृत्तियाँ विद्यमान हैं और जो मठाधीशों के रूप में ही हर जगह बने रहना चाहते हैं।

3.4. डॉ. आम्बेडकर एवं धर्म (बौद्ध धर्म) -

डॉ. आम्बेडकर ने धर्म को सामाजिक जीवन का प्रमुख अंग स्वीकार किया। उन्होंने धर्म और मज़हब में फर्क किया। मज़हब वैयक्तिक है जबकि धर्म सामाजिक है। उन्होंने कहा है कि, "मनुष्य केवल रोटियों से जीवित नहीं रह सकता है उसमें एक ऐसा मन है जो विचार रूपी खुराक चाहता है। धर्म मनुष्य में आशा का संचार करता है और मनुष्य को शुभ कर्म करने के लिये प्रेरित भी करता है।"[1] धर्म अफीम नहीं है व्यक्तिगत जीवन में भी धर्म का प्रमुख स्थान है, "धर्म एक ऐसा प्रभाव या शक्ति है जो जीवन में घुल-मिलकर व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करता है। व्यक्ति की क्रियाओं एवं प्रति-क्रियाओं, पसन्द तथा नापसन्द, को निश्चित करने में धर्म सहायक सिद्ध होता है।"[2]

धर्म सामाजिक एवं पैतृक धन का आवश्यक अंग है, व्यक्ति और समाज का सम्मान एवं गौरव उसमें निहित है। धर्म का परित्याग करना बहुत कठिन है। लेकिन डॉ. आम्बेडकर ने कहा है कि, "मैं धर्म चाहता हूँ.. धर्म के नाम पर पाखण्ड नहीं चाहता हूँ।"[3] केवल पाखण्ड या मिथ्याभिमान ही धर्म का शत्रु नहीं है। वरन दासता

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-499 (1981).
2. बी.आर. आम्बेडकर, मि. गाँधी एण्ड द इमैन्सीपेशन ऑफ द अण्टचेबिल्स, पेज सं.- 55, (1943).
3. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-304 (1981).

भी धार्मिक समाज का एक विरोधी तत्व है। उन्होंने कहा कि वह धर्म जो अपने दो अनुयायियों में भेदभाव उत्पन्न करता हो, वह धर्म जो अपने अनुयायियों को कुत्तों तथा बिल्लियों से बद्तर मानता हो, वह धर्म जो अपने अनुयायियों पर अनेक अत्याचार करता हो, वास्तव में वह धर्म नहीं है। इन सब बातों को धर्म का नाम नहीं दिया जा सकता। धर्म और दासता आपस में विरोधी हैं।[1]

डॉ॰ आम्बेडकर को उनके बचपन से ही परिवार में धार्मिक संस्कार मिले थे। इसके अतिरिक्त जब वे सन् 1907 ई॰ में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण हुये थे तो उनके सम्मान में एक सभा हुई थी जिसमें श्रीकृष्णा जी केलुस्कर ने भीमराव को स्वयं द्वारा मराठी में रचित 'बुद्ध चरित' नामक पुस्तक भेंट की थी। इस पुस्तक का प्रभाव भीमराव पर अत्यन्त गहरा पड़ा, इतना गहरा कि जब डॉ॰ आम्बेडकर को हिन्दू धर्म, जो असमानता, छुआछूत, भेदभाव पर आधारित है, में सुधार होते नहीं दिखा तो उन्होंने 13 अक्टूबर, 1935 ई॰ को येवला कान्फ्रेन्स में धर्मान्तर की घोषणा करते हुये कहा कि, "दुर्भाग्य से मैं हिन्दू समाज में अछूत पैदा हुआ। यह मेरे बस की बात नहीं थी परन्तु हिन्दू समाज में बने रहने से इन्कार करना मेरे बस की बात है और मैं आपको आश्वासन देता हूँ कि मैं मरते समय हिन्दू नहीं रहूँगा"[2] और अन्त में काफी सोंच-विचार के बाद जब डॉ॰ आम्बेडकर ने धर्म परिवर्तन किया तो उन्होंने 'बौद्ध धर्म' को ही चुना। यह डॉ॰ आम्बेडकर पर बौद्ध धर्म का प्रभाव का ही परिणाम था। डॉ॰ आम्बेडकर बुद्ध के धम्म (धर्म) को ही सच्चा धर्म मानते थे जिसका मूल उद्देश्य मानव-मानव के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करके संसार का सुधार करना है।

सन् 1950 ई॰ में डॉ॰ आम्बेडकर ने 'बुद्ध और उसके धर्म का भवितव्य' नामक लेख में व्यक्ति के जीवन में धर्म की आवश्यकता को चार प्रमुख कारणों से स्पष्ट किया है :-

1) समाज की 'स्थिरता' और 'नियंत्रण' के लिये नीति की आवश्यकता होती है। इनमें से किसी एक के अभाव में समाज रसातल को जा सकता है

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर, लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-308-309 (1981).
2. विजय कुमार पुजारी, डॉ॰ आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.- 136 (1988).

इसलिये किसी भी समाज को धर्म की आवश्यकता होती है।

2) धर्म अगर बना रहना हो तो उसे बुद्धि प्रामाण्यवादी होना चाहिये। विज्ञान बुद्धि प्रामाण्यवादी है।

3) केवल नीति की संहिता का अर्थ धर्म नहीं है। धर्म की नीति संहिता में स्वतंत्रता, समता और बन्धुता इन मूलभूत तत्वों को मान्यता प्राप्त होनी चाहिये।

4) दरिद्रता को पवित्र मानने का आग्रह किसी भी धर्म को नहीं करना चाहिये, अथवा दरिद्रता का उदात्तीकरण भी नहीं होना चाहिये।[1]

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार उपरोक्त चारो कारणों की पूर्ति बौद्ध धर्म करता है। उन्होंने कहा कि सभी ईश्वरीय धर्म ईश्वर की तरह अनादि, अनन्त, सर्वस्पर्शी, सर्वनामी, सनातन और अपरिवर्तनीय हो जाते हैं। ऐसे धर्म मनुष्य की बुद्धिमत्ता को चुनौती नहीं दे सकते। सिद्धार्थ नामक व्यक्ति ने जिस धर्म की बात कही है वह प्रचलित धर्मों से एकदम भिन्न है। एक व्यक्ति द्वारा अनेक व्यक्तियों से कहा गया यह धर्म है। "इस धर्म में गूढ़ शक्ति को किसी भी प्रकार का स्थान नहीं है। ईश्वरी कृपा या अवकृपा, वरदान या शाप, स्वर्ग या नरक इसकी कोई गुंजाइश इस धर्म में नहीं है। सिद्धार्थ का यह धर्म हाड़-मांस के व्यक्ति द्वारा उसके ही जैसे हाड़-मांस के लोगों के लिये, उनकी ही भाषा में, उनके ही शब्दों में कहा गया है। इस धर्म में 'श्रद्धा' के लिये कोई स्थान नहीं है। उल्टे किसी व्यक्ति या वस्तु पर अन्ध श्रद्धा न रखने का आग्रह इसमें किया गया है। प्रश्न करो, शंकाएं उपस्थित करो, विचार करो और अगर तुम्हारे विवेक को मान्य हो तो ही स्वीकारो ऐसा इस धर्म का आग्रह है। सिद्धार्थ कहीं पर भी सर्वज्ञता का दावा नहीं करता। वह किसी का संदेश देने की बात नहीं करता। वास्तव में वह किसी भी प्रकार का आदेश नहीं देता। कोई निर्णायक बात नहीं करता और यही इस धर्म की शक्ति है।[2]

डॉ. आम्बेडकर पर बौद्ध धर्म का प्रभाव स्पष्टतः रहा यह निम्नलिखित बातों से सिद्ध है :-

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-435 (1981).
2. प्रभाकर वैद्य, डॉ. आम्बेडकर आंणि त्याचा धम्मः, पेज सं.- 113-134 तक।

1) डॉ॰ आम्बेडकर ने बम्बई में दादर की हिन्दू कॉलोनी में अपना जो भवन बनवाया उसका नाम 'राजगृह' रखा जो महात्मा बुद्ध के प्रति श्रद्धा का परिचायक था।

2) धर्मान्तर के प्रश्न पर विचार करने के लिये डॉ॰ आम्बेडकर ने सन् 1936 ई॰ में महार जाति परिषद् बम्बई में आयोजित की थी। इसमें उनका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर स्पष्टतः था।

3) 'द अन्टचेबल्स' नामक पुस्तक सन् 1948 ई॰ में प्रकाशित हुई इसमें डॉ॰ आम्बेडकर ने यह सिद्ध किया कि अछूत लोग पहले बौद्ध थे। बौद्ध धर्म ही अछूतों का पैतृक धर्म था।

4) डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा स्थापित दो कॉलेजों के नाम भी 'सिद्धार्थ' और 'मिलिन्द' है जो बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा के द्योतक हैं।

5) सन् 1950 ई॰ में श्रीलंका में हुये प्रथम विश्व बौद्ध सम्मेलन में डॉ॰ आम्बेडकर सम्मिलित हुये इसके अतिरिक्त सन् 1954 ई॰ में वर्मा में हुये विश्व बौद्ध सम्मेलन में भी वे सम्मिलित हुये। रंगून में एक भाषण में उन्होंने कहा था कि, "भारत में बौद्ध धर्म वृक्ष की शाखाएं और पत्ते सूख गये हैं, परन्तु उनकी जड़ें आज भी हरी-भरी हैं।"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार बुद्ध के सच्चे धर्म का अनुसरण करना आवश्यक है। इसलिये नहीं कि यह धर्म का एक अंग है, बल्कि इसका महान सामाजिक महत्व है। यह एक शुभ कर्तव्य है और साथ ही इसमें सामाजिक उत्तरदायित्व भी निहित है। बुद्ध का मार्ग केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये नहीं है। इसका महान उद्देश्य 'बहुजन हिताय', 'बहुजन सुखाय' है। यह मार्ग प्रारम्भ में सच्चा है, मध्य में सच्चा है और अन्त में भी सच्चा है। यह मार्ग बुद्धि एवं मन को शुद्ध करके व्यक्ति को शुद्ध आनन्द की ओर ले जाता है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में समझा था और वह वर्णवाद आश्रित सामाजिक व्यवस्था को जड़मूल से उखाड़कर समतावादी

---

1. विजय कुमार पुजारी, डॉ॰ आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.-180 (1988).

समाज की नींव रखना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपने सभी दलित लोगों को बौद्ध धर्म अपनाने की सलाह दी और 14 अक्टूबर 1956 ई. को उन्होंने वर्मा के 80 वर्षीय वयोवृद्ध भिक्षु महास्थविर चन्द्रमणि द्वारा नागपुर में त्रिशरण पंचशील का उच्चारण करवाकर तथा 22 प्रतिज्ञाओं[1] को लेकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और बाद में डॉ. आम्बेडकर ने दो लाख से अधिक दलितों को त्रिशरण पंचशील का उच्चारण करवाकर बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। उनकी दूसरी पत्नी मिस सविता आम्बेडकर एवं पुत्र यशवंत राव आम्बेडकर भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हुये। इसी समय डॉ. आम्बेडकर का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बुद्धा एण्ड हिज धम्म' भी पूर्ण हो गया था। इस ग्रन्थ में 'न कोई परमात्मा है तथा न कोई आत्मा' नामक दो अध्याय जोड़े गये। यह ग्रन्थ वास्तव में बीसवीं शताब्दी का एक नया भाष्य था।[2]

वास्तव में डॉ. आम्बेडकर बुद्ध एवं मार्क्स को एक दूसरे का शत्रु या प्रतिस्पर्धी के रूप में नहीं देखते। इन दोनों के बीच स्थित साम्यभेद को वे स्पष्ट करते हैं। इन दोनों में साम्य अधिक है। हिंसा के सिवा दूसरा भेद नहीं है। इस कारण डॉ. आम्बेडकर ने 'बौद्ध-साम्यवाद' शब्द का प्रयोग किया है। कम्युनिज़्म में से हिंसा निकाल दी जाय तो 'बुद्ध' ही शेष रह जाता है।

3.5. डॉ. लोहिया एवं महात्मा गाँधी -

डॉ. लोहिया एवं महात्मा गाँधी का जीवन एक निरन्तर कर्मरत जीवन रहा है। डॉ. लोहिया ने बार-बार कहा है कि, वह केवल एक ही आदमी से प्रभावित रहे हैं और वह गाँधी जी हैं। आधा आदमी जिससे वह प्रभावित थे वह पं0 जवाहरलाल नेहरू थे, वह भी आज़ादी के पहले वाले नेहरू। गाँधी जी के प्रति डॉ. लोहिया का आकर्षण स्वाभाविक था क्योंकि गाँधी जी केवल जीवन दर्शन के व्याख्याता ही नहीं थे वरन वह दर्शन के साथ कर्म को भी जोड़ते थे। गाँधी जी का दर्शन किताबी नहीं था। वह साक्षात कर्म से निसृत होता था तथा कर्म की प्रेरणा देता था। कर्म प्रधान होने के नाते वह मूलतः आचरण की कसौटी पर सिद्धान्त को कसता था।

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, डॉ. आम्बेडकर : चिन्तन और विचार, पेज सं.- 59 (2002).
2. प्रभाकर वैद्य, डॉ. आम्बेडकर आंणि त्याचा धम्मः, पेज सं.- 133-134.

गाँधी जी ने डॉ. लोहिया को प्रारम्भ से न केवल आशीर्वाद दिया[1] वरन उन्हें मान-सम्मान और समयानुसार राजनीतिक गतिविधियों के लिये व्यापक समर्थन भी दिया। दोनों की एक-दूसरे के प्रति अच्छी समझ थी। डॉ. लोहिया का राजनीतिक जीवन गाँधी जी की देखरेख में शुरू हुआ। दोनों जाति से वैश्य या बनिया वर्ग से थे। दोनों की विदेशों में शिक्षा हुई और भारत में एक लम्बे समय तक साथ-साथ रहकर आज़ादी के लिये संघर्ष किया। दोनों जेल गये और देशवासियों की आज़ादी के लिये अनेक कष्ट भी सहे परन्तु दोनों के विचार एवं चिन्तन में मौलिक मतभेद अन्तर्निहित हैं जिसके कारण दोनों को एक ही विचार तंत्र में संयोजित करना संभव नहीं है। गाँधी जी और डॉ. लोहिया के विचार एक दूसरे से उतने ही दूर हैं जितने कि जमीन और आसमान। दोनों में अन्तर स्थापित करने के पहले हम गाँधी व डॉ. लोहिया में निम्नलिखित समानताएं पाते हैं :-

गाँधी जी की प्रतिभा को डॉ. लोहिया इसलिये अद्वितीय मानते थे कि वह निर्गुण और निराकर सत्य को सगुण साकार रूप देकर वैयक्तिक एवं सामूहिक आचरण में भी दिखा देते थे। सगुण-निर्गुण की व्याख्या में तथा समाजवादी दर्शन की व्याख्या में डॉ. लोहिया ने सगुण और निर्गुण दोनों की सत्ता को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि, निर्गुण मूल्यों की सत्ता और सगुण कर्म की सत्ता तभी जीवन्त और गतिशील रह सकती है जब दोनों के बीच आवागमन का सम्बन्ध रहे।[2] डॉ. लोहिया ने लिखा है कि, गाँधी उन दार्शनिकों में से नहीं थे जो शब्दों की व्याख्या करके दर्शन की व्याख्या करते थे। कर्म के माध्यम से दर्शन की व्याख्या करने वाले दार्शनिक बहुत कम पाये जाते हैं। ऐसे लोग अपने दर्शन की शास्त्रीय व्याख्या भी नहीं कर सकते क्योंकि उस प्रकार के शास्त्रीय आत्म-मंथन की तकनीक उनके पास नहीं होती। गाँधी मूलतः एक उदारवादी दार्शनिक थे।[3]

डॉ. लोहिया, गाँधी जी की 'अहिंसा' और 'सिविल नाफरमानी' को एटमबम जैसे ध्वंसकारी शस्त्र का एक मात्र अवरोधक भी मानते थे। उन्होंने लिखा है कि,

---

1. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 34 (2001).
2. राममनोहर लोहिया, साधारण निर्गुण और ठोस सगुण, पेज सं.- 34 (1969).
3. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म (भूमिका), 1963.

"आज से 15 वर्ष पहले मैंने यूरोप की किसी राजधानी में कहा था कि हमारे युग की दो मौलिक चीजें हैं एक एटमबम और दूसरे महात्मा गाँधी। यह दोनों ही एक-दूसरे को खत्म करने के पहले ही खत्म हो सकती हैं।"[1] उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि संसार के सामने दो ही विकल्प हैं। पहला तो यह कि वह इन हथियारों का प्रयोग करके अपने को और अपने साथ पूरे विश्व को ध्वंस कर दे, दूसरा यह कि अहिंसा के मार्ग को अपनाकर अपनी और संसार दोनों की रक्षा करे।[2]

महात्मा गाँधी के 'सत्याग्रह' और 'सिविल नाफरमानी' को डॉ. लोहिया जनतांत्रिक व्यवस्था की गैर-जिम्मेदारियों और अन्यायों के खिलाफ जनमत को अभिव्यक्ति देने का अन्तिम साधन मानते थे। गाँधी जी ने सत्याग्रह के सम्बन्ध में बोलते हुये कहा था कि, "सत्याग्रह में धोखे, जालसाज़ी या किसी प्रकार के झूंठ के लिये जगह नहीं है। धोखा और झूंठ आज दुनिया पर छाये हैं। ऐसी स्थिति में मैं चुपचाप बैठा नहीं रह सकता। अगर मैं आज चुपचाप निष्क्रय बैठा रहूँ तो ईश्वर मुझे फटकार देगा कि जब सारी दुनिया में आग फैल रही थी तो तब मैंने उसके दिये खज़ाने का उपयोग क्यों नहीं किया अब स्थिति असह्य हो गयी है।"[3] डॉ. लोहिया को गाँधी जी के सत्याग्रह सिद्धान्त से एक क्रान्तिकारी दृष्टि प्राप्त हुई। उन्होंने व्यक्तिगत स्तर से आगे सिविल नाफरमानी को संस्थागत स्तर पर व्याख्यायित करके एक नया आयाम जोड़ा है।

स्वदेशी भाषाओं के प्रति डॉ. लोहिया गाँधी जी की भाँति बहुत ही क्रान्तिकारी दृष्टि रखते थे। गाँधी जी अंग्रेजी को तत्काल समाप्त करके हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद देना चाहते थे। डॉ. लोहिया के विचार गाँधी जी से ज्यादा प्रखर थे उन्होंने कहा कि अंग्रेजी डेढ़ मिनट में नहीं, बल्कि एक सेकेण्ड में जायेगी। झटके में ये सब चीजें हुआ करती हैं। धीरे-धीरे नहीं हुआ करती।[4]

---

1. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म (भूमिका), 1963.
2. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म (1963).
3. गाँधी जी का भाषण, 8 अगस्त, 1942 ई..
4. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 160 (2001).

डॉ. लोहिया एवं गाँधी जी दोनों ही निःशस्त्रीकरण के पक्षधर थे। दोनों ही युद्ध विरोधी थे। संसार को उपनिवेशों में बाँधकर बड़े राष्ट्रों द्वारा जन-शोषण के खिलाफ थे। यदि गाँधी जी ने विश्व सरकार को सत्य-अहिंसा का नैतिक आधार दिया, तो डॉ. लोहिया ने गाँधी जी की इस कल्पना को समता और स्वतंत्रता के मूल्यों पर आधारित कर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, सिविल नाफरमानी के माध्यम से गैर बराबरी को दूर करने का मार्ग निर्देश किया।

नर-नारी की समता को भारतीय जन-जीवन में प्रतिष्ठित करने की पहल गाँधी जी ने सार्वजनिक रूप में सबसे पहले की थी। डॉ. लोहिया नारी के विषय में गाँधी जी से कुछ आगे थे। गाँधी जी तो नर-नारी की समता की ही बात करते थे। डॉ. लोहिया इस समता से आगे अभेद की बात भी करते थे। उन्होंने कहा है कि, "जब तक औरतें, हरिजन और शूद्रों में नवजीवन पैदा करने के प्रयत्नों का पीछा निष्ठा से नहीं होगा, तब तक देश में नवजीवन पैदा होने की उम्मीद निरर्थक है।"[1]

डॉ. लोहिया एवं गाँधी जी में उपरोक्त समानताएँ होने के बावजूद दोनों में अनेक अन्तर रहे है :-

गाँधी जी रामराज्य को समाज दर्शन और समाजवाद मानते थे। वे आस्तिक थे जबकि डॉ. लोहिया अपने को नास्तिक मानते थे। गाँधी जी आत्मा की बात करते थे जबकि डॉ. लोहिया कर्म में अटूट आस्था रखते थे। गाँधी जी की 'अन्तर की आवाज़' एक रहस्यात्मक आध्यात्मिक बोध कराती है जबकि डॉ. लोहिया का मनस्वी मन एक कवि की स्वजिल झाँकी की भी झलक देता है। गाँधी जी में नैसर्गिकता अवतरित होती थी डॉ. लोहिया नैसर्गिकता को अपनी समृद्ध कल्पना से छूते थे। गाँधी जी के जीवन में एक विश्रान्ति का बोध होता है और डॉ. लोहिया में एक बेचैनी हमेशा उन्हें घेरे रहती है। गाँधी जी की निरन्तरता में योगी की समरसता है। डॉ. लोहिया की निरन्तरता में एक कर्मठ पुरुषार्थी की अनवरत चेष्टा है। चेष्टा में समरसता में, लक्ष्य के प्रति दृष्टियाँ तो भिन्न होती हैं लेकिन कर्म में अन्तर नहीं पड़ता।

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त एवं कर्म, पेज सं.- 336 (1963).

गाँधी जी के लिये काल की अखण्ड सत्ता का बहुत बड़ा महत्व है। इसलिये वह समानता को मानते हैं। लेकिन डॉ. लोहिया की अवधारणा में काल की अखण्ड सत्ता क्षण की इकाई के रूप में व्यक्त होती है। इस क्षण में और काल की अखण्ड समानताओं में गाँधी जी भेद नहीं करते। इसलिये यह क्षण एक इकाई होते हुये भी अखण्डता का अंश है। डॉ. लोहिया की दृष्टि में इस प्रवाहमान क्षण की इकाई की काल की अखण्डता को रूपान्तरित करती है। गाँधी जी की काल अवधारणा परम सत्ता के प्रति अटूट विश्वास से विकसित होती है। जबकि डॉ. लोहिया का काल सगुण कर्म के माध्यम से व्यक्त होता है। गाँधी जी के कर्म में ऋषि की करुणा है। एकात्म साक्षात्कार की स्वतः स्फूर्ति चेतना है। जबकि डॉ. लोहिया की करुणा एक मनस्वी मुनि की करुणा है, जो समस्त सृष्टि और सम्पूर्ण कर्म को भी स्वीकार करके चलती है। आत्मदर्शी ऋषि जो देखता है, वह कहता है। मनस्वी मुनि जो मनन से निकलता है उसे पकड़ता है। ऐसे विषय निम्नलिखित हैं जिनमें गाँधी जी व डॉ. लोहिया में अन्तर देखने को मिलता है :-

वर्णवाद -

गाँधी जी वर्ण-व्यवस्था को प्राकृतिक व्यवस्था मानते थे। अतः इसे वे स्वीकार करते थे लेकिन वे जातिवाद का समर्थन नहीं करते थे। जबकि डॉ. लोहिया वर्ण और जाति-प्रथा दोनों को अस्वीकार करते थे। वे वर्ण और जाति दोनों को एक मानकर चलते थे। उनकी दृष्टि में इन दोनों का अस्तित्व समाप्त होना आवश्यक है। इन दोनों के बने रहने से समाज और राज्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है। "प्रशासन एवं सैनिक सेवाओं में शूद्र और द्विज के बीच विवाह की योग्यता और सहभोज को अस्वीकार एक अयोग्यता मानी जानी चाहिये।[1] डॉ. लोहिया वर्ण-व्यवस्था की स्थापना को कभी वर्णों का अन्त समझने की भूल[2] से सावधान करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में वर्ण और वर्ग दोनों का एक साथ खात्मा होना चाहिये तभी मनुष्य की मुक्ति है।

---

1. राममनोहर लोहया, जाति प्रथा, पेज सं.- 04 (1981).
2. राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं.- 38 (1955).

सामाजिक समानता -

अस्पृश्यता सामाजिक विषमता का मूल कारण है। अस्पृश्यता के विषय में गाँधी जी व डॉ. लोहिया के दृष्टिकोण में अन्तर यह है कि गाँधी जी इसको नैतिक आधार पर मिटाना चाहते थे वे मनुष्य के अपने आप हृदय परिवर्तन की बात करते हैं जबकि डॉ. लोहिया जाति और वर्ग के आन्तरिक सम्बन्ध को वैधानिक और राजनैतिक आधार पर भी नष्ट करना चाहते थे। उनका मानना है कि कोई जरूरी नहीं है कि सबका हृदय परिवर्तन हो ही जाय।

गाँधी जी ने कहा जात-पांत रुकावट है, पाप नहीं। अछूतपन तो पाप है, सख्त जुर्म है और हिन्दू धर्म इस बड़े साँप को समय रहते यदि नहीं मार डालेगा, तो वह उसको खा जायेगा।[1] परन्तु डॉ. लोहिया कानून द्वारा इस महापाप और अन्याय का अन्त करना चाहते हैं।

राजकेन्द्रित चिन्तन -

गाँधी जी के लिये राज्य की अपेक्षा समाज प्रमुख था वे समाज सुधारक पहले थे व राजनीतिक चिन्तक बाद में। डॉ. लोहिया की दिशा ठीक इसके विपरीत थी वे तर्क और बुद्धि को हृदय की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे। वे राजनीतिक चिन्तक थे। उनकी पहली चिन्ता राज्य को लेकर थी। समाज की चिन्ता उनमें दूसरे नम्बर की थी।

गाँधी जी ग्राम को स्वतंत्र इकाई के रूप में शक्तिमान बनाना चाहते थे। ग्राम का आत्म-निर्भर होना उनकी दृष्टि में सर्वोपरि था जबकि डॉ. लोहिया राज्य को गाँव से सुसमृद्ध बनाये रखने के पक्ष में थे। वे यह जरूरी मानते थे कि गाँव स्वतंत्र होते हुये भी आपस में और राज्य से जुड़े हों।

जहाँ गाँधी जी ने कर्तव्य को अधिकार की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है, वहाँ डॉ. लोहिया ने अधिकार को प्रधानता दी। राजनीतिक चिन्तन में दोनों में अन्तर होते हुये भी मुख्य बिन्दुओं पर दोनों में सहमति थी।

---

1. मोहनदास करमचन्द्र गाँधी, वर्ण व्यवस्था, पेज सं.- 47.

आर्थिक अनुचिन्तन -

गाँधी जी व डॉ. लोहिया दोनों ही ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें शोषक और शोषित न हों। परन्तु जहाँ गाँधी जी कुटीर उद्योग धन्धों को सर्वाधिक महत्व देते हैं वहाँ डॉ. लोहिया गाँधी जी के विपरीत कारखाने बढ़ाने की बात करते हैं ये कारखाने सरकारी राष्ट्रीय कारखाने होंगे। वे कहते हैं कि नये-नये कारखाने खुलते जायें। कारखानों में ही नहीं, वह जो पैसा बचता है नफे वाला पैसा उसको खेती में लगाना है, खेती बहुत बड़ी तादाद में बढ़ानी है। पानी देना है, सिंचाई का पानी, पीने का पानी।[1]

गाँधी जी राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थे और वे निजी कल-कारखानों के पक्षधर थे। वे सहकारिता के पक्ष में थे परन्तु भूमिहीनों में भूमि वितरण के लिये भूमि के राष्ट्रीयकरण को पसन्द नहीं करते थे। जबकि डॉ. लोहिया कानून का सहारा लेकर भूमि के राष्ट्रीयकरण और फिर पुनर्वितरण के सिद्धान्त के पक्षधर थे। गाँधी जी ने कर्म के फल पर विश्वास करने की आस्था बनाये रखने का रास्ता दिखलाया था ताकि निर्धन विद्रोही न बने, जबकि डॉ. लोहिया मनुष्य को समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के लिये अधिकार पर जोर देते थे और अधिकार से कर्तव्य की ओर आते थे।

डॉ. लोहिया तथा महात्मा गाँधी में अनेक समानताएं व विषमताएं देखने के बाद क्या हम डॉ. लोहिया को गाँधीवादी कह सकते हैं ? वास्तव में गाँधीवादी कई प्रकार के हुये हैं जैसे- कांग्रेसी, सरकारी, मठी, वैचारिक गाँधीवादी। डॉ. लोहिया इनमें से कोई गाँधीवादी नहीं कहे जा सकते। गाँधीवादियों की एक अन्य श्रेणी कुजात गाँधीवादियों की है। इसका अर्थ केवल इतना है कि जैसे किसी पिता का पुत्र कुपुत्र कहलाये, इसलिये कि वह अपने पिता की किसी भी बात, विचार तथा व्यवहार से सहमत न होकर, अपने ही ढंग से जीवन और समस्याओं से जूझता हो। कुजात गाँधीवादी मात्र वह हो सकता है, जो गाँधी और गाँधीवाद के विचारों

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 132 (1969).

तथा कार्यों से सहमत न होकर महात्मा गाँधी जी की छत्रछाया में काम करता रहा हो। कुजात जो गाँधीवाद की मूल धारणाओं से भिन्न मत रखता हो पर वैयक्तिक दृष्टि से उन्हें अपनी ओर से मान-सम्मान देता रहा हो और उनका प्रशंसक रहा हो। गाँधी जी और डॉ. लोहिया के बीच ऐसा कोई पैतृक सम्बन्ध नहीं था। फिर भी डॉ. लोहिया ने अपने को कुजात गाँधीवादी माना यह बात उसी भांति हो गयी जिस भांति कोई व्यक्ति किसी को अपना पिता तुल्य मान ले और उसे मान सम्मान देता रहे।

3.6. डॉ. आम्बेडकर एवं महात्मा गाँधी -

डॉ. आम्बेडकर एवं महात्मा मोहनदास करमचन्द्र गाँधी (1869-1948 ई.) स्वतंत्रतापूर्व भारतीय राजनीति के दो विपरीत ध्रुव थे। दोनों ने अपने-अपने ढंग से भारत की स्वतंत्रतापूर्व राजनीति, सामाजिक चेतना और राजनीतिक विकास को गम्भीरता से प्रभावित किया। ऐसा कहा जाता है कि राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान 'गाँधी' नाम की आँधी भारत भर में छा गयी थी जो अनेक विचारों और व्यक्तियों को अपने साथ उड़ा ले गयी, परन्तु डॉ. आम्बेडकर जैसे महापुरुष उस आँधी के कोलाहल से अप्रभावित रहे। यह सुनिश्चित है कि डॉ. आम्बेडकर ने गाँधी तथा गाँधीवाद को कभी स्वीकार नहीं किया। दूसरी ओर गाँधी जी भी डॉ. आम्बेडकर के विचारों से सामान्यतः सहमत नहीं हुये।

इतिहास की यह एक अज़ीब विडम्बना है कि डॉ. आम्बेडकर और गाँधी जी दोनों ही रूढ़िवाद, सामाजिक शोषण और जातिप्रथा के कलंक को मिटाने की लड़ाई एक ही समय व परिस्थितियों में लड़ रहे थे फिर भी अलग-अलग रहे, मिलकर लड़ाई कभी नहीं लड़े। जबकि दोनों ही दलित जातियों की स्थिति में बुनियादी सुधार लाना चाहते थे। दोनों में कुछ समानताएं हैं परन्तु दोनों की विचार प्रविधियों और दृष्टिकोणों में गहरी भिन्नता भी विद्यमान है। यह भिन्नता वैचारिक स्तर पर ज्यादा गहरी है- कर्म के स्तर पर कम। गाँधी जी का मानसिक गठन एक विचारशील सनातनी हिन्दू के साँचे में थोड़े से अन्तर के साथ समाहित है, परन्तु डॉ. आम्बेडकर के मन में उनके अपने कटु अनुभवों के कारण हिन्दू समाज व्यवस्था और चिन्तन दृष्टि के प्रति घृणा का भाव है।

गाँधी जी और डॉ॰ आम्बेडकर दोनों ने 'अस्पृश्यता' को भारतीय समाज-व्यवस्था का महारोग माना और उसे मिटाने के लिये संकल्पपूर्वक प्रयत्न किये। गाँधी ज़ी ने कहा कि, 'यदि हम भारत' की आबादी के पाँचवें हिस्से को स्थायी गुलामी की हालत में रखना चाहते हैं और उन्हें जानबूझकर राष्ट्रीय संस्कृति के फलों से वंचित रखना चाहते हैं, तो स्वराज्य एक अर्थहीन शब्दमात्र होगा।'[1] इतने प्रखर अस्पृश्यता विरोधी रहते हुये भी गाँधी ज़ी अपने जीवन के अन्तिम दौर को छोड़कर वर्ण-व्यवस्था व जाति-व्यवस्था के समर्थक तथा प्रशंसक रहे। जबकि डॉ॰ आम्बेडकर इन दोनों के खिलाफ थे उन्होंने कहा कि, "हमें मन्दिर प्रवेश के आन्दोलन में हिस्सा लेने के बजाय चातुर्वर्ण को समाप्त करने पर ज़ोर देना आवश्यक लगता है। चातुर्वर्ण समाप्त हो जायेगा तो अस्पृश्यता अपने आप खत्म हो जायेगी। परन्तु सिर्फ अस्पृश्यता को मिटाने का प्रयत्न करेंगे तो चातुर्वर्ण व्यवस्था ज्यों-की-त्यों रहेगी। हमारी राय में अस्पृश्यता चातुर्वर्ण का एक अंग है, मूल पर कुठाराघात ही सुधार का सही मार्ग है।"[2]

'समाज परिवर्तन में कानून की भूमिका' को लेकर दोनों में गहरा मतभेद था। गाँधी जी हृदय परिवर्तन के पक्षधर थे। वे कानून के डर के बजाय नैतिक जागरण से समाज परिवर्तन में विश्वास करते थे। किन्तु डॉ॰ आम्बेडकर न सिर्फ अस्पृश्यता को मिटाने के लिये वरन आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिये भी राज्य के हस्तक्षेप का समर्थन करते थे। गाँधी जी समाज सुधार के समर्थक होते हुये भी विदेशी शासन से मुक्ति को प्राथमिकता देते थे। डॉ॰ आम्बेडकर को जाति उन्मूलन के लिये न सिर्फ अंग्रेज सरकार का समर्थन लेने में कोई आपत्ति थी, बल्कि वे समाज सुधार का कार्य पूरा होने तक अंग्रेज सरकार के बने रहने का समर्थन करते थे।

गाँधी जी एवं डॉ॰ आम्बेडकर दोनों ही समकालीन चिन्तक थे और एक-दूसरे से भली-भांति परिचित थे लेकिन दोनों के विचार भिन्न-भिन्न थे। **द्वितीय गोलमेज़**

---

1. 'यंग इण्डिया', 25 मई, 1921.
2. 'जनता', साप्ताहिक, 11 फरवरी, 1933.

परिषद्[1] में साम्प्रदायिक गतिरोध, अछूतों के नेतृत्व का प्रश्न, सम्पूर्ण हिन्दू समाज के प्रतिनिधित्व की समस्या, साम्प्रदायिक निर्णय और अन्य मामलों को लेकर दोनों के बीच द्वन्द्व की स्थिति बनी रही लेकिन दोनों में एक समानता यह थी कि दोनों अपनी-अपनी बात और धुन के पक्के थे।[2]

गाँधी जी व डॉ. आम्बेडकर में विवाद का मुख्य मुद्दा यह था कि अस्पृश्य हिन्दू है या हिन्दुओं से अलग अल्पसंख्यक है ? डॉ. आम्बेडकर का तर्क था कि जिन लोगों के छू जाने मात्र को आप अपवित्रता मानते हैं, जिनको आपने सदियों से मनुष्यता के मामूली अधिकारों से भी वंचित रखा, जिनकी तुलना में आप विधर्मियों को अधिक श्रेष्ठ समझते हैं, उनको आप हिन्दू कैसे कह सकते हैं ? उन्होंने बार-बार ज़ोर देकर कहा कि, "नहीं, अस्पृश्य हिन्दुओं से अलग है। वे भी मुसलमानों और सिखों की तरह ही अल्पसंख्यक समुदाय हैं। आप जिस तर्क से मुसलमानों को पृथक निर्वाचक मण्डल तथा विधान मण्डल में अलग से सीटें दे रहे हैं, उसी तरह से ही अछूत अल्पसंख्यकों को भी दीजिये।" गाँधी जी अस्पृश्यता के पक्के विरोधी और अस्पृश्यों के अनन्य शुभ-चिन्तक थे। वे वर्षों से अस्पृश्यता मिटाने के लिये प्रयत्नशील थे। वे अपने निजी जीवन में कतई छुआ-छूत नहीं बरतते थे। उनके आश्रम में भी अस्पृश्यता सर्वथा निषिद्ध थी। वे अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म और समाज का कलंक मानते थे। उसे मिटाने के लिये गाँधी जी सवर्णों से प्रायश्चित की अपेक्षा करते थे। उनका तर्क था कि पृथक निर्वाचक मण्डल तथा विशेष प्रतिनिधित्व देने से कतिपय अछूत राजनीतिज्ञों को भले ही लाभ हो, परन्तु उससे अस्पृश्यता अपने में एक न्यस्त स्वार्थ बन जायेगी।

गोलमेज़ परिषद् में इस अल्पसंख्यक समस्या का समाधान नहीं हो पाया। बाद में 20 अगस्त, 1932 ई. को ब्रिटिश प्रधानमंत्री के 'साम्प्रदायिक निर्णय' की घोषणा हुई जिसमें इस समस्या का हल था। निर्णय के अनुसार, "अस्पृश्य वर्ग को आरक्षित सीटें देकर उन्हें अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार भी दिया गया था।

---

1. द्वितीय गोलमेज परिषद्, 14 सितम्बर, 1931 ई. को लंदन में शुरू हुई थी।
2. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.- 110 (1988).

इसके अतिरिक्त उन्हें स्पृश्य हिन्दुओं के प्रतिनिधियों के चुनाव में भी वोट देने का अधिकार दिया गया था। इस तरह दोहरे मतदान के अधिकार उन्हें दिये गये थे।''[1]

निर्णय के विरोध में 20 सितम्बर, 1932 ई॰ की दोपहर 12 बजे से महात्मा गाँधी ने पूना की येरवदा जेल में ही आमरण अनशन शुरू कर दिया। डॉ॰ आम्बेडकर पर महात्मा की जान बचाने पर आ पड़ी। गाँधी जी व डॉ॰ आम्बेडकर में काफी वैचारिक संघर्ष के बाद अन्त में 24 सितम्बर, 1932 ई॰ को 'पूना पैक्ट' पर हस्ताक्षर किये गये। सवर्णों की ओर से मदनमोहन मालवीय तथा दलितों की ओर से डॉ॰ आम्बेडकर ने हस्ताक्षर किये। ऐसी नाज़ुक परिस्थिति में डॉ॰ आम्बेडकर ने दबकर या झुककर सौदा नहीं किया। गाँधी जी को डॉ॰ आम्बेडकर से कहना पड़ा कि, ''आपके खिलाफ मेरी सबसे बड़ी शिकायत यह है कि आप सामने वाले पक्ष को उसकी इज़्ज़त पर छोड़ने के लिये तैयार नहीं है।''[2]

डॉ॰ आम्बेडकर ने गाँधी जी के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक पहलू से सम्बन्धित विचारों की गहराई से समीक्षा की और यह पाया कि गाँधीवाद अछूतों का उद्धार नहीं कर सकता क्योंकि वह वर्ण तथा जाति का समर्थक, पूँजीपति एवं पैतृकता का पोषक और दरिद्रता व हरिजनवाद का प्रशंसक है। उन्होंने गाँधी जी के विचारों को 'अछूतों का दुर्भाग्य' कहा और अछूतों को आगाह किया कि वे मि0 गाँधी से सावधान रहे।

सामाजिक पहलू और महात्मा गाँधी व डॉ॰ आम्बेडकर -

गाँधी जी के सामाजिक विचार जाति-पाँति के समर्थन में केन्द्रित है। उन्होंने सन् 1921-22 ई॰ के दौरान जाति-पाँति का समर्थन किया था।[3] उन्होंने कहा था कि-

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 198 (1981).
2. महादेव भाई जी की डायरी, भाग- 2.
3. गुजराती जर्नल 'नवजीवन' (1921-1922) में गाँधी जी ने विस्तारपूर्वक जाति-व्यवस्था पर अपने विचार व्यक्त किये, जिन्हें डॉ॰ आम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अण्टचेबिल्स (1946) में उद्धृत किया है।

1) यदि हिन्दू समाज आज तक बचा रहा है तो जाति-पाँति पर आधारित होने के कारण ही।

2) जिन लोगों ने जाति-पाँति की पद्धति बनायी, वे अवश्य ही संगठन करने की अद्वितीय शक्ति के मालिक थे।

3) जाति-पाँति का राजनीतिक आधार है। किसी प्रतिनिधि संस्था के चुनाव में हर जाति को एक मतदाता माना जा सकता है।

4) देश की एकता को बढ़ावा देने के लिये अन्तर्जातीय सहभोजों या विवाहों की आवश्यकता नहीं है।

5) जाति-पाँति वंश परम्परागत पेशों को मानती है।

6) जाति-पाँति समाज की स्वाभाविक व्यवस्था है।[1]

गाँधी जी ने कहा कि सब छोटी जातियाँ आपस में मिलकर बड़ी जातियाँ बन जायें। कुल मिलाकर केवल चार जातियाँ- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रह जायें, ताकि हम पुरानी वर्ण-व्यवस्था को फिर से जीवित कर सकें।[2]

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार गाँधी जी के विचारों का सामाजिक अर्थ है जाति या वर्ण। दोनों में से ये किसे आदर्श समझते हैं, इस प्रश्न का उत्तर देना चाहे कठिन हो, परन्तु इस बात में कोई संदेह नहीं है कि गाँधी जी का सामाजिक आदर्श लोकतंत्र नहीं है। गाँधी जी द्वारा जाति-पांति के समर्थन में दी गयी युक्तियों को परखें तो पता चलेगा कि हर युक्ति यदि बचकाना नहीं तो छलपूर्ण अवश्य है। हिन्दू समाज जाति-पांति के कारण जीवित रहा, तो इसमें गौरव की बात नहीं है। डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार कायरता से भयभीत रहकर, परतंत्र होकर और आत्म-समर्पण करके जीवित रहना कोई सार्थक जीवन नहीं है। जाति-पांति ने तो हिन्दू समाज को निस्सहाय, दयनीय और जर-जर स्थिति में कर दिया है।

गाँधी जी का यह विचार कि अन्तर्जातीय सहभोजों और विवाहों से सामाजिक एकता में कोई विशेष लाभ नहीं होगा, आधुनिक भावना के विपरीत है। गाँधी जी

---

1. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अण्टचेबिल्स, पेज सं॰- 286-287 (1946).
2. वही, पेज सं॰- 288.

द्वारा वंश परम्परागत पेशे का समर्थन करना आज के युग में हास्यास्पद विचार लगता है। लोकतंत्र में हर व्यक्ति को स्वतंत्रता है कि वह अपने मन चाहे धन्धे को करे। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार हजारों जातियों को चार जातियों में समेटना तो गाँधी जी का निरर्थक विचार है। क्योंकि हर जाति को हिन्दू धर्म के शास्त्रों का समर्थन प्राप्त है। जातियों को चार वर्णों में समेटना असम्भव है।[1]

डॉ. आम्बेडकर ने कहा है कि वर्ण जाति का बाप है। यदि जाति-पांति का विचार बुरा व हानिकारक है, तो यह इसलिये ऐसा है क्योंकि उसे पैदा करने वाली वर्ण-व्यवस्था स्वतः दूषित एवं हानिकारक है। दोनों ही बुरे विचार हैं।

आर्थिक पहलू और गाँधी जी व डॉ. आम्बेडकर -

गाँधी जी का आर्थिक दर्शन दो आदर्शों में निहित है :-

1) मशीनों का विरोध और

2) मालिक-नौकर तथा ज़मीदार-किसान के बीच वर्ग-युद्ध/वर्ग-संघर्ष को समाप्त करना। इसी से जुड़ा हुआ न्यासिता या ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त जिसका गाँधी जी ने समर्थन किया था।

गाँधी जी का विचार था कि, "यदि भारत आधुनिक सभ्यता को त्याग दे तो इससे देश का भला होगा।"[2] उन्होंने कहा भारत में मज़दूर और मालिक के सम्बन्ध कभी भी तनावपूर्ण नहीं रहे। अतः मज़दूरों को अपने मालिकों के विरुद्ध हड़ताल सोंच-समझकर करनी चाहिये। जहाँ तक किसानों और ज़मीदारों के आपसी सम्बन्धों का प्रश्न है गाँधी जी ने कहा है कि, "किसानों को ज़मीदारों के साथ अनुबन्ध के अनुसार लगान देना चाहिये।"[3]

डॉ. आम्बेडकर का कहना है कि गाँधी जी के आर्थिक चिन्तन में कुछ भी नया नहीं है। गाँधीवाद आदिम अर्थात जंगली विचारों की खिचड़ी है। वह आधुनिक मशीनों का विरोधी है। माना कि मशीनों और आधुनिक सभ्यता में कुछ बुराइयाँ हैं,

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अण्टचेबिल्स, पेज सं.- 297-298 (1946).
2. 'यंग इण्डिया', 26 जनवरी, 1921.
3. 'यंग इण्डिया', 18 मई, 1921.

पर यह उनके विरुद्ध कोई सार्थक युक्ति नहीं है। दोष आधुनिक सभ्यता तथा मशीनों का नहीं है बल्कि बुराइयाँ उस गलत समाज व्यवस्था के कारण उपजी हैं जो व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत लाभ को बहुत ही श्रेष्ठ बताती हैं। इस दृष्टि से मशीनों तथा आधुनिक सभ्यता का मार्ग अवरुद्ध नहीं करना है, बल्कि दोषपूर्ण समाज व्यवस्था को बदलना है, ताकि थोड़े से लोग सब चीजों को, सब लाभों को, हथिया न सके। आर्थिक लाभ सब लोगों तक पहुंचे।[1] आधुनिक सभ्यता और मशीनों का प्रयोग आदमी को पशु स्थिति से उभार कर मानव अवस्था की ओर ले जायेगा।

उन्होंने कहा है कि गाँधी जी ज़मीन जायदाद वालों को किसी भी तरह कोई नुकसान नहीं पहुंचने देना चाहते थे। वह तो उनके विरुद्ध अभियान चलाने का भी विरोध करते थे। उनकी यह इच्छा नहीं थी कि लोगों में आर्थिक समानता हो। अमीरों की ओर से संकेत करते हुये गाँधी जी ने एक बार कहा था कि वह सोने का अण्डा देने वाली मुर्गी को मारना नहीं चाहते। उन्होंने मालिकों और मज़दूरों, अमीरों और गरीबों ज़मीदारों और किसानों, नौकरी देने वालों और नौकरी करने वालों के मध्य उठने वाले आर्थिक संघर्ष का बहुत सरल समाधान दिया है। मालिकों को अपनी सम्पत्ति से हाथ नहीं धोने पड़ेंगे। उन्हें केवल अपने को गरीबों के ट्रस्टी घोषित करना होगा, और यह ट्रस्ट भी उनकी इच्छा है कि वे बनायें या न बनायें, यह एक स्वयंसेवी वस्तु होगी, तथा इस पर कोई कानूनी ज़िम्मेदारी या पाबन्दी नहीं होगी। यह आध्यात्मिक क्षेत्र की बात होगी।[2] डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार न्यास सिद्धान्त का विचार जिसे गाँधीवाद सब रोगों की दवा बनाकर प्रस्तुत करता है, तथा जिसके अधीन पूंजीपति वर्ग अपनी सम्पत्ति को गरीबों के लिये बनाये 'न्यास' (ट्रस्ट) के रूप में सम्भालेगा, गाँधीवाद का बहुत ही हास्यापद अंग है।[3]

---

1. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अण्टचेबिल्स, पेज सं॰- 294 (1946).
2. वही, पेज सं॰- 293.
3. वही, पेज सं॰- 295-297.

धार्मिक पहलू और गाँधी जी एवं डॉ. आम्बेडकर -

जिस प्रकार गाँधीवाद का सामाजिक अर्थ वर्ण तथा जाति और आर्थिक अर्थ चर्खा व न्यासिता है उसी प्रकार गाँधीवाद का धार्मिक अर्थ है- रूढ़िवाद और पुराणपंथीपन। वह हिन्दू धर्म की रूढ़िवादी परम्पराओं और विचारों से ओत-प्रोत है।

"हिन्दू धर्म में जाति-पांति है, गाँधीवाद में भी जाति-पांति है। हिन्दू धर्म में पैतृक पेशों की बात है, ऐसा ही गाँधीवाद में है। हिन्दू धर्म गौ पूजा का आदेश देता है, यही गाँधीवाद कहता है। हिन्दू धर्म कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करता है कि संसार में आने से पहले इन्सान की किस्मत लिख दी जाती है। यही सब कुछ गाँधीवाद कहता है। हिन्दू धर्मशास्त्रों को सर्वोच्च मानता है। ऐसा ही गाँधीवाद मानता है। हिन्दू धर्म भगवान के अवतारों को मानता है। गाँधीवाद भी ऐसा ही मानता है। हिन्दू धर्म मूर्ति-पूजा में विश्वास करता है, गाँधीवाद भी ऐसा ही करता है।"[1]

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार, गाँधीवाद ने जो कुछ किया है वह यह है कि उसने हिन्दू धर्म और उसके सिद्धान्तों को दार्शनिक औचित्य प्रदान किया। हिन्दू धर्म एक प्रकार से 'गंजा' है जो गँवार और क्रूर दिखने वाले नियमों का संग्रह मात्र है। गाँधीवाद इसे ऐसा दर्शनशास्त्र देता है जो उसके चेहरे की क्रूरता को कम करके इस पर सौम्य और सम्मान का मुखौटा लगाता है, ताकि रूप बदल जाये और यह आकर्षक बन जाये।

उन्होंने कहा है कि 'गाँधीवाद एक अन्तर्विरोध' है। गाँधीवाद देश के लिये राजनीति स्वतंत्रता का तो समर्थक है, किन्तु वह उस समाज व्यवस्था को बरकरार रखना चाहता है जो एक वर्ग को दूसरे वर्ग पर परम्परागत शासन करने की छूट देती है जिससे एक वर्ग पर दूसरे वर्ग का शासन सदैव बना रहेगा।

गाँधीवाद एक ओर छुआछूत को मिटाना चाहता है और दूसरी ओर पैतृक पेशों में विश्वास करके, उसे बनाये रखना चाहता है। हिन्दू-शास्त्र और गाँधीवाद दोनों मानते हैं कि भंगी की औलाद भंगी ही रहेगी, गन्दगी उठाने का काम करेगी।

---

1. 'यंग इण्डिया', 6 अक्टूबर, 1921.

गाँधीवाद सफाई और गन्दगी उठाने के काम को सर्वोच्च सेवा कहकर उसकी प्रशंसा करके, उसे सदा के लिये समाज में एक ही वर्ग के लिये बनाये रखना चाहता है। गाँधीवाद का अन्तर्विरोध यह है कि वह अस्पृश्यता का अन्त तो करना चाहता है लेकिन वर्ण तथा जाति का समर्थन करता है।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, अछूतों को 'हरिजन' कहकर गाँधी जी ने एक तीर से दो शिकार किये हैं। उन्होंने एक तो यह स्पष्ट कर दिया कि शूद्रों में अछूतों को घुलमिल जाना सम्भव नहीं दूसरे उन्होंने नया नामकरण करके ऐसा रोड़ा अटका दिया है जिसने घुलना मिलना असम्भव बना दिया है।[1] इस प्रकार डॉ॰ आम्बेडकर की दृष्टि से गाँधीवाद रूढ़िवादी और पुराणपंथी हिन्दू धर्म का ही दूसरा नाम है।

3.7. महात्मा गाँधी और डॉ॰ लोहिया व डॉ॰ आम्बेडकर -

गाँधी जी, डॉ॰ लोहिया और डॉ॰ आम्बेडकर इन तीनों समकालीन विचारकों की मनःस्थिति को भिन्न-भिन्न तत्वों ओर मुद्दों ने प्रभावित किया तीनों ही अपने में स्वतंत्र और निर्भीक थे, अपने विचारों की अभिव्यक्ति करना उन्हें प्रिय था, भले ही कोई उनको पसन्द करे या नहीं। स्वतंत्रता संग्राम में महात्मा गाँधी, डॉ॰ लोहिया और डॉ॰ आम्बेडकर तीनों का विभिन्न रूपों में महत्वपूर्ण योगदान रहा। इन सभी ने भारतीय स्थितियों का निरीक्षण और समस्याओं को पहचान कर अपने-अपने ढंग से उनका समाधान प्रस्तुत किया। तीनों ही के विचार स्वतः वादों में परिणित हो गये अर्थात् गाँधीवाद, लोहियावाद और आम्बेडकरवाद, जिनकी अपनी-अपनी दृष्टियाँ और धारणाएँ हैं। उनमें थोड़ी सी सहमति होते हुये, गम्भीर मतभेद है। गाँधीवाद एक छोर पर, तो लोहियावाद एवं आम्बेडकरवाद दूसरे छोर पर रखे जा सकते हैं परन्तु तीनों का तालमेल असम्भव है।

महात्मा गाँधी और गाँधीवाद, डॉ॰ लोहिया तथा डॉ॰ आम्बेडकर की तुलना में अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ। इसका मुख्य कारण उनकी रूढ़िवादी एवं पुराणपंथी हिन्दू

---

1. 'यंग इण्डिया', 5 फरवरी, 1925.

धर्म में अटूट आस्था है। कट्टरपंथी हिन्दू समाज ने गाँधीवाद को इसलिये पसन्द किया क्योंकि उसने वर्णाश्रम धर्म की सच्चाई तथा प्रामाणिकता को स्वीकार ही नहीं किया वरन उसका भारी प्रचार भी किया कि वह स्वाभाविक, ईश्वरीय तथा दिव्य है। वर्णवाद से जुड़ी जाति-पांति को गाँधी जी ने हिन्दू समाज की एकता तथा शान्ति का द्योतक बतलाया।[1] वर्ण तथा जाति की तुलना में गाँधी जी ने अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म पर कलंक बतलाया, जिसे साफ करना सवर्ण हिन्दुओं का कर्तव्य है। वर्ण, अस्पृश्यता से भिन्न है। जाति-व्यवस्था सच्चे वैदिक अर्थ में मानव स्वभाव में निहित है। महात्मा गाँधी और गाँधीवाद के इन विचारों ने उनको प्रसिद्धि दी, उन्हें सराहना मिली और प्रशंसा से अलंकृत किया। जबकि डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर ने वर्ण-जाति अथवा वर्णाश्रम धर्म का किसी भी रूप में समर्थन नहीं किया, उल्टे उसे हानिकारक, शोषकों द्वारा बलपूर्वक थोपी हुई सामाजिक व्यवस्था बतलाया। गाँधी जी के विपरीत डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर ने वर्णाश्रम धर्म के समूल नष्ट करने पर जोर दिया, क्योंकि दोनों की राय में वर्ण-व्यवस्था और जाति-पांति के कारण ही भारतीय एकता और हिन्दू समाज का पतन हुआ, अशिक्षा तथा निर्धनता फैली और देश भी राजनीतिक रूप से परतंत्र हुआ।

गाँधीवाद स्वतः एक प्रकार के हिन्दू धर्म का ही एक रूढ़िवादी और पुराणपंथी अंग है। हिन्दू-धर्म और उसकी मूल मान्यताओं को लेकर डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर गाँधीवादी से बहुत दूर बिल्कुल विपरीत थे। गाँधी जी का आस्तिक और डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर का नास्तिक होना स्वतः उनके मौलिक मतभेद को उज़ागर करते हैं। गाँधी जी द्वारा वर्ण-व्यवस्था और उससे उपजी जाति-व्यवस्था का समर्थन सामाजिक तथा प्राकृतिक न्याय के समस्त नियमों के विरुद्ध जाता है। जबकि डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर दोनों ने ऐसे समतावादी समाज व्यवस्था की स्थापना का समर्थन क़िया जहाँ वर्ण/जाति के नियमों के स्थान पर संविधान के कानूनों का शासन हो, सभी समान नागरिक हों और किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय,

---

1. बी.आर. आम्बेडकर, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अण्टचेबिल्स, पेज सं.- 288 (1946).

वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र, भंगी, चमार, तेली, तमोली, छूत-अछूत के रूप में न माना जाये। सभी नागरिकों को उनकी योग्यता से नापा जाये और निर्बल तथा निर्धन को प्राथमिकता के आधार पर आगे बढ़ाया जाये।

गाँधी जी ने गरीबों की रोज़ी-रोटी के लिये चर्खा हांथ से कताई व बुनाई जैसी चीजों का समर्थन किया। उन्होंने अमीरों और पूंजीपतियों को कष्ट नहीं देना चाहा और कहा कि वे धन सम्पत्ति, ज़मीन, जायदाद के ट्रस्टी बने रहे, वे अपने अर्जित धन को नौकरों, श्रमिकों के कल्याण में अपने ह्रदय से लगायें। यह एक ऐसा असंगत विचार है जिसे डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर जैसे समाजवादी विचारकों ने लोगों को भ्रमित करने वाला आर्थिक दर्शन बतलाया। गाँधी जी ने राज्य की न्यूनतम भूमिका का समर्थन किया परन्तु डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर ने भारत जैसे निर्धन देश में राज्य की भूमिका की महत्ता को व्यापक, ठीक, एवं कारगर बनाने पर जोर दिया। ये दोनों ही विचारक गरीब निर्धन जनता की आर्थिक समृद्धि तथा सम्पन्नता के लिये सीमित राष्ट्रीयकरण की नीति के पक्ष में थे, जबकि गाँधी जी राष्ट्रीयकरण की नीति के विरोधी थे। इस प्रकार आर्थिक विपन्नता के उन्मूलन में डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर ने समाजवाद और राज्य-नियंत्रण पर बल दिया, जबकि गाँधी जी ने न्यासिता के आदर्श की वकालत की।

गाँधी जी राज्य-विहीन समाज-व्यवस्था को स्थापित करना चाहते थे, जिसमें सामाजिक जीवन स्वयं नियंत्रित होकर प्रबुद्ध अराजकता का परिचायक बन जायेगा। ऐसे प्रबुद्ध अराजक राज्य में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं का शासक बन जायेगा। परन्तु डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर गांधी जी के इन विचारों से कतई सहमत नहीं थे, क्योंकि वे समझते थे कि भारतीय समाज के गरीब, निर्धन, अशिक्षित, अनपढ़, दलित, अछूत, कमज़ोर, दरिद्र और पिछड़े लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक उत्थान और राजनीतिक भागीदारी केवल राज्य ही सम्भव बना सकता है। डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर ने समाजवादी समाज की स्थापना के लिये राज्य और प्रशासन की भूमिका को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया।

अस्पृश्यता निवारण मुद्दे पर महात्मा गाँधी, डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर तीनों ही चिन्तित थे और छुआछूत के कलंक को अनिवार्यतः मिटाना चाहते थे।

गाँधी जी का दृष्टिकोण परम्परावादी था। वह छुआछूत को तो समाप्त करना चाहते थे, परन्तु अछूतों को वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र वर्ण में ही रखने के पक्ष में थे। जबकि डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर का मानना था कि छुआछूत की जड़ वर्ण तथा जाति में है। इन्हीं में असमानता तथा भेदभाव अन्तर्निहित है और जब तक वर्ण तथा जाति दोनों को समूल नष्ट नहीं कर दिया जाता, तब तक छुआछूत का अन्त असम्भव है। जी गाँधी के हृदय परिवर्तन और डॉ. लोहिया के आर्थिक उत्थान के स्थान पर डॉ. आम्बेडकर ने धर्मान्तरण का मार्ग अपनाया और वह बुद्ध मार्ग पर चल पड़े, ताकि हिन्दुओं की मानसिक विकृति के क्षेत्र से अलग वह स्वच्छ वातावरण में रह सकें।

धर्म के विषय में महात्मा गाँधी, डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर तीनों में मतभेद है। गाँधी जी तथा डॉ. आम्बेडकर ने धर्म को मानव जीवन में अनिवार्य बतलाया, जबकि डॉ. लोहिया ने मानव धर्म की बात स्वीकार की। गाँधी जी ने हिन्दू धर्म को जन्म और मन के आधार पर ग्रहण किया, उन्होंने सनातन वैदिक वर्णाश्रम धर्म को स्वाभाविक, प्राकृतिक और ईश्वरीय देन बतलाया। यही धर्म मानव कल्याण हेतु सृजित किया गया था। उन्होंने ईश्वर और उसकी उपासना, पूजा-पाठ आदि को धर्म का अनिवार्य अंग माना। डॉ. लोहिया, गाँधी जी के धार्मिक विचारों से सहमत नहीं थे उन्होंने मानव धर्म अर्थात् गिरे हुये को उठाना, प्यासे को पानी देना, भूखे को रोटी और गृहहीन को निवास देना सच्चा मानव धर्म कहा। डॉ. लोहिया के लिये यद्यपि भगवान का कोई अस्तित्व नहीं है फिर भी उन्होंने प्रार्थना की कि, "हे भारत माता, हमें शिव का मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो और राम का कार्य दो।"[1] डॉ. आम्बेडकर को तो राम, कृष्ण, शिव, ब्रह्मा जैसे नाम ही पसन्द नहीं थे, क्योंकि ये सब नाम हिन्दू रूढ़िवादिता और पुराणपंथी परम्परा से ही जुड़े हुये हैं।[2] उन्होंने हिन्दू धर्म को पूर्णतः त्याग कर भगवान बुद्ध के धर्म को अपनाया।[3] जो ईश्वर, आत्मा,

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 279 (1969).
2. बी.आर. आम्बेडकर, राम और कृष्ण का गूढ़ रहस्य।
3. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.- 180 (1988).

परमात्मा, अवतार तथा आवागमन, नरक, स्वर्ग, अदृष्ट, मोक्षादि की उलझनों से मुक्त सीधे आदमी के मन की शुद्धता, शीलाचरण और सम्यक् ज्ञान पर बल देता है।

धर्म-निरपेक्षता के बारे में डॉ. आम्बेडकर ने चाहा कि भारतीय संसद यहां के नागरिकों पर किसी धर्म विशेष को कानून के द्वारा न थोपें और न किसी धर्म विशेष को राज्य का अधिकृत धर्म घोषित करें। गाँधी जी वैसे पक्के हिन्दू थे, किन्तु वे 'हिन्दू राष्ट्र' या हिन्दू धर्म को राज्य का धर्म नहीं चाहते थे। डॉ. लोहिया भी धर्म-निरपेक्ष राज्य में विश्वास करते थे। डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर धर्मान्तरण की स्वतंत्रता के पक्षधर थे परन्तु गाँधी जी धर्मान्तरण की नीति के विरुद्ध थे।

मार्क्सवाद के प्रभाव के सम्बन्ध में गाँधी जी का तो मार्क्सवाद से गम्भीर मतभेद था, जबकि डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर मार्क्सवाद के दर्शन के कुछ अंशों से प्रभावित थे लेकिन ये मार्क्सवादी कतई नहीं थे। गाँधी जी और मार्क्स दोनों ही अतिवादी विचारक थे।

ग्राम-स्वराज, पंचायती-राज और राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का गाँधी जी ने पूरी तरह से समर्थन किया। डॉ. लोहिया अपने चौखम्भा प्रशासन में ग्राम की इकाई को स्वायत्तता देने के पक्ष में थे। उनका मत था कि हर गाँव को एक गणराज्य का रूप दिया जाय। महात्मा गाँधी और डॉ. लोहिया दोनों ग्राम-राज के महत्व को मानते थे परन्तु डॉ. लोहिया ने गाँधी जी की पूर्ण विकेन्द्रीकरण की नीति को नहीं माना। डॉ. आम्बेडकर का विचार इन दोनों से अलग है। वह औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण और नगरीकरण के पक्षधर थे। वह गाँव को अंध-विश्वास और पिछड़ेपन का गढ़ मानते थे। उनका कहना था कि गाँवों में कितनी ही सम्पन्नता क्यों न हो जाये, पर वे रूढ़ियों और परम्पराओं, जाति भेदों से मुक्त नहीं हो सकते।

गाँधी जी ईश्वरवादी आध्यात्मवाद और उससे फलित 'मानवतावाद' में विश्वास करते थे। उनके अनुसार ईश्वर हर जगह व्याप्त है और सभी मानव प्राणी उसकी संतान है इसलिये वे समान है। गाँधी जी का 'मानवतावाद' ईश्वरवादी अन्तर्दृष्टि से ओत-प्रोत आदमी-आदमी के बीच सत्य, अहिंसा तथा प्रेम के सम्बन्ध चाहता है। जबकि डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर के विचार पूर्णतः 'मानववाद' में निहित है।

उन्होंने किसी बाह्य शक्ति का सहारा लिये बिना आदमी-आदमी के बीच समता, सद्भावना तथा सहयोग पर आधारित सम्यक् सम्बन्धों के विकास पर बल दिया। डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर दोनों ही आत्मा-परमात्मा के चक्कर में नहीं पड़े, ताकि आदमी अपने स्वतंत्र अस्तित्व को पहचानकर अपने साथी प्राणियों के साथ भ्रातृत्व स्थापित करे।

सामाजिक न्याय की दृष्टि से गाँधी जी के विचार डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर की तुलना में कहीं नहीं ठहरते। गाँधी जी ने वर्ण तथा जाति को महत्व दिया, साधन-सम्पन्न एवं धनिक लोगों को धन सम्पत्ति का ट्रस्टी माना, लौकिक विधान की बजाय ईश्वरीय विधान को स्वीकारा और दया पर कमज़ोर लोगों की सहायता की बात कही, जिससे गाँधीवाद उस सामाजिक न्याय से दूर हो गया, जिसकी वकालत डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर ने की है। दोनों ने अन्याय, असमानता, दासता, वर्ण या जाति पर आधारित समस्त हिन्दू व्यवस्था के समूल नष्ट होने का आह्वान किया। दोनों ने अन्याय के प्रति विद्रोह तथा क्रान्तिकारी संघर्ष और सामाजिक न्याय की स्थापना के लिये अछूतों, कमज़ोर और पिछड़े वर्गों को कम से कम साठ प्रतिशत सभी क्षेत्रों में भागीदारी पर बल दिया।

महात्मा गाँधी, डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर के बीच कर्तव्य और अधिकारों को लेकर भी मतभेद था। गाँधी जी चूंकि वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे, हिन्दू रूढ़ियों तथा परम्पराओं को मानते थे, इसलिये वह गीता में निहित कर्तव्य भावना पर अधिक बल देते थे। जबकि डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर दोनों गीता की कर्तव्यपरायणता से हटकर अधिकारों को अधिक महत्व देते थे। ताकि व्यक्ति की गरिमा, स्वतंत्रता और समता को संवैधानिक बल मिल सके।

महात्मा गाँधी, डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इन तीनों महापुरुषों में वैचारिक मतभेद है, जो न केवल तात्विक, धार्मिक तथा दार्शनिक हैं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी दृष्टिगत होते हैं। गाँधीवाद और आम्बेडकरवाद को एक ही तंत्र में नहीं बाँधा जा सकता, दोनों भिन्न, परस्पर विरोधी है जबकि डॉ. लोहिया और डॉ. आम्बेडकर के विचार बहुत ही निकट और एक-दूसरे के पूरक हैं। यह कहा जा

सकता है कि लोहियावाद और आम्बेडकरवाद का दर्शन ऐसा जीवन्त दर्शन है, जिसका अन्वेषण और सृजन जीते-जागते, समाज में शोषण व उत्पीड़न के मध्य स्थित उस आदमी के लिये किया गया है, जो स्वयं को चैतन्य एवं भौतिक तत्वों के सम्यक् सम्मिश्रण का प्रतिफल है। डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर का दर्शन यथार्थवादी और पूर्णतः मानववादी है। व्यावहारिक तथा लौकिक है, जिसमें मानव प्राणी को न्याय, स्वतंत्रता, समता और भ्रातत्व के लिये आन्दोलित और संघर्ष करने की अमोघ शक्ति निहित है।

चतुर्थ अध्याय

"डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर का राजनैतिक चिन्तन एवं कार्य-व्यवहार"

1. लोकतंत्र एवं विकेन्द्रीकरण,
2. समाजवाद एवं साम्यवाद,
3. क्षेत्रीयतावाद एवं अलगाववाद,
4. संवैधानिक विचार,
5. भारत की विदेश नीति एवं पड़ोसी राष्ट्रों से सम्बन्ध-
   - क) पाकिस्तान एवं विदेश नीति,
   - ख) चीन एवं विदेश नीति,
   - ग) गोवा की स्वतंत्रता का मामला एवं विदेश नीति,
6. राष्ट्रवाद एवं विश्वराज्यवाद।

चतुर्थ अध्याय

''डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर का राजनैतिक चिन्तन एवं कार्य-व्यवहार''

4.1. लोकतंत्र एवं विकेन्द्रीकरण-

डॉ॰ लोहिया लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रबल समर्थक थे। वे सामाजिक परिवर्तन के द्वारा राजनीतिक चेतना को प्रभावित करना चाहते थे तथा भेदभाव, असमानता, वर्गवाद, धर्मान्धता को मिटाकर एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे, जो सर्वहितकारी तथा समतावादी हो। आज़ादी के बाद से भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में वे ही तत्व पनपते नज़र आये जिनके विरुद्ध आज़ादी के लिये संघर्ष किया गया था। डॉ॰ लोहिया राजतंत्र के तत्वों को लोकतांत्रिक व्यवंस्था में सिर उठाता हुआ अनुभव कर रहे थे।[1] उनका कहना था कि, लोकतंत्र में जीने के वे ही पात्र हैं जो हर पल सावधान तथा सतर्क हैं और अपने व समाज के हितों को समझकर उनके लिये समर्पित हैं। लोकतंत्र उन कमज़ोरों, असहायों, निर्धनों, अपाहिजों और रोगियों का कवच नहीं है जो अपनी लड़ाई भी जारी नहीं रख सकते। लोकतंत्र स्वावलम्बियों, स्वतंत्र चेतनाओं, कर्मठशील और उत्सर्गमयी आत्माओं का स्वर्ग है। मात्र मताधिकार कर्म से जुड़कर कोई लोकतांत्रिक नागरिक नहीं हो सकता। डॉ॰ लोहिया के अनुसार यह देखना है कि, कही लोकतंत्र पर पूंजीवादी,

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया', पेज सं.- 229 (2003).

सामंती आदि प्रवृत्तियां हावी न हो जायें और यदि ऐसा होता है, तो लोकतंत्र, लोकतंत्र नहीं रह जायेगा।

डॉ॰ लोहिया जनवादी राजनीतिज्ञ थे। उनका जनवाद, समाजवाद था वे मानते थे कि समाज के बिना व्यक्ति का और व्यक्ति के बिना समाज का विकास नहीं हो सकता। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। वे जानते थे कि देश की भूखी-नंगी गरीब जनता के लिये लोकतंत्र के क्या मायने हो सकते हैं। चुनाव के बढ़े खर्चे तथा उसमें असंगति तत्व चिन्ता का विषय बन चुके थे। जातिवाद, पूँजीवाद, नव-पूँजीवाद, परिवर्तित सामन्तवाद, अराजकतावाद, अधिनायकवाद आदि ऐसे ही तत्व थे, जो कि देश की राजनीति की कमर तोड़ रहे थे, और नवमूल्यों के लिये वातावरण नहीं बनने दे रहे थे। रेडियो दूरदर्शन तथा समाचार-पत्र धनी लोगों के लिये काम करते थे। देश में तब एक इस प्रकार की लॉबी तैयार हो चुकी थी जो कि, लोकतंत्र को अपने लिये मोड़ने में सक्षम थी। धीरे-धीरे राष्ट्रीय चरित्र का पतन होता जा रहा था या पतन की राजनीति प्रारम्भ हो चुकी थी। डॉ॰ लोहिया सिद्धान्त तथा नैतिकता को मात्र सत्ता से ही ऊपर मानने वाले नहीं थे, बल्कि संगठन से भी बढ़कर मानने वाले थे। "कई ऐसे मौके आये उनके जीवन में, जब सिद्धान्त की खातिर वे अपने साथियों को छोड़कर अकेले आगे बढ़ गये।"[1]

डॉ॰ लोहिया ने लोकसभा में सरकारी खर्च सीमा सम्बन्धी एक प्रस्ताव पर सशक्त ढंग से बोलते हुये कहा था कि, हमारे यहाँ जो अभाव है, तंगी है, कमी है, सभी आवश्यक चीजों की, चाहे वह अकाल के कारण हो, चाहे असमानता के कारण, जब तक उसके साझीदार हम सभी नहीं बनते, तब तक हम किस मुँह से जनता से कहेंगे कि तकलीफ उठाकर इस देश को बनाओ। जो लोग देश में शासन चलाने वाले हैं, कानून बनाने वाले हैं और जिन पर जनता ने देश निर्माण का दायित्व सौंपा है, अगर वे विलासिता में रहते हैं, तो उनमें इतना नैतिक बल नहीं है कि, वे गरीब जनता से यह कह सके कि तुम अपना पेट काटकर भी मन लगाकर देश के निर्माण के लिये काम करो। अतः आज जरूरत इस बात की है कि "विलासी

---

1. मिलन सिन्हा, डॉ॰ लोहिया : एक समूचा मानवीय व्यक्तित्व, नवभारत टाइम्स, 25 मार्च, 1979.

खर्चों पर रोक लगा दी जाये।" उन्होंने यह भी कहा है कि, "वर्तमान स्थिति में जितनी चिन्ता नीचे के नौकरों का बोनस बढ़ाने की होनी चाहिये, उससे ज्यादा चिन्ता ऊपर वालों के खर्च की सुविधाएं घटाने की होनी चाहिये। जब मंत्रियों आदि के घरों में नमक, दाल, हल्दी के दामों की फिक्र होने लग जायेगी तब जाकर चीजों के दाम गिरेंगे।"[1] तभी समाज में समता होगी व लोकतंत्र कायम होगा।

समाज में व्याप्त वर्ग व जातिगत विषमता, अस्पृश्यता से डॉ॰ लोहिया की विचारधारा मेल नहीं खाती। वह चाहते थे कि समाज में समानता का वातावरण बने और इसलिये वर्ण तथा जातिगत भेदभाव जो परम्परा से चले आ रहे हैं, समाप्त हों, तभी देश में विकास को गति मिल सकती है और सच्चे लोकतंत्र की स्थापना हो सकती है।

डॉ॰ लोहिया अनेक सिद्धान्तों, कार्यक्रमों और क्रान्तियों के जनक हैं। वे सभी अन्यायों के विरुद्ध एक साथ ज़ेहाद बोलने के पक्षपाती थे उन्होंने एक साथ सात क्रान्तियों (सप्त क्रान्तियाँ) का आह्वान किया। वे सात क्रान्तियाँ थी-

1) नर-नारी की समानता के लिये।
2) चमड़ी के रंग पर रची राजकीय, आर्थिक और दीमागी असमानता के खिलाफ।
3) संस्कारगत, जन्मजात जाति प्रथा के खिलाफ और पिछड़ों के विशेष अवसर के लिये।
4) विदेशी गुलामी के खिलाफ और स्वतंत्रता तथा विश्वलोक राज्य के लिये।
5) निजी पूँजी की विषमताओं के खिलाफ और आर्थिक समानता के लिये तथा योजना द्वारा पैदावार बढ़ाने के लिये।
6) निजी जीवन में अन्यायी हस्तक्षेप के खिलाफ और "लोकतंत्री-पद्धति" के लिये।
7) अस्त्र-शस्त्र के खिलाफ और सत्याग्रह के लिये।

---

1. 04 अगस्त, 1967 को लोहिया का लोकसभा में भाषण।

इन सात क्रान्तियों के सम्बन्ध में डॉ॰ लोहिया ने कहा है कि, "मोटे तौर से ये हैं, सात क्रान्तियाँ सातों क्रान्तियों संसार में एक साथ चल रही हैं। अपने देश में भी उनको एक साथ चलाने की कोशिश करना चाहिये। जितने लोगों को भी क्रान्ति पकड़ में आयी हो उसके पीछे पड़ जाना चाहिये और बढ़ाना चाहिये। बढ़ाते-बढ़ाते शायद ऐसा संयोग हो जाये कि, आज का इन्सान सब नाइन्साफियों के खिलाफ लड़ता-जूझता ऐसे समाज और ऐसी दुनिया को बना पाये कि जिसमें आन्तरिक शान्ति और बाहरी या भौतिक भरा पूरा समाज बन पाये।"[1]

डॉ॰ लोहिया के अनुसार जन-इच्छा की पूर्ति करना राज्य का प्रमुख कर्तव्य है। जब तक राज्य द्वारा जन-इच्छा का आदर किया जाता है, तभी तक जनतंत्र सफल होता है, जहाँ से जन-इच्छा की अवहेलना, उपेक्षा या दमन की नीति राज्य सत्ता अपनानी शुरू करती है, वहीं से जनतंत्र का ह्रास भी प्रारम्भ होना शुरू होता है। ज्यों-ज्यों राज्य सत्ता जन इच्छा के अनुसार बदलेगी, त्यों-त्यों वह जनतांत्रिक पद्धति का विकास करेगी। राजसत्ता को निरन्तर कुछ काल अवधि के बाद वैसे ही बदलते रहना चाहिये जैसे तवे पर रोटी उल्टी-पुल्टी जाती है। किसी एक दल और एक पार्टी को लगातार कई वर्षों तक सत्तारूढ़ दल में नहीं रहना चाहिये। लगातार एक ही जन समूह जब सत्ता में रहता है तो निहित स्वार्थ, भ्रष्टाचार आदि अनेक विकार सहज ही पैदा हो जाते हैं। ये दोष तभी दूर होंगे, जब राज्य-सत्ता को बराबर यह होश रहे कि, वह कभी भी बदली जा सकती है, हटाई जा सकती है और उसके स्थान पर किसी दूसरे के हाथों में सत्ता सौंपी जा सकती है। यह स्थिति तभी पैदा होगी जब जनशक्ति प्रबल हो और जन इच्छा को अपनी संप्रभुता के साथ प्रभावी होने का अवसर मिले। जनशक्ति इतनी सशक्त होनी चाहिये कि, वह जब चाहे यह परिवर्तन ला सके।

डॉ॰ लोहिया देश में आर्थिक तथा राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे। उनका कहना था कि शक्ति का स्रोत नीचे से ऊपर की ओर बहना चाहिये न कि ऊपर से नीचे की ओर। हमारे देश में स्थिति विपरीत है। इसको बदलने के लिये

---

1. ओंकर शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 11 (1969).

जन जाग्रति पैदा करना होगा। डॉ. लोहिया ने इस संदर्भ में दो खम्भों (केन्द्र व राज्य) वाली व्यवस्था के स्थान पर चार खम्भों वाली योजना प्रस्तुत की जिसे उन्होंने "**चौखम्भा योजना**" के नाम से सम्बोधित किया। दूसरे शब्दों में डॉ. लोहिया ने राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के लिये चौखम्भा योजना प्रस्तुत की। गाँव, जिला, सूबा और मध्यवर्ती केन्द्र जैसे चार खम्भों पर यह व्यवस्था खड़ी करनी होगी। केवल शासन व्यवस्था की दृष्टि में यह व्यवस्था सीमित करना ठीक नहीं होगा, बल्कि नियोजन, उत्पादन व्यवस्था, मालिकी व्यवस्था, शिक्षा इत्यादि क्षेत्रों में भी यह व्यवस्था प्रकट होनी चाहिये। चौखम्भा व्यवस्था एक जीवन मार्ग है।[1]

भारत में विद्यमान संघात्मक व्यवस्था को डॉ. लोहिया देश की अपूर्ण व्यवस्था मानते थे। उनके अनुसार सर्वोच्च शक्ति केन्द्र व राज्य में निहित न होकर अन्य छोटी इकाइयों में विकेन्द्रित होनी चाहिये। केन्द्र, राज्य, मण्डल व ग्राम नामक इकाइयाँ एक दूसरे की सहयोगी हों न कि एक दूसरे को प्रभावित करने वाली। ऐसी व्यवस्था में नागरिक स्वतंत्रतापूर्वक देश को एक सूत्र में बाँधे रहेंगे, देश के विकास को गति दे सकेंगे तथा अपना हांथ बटाँ सकेंगे।

इस व्यवस्था में सशक्त सेना केन्द्र के, सशस्त्र पुलिस राज्य के तथा पुलिस मण्डल व ग्रामों के अधीन रहेगी। देश के बड़े उद्योग, केन्द्र के तथा छोटी मशीनों वाले उद्योग मण्डल तथा ग्रामों के अधीन होंगे। मूल्यों पर नियंत्रण केन्द्र रखेगा। मण्डल तथा ग्राम कृषि, पूँजी तथा श्रम का अनुपात निर्धारित करेंगे। सहकारिता, कृषि-सुधार, सिंचाई, भू-राजस्व की वसूली राज्य नियंत्रित होगी। कर के मद में जो धन केन्द्र के पास एकत्रित होगा, उसके चार भाग आनुपातिक तरीके से बाँट दिये जायेंगे। अतः यहाँ भी समानता की स्थिति देश के विकास में सहयोग प्रदान करेगी।

प्रशासन में डॉ. लोहिया ने विकेन्द्रीकरण लागू करते हुये कहा था कि जिलाधीश का पद समाप्त कर उसके सारे अधिकार मण्डल अधिकारियों को सौंप दिये जायें। इतना ही नहीं विधायी शक्ति का भी विकेन्द्रीकरण कर दिया जाना

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 174 (1963).

चाहिये। डॉ. लोहिया की धारणा थी कि राज्यों से राज्यपाल का पद भी समाप्त कर दिया जाये। न्याय व्यवस्था में भी परिवर्तन होना आवश्यक है, ताकि जनता को सस्ता व शीघ्र न्याय मिल सके। वे यह भी चाहते थे कि, वर्तमान कानूनों में परिवर्तन कर या उनमें संशोधन कर उन्हें लोकतंत्र के अनुकूल बनाया जाय। प्रशासन के खर्च को कम करने के लिये दो-तीन राज्यों के बीच एक न्यायालय होना चाहिये।

डॉ. लोहिया की धारणा थी कि किसी भी देश का विकास उसकी नागरिक क्षमता तथा चेतना पर निर्भर है। नागरिक क्षमता विकेन्द्रित शासन के बिना सम्भव नहीं है। अतः व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों का विकेन्द्रीकरण करके ही देश का निर्माण करने में सामान्य नागरिक को सहयोगी बनाया जा सकता है। इस प्रकार चौखम्भा योजना के द्वारा, समुदाय के द्वारा समुदाय के लिये समुदाय का शासन स्थापित किया जा सकता है। अपनी चौखम्भा योजना की सफलता के लिये डॉ. लोहिया का विचार था कि, छोटी मशीनों वाले उद्योग, भूमि का समान पुनर्वितरण, स्वभाषा का विकास, रूढ़िवादिता का अन्त, शिक्षा का प्रसार, जाति-बन्धन विहीन समाज, नर-नारी समानता तथा समाज में बुराइयों की समाप्ति से चौखम्भा योजना को सफल बनाया जा सकता है।

अगस्त 1949 ई. में डॉ. लोहिया ने स्टॉकहोम में चौखम्भा योजना की कल्पना को आगे बढ़ाते हुये '**विश्व सरकार**' को पाँचवे खम्भे के रूप में इसके साथ जोड़कर इसे पचखम्भा योजना बना डाला। उन्होंने कहा था कि, "सारी दुनिया में एक पाँच खम्भों पर आधारित व्यवस्था का निर्माण होना चाहिये। स्थानीय कारोबार में ग्राम व नगर को आज़ादी हो। अपने इलाके की व्यवस्था में जिले के अधिकार हों, प्रान्तीय क्षेत्र की व्यवस्था प्रान्त के हाँथ में रहे। कुछ मुख्य प्रश्न केन्द्र की सरकार को सौंपे जायें और विश्व सरकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा तथा विश्व के पुनर्निर्माण के सीमित कार्य करे।... ऐसी विश्व सरकार ही हथियार बन्दी करके युद्ध को रोक सकेगी और शान्ति स्थापित कर सकेगी।"[1]

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 174-175 (1963).

डॉ॰ आम्बेडकर ने तानाशाही एवं राजतंत्र के स्थान पर 'लोकतंत्र' का समर्थन किया। उन्होंने लोकतंत्र के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुये कहा है कि, उस स्वरूप तथा पद्धति की सरकार, जिसके द्वारा बिना रक्त बहाये मानव जीवन के आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं, लोकतंत्र है। आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में हो रहे क्रान्तिकारी परिवर्तनों को जब जनता स्वीकार करने लगती है, तब समझना चाहिये कि लोकतंत्र परीक्षा में सफल हो रहा है। उन्होंने प्रजातंत्र को अपनी नवीन समाज व्यवस्था की धारणा का मूलाधार बनाया और कहा है कि, "प्रजातंत्र सरकार का एक स्वरूप मात्र नहीं है, यह वस्तुतः साहचर्य की स्थिति में रहने का एक ढंग है, जिसमें सार्वजनिक अनुभव का समवेत रूप से सम्प्रेषण होता है। प्रजातंत्र का मूल है, अपने साथियों के प्रति आदर और मानव की भावना।"[1] भ्रातृत्व के आधार पर डॉ॰ आम्बेडकर एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। वास्तविक रूप में प्रजातंत्र सबकी समान सम्पत्ति होनी चाहिये, न कि कुछ व्यक्तियों की। सबकी सम्पत्ति मानकर प्रजातंत्र की जड़े सुदृढ़ हो सकती हैं, अन्यथा प्रजातंत्र अन्याय का साधन बन सकता है।[2]

सिद्धान्तः डॉ॰ आम्बेडकर ने जनतंत्र को अत्यधिक महत्व दिया। उनका कहना था कि, "हमारा यह महान कर्तव्य है कि हम जनतंत्र को जीवन सम्बन्धों के मुख्य सिद्धान्त के रूप में संसार में समाप्त न होने दे। यदि हम जनतंत्र में विश्वास करते हैं तो हमें उसके प्रति सच्चा एवं वफादार होना चाहिये। हमें जनतंत्र में केवल विश्वास ही प्रकट नहीं करना चाहिये, वरन हम जो कुछ भी करें हमें अपने शत्रुओं को जनतंत्र के मूल सिद्धान्त- स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का अन्त करने में सहायता नहीं करनी चाहिये।"[3]

प्रजातंत्र का सीधा अर्थ है- कोई दासता न हो, कोई जातिवाद न हो, तथा अनावश्यक भेदभाव न हो। इसलिये उन्होंने ऐसी सरकार का समर्थन किया जो

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड-I, पेज सं॰- 78.
2. बी.आर॰ आम्बेडकर, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अण्टचेबिल्स, पेज सं॰- 208-209 (1946).
3. बी.आर॰ आम्बेडकर, ऑल इण्डिया डिप्रेस्ड क्लॉसेज कान्फ्रेन्स में दिये गये भाषण से, नागपुर जुलाई, 1942.

जनता की हो, जनता के लिये हो और जनता द्वारा बनायी गयी हो। साथ ही साथ उन्होंने जातिवाद का घोर खण्डन भी किया। वे स्वतंत्र विचारों के प्रणेता थे तथा प्रत्येक को अपने ढंग से रहने की स्वतंत्रता चाहते थे। यही मार्ग जनतंत्र की ओर सरलता से ले जा सकता है। डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, "जनतंत्र संगठित रूप में रहने का एक ढंग है। जनतंत्र की जड़ें, जो लोग संगठित रूप से समाज का निर्माण करते हैं, उनके ही सामाजिक सम्बन्धों में मिलती हैं।"[1] डॉ॰ आम्बेडकर ने जनतंत्र को समाज व्यवस्था से जोड़ा, ताकि वह मात्र मताधिकार अथवा चुनावों तक सीमित न रह जाये। जनतंत्र निश्चय ही, किसी विशेष जाति या धर्म अथवा देश की धरोहर नहीं है। यह एक सामान्य ढंग एवं विचार है, इसका सम्बन्ध समाज में रहने वाले नागरिकों से है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि, "किसी जनतांत्रिक सरकार की पूर्व शर्त जनतांत्रिक समाज की स्थापना करना है। किसी भी जनतंत्र की रूपरेखा में यदि सामाजिक प्रजातांत्रिक नहीं है, तो उसका कोई मूल्य नहीं है, वह वास्तव में उपयुक्त नहीं है।"[2] सामाजिक संगठन, जो कठोर सामाजिक बन्धनों से मुक्त हो। जनतंत्र की उस अलगाव एवं अनन्यता से विसंगति तथा असमंजस्यता है जो सुविधा प्राप्त और असुविधा प्राप्त के बीच भेदभाव पैदा करती है।[3] डॉ॰ आम्बेडकर की मान्यता थी कि, सामाजिक जनतंत्र के बिना सरकार और राजनीति की भूमिकाएं अधूरी होती है।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, राजनीतिक जनतंत्र निम्नांकित चार मान्यताओं पर निर्भर करता है :-

1) व्यक्ति स्वयं में साध्य है।
2) व्यक्ति के कुछ अपृथक अधिकार होते हैं, जिनकी सुरक्षा संविधान द्वारा मिलनी चाहिये।
3) किसी सुविधा को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति के संवैधानिक अधिकारों का

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 487 (1981).
2. बी.आर. आम्बेडकर, रानाड़े, गाँधी एण्ड जिन्ना, पेज सं.- 36 (1943).
3. बी.आर. आम्बेडकर, स्टेट्स एण्ड माइनारिटीज, पेज सं.- 23 (1947).

हनन नहीं होना चाहिये।

4) राज्य निजी लोगों को वे अधिकार नहीं देगा जिससे वे अन्य लोगों पर शासन करें।

डॉ॰ आम्बेडकर का प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण व्यक्ति मूलक है। वे व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध की तुलना में कही अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। वे व्यक्ति के कार्यों और अधिकारों में राज्य का कम से कम हस्तक्षेप चाहते थे। प्रजातंत्र में नियमबद्धता की तुलना में वे सामाजिक दायित्व को अधिक महत्व प्रदान करते थे।

स्पष्टतः व्यक्ति का सम्मान, राजनीतिक स्वतंत्रता, सामाजिक प्रगति एवं समता, मानव अधिकार, संवैधानिक नैतिकता, स्वतंत्रता आदि डॉ॰ आम्बेडकर के राजनीतिक जनतंत्र के आवश्यक तत्व हैं। इनका अनुसरण एवं लाभ कहां तक सम्भव हो सकता है, यह जिसे डॉ॰ आम्बेडकर ने 'आधार प्लान' कहा उस पर निर्भर करता है। आधार प्लान का अर्थ किसी समुदाय के 'सामाजिक ढाँचे' से है जिसमें राजनीतिक योजना को व्यवहार में लाया जाता है। राजनीतिक समृद्धि सामाजिक जनतंत्र में निहित है, यदि समाज में समानता का व्यवहार नहीं है, तो राजनीतिक जनतंत्र और स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक ढाँचे पर बहुत कुछ निर्भर है। यहाँ तक कि "सामाजिक ढाँचे का राजनीतिक जीवन पर इतना प्रभाव पड़ता है कि, वह उसकी कार्य-विधि को परिवर्तित कर सकता है, उसको वह समाप्त कर सकता है और उसका मज़ाक भी वह उड़ा सकता है।"[1]

प्रजातंत्र में विश्वास करते हुये डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि इसके अन्तर्गत **संसदात्मक प्रजातान्त्रिक** व्यवस्था का होना अति आवश्यक है क्योंकि इसके बिना राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक सम्बन्धों में जनतांत्रिक भावना नहीं आ सकती। "व्यक्तिगत रूप से, मेरी रुचि सरकार की संसदात्मक व्यवस्था में हैं। हमें समझना चाहिये कि यह क्या है और भारतीय संविधान में इसे पूर्ण स्थान दिया जाना चाहिये।"[2]

---

1. बी.आर. आम्बेडकर, थाट्स आन लिंग्विस्टिक स्टेट्स, पेज सं.- 34 (1955).
2. दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड-I, पेज सं.- 50-51 (1963).

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार संसदात्मक सरकार एक उत्तम व्यवस्था की द्योतक है, क्योंकि यह ईमानदारी, शान्ति, साहस, आत्म-विश्वास और परिश्रम जैसे मानव गुणों को बढ़ावा देती है। संसदात्मक व्यवस्था में मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह भी एक उत्तरदायी व्यक्ति है, वह केवल साधन ही नहीं है, साध्य भी है। यह बात किसी अन्य प्रकार की समाज और राज-व्यवस्था में नहीं मिलेगी। संसदात्मक राजव्यवस्था में उत्तम फल निकलते हैं, क्योंकि इसमें योग्यता एवं सहयोग, आत्म-सम्मान एवं आत्म-सहायता, संयम एवं कर्तव्य के प्रति निष्ठा जैसे महान गुणों पर करोड़ों लोगों के कल्याण के लिये बल दिया जाता है। इसकी व्यवस्था यदि ठीक हो तो सब लोगों के लिये समान अवसर प्राप्त होते हैं। समयानुसार स्वयं परिवर्तन भी होते रहते हैं। संसदात्मक जनतंत्र में परिवर्तन एवं उत्तमता, निरन्तरता एवं योग्यता को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

प्रजातन्त्र के दोष-

डॉ॰ आम्बेडकर का प्रजातन्त्र में अटूट विश्वास था, लेकिन साथ ही साथ उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जनतन्त्र व्यवस्था में कुछ दोष भी है। संसदीय व्यवस्था में अनेक अच्छी बातें मिलती हैं और सरकार जनता की सरकार, जनता द्वारा तथा जनता के लिये होती है, फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि कई देशों में इसका खुलकर विरोध हुआ। इटली, जर्मनी तथा स्पेन में जनतान्त्रिक परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह हुआ। वर्तमान समय में जनतन्त्र के विरुद्ध लोगों की भावनायें दिखायी पड़ती हैं। भारत में भी जनतान्त्रिक और संसदीय परम्पराओं के प्रति लोगों में असंतोष है। बहुत से लोग इनके पक्ष में नहीं है। वे मौलिक तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों को चाहते हैं। डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, जनतन्त्र का प्रथम दोष यह है कि उसमें "कार्यक्षमता या कार्य पद्धति बहुत धीमी है।" यही कारण है कि जहाँ पहले प्रजातन्त्र था, आज वहाँ अधिनायकवाद है। अर्थात वहाँ तानाशाही का राज्य है। इसमें शीध्र एवं तुरन्त निर्णय लेने की क्षमता कम होती है। "संसदीय जनतन्त्र में कार्यपालिका को विधान पालिका द्वारा अवरोधित किया जा सकता है। यह भी हो सकता है कि जो कानून कार्यपालिका चाहे उन्हें विधान पालिका न बनाये और यदि ऐसा न हो तो न्यायपालिका कार्यपालिका के कार्यों में अवरोध उत्पन्न कर

सकती है। उनके कार्यों को गैर-कानूनी करार दे सकती है। संसदीय जनतन्त्र में तानाशाही को कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिलती। यही कारण है कि इटली, जर्मनी और स्पेन जैसे देशों में यह जनतान्त्रिक परम्परा बदनाम हो गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ तानाशाहों को स्थान मिला।"[1] लेकिन डॉ॰ आम्बेडकर जनतन्त्र के स्थान पर तानाशाही को कतई नहीं चाहते थे, क्योंकि इसमें वाद-विवाद तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं है। "संसदात्मक जनतन्त्र के प्रति असंतुष्टता का कारण यह है कि इसके नेता जनसाधारण को स्वतन्त्रता, सम्पत्ति तथा समृद्धि के साधन प्रदान करने में असफल रहे है।"[2]

'समझौता करने की स्वतन्त्रता' जैसी दोषपूर्ण विचारधारा के कारण संसदीय जनतन्त्र के प्रति असंतोष उत्पन्न हुआ है। "यह विचार बहुत ही शुभ माना गया और स्वतन्त्रता के नाम पर इसे कायम रखा गया है। संसदीय जनतन्त्र में आर्थिक असमानताओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया और यह जानने का प्रयास नहीं किया कि समझौता के सिद्धान्त में दोनों पक्षों में बहुत कुछ असमानता होती है। इनकी विनिमय शक्ति पृथक-पृथक होती है। इसमें इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया कि समझौते की स्वतन्त्रता के द्वारा शक्तिशाली वर्गों को निर्धन लोगों का शोषण करने का अवसर मिलता है। फलस्वरूप संसदीय जनतन्त्र में, स्वतंत्रता का हिमायती होते हुये भी, निर्धनों के प्रति आर्थिक शोषण को बढ़ावा दिया है। शोषित वर्गों पर आर्थिक भार कम नहीं हुआ है।[3] जनतन्त्रीय व्यवस्था में, बहुत से ऐसे वर्ग हैं जिनके पास साधन तथा धन दोनों हैं, वे निर्धनों के प्रति कोई भी सद्भावना नहीं दिखाते हैं और न उनकी आकांक्षाओं को पूरा होने देते हैं। वे सामाजिक उत्तरदायित्व दिखाये बिना अपने ही हितों की पूर्ति में संलग्न रहते हैं। जन साधारण की उपेक्षा करना उनकी आदतों में आ गया है। यही कारण है कि, सामान्य लोग संसदीय प्रजातन्त्र से असंतुष्ट है।

---

1. ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन वर्कर्स् स्टडी कैम्प (दिल्ली), में डॉ॰ आम्बेडकर का 17 सितम्बर, 1943 को दिया गया भाषण।
2. वही भाषण।
3. दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड-I, पेज सं॰- 45 (1963).

दोषपूर्ण संगठन भी संसदात्मक जनतंत्र की असफलता का एक प्रमुख कारण रहा है। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि, "सभी राजनीतिक समाज दो वर्गों में विभक्त हो जाते हैं, शासक ओर शासित। लेकिन यह विभाजन एक बुराई का रूप धारण कर लेता है। यदि यह बुराई यहीं रुक जाये तो कोई बात नहीं है। लेकिन यह व्यवस्था इतनी यांत्रिक तथा दृढ़ बना दी जाती है कि, शासक लोग सदैव शासक वर्ग में ही छाँटे जाते हैं। यह इसलिये होता है कि, सामान्यतः लोग यह जानने का प्रयास नहीं करते हैं कि, वे स्वयं अपने ही शासक हैं। वे केवल उसी में संतुष्ट रहते हैं कि सरकार चुन दी और उसे स्वयं अपने ही ऊपर शासन करने के लिये छोड़ दिया।"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर ने यह चेतावनी दी है कि यदि संसदात्मक जनतंत्र भारत में असफल रहता है तो इसका परिणाम विद्रोह, अराज़कता तथा साम्यवाद में परिवर्तित होगा।[2] जिन लोगों के हाथ में शक्ति है और जिन पर देश की भारी जिम्मेदारी है, उन लोगों को जनतंत्र के दोषों पर ध्यान रखकर अपना कार्य करना चाहिये। यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो भारत में जनतंत्र का भविष्य अन्धकारमय बन जायेगा। आज तक जो लोग शोषित रहे हैं और जिनके ऊपर अत्याचार किये गये हैं, वे विद्रोह करना प्रारम्भ कर देगें।

लोकतन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक शर्तें-

डॉ॰ आम्बेडकर का मानना है कि, विश्व में लोकतंत्र के उतार-चढ़ाव के इतिहास का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि, किसी समाज में लोकतंत्र की सफलता के लिये कुछ पूर्व दशाओं का होना आवश्यक है। यदि ये दशायें समाज में पहले से हैं तो लोकतंत्र के सफल होने की सम्भावना अधिक है और यदि समाज में उनका अभाव है तो लोकतंत्र की सफलता संदिग्ध होगी। ये पूर्व दशायें इस प्रकार है :-

1) समाज में अधिक विषमता न हो।

2) राजनीतिक दलों का होना।

---

1. दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड-I, पेज सं॰- 46-47 (1963).

2. वही, पेज सं॰- 56.

3) सशक्त विरोधी दल का अस्तित्व में होना।

4) कानून और प्रशासन की दृष्टि में सभी समान हों।

5) संवैधानिक नैतिकता का परिपालन।

6) समाज में नैतिक व्यवस्था का परिपालन हो।

7) समाज में चेतना हो।[1]

डॉ॰ आम्बेडकर का कहना है कि, लोकतन्त्र कोई ऐसा पौधा नहीं है जो हर मिट्टी में उग जाये। इसकी रक्षा के लिये हमें अपने समाज से जो परिस्थितियाँ लोकतंत्र के प्रतिकूल हैं, उन्हें हटाना होगा और जो दशायें इसके अनुकूल हैं, उनका विकास करना होगा। उन्होंने बताया कि लोकतन्त्र के उद्देश्य समाज के व्यावहारिक हितों में निहित होने चाहिये। उससे सामान्य जनता की समृद्धि होनी चाहिये, न कि किसी वर्ग या जाति विशेष की। सब व्यक्तियों को एक ही सूत्र में बाँधकर, जनसाधारण की प्रगति करना जनतंत्र का वास्तविक कार्य है। यह ठीक है कि लोगों में विभिन्न योग्यताएं होती हैं, उनके पृथक-पृथक हित होते हैं और अधिकार कर्तव्य भी भिन्न होते हैं, लेकिन प्रजातांत्रिक समाज में प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान बराबर समझा जाना चाहिये। व्यावहारिक दृष्टि से, समाज में प्रजातांत्रिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने में सभी लोग अपनी-अपनी योग्यतानुसार योगदान करते हैं। लेकिन अल्पसंख्यकों को क्योंकि उनके हांथ में शक्ति नहीं होती समाज विरोधी मानकर जनतंत्र का शत्रु क़हना और उन पर अत्याचार करना न्यायोचित नहीं है। किसी भी रूप में किया जाने वाला अन्याय या दमन जनतंत्र की स्थापना में बाधक है।[2]

डॉ॰ आम्बेडकर ने प्रजातंत्र को एक जीवन मार्ग के रूप में स्वीकार किया है उनकी राय में प्रजातंत्र कोई कोरी बात-चीत नहीं है उसका आनुभविक एवं बौद्धिक आधार होता है। बुद्धिवादी एवं यथार्थवादी होने के नाते डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है, प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, शक्ति एवं समाज दोनों के लिये परिवर्तन जीवन का एक नियम है।[3]

---

1. दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड-I, पेज सं॰- 56 (1963).

2. बी.आर. आम्बेडकर, जनतंत्र के सफल कार्यान्वयन के लिये अनिवार्य शर्तें (लेख)।

3. बी.आर. आम्बेडकर, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं॰- 79 (1936).

जनतंत्र की सुरक्षितता और उसकी सफलता के लिये डॉ. आम्बेडकर ने निम्नलिखित उपाय सुझाये हैं :-

1) **संवैधानिक कार्य-** डॉ. आम्बेडकर ने हिंसात्मक तथा रक्त से सनी हुई क्रान्ति के मार्ग का खण्डन किया है। उन्होंने सविनय कानून तोड़ो आन्दोलन, असहयोग और सत्याग्रह के मार्गों को भी त्याज्य माना। इन उपायों को वे 'अराजकता का व्याकरण' कहते हैं।

2) **व्यक्ति पूजा का त्याग-** श्रेष्ठ व्यक्ति अथवा महामानव के प्रति कृतज्ञता अथवा श्रद्धा व्यक्त करना डॉ. आम्बेडकर के अनुसार गलत नहीं है। आत्मा के उद्धार के मार्ग के रूप में वे भक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं, परन्तु राजनीति में 'भक्ति' अथवा 'व्यक्ति पूजा' का मार्ग अधः पतन का मार्ग है। ऐसी भक्ति या व्यक्ति पूजा से देश में तानाशाही विकसित होने लगती है। ऐसी उनकी मान्यता है।

3) **राजनीतिक जनतंत्र से सामाजिक जनतंत्र की ओर-** डॉ. आम्बेडकर के अनुसार सामाजिक जनतंत्र की नींव मज़बूत करने से ही राजनीतिक जनतंत्र सुरक्षित रह सकता है। सामाजिक जनतंत्र जीवन का एक क्रम ही है। इसीलिये स्वतंत्रता, समता और बन्धुता जीवन तत्व हैं।

राजनीति में समता और आर्थिक क्षेत्र में विषमता- इस दृश्य को बदलना जरूरी है। इन दोनों के बीच की यह विसंगति जल्द से जल्द समाप्त होनी जरूरी है। निकट भविष्य में अगर ऐसा नहीं हो सकता तो, "विषमता में जो छटपटा रहे हैं, ऐसे वर्ग जनतंत्र के मुखौटे का पर्दाफाश कर देंगे।[1]

शक्ति या सत्ता का विकेन्द्रीकरण लोकतंत्र की आत्मा है परन्तु डॉ. आम्बेडकर को यह पद्धति बहुत बेकार लगी और वे विकेन्द्रीकरण की नीति के विरुद्ध थे। उन्होंने कहा है कि, "ग्राम प्रजातंत्रों का महत्व कुछ भी रहा हो, परन्तु यह पद्धति अब भारत के सार्वजनिक जीवन के लिये विनाशकारी तथा घातक प्रमाणित हुई है। यदि भारत में राष्ट्रीयता की भावना नहीं पनप सकी, यदि भारत देश भक्ति के लिये

---

1. श्री वा. ना. कुबेर, डॉ. आम्बेडकर विचार मन्थन, पेज सं.- 216.

तैयार नहीं हो सका तो इसका एकमात्र कारण भारत की इसी प्रणाली को जाता है। इसके परिणामस्वरूप समस्त जन स्थानकवादी और विशेषवादी बन गये हैं। क्या ऐसा जनसमूह जो अन्ध-विश्वासों से ग्रस्त हैं, अज्ञान और अन्धकार में धँसा जा रहा है और अशिक्षित है, न्याय का उत्तरदायित्व निभाने योग्य है। ऐसे पंचों के हाँथों में अपना जीवन, आज़ादी तथा सम्पत्ति को सौंपना अक्लमन्दी नहीं है।"[1] डॉ. आम्बेडकर यह मानते थे कि, विकेन्द्रीकरण की नीति के लिये न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था तथा औचित्य एवं सहानुभूति पर आधारित मानव सम्बन्धों का एक व्यापक तंत्र अपेक्षित होता है, जिसका भारतीय समाज में नितान्त अभाव है।[2] न्याय भावना के अभाव में नैतिकता जातीय एवं वर्गीय हो जाती है। इसे मानवीय मूल्यों का व्यापक आधार प्राप्त नहीं होता है। मानवीय मूल्यों और सच्चाई के अभाव में स्थानीय इकाइयों में सत्ता का अन्तरण कमज़ोर हो सकता है, साथ हीं यह अधिकार से वंचित वर्गों के लोगों पर अत्याचार का कारण भी बन सकता है।

डॉ. आम्बेडकर पाश्चात्य लोकतांत्रिक प्रणाली के समर्थक थे क्योंकि यह प्रणाली वयस्क मताधिकार के माध्यम से राजनैतिक शक्ति में सभी को समान रूप से भागीदारी का अवसर प्रदान करती है। फिर भी जहाँ तक दलित वर्गों के लोगों का प्रश्न है, अपनी कमज़ोर सामाजिक, आर्थिक स्थिति के कारण ये लोग स्थानीय आधार पर सशक्त वर्गों के लोगों से न्याय एवं नैतिकता की उम्मीद नहीं कर सकते थे और न ही स्थानीय आधार पर सत्ता में उनकी सार्थक भागीदारी हो सकती थी। इसलिये डॉ. आम्बेडकर लोकतांत्रिक प्रणाली में सत्ता के विकेन्द्रीकरण के विरुद्ध थे, वे केन्द्रीकृत सत्ता के पक्षधर थे।

एक विशाल एवं विविधतापूर्ण राष्ट्र में प्रभावकारी शासन की स्थापना की दृष्टि से डॉ. आम्बेडकर ने केन्द्र के साथ राज्य स्तर पर भी राजनैतिक सत्ता के हस्तान्तरण पर ज़ोर दिया किन्तु विधायी, प्रशासनिक एवं न्यायिक दृष्टियों से उन्होंने केन्द्र को तुलनात्मक रूप से अधिक अधिकार प्रदान किये जाने का प्रस्ताव

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, डॉ. आम्बेडकर : चिन्तन और विचार, पेज सं.- 108 (2002).
2. मधुलिमये, डॉ. आम्बेडकर : एक चिन्तन, 1991.

किया। उनका कहना था कि मैं एक मज़बूत और संगठित केन्द्र चाहता हूँ।[1]

डॉ॰ आम्बेडकर ने न केवल व्यक्ति के लिये मौलिक अधिकार तथा कमज़ोर वर्गों के लिये सुरक्षा उपायों का संविधान में प्रावधान किया बल्कि, इन अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध उन्होंने संविधान में न्यायिक उपचार की व्यवस्था भी की। इसके लिये उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय को व्यापक अधिकार भी प्रदान किये।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार भारतीय ग्राम का सामाजिक संगठन जाति पर आधारित है, जिसमें आमतौर पर किसी न किसी सवर्ण जाति का वर्चस्व होता है। अपनी सम्प्रभु स्थिति के कारण इस जाति के लोग पंचायतों और स्थानीय निकायों पर अधिकार जमा लेते हैं और पूरे क्षेत्र में अपना दबदबा कायम कर लेते हैं। क्षेत्रीय वर्चस्व रखने के कारण ये लोग राज्य सरकारों पर भी प्रभाव रखते हैं, जिससे ये लोग यदि दलित व कमज़ोर जातियों पर अत्याचार करते हैं तो उनके विरुद्ध स्थानीय स्तर पर कठोर कार्यवाही किये जाने की गुंजाइश कम होती है। शायद यह भी एक कारण था जिससे डॉ॰ आम्बेडकर ने संविधान के प्रारूप में ग्राम पंचायत को प्रशासन की आधारभूत इकाई बनाना उचित नहीं समझा।

आज ग्राम पंचायतें काम कर रही हैं। उनसे खतरे बढ़ रहे हैं- जातीय रूढ़ियाँ बढ़ रही हैं, अन्याय बढ़ रहे हैं और गरीब वर्गों का शोषण हो रहा है। ग्राम पंचायत की समझ उनमें नहीं है। ग्राम पंचायत के लिये देश में वातावरण ही कहां बना है। अशिक्षित देश में लोकतंत्र का अर्थ अन्दरूनी अधिनायकवाद है।[2] डॉ॰ आम्बेडकर के शब्दों में, "सभी उत्थानों एवं पतनों में भारत में ग्राम पंचायतें बनी रहीं, यह एक सच्चाई हो सकती है, किन्तु जैसे-तैसे बने रहने का कोई अर्थ नहीं है। प्रश्न यह है कि, वे किस स्तर पर बनी रहीं ? उत्तर साफ है कि, बहुत ही निम्न धरातल पर। मेरा तो मत है कि ग्राम पंचायतें भारत के विनाश का कारण बनी हैं। इसलिये मुझे यह जानकर आश्चर्य होता है कि जो लोग प्रान्तीयता व साम्प्रदायिकता की निन्दा करते हैं वे गाँवों का समर्थन करते हैं। गाँव क्या है ? यह अपने प्रति ही मोह, अज्ञान, संकीर्णता और साम्प्रदायिकता की गुफा है। मुझे प्रसन्नता है कि,

1. दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड-I, पेज सं.- 135 (1963).
2. राजेन्द्र मोहन भटनागर, डॉ. आम्बेडकर : चिन्तन और विचार, पेज सं.- 108 (2002).

संविधान के प्रारूप में गाँव को तिलांजलि दे दी गयी है और उसके स्थान पर व्यक्ति को इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है।"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर की दृष्टि में भारतीय ग्राम गणराज्य में लोकतंत्र के लिये कोई स्थान नहीं है, समानता के लिये कोई जगह नहीं है, स्वतंत्रता के लिये कोई स्थान नहीं है और भ्रातृत्व के लिये कोई जगह नहीं है। भारतीय ग्राम, गणराज्य की धारणा को पूर्णरूप से नकारता है। यदि यह एक गणराज्य है तो यह स्पृश्यों द्वारा, स्पृश्यों के लिये, स्पृश्यों का गणराज्य है।[2] यह अछूतों पर हिन्दुओं का साम्राज्य है। यह एक प्रकार से हिन्दुओं का उपनिवेशवाद है जिसकी रचना हिन्दुओं द्वारा अछूतों के शोषण के लिये की गयी है। इसमें अछूतों को कोई अधिकार नहीं है। वे केवल उनके आदेशों के अनुपालन और उनकी सेवा के लिये हैं, या तो वे उनकी सेवा कर उनके कृपापात्र बने रहें अथवा मर जायें। उन्हें कोई अधिकार इसलिये नहीं है क्योंकि वे इसके बाहर हैं।[3] गाँव जाति प्रणाली, अत्याचार तथा शोषण का प्रतिरूप हैं। इसलिये डॉ॰ आम्बेडकर को ग्राम पंचायत पर भरोसा नहीं था और वे इस संस्था के विरुद्ध थे। वे जाति, धर्म, लिंग के भेद को गिराकर सभी मनुष्यों को समान महत्व दिये जाने के सिद्धान्त के आधार पर एक नई समाज-व्यवस्था का ढाँचा खड़ा करना चाहते थे। यही वजह थी, जिससे कि उन्होंने ग्राम पंचायत को अन्य स्थानीय निकायों के साथ नौवीं अनुसूची में धकेल दिया और उन्हें राज्यों के विधान मण्डलों के अधीन रखा।[4]

स्थानीय इकाइयों को सत्ता दिये जाने के प्रति डॉ॰ आम्बेडकर के विरोध-भाव का एक कारण यह भी था कि वे सोचते थे कि, ऐसा करने से देश में विघटन को बढ़ावा मिलेगा। उनका मानना था कि, जातियों एवं वर्णों के रहते भारत में सामाजिक एकता का पूरी तौर पर अभाव रहा है, जिसकी वजह से अतीत में हम अवनति और पराभव को प्राप्त हुये। सम्प्रति जाति-भेद के साथ साम्प्रदायिक

1. बी.आर. आम्बेडकर, बुद्धा एण्ड द फ्यूचर ऑफ हिज रेलिज़न, पेज सं.- 107 (1980).
2. डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड- V पेज सं.- 26.
3. आर.जी. सिंह, डॉ॰ आम्बेडकर के सामाजिक विचार (1991).
4. मधुलिमये, डॉ॰ आम्बेडकर : एक चिन्तन, पेज सं.- 73 (1991).

भाषायी एवं क्षेत्रीय भेद भी हमारी एकता को कमज़ोर कर रहे हैं, ऐसी दशा में यदि राष्ट्र को विघटन से बचाना है तो केन्द्र को सशक्त करना आवश्यक है।

डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर के 'लोकतंत्र एवं विकेन्द्रीकरण' सम्बन्धी विचारों में लोकतंत्र के बारे में दोनों में अनेक समानताएं देखने को मिलती है तो विकेन्द्रीकरण के मुद्दे पर दोनों के विचारों में विभिन्नता विद्यमान है। डॉ. लोहिया एक ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था के समर्थक थे जिसमें भेदभाव, असमानता, वर्गवाद और धर्मान्धता के लिये कोई स्थान न हो। लोकतंत्र सर्वहितकारी एवं समतावादी हो। उनकी दृष्टि में लोकतंत्र स्वावलम्बियों, स्वतंत्र चेताओं, कर्मठशील और उत्सर्गमयी आत्माओं का स्वर्ग है। यह कमज़ोरों, असहायों, निर्धनों एवं रोगियों का कवच नहीं है। उन्होंने लोकतंत्र को स्थापित करने के लिये विलासी खर्चों पर रोक लगाने, ऊँचे लोगों के खर्च की सुविधाएं घटाने, निम्न लोगों के बोनस बढ़ाने, खर्च पर सीमा लगाने और 'सप्त-क्रान्तियों' को संचालित करने की बात कही। डॉ. लोहिया की सप्त क्रान्तियों की कल्पना अपने आपमें महत्वपूर्ण है, परन्तु समस्या इन क्रान्तियों को गति प्रदान करने की है। किसी भी देश में यदि ये क्रान्तियां सफल होती हैं, तो निश्चित रूप से एक वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना सम्भव होगी। डॉ. लोहिया का यह निष्कर्ष सत्य है कि, जब तक राज्य द्वारा जन इच्छा का आदर किया जाता है, तभी तक लोकतंत्र सफल होता है। अतः जनशक्ति इतनी सशक्त होनी चाहिये कि वह जब चाहे यह परिवर्तन ला सके।

डॉ. आम्बेडकर ने राजतंत्र के स्थान पर ऐसी लोकतांत्रिक प्रणाली का समर्थन किया जो संसदात्मक पद्धति पर आधारित हो क्योंकि इस पद्धति के बिना राजनीतिक संस्थाओं और सामाजिक सम्बन्धों में जनतांत्रिक भावना नहीं आ सकती। डॉ. आम्बेडकर की दृष्टि में प्रजातंत्र में कोई दासता नहीं हो, कोई जातिवाद नहीं हो तथा अनावश्यक भेदभाव नहीं हो दूसरे शब्दों में, सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र के स्थापित हुये बिना राजनीतिक लोकतंत्र स्थापित नहीं हो सकता। यद्यपि प्रजातंत्रात्मक प्रणाली में भी कुछ दोष हो सकते हैं। जैसे- कार्यक्षमता या कार्य-पद्धति का बहुत धीमा होना, कार्यपालिका को विधायिका द्वारा अवरोधित किया जाना, दोषपूर्ण विचारधारा का होना, आर्थिक असमानताओं की ओर ध्यान

न दिया जाना तथा दोषपूर्ण संगठन का होना आदि तथापि जिन लोगों के हाँथ में शक्ति है, उन्हें लोकतंत्र में उत्पन्न विकृतियों को दूर करने का प्रयास करना चाहिये। लोकतंत्र की सफलता के लिये आवश्यक है कि, समाज में अधिक विषमता न हो, एक से अधिक राजनीतिक दल हों, आर्थिक समानता हो समाज में जागरूकता हो आदि। लोकतंत्र की रक्षा के लिये हमें अपने समाज से जो परिस्थितियाँ लोकतंत्र के प्रतिकूल हैं, उन्हें हटाना होगा और जो दशायें इसके अनुकूल हैं उनका विकास करना होगा।

वास्तव में हम दोनों विचारकों के लोकतांत्रिक विचारों का समर्थन कर सकते हैं क्योंकि, विश्व में 'लोकतंत्र' सर्वोत्तम शासन प्रणाली के रूप में आज भी विद्यमान है और इस व्यवस्था के अन्तर्गत ही लोगों के अधिकारों की सुरक्षा होती है। व्यक्ति स्वतंत्रता एवं समानतापूर्वक जीवन-यापन करते हैं, परन्तु वास्तविक लोकतंत्र तभी सम्भव है, जब व्यक्ति अपना निजी एवं सामूहिक जीवन बिना किसी भय या संत्रास के जी सके, उसे विश्वास की स्वतंत्रता हो, वाणी की स्वतंत्रता हो, मत को व्यक्त करने का अधिकार हो, यही नहीं अपने मत के अनुसार संगठन बनाने का और संघर्ष करने का भी अधिकार हो।

'विकेन्द्रीकरण' के मुद्दे पर डॉ॰ लोहिया ने विकेन्द्रीकरण का समर्थन करते हुये जिस आर्थिक तथा राजनीतिक विकेन्द्रीकृत ढाँचे को स्वीकार किया वह चहुमुखी उन्नति के द्वार खोल देता है। उनकी दृष्टि में शक्ति का स्रोत नीचे से ऊपर की ओर बहना चाहिये न कि ऊपर से नीचे की ओर। उन्होंने 'चौखम्भा योजना' प्रस्तुत करके प्रशासनिक अधिकारियों को जनता के नियंत्रण में रखकर अच्छे लोकतंत्र के निर्माण की कल्पना की है। इसमें केन्द्र, राज्य, मण्डल व ग्राम नामक इकाइयाँ एक दूसरे की सहयोगी होंगी और ऐसी व्यवस्था में नागरिक स्वतंत्रतापूर्वक देश को एक सूत्र में बाँधे रहेंगे, देश के विकास को गति दे सकेंगे तथा अपना हाँथ बँटा सकेंगे। यद्यपि डॉ॰ लोहिया की इस विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में नौकरशाही पर अंकुश लग जाता है परन्तु बेईमानी व भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने की सम्भावनाएं दिखायी देती हैं। अतः इन बुराइयों से बचने के लिये तथा लोकतंत्र को मज़बूत बनाने के लिये केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण के मध्य संतुलन स्थापित करने की आवश्यकता है।

केन्द्रीय सरकार को इतनी शक्तियाँ व अधिकार नहीं प्रदान किया जाना चाहिये जिससे जनता के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का हनन होने लगे और लोकतंत्र केवल नाममात्र के लिये ही रह जाये। साथ ही विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार को अत्यन्त निर्बल कर देना भी ठीक नहीं होगा। इससे प्रशासनतंत्र में अनेक असावधानियाँ उत्पन्न हो सकती हैं और केन्द्र की सरकार समूचे देश की सुरक्षा की दृष्टि से असफल सिद्ध हो सकती है। चूँकि देश की सरकार की यह एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है कि, वह देश की सुरक्षा अपने पड़ोसी राज्यों एवं अन्य विदेशी ताकतों से करे इसलिये उसे पर्याप्त मात्रा में शक्तियाँ और अधिकार सौंपना आवश्यक होता है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने अपने विचारों में विकेन्द्रीकरण का समर्थन नहीं किया वरन वे मज़बूत केन्द्र के पक्ष में थे क्योंकि उनकी दृष्टि में गाँव रूढ़िवादिता एवं अन्ध-विश्वास का गढ़ हैं जिन्हें शक्ति प्रदान करना ठीक नहीं होगा। दलित वर्ग के लोग अपनी कमज़ोर सामाजिक, आर्थिक स्थिति के कारण स्थानीय आधार पर सशक्त वर्ग के लोगों से न्याय एवं नैतिकता की उम्मीद नहीं कर सकते और न ही स्थानीय आधार पर उनकी सत्ता में सार्थक भागीदारी हो सकती थी। गाँव मोह, अज्ञान, संकीर्णता और साम्प्रदायिकता की गुफा हैं। यह हिन्दुओं का उपनिवेशवाद है, जिसकी रचना हिन्दुओं द्वारा अछूतों के शोषण के लिये की गयी है। गाँव, जाति प्रणाली, अत्याचार और शोषण का प्रतिरूप हैं इसलिये डॉ॰ आम्बेडकर को ग्राम पंचायतों पर भरोसा नहीं था और वे विकेन्द्रीकरण की नीति के सख्त खिलाफ थे।

परन्तु आज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हम डॉ॰ आम्बेडकर के इन विचारों का समर्थन नहीं कर सकते हैं। क्योंकि भारत गाँवों का देश है और जब तक गाँव के लोगों का विकास नहीं किया जायेगा, ग्राम पंचायतों को शक्तियाँ प्रदान नहीं की जायेंगी, तब तक पूरे भारत का विकास सम्भव नहीं है। इसी कारण वश ग्राम पंचायतों व नगर निकायों को शक्तियाँ व अधिकार प्रदान करने के लिये भारतीय सरकार को संविधान में 73वाँ एवं 74वाँ संवैधानिक संशोधन करना अपरिहार्य हो गया था। वर्तमान समय में केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा अधिकाधिक आर्थिक व्यय गाँवों के विकास हेतु किया जा रहा है क्योंकि आज यह महसूस किया जा रहा

है कि, जब तक गाँव में रहने वाले लोग शिक्षित नहीं होंगे, स्वस्थ नहीं रहेंगे, वहाँ से निर्धनता, बेरोज़गारी जैसी समस्याएं दूर नहीं होंगी, वहाँ समुचित पेयजल उपलब्ध नहीं होगा, वहाँ के लोग देश व समाज के प्रति जागरूक होकर अपने कर्तव्यों का निर्वहन नहीं करेंगे तथा ग्राम पंचायतों को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अधिकार प्रदान नहीं किये जायेंगे तब तक हमारे देश में लोकतंत्र की जड़ें मज़बूत नहीं हो पायेंगी। अतः भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया आवश्यक है।

4.2. समाजवाद एवं साम्यवाद-

समाजवाद 'सोशलिज़्म' (Socialism) का हिन्दी अनुवाद है। यह लेटिन भाषा के 'सोसियस' (Socius) शब्द से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ 'साथी' से लिया जाता है। विस्तृत अर्थों में इसकी अभिव्यक्ति मनुज-समता की अनुभूति देती है। यह एक क्रान्तिकारी तथा सशक्त जीवन दर्शन है, जो साम्राज्यवादी, विज्ञानवादी, उपनिवेशवादी, पूंजीवादी, नव-साम्राज्यवादी आदि की अनर्थबोधात्मक अनियमितताओं एवं दुर्बलताओं का पर्दाफाश करता है। समाजवाद को किसी ने गिरगिट की तरह रंग बदलने वाला[1] बतलाया और किसी ने उसकी सम्बन्ध सीमा कल-कारखानों, गन्दी गलियों आदि को सिद्ध किया। **डान ग्रिफिथ** तथा **लि फिगोरा** ने क्रमशः समाजवाद की 263 एवं 600 परिभाषाएं प्रस्तुत की। प्रत्येक परिभाषा दूसरी परिभाषा से भिन्न थी। उनसे यह तथ्य सामने आया कि समाजवाद समाज का दर्शन है और दलित व पीड़ित मानवता के लिये काम करना चाहता है।

समाजवाद मानव समता का विचार है, उसका सीधा सम्बन्ध जीवन-दर्शन से है। वह इतना व्यापक विचार है कि उसको किसी एक परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है।[2] परन्तु डॉ॰ लोहिया ने इस मत से असहमति व्यक्त करते हुये समाजवाद को 'समानता तथा सम्पन्नता का प्रतीक बताया। समाजवाद के अन्तर्गत जो प्रमुख तत्व उभरकर सामने आये थे, जैसे समसामयिक, राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था से इन्कार होना, वर्तमान अव्यवस्था को राजनीतिक एवं सामाजिक

---

1. रेम्जे मूर, द सोशलिस्ट केस इग्जामिनेड, पेज सं.-3.
2. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज खण्ड- 13-14, पेज सं.- 188.

भ्रष्ट संस्थाओं की देन मानना, नैतिक एवं मानवीय गुणों तथा विशिष्टताओं पर आधारित नवीन व्यवस्था की शुरुआत करना, नवीन जीवन मूल्यों के लिये क्रान्तिकारी मार्ग अपनाना आदि को डॉ॰ लोहिया ने आत्मसात किया और उसे अत्यधिक सशक्त एवं पैने रूप में प्रस्तुत किया था। उनकी अवधारणा थी कि, लोगों का मन तो हिलने दो, लोगों में विश्वास जमने दो कि अन्दर से भी राज्य बदला जा सकता है।[1] डॉ॰ लोहिया भारत को लेकर कहते थे कि यह देश बहुत जमा हुआ है। वह बदलता है और बदलना चाहता है। वे चाहते थे कि ऐसा क्रान्तिकारी राजनीतिक संगठन बने, जो शोषण, भाषा-रंगभेद, मूल्य निर्धारण, ज़माखोरी, चारित्रिक भ्रष्टता, पिछड़ापन, मुफलिसी आदि समस्याओं का निदान कर सके और मनुष्य में जीने के विश्वासों को दे सके। वे नहीं मानते थे कि बिना क्रान्तिवाद के समाज का समीचीन विज्ञान सम्भव हो सकता है।[2] दरअसल समाजवाद शोषण मुक्त समाज की ऐसी संकल्पना है, जिसमें दासता, अमानवीयता, असहिष्णुता, चरित्रहीनता, भेदात्मकता आदि अमांगलिक दोषों से मानव-जीवन को बचाया जा सकता है। इसमें वर्गहीन समाज की संस्थापना के लिये राज्य या समाज को अधिक महत्व देने की योजना है। साथ ही व्यक्तिगत ज़ोखिम एवं प्रतिस्पर्धा का अन्त करना भी इसके मूल में है। इसमें उन्नति के समान अवसरों की प्रतिष्ठा का प्रयत्न है।

भारत में समाजवाद की स्थापना के समय तीन मिश्रित प्रवृत्तियाँ अलग-अलग कार्य कर रही थीं-

1) मार्क्सवादी, जिसके नेता जयप्रकाश नारायण थे,
2) अंग्रेजी मज़दूर दल सरीखे सामाजिक लोकतन्त्रवादी, जिसके नेता थे अशोक मेहता, और
3) लोकतंत्रात्मक समाजवादी, जिसके नेता थे डॉ. राममनोहर लोहिया। फिर भी इन तीनों के बीच एक अशान्त समझौता था- मार्क्सवादी एवं अमार्क्सवादी विचारधारा के लोगों के बीच।[3]

---

1. डॉ॰ लोहिया, समदृष्टि, पेज सं॰- 18 (1966).
2. डॉ॰ लोहिया, गिल्टीमैन ऑफ इण्डिया इज पार्टीशन (1970).
3. मधुलिमये, इवोल्यूशन ऑफ सोशलिस्ट पॉलिसी, पेज सं॰- 1.

डॉ॰ लोहिया की मान्यता थी कि, ''समाजवाद का अगर एक अंग ले लिया जाता है, जैसे वामपंथी राष्ट्रीयता या जैसे वामपंथी आर्थिकता, तो समाजवाद खण्डित रह जाता, अधूरा रह जाता। समाजवाद के अंग या मतलब कई है। मोटी तरह से मैं गिनाए देता हूँ : वामपंथी राष्ट्रीयता, दूसरे उपग्रन्थी आर्थिकता, तीसरे उग्रपंथी धार्मिकता, चौथे उग्रपंथी सामाजिकता, पाँचवे उग्रपंथी राजनीतिकता।''[1] आशय यह है कि समाजवाद समग्र जीवन-चिन्तन में आमूल-चूल परिवर्तन, वह भी क्रान्तिकारी परिवर्तन, का हामी स्वर है। डॉ॰ लोहिया भी समाजवाद के माध्यम से जीवन के विभिन्न पक्षों में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते थे। यद्यपि वे अपने दौर में सामाजिक विषमताओं के जाल को उलट देना चाहते थे, तथापि वे आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषिक आदि सभी क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अपरिहार्यता की अनुभूति करते थे और स्वस्थ्य तथा वर्गहीन समाज की संस्थापना पर जोर देते थे। दरअसल डॉ॰ लोहिया अन्दर से आने वाले परिवर्तन पर विशेष बल देते थे। उसी से सत्ताभिमुख अनैतिकता का माया जाल हट सकेगा और सेवाभिमुख जन-जीवन जीने के आनन्द की अनुभूति कर सकेगा।

डॉ॰ लोहिया मानते थे कि मार्क्सवादी विचारधारा वर्गों को समाप्त करके वर्णों को जन्म देती है। फलतः राष्ट्र पतनोन्मुखी होने लगता है। उनकी मान्यता थी कि साम्प्रदायिकता को मिटाया जाय और उसके मिटाने में हिंसा का अवलम्ब नहीं लिया जाये। वे धार्मिक अन्तरंगता को राजनीति के लिये अपरिहार्य मानते हुये इस बात पर ज़ोर देते थे कि राजनीति सत्ता नीति न बनकर रह जाये। जीवन से विलग होकर सत्ताभिमुख राजनीति समाज और व्यक्ति दोनों के लिये समान रूप से घातक है।

डॉ॰ लोहिया गाँधी जी, मार्क्स और आइन्सटाइन तीनों को अपने युग की महान विभूति मानते थे। लेकिन तीनों को अलग-अलग रूप में स्वीकार नहीं करते थे। वह उनको एक साथ समग्र रूप में ग्रहण करते थे। इन तीनों में भी वह गाँधी जी को बहुत ऊँचा स्थान देते थे। उन्होंने गाँधी जी की 'अहिंसा' और 'सिविल नाफरमानी'

---

1. डॉ॰ लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म (1963).

को समाजवादी आन्दोलन से जोड़कर उसमें नया प्राण फूँकने का काम किया। जिस समाजवाद की स्थापना वह करना चाहते थे उसकी जड़े नैतिकता की गहराइयों में है और वह संसार में चल रहे समाजवादी आन्दोलन से भिन्न तो था ही, स्वयं अपने देश के समाजवादी भी उसे स्वीकार करने में हिचकिचाते थे।

डॉ॰ लोहिया ने प्रारम्भ से ही मार्क्स को भारत और एशिया के संदर्भ में अप्रासंगिक घोषित कर दिया था। इतना ही नहीं उन्होंने इसे तेज गति से बढ़ती हुई मानवीय संस्कृति और राजनीतिक मूल्यों के संदर्भ में भी अप्रासंगिक बतलाया। यही नहीं वे हीगेल के द्वन्दात्मक अध्यात्मवाद और मार्क्स के द्वन्दात्मक भौतिकवाद को एक ही तर्क शैली से उपजा हुआ विचार तर्क मानते थे। 'इतिहास चक्र' में 'क्षण' की व्याख्या उसकी 'तात्कालिकता' और मनुष्य की 'इच्छा शक्ति' को वह इतिहास की गति के सामने घुटने टेकने वाला नहीं मानते थे। वह इन दोनों शक्तियों को इतिहास गति के चक्र से टकराकर उसे मोड़ने वाला भी मानते थे।[1]

डॉ॰ लोहिया मार्क्सवादियों से बार-बार कहते थे कि, मार्क्सवाद मानव इतिहास का अन्तिम सत्य नहीं है। मानव इतिहास हमेशा स्थानीयता, तात्कालिक अनिवार्यता, इतिहास की गतिशीलता और भौगोलिक स्थितियों व परिस्थितियों से प्रभावित होता है। इसलिये इन सभी दृष्टियों से मार्क्सवाद अप्रासंगिक हो गया है। डॉ॰ लोहिया के शब्दों में, "राजनैतिक और आर्थिक नीतियों को हमेशा ऐतिहासिक स्थिति के साथ सोचना चाहिये। ऐसा न करने से भयंकर त्रासदी का जन्म होता है। पूँजीवाद हो या साम्यवाद या समाजवाद यदि वह ऐतिहासिक बोध और भौगोलिक सत्य की उपेक्षा करके चलता है तो हमेशा दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है।"[2]

साम्यवाद और पूँजीवाद में डॉ॰ लोहिया ने गुणात्मक अन्तर नहीं माना। उन्होंने साम्यवाद को पूँजीवाद का ऐसा शत्रु तो माना जो उसकी शक्ति को चुनौती देकर उसे ध्वस्त करना चाहता है और पूँजीवादी जगत को भी उसी उर्थ में साम्यवाद का शत्रु माना किन्तु वे बराबर कहते रहे कि मूलतः दोनों में कोई गुणात्मक अन्तर

---

1. डॉ॰ लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म (1963).
2. वही।

नहीं है। दोनों ने किसानों और अन्य मेहनतकशों की खपत के स्तर को घटाकर उनके श्रम का शोषण करके अतिरिक्त पूँजी एकत्रित की है और उसे औद्योगीकरण के लिये लगाया है। वे यह भी कहते हैं कि दोनों अविकसित विश्व के कच्चे माल को पक्का बनाकर वैसी ही अतिरिक्त पूँजी बनाने में भी एक ही जैसे हैं। दोनों व्यवस्थाएँ-पूँजीवादी और साम्यवादी आर्थिक औद्योगिक विकास के एक ही माध्यम पर टिकी हैं जो आधुनिक अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी पर आधारित हैं। प्रौद्योगिकी की इस समानता ने दोनों को लगभग एक जैसा ही बना दिया है।

साम्यवाद भी जीवन स्तर को बढ़ाने, खपत को आधुनिक बनाने और इस उद्देश्य से विज्ञान को अधिक से अधिक उत्पादन करने वाली मशीनों का आविष्कार करने की दिशा में ले जाने के मार्ग पर चला। इसी दर्शन के कारण वह पूँजीवाद का अनुगामी हुआ और चूँकि पूँजीवाद उस मार्ग पर लगभग एक सौ वर्ष पहले चल पड़ा था और उसने अपने औपनिवेशिक साम्राज्य का शोषण करके भी लाभ उठाया था। इसलिये साम्यवाद उस राह पर चलते-चलते उससे मात खा गया और अब साम्यवादी देशों में भी वैसी ही खपत की ललक से साम्यवाद के स्थान पर पूँजीवाद को स्थापित करने की प्रक्रिया चल रही है। इन्हीं दृष्टियों को सामने रखकर डॉ. लोहिया ने 1949-50 ई. में ही यह कहकर युवा समाजवादियों को चौंका दिया था कि यूरोप ने एशिया के शोषण के लिये पहले पूँजीवादी साम्राज्यवाद का अस्त्र चलाया था और अब दूसरा अस्त्र चलाया है, जिसका नाम साम्यवाद है।

इस प्रकार डॉ. लोहिया परम्परावादी समाजवाद (साम्यवाद) से भिन्न नितान्त तात्कालिकता और ऐतिहासिक स्थिति से पैदा हुई दृष्टि के समर्थक थे। वह समाजवाद के सार्वभौमिक सिद्धान्त को मानते हुये उसको देशकालिक, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक यथार्थ से जोड़कर देखते थे। वह एक ही क्षण में भारत की जाति प्रथा की विषमता के खिलाफ संघर्ष करते थे तो उसी के साथ 'विश्व सरकार' एवं 'विश्व नागरिकता' को भी उस क्षण के संघर्ष के साथ जोड़ते थे। डॉ. लोहिया जिस समाजवादी दर्शन के समर्थक थे उसमें वह नितान्त 'देशी' और नितान्त 'विश्व चेतना' के स्तर पर एक साथ अपनी समग्रता के साथ आन्दोलित होते थे। उनमें एक का विकल्प और दूसरे का त्याग नहीं था। वह दोनों ही मिलकर समाजवाद का समग्र रूप प्रस्तुत करते थे।

उसमें पहले एवं बाद का भी क्रम वह नहीं स्वीकार करते थे। अन्तर केवल इतना था कि 'तात्कालिकता' की ऐतिहासिकता की लड़ाई तो वह लड़ते थे परन्तु मन में हमेशा उस लड़ाई को विश्व मानव से जोड़कर चलते थे। तात्कालिक अन्याय के खिलाफ संघर्ष को वह अपनी विश्व चेतना का अविभाज्य अंग मानते थे। इसीलिये उनकी दृष्टि में न तो एकांगिकता थी और न ही भेदभाव। दोनों ही एक-दूसरे के पूरक थे और समर्थक भी।

डॉ॰ आम्बेडकर समाजवादी व्यवस्था के समर्थक थे। उनकी समाजवादी व्यवस्था में उन भेदभावों को ही माना गया है जो व्यक्तिगत योग्यता तथा बुद्धि पर आधारित हैं परन्तु अनावश्यक असमानताओं के वे कट्टर विरोधी थे। वे उन सामाजिक तथा आर्थिक भेदभावों का अन्त करना चाहते थे, जिनसे कुछ लोग कठिन परिश्रम करके भी अच्छा जीवन नहीं बिता पाते हैं और कुछ व्यक्ति बिना काम-काज किये भौतिक सुखों से पूर्ण रहते हैं। अतः उनके समाजवाद का प्रत्यय न्याय और संतुलन पर निर्भर है उसमें उन सब विचारों एवं व्यवहारों का अन्त होना आवश्यक है जो बुराई के रूप में विद्यमान हैं और जिनसे जनसाधारण को पीड़ा एवं दुःख होता है। डॉ॰ आम्बेडकर का कहना था कि, समाज तथा समाजवाद की बात करने से पहले, लोगों को अज्ञानता तथा निर्धनता के प्रति सद्भावनायें अपने हृदय में उत्पन्न करनी चाहिये। गरीबी और धर्मान्धता के प्रति संघर्ष की मनोवृत्ति भी होनी चाहिये। उन्होंने समाजवाद से प्रेरित होकर निर्धनता पर कड़ा प्रहार किया क्योंकि निर्धनता से ही अनेक बीमारियाँ और अनैतिक विचार उठते हैं। वे लोग जो निर्धनता को एक शुभ स्थिति बताते हैं, समाज की कभी भी सच्ची सेवा नहीं कर सकते। डॉ॰ आम्बेडकर ने महात्मा बुद्ध की बात को स्वीकार किया, क्योंकि बुद्ध ने कभी भी निर्धनता की प्रशंसा नहीं की और न कभी यह कहा कि गरीबी एक शुभ स्थिति है जिसमें आनन्द प्राप्त हो सकता है।[1] डॉ॰ आम्बेडकर की दृष्टि में निर्धनता और समाजवाद दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते। एक को हटना ही पड़ेगा। क्योंकि निर्धनता और समाजवाद दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं दोनों में से एक को जाना ही पड़ेगा।

---

1. बी.आर. आम्बेडकर, द बुद्धा एण्ड हिज धम्म, पेज सं.- 587 (1956).

समाजवाद कई प्रकार का होता है, परन्तु सभी प्रकार के समाजवादों के पीछे एक सामान्य विचार यह है कि, समाजवाद में राज्य द्वारा उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व में विश्वास किया जाता है। आवश्यक और बुनियादी उद्योगों का राज्य द्वारा प्रबन्ध होना चाहिये ताकि उत्पादित धन का समान वितरण हो सके। समाजवाद की मुख्य रुचि श्रमिक तथा शोषित वर्गों की आर्थिक हालत सुधारने में होती है। व्यक्तिगत हित को ही सदैव सर्वोपरि नहीं समझा जाना चाहिये वरन सामाजिक कल्याण का होना भी आवश्यक है, ऐसा समाजवाद का उद्देश्य है। डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार गिल्ड समाजवाद, सिन्डीकल समाजवाद, ईसाई समाजवाद, फेबियन समाजवाद और वैज्ञानिक समाजवाद संतोषजनक नहीं है क्योंकि वे किसी न किसी बात का तिरस्कार किये बिना नहीं रहते। डॉ॰ आम्बेडकर ने आवश्यक सुधार और संशोधन के साथ '**राज्य समाजवाद**' के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होंने उसे भारतीय परम्परा में, उपयुक्त बनाने का सराहनीय कार्य भी किया।

डॉ॰ आम्बेडकर का कहना है कि समाजवादी समाज केवल उसी समय सम्भव हो सकता है जब राज करने वाले लोग दिल और दीमाग से उनकी सफलता के लिये कार्य करे। इसलिये हमारे सामने महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि, "किसको राज करना चाहिये ?" डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि राजनैतिक शक्ति उन लोगों के हाँथ में नहीं जानी चाहिये जो समाजवादी आदर्शों के विरुद्ध हैं, अथवा उनकी उपेक्षा करते हैं। यदि ऐसे ही लोग शासन करेंगे तो समाजवाद नहीं आ सकता और साथ ही साथ शोषण करने वालों को सुरक्षा प्राप्त होगी। उन्होंने कहा कि केवल जनमत ही प्रजातंत्र में यह निर्णय देने का अधिकारी है कि अमुक लोग समाजवाद के विरुद्ध हैं और अमुक लोग शासन करने के अधिकारी हैं। जनता को यह देखना चाहिये कि कौन लोग समाजवादी समाज के समर्थक हैं, कौन लोग वास्तव में सामाजिक न्याय चाहते हैं और आर्थिक शोषण का अन्त करने के लिये कटिबद्ध हैं, परन्तु यह सब कुछ शिक्षा के बिना असम्भव है, क्योंकि जब तक जनता शिक्षित नहीं होगी तब तक वह इस निर्णय को करने के लायक नहीं हो पायेगी और तब तक जनतंत्र एवं समाजवाद के विचार व्यावहारिक रूप धारण नहीं कर पायेंगे।

डॉ॰ आम्बेडकर ने कभी-कभी आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था की कड़ी आलोचना की क्योंकि इसने निर्धनता का अन्त नहीं किया, वरन निर्धनों की कठिनाइयों में वृद्धि की है। उनका यह विश्वास था कि शुद्ध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था जनता की आर्थिक कठिनाइयों को दूर नहीं कर पायेगी क्योंकि उसमें बेरोज़गारी, कड़ा-परिश्रम, काम के लम्बे घण्टे, गंदी स्थितियाँ, दमनकारी एवं दबावपूर्ण पद्धतियाँ सदैव बनी रहती हैं। सामान्य लोग उन्हीं से पीड़ित होते रहते हैं। इसलिये डॉ॰ आम्बेडकर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते थे। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सुधार के समर्थक होने के नाते डॉ॰ आम्बेडकर मौलिक रूप से व्यक्तिवादी होने के साथ-साथ समाजवादी भी थे। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में वे व्यक्तिवादी थे तो आर्थिक क्षेत्र में वे समाजवादी थे। एक ओर वे विचार स्वातन्त्र्य चाहते थे तो दूसरी ओर आर्थिक समानता के कट्टर समर्थक थे। उनकी मिश्रित विचारधारा उनको जे.एस॰ मिल जैसे विचारकों के समीप ला खड़ा करती है। वे इस बात के समर्थक थे कि संगठित श्रम का समाज के सभी सदस्यों तक लाभ पहुंचना चाहिये।[1] उन्होंने आम जनता के कल्याण के लिये एक ऐसा प्रोग्राम दिया जिसमें व्यक्तिवाद और समाजवाद का मिश्रण मिलता है।[2] डॉ॰ आम्बेडकर ने भी ऐसा ही सामाजिक एवं आर्थिक प्रोग्राम रखा जो व्यक्तिवाद एवं समाजवाद का मिश्रित रूप है। राज्य-समाजवाद का सुझाव लोगों के समक्ष रखते हुये डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा कि, "राज्य समाजवाद भारत का औद्योगीकरण करने के लिये आवश्यक है। व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था ऐसा नहीं कर सकती है। यदि उसने ऐसा किया तो वे ही आर्थिक असमानताएं उत्पन्न हो जायेंगी जो पूँजीवाद ने यूरोप के अन्दर पैदा की है। भारत के लोगों के लिये यह एक चेतावनी है।"[3]

राज्य-समाजवाद का कार्यक्रम रखते हुये डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा था कि "खेती के क्षेत्र में सामूहिक विधि के साथ-साथ और एक संशोधित रूप में उद्योग के क्षेत्र में राज्य-समाजवाद का होना आवश्यक है।"[4] यह ठीक भी है क्योंकि, जब

---

1. गाइड एण्ड रिस्ट, ए हिस्ट्री ऑफ इकोनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पेज सं.- 374 (1949).
2. वही, पेज सं.- 371-377.
3. बी.आर. आम्बेडकर, स्टेट्स एण्ड माइनारिटीज, पेज सं.- 31 (1947).
4. वही, पेज सं.- 31.

तक राज्य, खेती और उद्योग के क्षेत्र में, समाज के निर्धन वर्ग में धन नहीं जुटायेगा तब तक आर्थिक समृद्धि का होना कठिन है। विशेषकर भारत में जहाँ बहुत से लोग परम्परागत रूप से लालची है, धन को बचा-बचाकर धरती में रखते हैं, वहाँ राज्य को चाहिये कि आर्थिक क्षेत्र की प्रगति के लिये पहल करे और उन वर्गों को उत्साहित करे जो वास्तव में समाजवाद लाना चाहते हैं। ऐसे ही लोग भारत में समाजवादी समाज की स्थापना कर सकते हैं। जिनका हित समाजवाद में है वे ही लोग उनको दृढ़ बना सकते हैं।

डॉ. आम्बेडकर ने अपने राज्य-समाजवाद के सिद्धान्त में बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण करने का सुझाव दिया। इसके पीछे उन्होंने दो उद्देश्य बताये-

1) राष्ट्रीयकरण की हुई बीमा कम्पनी एक प्राईवेट बीमा कम्पनी की अपेक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा का उत्तरदायित्व अधिक लेती है। राज्य बीमा कम्पनी, चाहे कैसी भी परिस्थितियां हो, धन लौटाने का पूरा दायित्व लेती है। इसमें व्यक्ति को किसी प्रकार का भय नहीं रहता है।

2) राज्य बीमा कम्पनियों के द्वारा राज्य के पास भी एक निश्चित पूँजी आ जाती है जिसे वह अपने औद्योगिक कार्यों में लगा सकती है। अन्यथा राज्य को खुले बाजार से पूँजी लेनी पड़ती है जिसका ब्याज भी बहुत ऊँचा होता है। अतः राज्य को घाटा उठाना पड़ता है।[1]

स्पष्ट है कि डॉ. आम्बेडकर व्यक्ति की निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करते हैं। इतना ही नहीं वे राज्य प्रबन्ध के आधार पर व्यक्तिगत हितों की बात को अधिक मज़बूत बनाना चाहते है।

राज्य-समाजवाद केवल आर्थिक सिद्धान्त ही नहीं है, उसके सामाजिक तथा नैतिक आधार भी है। वह एक ऐसा सिद्धान्त है जो एक निश्चित न्याय के आदर्श, समाज और राज्य के विशेष कर्तव्यों पर निर्भर है। राज्य-समाजवाद की जड़ें हमें केवल अर्थशास्त्रियों में ही नहीं मिलती, वरन रॉडबर्टस और लासाल जैसे समाजवादियों में भी मिलती हैं।[2] इन दोनों राज्य समाजवादियों ने निजी सम्पत्ति के

---

1. बी.आर. आम्बेडकर, स्टेट्स एण्ड माइनारिटीज, पेज सं.- 31 (1947).
2. गाइड एण्ड रिस्ट, ए हिस्ट्री ऑफ इकोनॉमिक डाक्ट्रिन्स, पेज सं.- 416 (1949).

अधिकार को समाप्त करने पर बल दिया है।

डॉ॰ आम्बेडकर राज्य समाजवाद को तो चाहते थे, परन्तु वे परम्परावादी दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। वे यह स्वीकार करते थे कि, समाजवाद में श्रमिक और शोषित वर्गों की सुरक्षा का अधिक ध्यान रखकर योजनाएं तैयार करनी चाहिये। सम्पत्ति तथा स्वामित्व के एकाधिकार पर प्रभावशाली प्रतिबन्ध होने चाहिये ताकि उत्पादित धन का समान वितरण हो सके। लेकिन जहाँ तक व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा पूँजीवादी व्यवस्था का प्रश्न है वे रॉडबर्ट्स और लॉसाल के साथ सहमत नहीं थे। वे इन दोनों संस्थाओं को समाप्त करना नहीं चाहते थे, हालांकि वे कुछ प्रतिबन्ध लगाने के पक्ष में थे ताकि शोषण और अन्याय को बढ़ावा न मिले।

डॉ॰ आम्बेडकर ने राज्य प्रबन्ध को अधिक महत्व दिया जिसके पीछे केवल यही उद्देश्य था कि, "राज्य समाज की आर्थिक व्यवस्था ऐसी करे जिससे अधिक से अधिक उत्पादन बढ़े, पूँजीपतियों के हाँथ में सारा धन न जाये, और उत्पादित धन का समान वितरण हो।"[1]

राज्य-हस्तक्षेप और समान वितरण के पक्ष में होते हुये भी, डॉ॰ आम्बेडकर साम्यवाद की ओर नहीं गये। इस अर्थ में वे जे.एस. कीन्स के करीब आ जाते हैं। कीन्स भी राज्य हस्तक्षेप के पक्षपाती थे, जबकि साम्यवाद में उनकी रुचि नहीं थी।[2] डॉ॰ आम्बेडकर मार्क्सवाद के उस सुझाव से सहमत नहीं थे कि, जन कल्याण के लिये निजी सम्पत्ति के अधिकार को बिल्कुल समाप्त कर दिया जाये। न वे यह चाहते थे कि सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण हो। मूल बात यह है कि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा निजी सम्पत्ति के अधिकारों को समाप्त करना नहीं चाहते थे। उनका तात्पर्य यही था कि, राज्य शान्तिपूर्ण ढंग से तथा कानून के सहारे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन लाये ताकि शोषित तथा निर्धन वर्गों को आगे बढ़ने के लिये समान और विशेष अवसर मिलें, वे स्वतंत्रतापूर्वक रहें और भय एवं शोषण से दुःखी न हों। यही पद्धति लोगों को समाजवाद की ओर सरलता से ले जा

---

1. बी.आर. आम्बेडकर, स्टेट्स एण्ड माइनारिटीज, पेज सं.- 30-31 (1947).
2. जे. एम. कीन्स, लैजेस-फेयरी एण्ड कम्युनिज़्म, पेज सं.- 47-48 (1938).

सकती है।[1]

मार्क्स का साम्यवाद एक ऐसे जीवन मार्ग में आस्था रखता है जिसे व्यावहारिक रूप दिये जाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं, इस दृष्टि से यह एक पद्धति है। यह उन नियमों तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, जिनके द्वारा पूँजीवाद से समाजवाद की ओर जाया जा सके। इसके दो महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं- प्रथम वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त और द्वितीय सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति द्वारा राज्य प्राप्त करने का सिद्धान्त।[2] इन दोनों ही सिद्धान्तों में या मार्क्सवाद के अन्दर आर्थिक मूल्य प्रधान है, प्रधान ही नहीं, वरन जीवन को नियंत्रित एवं प्रेरित करने वाले तत्व हैं। डॉ॰ आम्बेडकर मार्क्सवाद को अक्षरशः ज्यों का त्यों स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने मार्क्स की इतिहास की व्याख्या को माना, लेकिन कई स्थानों पर वे उससे सहमत नहीं थे। उन्होंने कहा है कि, "भौतिक तत्व मानव जीवन में महत्वपूर्ण है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, लेकिन उनका प्रभाव एवं प्रयोग मनुष्य पर निर्भर है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।"[3] अनेक भौतिक शक्तियों का प्रयोग मनुष्य की बुद्धि पर निर्भर है, वही उनमें से मशीन तथा अन्य औजार बनाता है जो आधुनिक संस्कृति और सभ्यता के आधार हैं।

किसी समाज की गतिविधियाँ सदैव भली-भाँति नहीं चलती हैं। कभी-कभी प्राचीन विचार, रीति-रिवाज तथा लोगों की आदतें समाज की प्रगति करने में असमर्थ रहती हैं और समाज को आगे बढ़ाने में पूर्णतया असफल हो जाती हैं। विनाश और अवनति का समय आ जाता है। ऐसी परिस्थितियों में कुछ समाज जीवित रहते हैं और कुछ समाप्त हो जाते हैं। डॉ॰ आम्बेडकर ने कार्लायल के विचारों से सहमति प्रकट की है कि, "किसी भी समय को नष्ट होने की आवश्यकता नहीं, यदि इसे महान व्यक्ति मिल जाये, ऐसा व्यक्ति जो अच्छा एवं बुद्धिमान हो, उसमें यह जानने की बुद्धि हो कि समय क्या चाहता है, उसमें इतनी शक्ति हो, कि उसे ठीक-ठीक मार्ग पर ले जाये, किसी समय समाज की मुक्ति के लिये यही तत्व

---

1. बी.आर. आम्बेडकर, स्टेट्स एण्ड माइनारिटीज, पेज सं.- 3 (1947).
2. सी.ई.एम. जोड, इन्ट्रोडक्शन टू मॉडर्न पॉलिटिकल थ्योरी, पेज सं.- 88 (1950).
3. बी.आर. आम्बेडकर, रानाड़े, गाँधी एण्ड जिन्ना, पेज सं.- 5 (1943).

मुख्य है।"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर ने मार्क्सवाद की इसीलिये आलोचना की है कि, उसमें मनुष्य की स्थिति को गौण माना गया है, जबकि उसे प्राथमिकता देनी चाहिये थी। उन्होंने अपने विचारों में मनुष्य एवं उसकी कुशाग्र बुद्धि में विश्वास प्रकट किया। मनुष्य में इतनी शक्ति है कि वह अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझा सकता है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने मार्क्सवाद को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया। वे मार्क्स की यह बात कभी भी स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि, "धर्म एक बुराई है, क्योंकि यह कोरी कल्पना एवं विचार है, यह जंगल में चिल्लाने के समान है, पूर्णतया अप्रमाणित एवं अवैज्ञानिक है।" मार्क्स और उसके अनुयायियों ने धर्म की यह कहकर आलोचना की थी कि, 'यह लोगों के लिये अफीम के नशे के समान है और दुख की जड़ है।"[2] लेकिन डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार धर्म मानव-जीवन में अमूल्य एवं अनुपम है। धर्म आशा का संचार करता है। इसीलिये मानव को धर्म में सान्त्वना मिलती है।

डॉ॰ आम्बेडकर के विचार कार्लमार्क्स के साम्यवाद के निकट हैं या उसके विरुद्ध हैं ? इस सम्बन्ध में महाराष्ट्र के विचारकों में दो परस्पर विरोधी धारणाएं मिलती हैं :-

1) एक वर्ग यह मानता है कि डॉ॰ आम्बेडकर के विचार मार्क्स के बहुत निकट है। बुद्ध-धम्म का जो भाष्य उपलब्ध है, उसके आधार पर वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि डॉ॰ आम्बेडकर ने बुद्ध और मार्क्स के विचारों में समन्वय डालकर एक नये विशुद्ध मानवतावादी साम्यवाद को मज़बूत किया है। मार्क्स के विचारों में स्थित हिंसा के मार्ग को अस्वीकार कर उन्होंने मार्क्स को भारतीय मानस के अनुकूल ढ़ालने का सफल प्रयास किया है। प्रसिद्ध विचारक श्री राव साहेब कसबे इस विचारधारा के प्रतिपादक रहे हैं, इनके अतिरिक्त बाबूराव बागुल, नामदेव ढसाल, नारायण सुर्वे, प्रभाकर वैद्य, ताराचन्द खांडेकर इस धारणा के अन्तर्गत आते हैं। इन्होंने

---

1. बी.आर. आम्बेडकर, रानाड़े, गाँधी एण्ड जिन्ना, पेज सं.- 7 (1943).
2. मार्क्स एण्ड एंगेल्स, ऑन रिलीज़न, पेज सं.- 42-43 (1957).

अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थों[1] में इसी विचारधारा को दृढ़ किया है।

2) दूसरे वर्ग के अन्तर्गत श्री राजा ढाले तथा अन्य कार्यकर्ताओं के भाषण और लेख इस बात को प्रमाणित करना चाहते हैं कि डॉ॰ आम्बेडकर मार्क्सवाद के विरोधक थे। साम्यवादी व्यवस्था की उन्होंने कटु आलोचना की है। किसी और की विचारधारा के साथ उनके विचारों की तुलना ही गलत है। डॉ॰ आम्बेडकर के विचारों को इस वर्ग के विद्वान 'आम्बेडकरवाद' कहकर उसकी स्वतंत्र प्रतिष्ठापना करना चाहते हैं। उनके अपने स्वतंत्र राजनैतिक विचार थे। वे मूलतः सामाजिक पुनर्रचना के पक्षधर थे। उन पर मार्क्स को थोपना, उनके विचारों के प्रति अन्याय करना है।

'मार्क्सवाद और आम्बेडकरवाद' ये दो जीवन्त और सशक्त राजनीतिक संकल्पनाएं हैं। इन दोनों की तात्विक चर्चा करने के बजाय इनमें समानताएं ढूंढकर क्रियाशील होने की आज आवश्यकता है।[2] इस देश के भविष्य को अब श्रमिक, दलित, पीड़ित और व्यथित ही आकार दे सकते हैं। इनकी आकांक्षाओं के दबाव से ही भारतीय राजनीति को दिशा मिलने वाली है। श्रमिकों और दलितों के संघटन की आज अत्यधिक आवश्यकता है। इन दोनों में ऐसा संघटन न हो ऐसा प्रयत्न पूँजीवादी तथा अन्य शक्तियाँ करेंगी। ऐसे समय आम्बेडकर और मार्क्स के विचारों के आधार पर इन दोनों को इकट्ठे लाना समय का तकाज़ा है। समता, बन्धुता, मैत्री और जनतांत्रिक मूल्यों को बनाये रखने के लिये इस तीसरी शक्ति का उभरना जरूरी है। रिपब्लिकन पार्टी को जन्म देकर डॉ॰ आम्बेडकर यही करना चाह रहे थे। वे वामपंथी थे या नहीं यह प्रश्न भिन्न है, परन्तु वे इस समाज-व्यवस्था की पुनर्रचना अवश्य करना चाह रहे थे। एक ऐसे समाज की रचना करना चाह रहे थे जहाँ शोषण नहीं होगा, जहाँ सामाजिक विषमता नहीं होगी, वास्तव में यही मार्क्सवाद है, यही आम्बेडकरवाद है और यही बुद्ध-धम्म है।

---

1. श्री राव साहब कसबे का ग्रन्थ, 'आम्बेडकर आणि मार्क्स', श्री प्रभाकर वैद्य का ग्रन्थ, 'आम्बेडकर आणि त्याचा धम्म', श्री ताराचन्द्र खाण्डेकर का ग्रन्थ 'आम्बेडकर तत्व ज्ञानः प्रचीती आणि आविष्कार', बाबूराव बागुल का ग्रन्थ 'आम्बेडकर भारत' हैं।
2. राव साहब कसबे, आम्बेडकर आणि मार्क्सवाद, पेज सं.- 22.

डॉ॰ लोहिया एक ऐसे समाजवादी विचारक थे जिन्होंने समाजवाद को 'समानता तथा सम्पन्नता' का प्रतीक बतलाया। उन्होंने समाजवाद को शोषणमुक्त समाज की ऐसी संकल्पना माना, जिसमें दासता, अमानवीयता, असहिष्णुता, चरित्रहीनता, भेदात्मकता आदि दोषों से मानव-जीवन को बचाया जा सकता है। डॉ॰ लोहिया समाजवाद के माध्यम से जीवन के विभिन्न पक्षों में आमूल-चूल परिवर्तन लाना चाहते थे। उन्होंने विभिन्न प्रकार के विभेदों पर प्रहार किया और वर्ण-भेद, जाति-भेद, अस्पृश्यता, रंग-भेद, नारी-भेद, निर्धनता, साम्प्रदायिकता, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक असमानता के रहते हुये, समाजवादी समाज की स्थापना सम्भव नहीं मानी। वे 'गरीबी हटाना'' समाजवाद का मूलाधार मानते थे। इसके लिये उन्होंने विश्व के अमीर देशों को आगाह किया था कि, 'हथियार संग्रह' में धन खर्च करने के बजाय उन्हें उस धन को गरीबों के कल्याण हेतु लगाना चाहिये। डॉ॰ लोहिया ने समाजवादी व्यवस्था के लिये विकेन्द्रीकरण की नीति को अत्यन्त आवश्यक माना क्योंकि शक्ति चाहे वह समग्र दृष्टि की हो, व्यक्ति और समाज की हो, जब तक नीचे से उर्ध्वगामी होकर नहीं प्रवाहित होगी तब तक वास्तविक समाजवाद की कोई झलक नहीं मिलेगी। उन्होंने गरीबों के लिये भूमि-वितरण की वकालत की और एक ऐसी भू-सेना तैयार करने पर जोर दिया जो भूमि-सुधार का कार्य करेगी। उन्होंने सभी को उत्पादन के समान वितरण की आवश्यकता पर जोर दिया ताकि व्यक्ति निराश व कुंठित न हो सके। अमीर व गरीब की खाईं को पाटने, अमीरों के खर्च पर सीमा लगाने तथा गरीबों का बोनस बढ़ाने की बात करके डॉ॰ लोहिया ने यथार्थ में समाजवाद को स्थापित करने का प्रयास किया। वे लघु एवं कुटीर उद्योगों के माध्यम से गरीबों के दुखों को दूर करना चाहते थे और भारी मशीनों के लगाये जाने के विरोधी थे। वे पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके पूर्ण समाजवाद लाना चाहते थे क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था ने गरीबों के दुख-दर्दों को बढ़ाने का कार्य किया है जो कि अमानवीय है।

डॉ॰ आम्बेडकर भी एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था के समर्थक थे, जिसमें शोषण, अन्याय और निर्धनता न हो तथा समतावादी समाज की स्थापना हो। उन्होंने निर्धनता या गरीबी पर कड़ा प्रहार किया क्योंकि गरीबी से ही अनेक

बीमारियाँ और अनैतिक विचार उठते हैं। निर्धनता और समाजवाद दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं, इसलिये ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते। गरीबी हटाने के लिये उन्होंने गरीबों को अतिरिक्त भूमि आवंटित करने एवं भूमि वितरण का समर्थन किया। डॉ॰ आम्बेडकर ने समाजवादी समाज की स्थापना के लिये राजनैतिक शक्ति को उन लोगों के हाँथ में होना आवश्यक माना जो समाजवादी आदर्शों के अनुसार कार्य करते हों। इसका निर्णय कि समाजवादी आदर्शों के अनुकूल कौन है एवं कौन नहीं है, लोकतंत्र में केवल जनमत करेगा अतः जनता को शिक्षित एवं जागरूक होना आवश्यक है। यद्यपि डॉ॰ आम्बेडकर ने आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना की है क्योंकि इसने निर्धनता का अन्त न करके निर्धनों की संख्या में वृद्धि की है परन्तु उन्होंने इसके लिये पूरी तरह से पूँजीवादी व्यवस्था को ही उत्तरदायी नहीं माना है। वास्तव में डॉ॰ आम्बेडकर धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी थे तथा आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी थे इसीलिये वे समाजवाद एवं पूँजीवाद की मिश्रित व्यवस्था के पक्ष में दिखाई देते हैं। उन्होंने पूँजीपतियों को समाप्त करने का समर्थन नहीं किया। डॉ॰ आम्बेडकर ने राज्य-समाजवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया जिसके अन्तर्गत उन्होंने प्रबल केन्द्रीयकरण करने, औद्योगीकरण एवं शहरीकरण को बढ़ावा देने, बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण करने, व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त न करके उस पर प्रतिबन्ध लगाने पर ज़ोर दिया।

डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर ने जिस समाजवादी व्यवस्था का समर्थन किया है, वास्तव में वह एक ऐसे समाज की स्थापना पर ज़ोर देती है, जो गरीब, पिछड़े, शोषित एवं कमज़ोर वर्ग के लोगों के उत्थान एवं उनके कल्याण के लिये जरूरी है। असमानता एवं शोषण चाहे जहाँ और जैसा हो उसकी निन्दा की जानी चाहिये। गरीबी एक ऐसा अभिशाप है जिसे जड़ से खत्म किये बिना कोई भी समाज आगे नहीं बढ़ सकता। समाज में ज़हर की तरह व्याप्त अनेक प्रकार के विभेदों को जब तक पूरी तरह से नष्ट नहीं किया जायेगा तब तक यथार्थ में समाजवाद सम्भव नहीं हो सकता। गरीबी हटाने के लिये गरीबों में भूमि वितरण एवं उत्पादन का समान वितरण का रास्ता एक अच्छा कदम साबित हो सकता है,

यदि इसे ठीक ढंग से क्रियान्वित किया जाय। केन्द्रीकरण की तुलना में विकेन्द्रीकरण की नीति को अपनाकर समाजवादी समाज को स्थापित करने में अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है। लघु उद्योगों एवं बड़े उद्योगों में संतुलन स्थापित करके जनता का कल्याण सम्भव है। डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर दोनों का लक्ष्य समाजवादी समाज के अन्तर्गत गरीबों के कष्टों को दूर करना था परन्तु उनके द्वारा बताये गये रास्ते कुछ भिन्न प्रकार के रहे हैं :-

1) डॉ॰ लोहिया समाजवादी व्यवस्था में 'विकेन्द्रीकरण' के हामी थे जबकि डॉ॰ आम्बेडकर प्रबल केन्द्रीकरण के समर्थक थे।

2) डॉ॰ लोहिया लघु और कुटीर उद्योगों के माध्यम से गरीबी हटाकर समाजवाद लाना चाहते थे जबकि डॉ॰ आम्बेडकर औद्योगीकरण व शहरीकरण के द्वारा गरीबों को रोज़गार देने व उन्हें दासता से मुक्ति की बात सोचते थे।

3) डॉ॰ लोहिया पूँजीवादी व्यवस्था को असमानता का प्रतीक एवं गरीबों का दुश्मन मानकर पूरी तरह से खत्म करके पूर्ण समाजवाद लाना चाहते थे। जबकि डॉ॰ आम्बेडकर समाजवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था के मिश्रित रूप को स्वीकार करते थे।

वास्तव में डॉ॰ आम्बेडकर की तुलना में डॉ॰ लोहिया एक प्रखर एवं यथार्थ समाजवादी विचारक के रूप में दिखायी देते हैं। उन्होंने समाजवाद से सम्बन्धित अपने जो विचार दिये हैं यदि उन्हें यथार्थ धरातल पर लागू किया जाये तो जिस समाजवादी समाज की स्थापना होगी उसमें निश्चित रूप से गरीबों एवं दबे-कुचले लोगों के कष्ट दूर होंगे।

डॉ॰ लोहिया ने कार्लमार्क्स की साम्यवादी विचारधारा को स्वीकार नहीं किया क्योंकि यह वर्गों को समाप्त करके वर्णों को जन्म देती है, जिससे राष्ट्र पतनोन्मुख होने लगता है। उन्होंने मार्क्सवाद को मानव इतिहास का अन्तिम सत्य नहीं माना। मानव इतिहास हमेशा स्थानीयता, तात्कालिक अनिवार्यता, इतिहास की गतिशीलता और भौगोलिक स्थितियों व परिस्थितियों से प्रभावित होता है, इसलिये इन सभी दृष्टियों से मार्क्सवाद अप्रासंगिक हो गया है। उन्होंने व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिये मार्क्स के हिंसक मार्ग की तुलना में महात्मा गाँधी के

'अहिंसा' और 'सिविल नाफरमानी' को समाजवादी आन्दोलन से जोड़कर उसमें नया प्राण फूँकने का काम किया। मार्क्सवाद को उन्होंने भारत एवं एशिया के संदर्भ में अप्रासंगिक घोषित किया क्योंकि जिस स्थान विशेष (यूरोप) के संदर्भ में इस विचारधारा को निरूपित किया गया था, वहाँ जैसी परिस्थितियाँ भारत तथा अन्य एशियाई देशों में नहीं हैं। यहाँ के मज़दूरों की समस्याएं व परिस्थितियाँ यूरोप के मज़दूरों से भिन्न प्रकृति की हैं। अतः मार्क्स की यह घोषणा कि विश्व के मजदूरों एक हो जाओ कैसे सफल हो सकती है ? डॉ॰ लोहिया ने साम्यवाद एवं पूँजीवाद में गुणात्मक अन्तर नहीं माना। वे परम्परावादी समाजवाद से भिन्न एक नवीन व उससे अच्छी व्यवस्था के समर्थक थे। इस नवीन व्यवस्था में व्यक्ति भी महत्वपूर्ण है और समाज भी। प्रकृति भी महत्वपूर्ण है और पुरुष भी। पदार्थ भी महत्वपूर्ण है और आत्मा भी। समाजवाद के इस समग्र रूप में जिसमें द्वन्द न होकर 'संतुलन' पर जोर दिया गया है, समाजवाद को नई दिशा मिलती है।

डॉ॰ लोहिया ने परम्परागत समाजवाद की असफलता का मुख्य कारण यह माना कि इन समाजवादियों ने बाह्य परिवर्तनों पर अधिक बल दिया और मनुष्य के मन की चिन्ता नहीं की है जबकि समाज को बदलने के लिये समाज में रहने वाले मनुष्यों के मन को बदलना जरूरी है। बाह्य समानता तो मनुष्य के मन के बदलने के साथ अपने आप आ जायेगी। अतः डॉ॰ लोहिया बाह्य क्रान्तिकारिता की बात न करके मनुष्य के मन की क्रान्तिकारिता पर अधिक बल देते हैं और यहीं पर डॉ॰ लोहिया मार्क्स व अन्य समाजवादियों से भिन्न हो जाते हैं। ये समाजवादी मनुष्य के मन की बात नहीं करते और आर्थिक समानता आने एवं राष्ट्रीयकरण कर लेने पर समाजवाद स्थापित हो जाने की बात करते हैं। इस प्रकार 'समता की आकांक्षा' और 'सम्पन्नता की तुष्टि' को जब तक सही अर्थों में नहीं समझा जायेगा तब तक समाजवाद को सफलता नहीं मिलेगी। डॉ॰ लोहिया ने 'न्यूनतम एवं अधिकतम' के अनुपात भेद को कम करने पर बल दिया और 'भ्रष्ट संस्थाओं की समाप्ति' और नई मर्यादापूर्ण संस्थाओं के गठन की आवश्यकता बतलायी। वास्तव में जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता, वर्ण-व्यवस्था, नारी-भेद, रंग-भेद, साम्प्रदायिकता को कायम रखने वाले रूढ़िवादी संस्कार को तोड़ने के लिये एक ऐसा क्रान्तिकारी संगठन बनाये जाने

की आवश्यकता है जो कुछ उलट-पुलट करे तथा जड़ व जंग लगी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक संस्थाओं को तोड़े और नये समाज की स्थापना के लिये नई संस्था का गठन करे।

डॉ॰ आम्बेडकर मार्क्स से अंशतः प्रभावित होने के बावजूद साम्यवाद की ओर नहीं झुके वरन उन्होंने साम्यवाद को विश्व के लिये खतरा माना। वे मांर्क्स की भाँति निजी सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त नहीं करना चाहते थे तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं निजी सम्पत्ति का अधिकार दोनों के समर्थक थे। वे मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त और सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति द्वारा राज्य प्राप्त करने के सिद्धान्त से सहमत नहीं थे, वरन उनका विश्वास शान्तिपूर्ण ढंग से तथा कानून के सहारे राज्य में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाने पर था जिससे निर्धन वर्ग के लोगों को आगे बढ़ने के लिये समान और विशेष अवसर मिल सके। डॉ॰ आम्बेडकर ने कार्लमार्क्स के मार्ग की तुलना में बुद्ध के मार्ग को ठीक माना। क्योंकि बुद्ध का मार्ग शान्ति का मार्ग है, जबकि कार्लमार्क्स क्रान्ति वह भी रक्तपूर्ण क्रान्ति की बात करते हैं। हिंसक राज्य में परिवर्तन होना अवश्यंभावी है। अतः उसमें स्थायित्व नहीं होता। जबकि अहिंसात्मक राज्य स्थिर होता है।

कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी विचारधारा समय और परिस्थितियों की देन थी। इस विचारधारा को आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व यूरोप में प्रतिपादित किया गया था। इसकी सार्थकता आज की तुलना में पहले अधिक थी। वर्तमान में इस विचारधारा का विकृत रूप भी सामने आने लगा है जिसके कारण विश्व पटल से ज्यादातर देशों द्वारा इसे अस्वीकार किया जाने लगा है। डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर ने साम्यवादी विचारधारा को स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसमें कमियाँ हैं। यह विचारधारा हिंसा पर आधारित है और बल प्रयोग द्वारा राज्य पर कब्ज़ा करने की बात करती है। डॉ॰ लोहिया ने हिंसा की तुलना में गाँधी जी के अहिंसा और सिविल नाफरमानी को उचित माना। उन्होंने साम्यवाद एवं पूँजीवाद में कोई गुणात्मक अन्तर न मानकर यह बताने की कोशिश की कि ये दोनों व्यवस्थाएं गरीबों का कल्याण करने में असफल सिद्ध हुई हैं। वास्तव में डॉ॰ लोहिया ने मन की क्रान्तिकारिता की बात करके बहुत ही अच्छी दृष्टि का परिचय दिया है। जब तक

जमी हुई विकृत व्यवस्था के प्रति लोगों के मन में यह विचार नहीं आयेगा कि इसमें परिवर्तन किया जाय, तब तक बाहरी क्रान्तिकारिता असफल रहेगी। अतः आवश्यकता यह है कि, उच्च वर्ग के लोग यह स्वयं स्वीकार करें कि शोषण, अत्याचार, गरीबी, असमानता, विभेद आदि पतन के कारण हैं। यदि पूरे समाज का उत्थान करना है तो समाज से इन विकृतियों को समाप्त करना ही होगा और तब बाह्य क्रान्तिकारिता अपने आप आयेगी तथा जमी हुई व्यवस्था में परिवर्तन निश्चित रूप से होगा।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भी मार्क्स के हिंसा के मार्ग को स्वीकार न करके तथा शान्ति एवं विधि के मार्ग को स्वीकार करके समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया है। परन्तु उन्होंने निजी सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन करके पूँजीवादी व्यवस्था के प्रोत्साहन की बात कही है, जिसका समर्थन समाजवादी दृष्टिकोण से कतई नहीं किया जा सकता क्योंकि समाजवाद समता की बात करता है जबकि निजी सम्पत्ति का अधिकार देने से एक ओर सम्पत्तिशाली वर्ग तो दूसरी ओर गरीबों की संख्या में वृद्धि होगी। इससे समाजवाद के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अतः समाजवादी समाज की स्थापना के लिये पूँजीपतियों की अतिरिक्त सम्पत्ति को गरीबों की गरीबी दूर करने में लगाया जाना वांछनीय है।

4.3. क्षेत्रीयतावाद एवं अलगाववाद-

आज़ादी मिलने के काफी समय पहले से भारत में अलगाववादी एवं क्षेत्रीयतावादी शक्तियाँ अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर दी थी। सन् 1940 ई॰ में मुस्लिम लीग ने लाहौर प्रस्ताव में सर्वप्रथम आधिकारिक रूप से भारत से पृथक 'पाकिस्तान' नामक राज्य की मांग मुसलमानों के लिये की थी। तब इस मांग की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया गया था। धीरे-धीरे यह मांग जिद में बदल गयी, और यह नासूर बढ़ता ही गया तथा अचानक बढ़कर अगस्त 1947 ई॰ में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप में या भारत के विभाजन के रूप में ज्वालामुखी बनकर फूट गया।

भारत के विभाजन के पूर्व गाँधी जी कह चुके थे कि उनके जीते जी ऐसा नहीं हो सकेगा।[1] 15 अप्रैल 1946 ई॰ को मौलाना आज़ाद ने कहा था कि, "मुझे

---

1. देश का विभाजन होने से पहले उनके शरीर का विभाजन होगा।

कहना पड़ता है कि पाकिस्तान नाम ही मेरी तबीयत के खिलाफ है। इसका आशय है कि दुनिया का कुछ हिस्सा पाक है और बाकी नापाक। इस तरह दुनिया को पाक और नापाक हिस्सों में बाँटना गैर-इस्लामी है, इस्लाम की रूह को गलत करना है।" आश्चर्य, यह कि गाँधी जी की नहीं चली। उनको अपने को बदलने के लिये विवश होना पड़ा। हालांकि उन्होंने एक प्रस्ताव रखकर बहुत होशियारी से डूबती हुई नौका को बचा ले जाने का प्रयास जरूर किया था। प्रस्ताव था कि अंग्रेजों के जाने के बाद बँटवारा हिन्दुस्तान और उसमें से बना पाकिस्तान स्वयं कर लेंगे परन्तु यह प्रस्ताव समर्थन के अभाव में गिर गया।

डॉ॰ लोहिया दूरदर्शी थे और भारत में विद्यमान अलगाववादी शक्तियों के सख्त खिलाफ थे उन्होंने पाया कि गाँधी जी का हृदय छलनी हो रहा है। डॉ॰ लोहिया का मानना था कि यदि एक साल आज़ादी के लिये और इन्तजार किया जाता तो हिन्दुस्तान का एक हिस्सा पाकिस्तान नहीं बनता। इसके लिये अंग्रेजों को दोष दिया जाता है कि वे 'फूट डालो और राज करो' की नीति को अपनाते हुये हिन्दुस्तान को ऐसी स्थिति में डालकर आज़ाद करना चाहते थे कि, जिससे वह आज़ाद होने के कुछ समय बाद ही उनकी ही शरण में जाने की सोचने लगे। यही कारण था कि उसने 652 देशी रियासतों को भी पाकिस्तान बनाने के बाद आज़ाद कर दिया। परन्तु ऐसा हुआ नहीं और जो हुआ, ऐसा इससे पहले इतिहास में कभी नहीं हुआ कि, आज़ादी के बाद खून का दरिया बहने लगा हो और करोड़ों-करोड़ घर-बार वंचित हो गये हों।

इतिहास गवाह है कि, भारत के दो टुकड़े करने के लिये जिन्ना, गाँधी जी, पं0 नेहरू और सरदार पटेल प्रमुख रूप से जिम्मेदार हैं और अब्दुल कलाम आज़ाद, जय प्रकाश नारायण, डॉ॰ लोहिया आदि नहीं। यद्यपि यह अन्तिम निष्कर्ष नहीं है, परन्तु अन्तिम निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायक अवश्य होगा। डॉ॰ लोहिया का निष्कर्ष था कि-

1) देश के बड़े-बूढ़े नेता थक चुके थे और गद्दी का हल्का सा स्वार्थ उनमें हिलोरे ले रहा था, ये लोग जैसे-तैसे गद्दी के फेर में थे।
2) इसके लिये डर बहुत काम कर गया। दंगे के डर से लोगों ने बँटवारा मान

लिया। दंगे के डर ने मेरे दिमाग को भी कमज़ोर कर दिया था। मेरे जैसे लोग भी डर गये थे। फिर भी हमने बँटवारे का विरोध किया था।

3) जिस डर से मैंने जमकर विरोध नहीं किया था, मुझे क्या पता था कि बाद में उग्र, रौद्र और भयानक रूप से इसका नतीज़ा सामने आयेगा।

4) बँटवारे के बाद दोनों ओर के छः लाख आदमी मरे और डेढ़ करोड़ लोग बिना घर-बार के हो गये।

5) वर्किंग कमेटी में दो सोशलिस्ट थे- जय प्रकाश नारायण और मैं (डॉ॰ लोहिया)।

6) केवल चार आदमियों ने बँटवारे के प्रस्ताव के खिलाफ अपनी राय ज़ाहिर की थी- उनमें दोनों सोशलिस्ट (जय प्रकाश, डॉ॰ लोहिया), श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन और गाँधी जी ने।

7) उस प्रस्ताव पर मौलाना आज़ाद चुप रहे। हो सकता है, उनके दिल पर गहरा सदमा रहा हो।

8) मुझे दुःख है कि मेरे जैसा आदमी उस प्रस्ताव पर सक्रिय विरोध नहीं कर सका। मैंने अपनी जिन्दगी में जो कुछ किया है, उसमें अफसोस के मौके शायद ही आये हों।

9) नेहरू और पटेल बँटवारे के प्रस्ताव को मानकर आये थे, तब गाँधी जी ने कहा था, "तुम लोगों ने महान गल्ती की है। लेकिन कांग्रेस को तुम्हारी इज़्ज़त रखनी है।"[1]

यहाँ यह बात उचित नहीं लगती कि नेहरू और पटेल की इज़्ज़त देश से अधिक महत्वपूर्ण है। गाँधी जी को पुरज़ोर विरोध करना चाहिये था। ऐसा अनेक बार हुआ भी था कि किसी बात को स्वीकार करने के बाद पीछे हटना पड़ा था- जैसे कैबिनेट मिशन। "दोनों पक्ष (भारत व पाकिस्तान) ने योजना मान ली।... कैबिनेट मिशन के लोग खुशी से फूले नहीं समाये।"[2] क्योंकि सिख+स्थान, दलित+स्थान, पाकिस्तान आदि का भय दूर हो सका और भारत की अखण्डता भी बनी रही।

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 219 (1969).
2. लियोनार्ड मोनली, द लास्ट डेज ऑफ द ब्रिटिश राज, पेज सं.- 13.

डॉ॰ लोहिया का यह मत है कि, "हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के मुसलमान अन्य देशों के लोगों की अपेक्षा, चाहे ये मुसलमान ही हों हिन्दुओं के ज्यादा नज़दीक हैं।"[1] करीब-करीब यही हालत हिन्दुओं की है। क्यों न हो, हिन्दुस्तान यानी भारत के न केवल हिन्दू-मुसलमान एक है अपितु ईसाई, पारसी आदि भी हिन्दुस्तान को अपना वतन समझते हैं। डॉ॰ लोहिया का कहना है कि हिन्दू और मुसलमान एक राष्ट्र में ढल गये थे, परन्तु ब्रिटिश राज ने हस्तक्षेप किया दोनों की एकता खण्डित करने का। समूचे हिन्दुस्तान को खण्ड-खण्ड में बाँटने का उनका स्वप्न था और उन्हें उसमें सफलता भी मिली। तमाम राष्ट्रीय सोच को लकवा मार गया। भूल गये दिल्ली से दौलताबाद की दर्द भरी कहानी को। मज़हब की मांग थी कि मुसलमानों को पाकिस्तान मिले। वे यह भूल गये थे कि पाकिस्तान हिन्दुस्तान में से बन रहा है, आज नहीं तो कल वह एक होगा ही। जब भारत हिन्दुस्तान हो सकता है तब पाकिस्तान हिन्दुस्तान क्यों नहीं हो सकता ?

डॉ॰ लोहिया ने अपने को भी अपराधी मानते हुये तत्कालीन विभाजन की रूपरेखा पर प्रकाश डाला है। उनका यह कहना अत्यन्त सार्थक है कि-

"अगर आबादी या उसके हिस्से के धर्म से ही राज्य के चरित्र का पता चलता हो तो हिन्दुस्तान उतना ही मुस्लिम राज्य है, जितना पाकिस्तान उसी तरह पाकिस्तान भी हिन्दू राज्य है।"[2]

अपने आपको कायम रखने के लिये पाकिस्तान को वह क्रम जारी रखना होगा जिससे उसका जन्म हुआ है। उसे हिन्दुओं और मुसलमानों की दूरी को अधिक से अधिक बढाते जाना होगा, ताकि वे दो राष्ट्र बन जायें और फिर एक न हो सकें। पाकिस्तान के स्थायी शासक हो सकता है कि, इस जरूरत को जानबूझ कर पूरा करने वाले बनें और हिन्दुस्तान के लोग सिर्फ यह आशा कर सकते हैं। वे इसके भयानक नतीज़ों को समझेंगे और इस क्रम को उलट देंगे।[3] जो लोग यह सोच रहे थे कि, पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के बन जाने से मुसलमान और हिन्दू सुख

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 221 (1969).
2. वही, पेज सं.- 223.
3. वही, पेज सं.- 222.

शान्ति से रह सकेंगे और समृद्धि की ओर बढ़ सकेंगे, उनकी सोच के चीथड़े-चीथड़े हो गये। डॉ॰ लोहिया का यह निष्कर्ष साक्षी बन सका कि- हिन्दुस्तान के लोग दो राज्यों में बँट गये हैं लेकिन राष्ट्र के रूप में उनकी दशा अस्थिर है। वे न एक राष्ट्र हैं न दो। शायद दो की अपेक्षा एक अधिक हैं।[1]

यथार्थतः यह खण्ड-खण्ड सोच और अपने को अलग बनाये रखने का प्रयत्न दोनों देशों की समृद्धि के लिये शापग्रस्त होगा। दो जर्मनी हुये, दो वियतनाम, दो कोरिया आदि उदाहरण इतिहास में मिल जायेंगे और साथ में दोनों के एक होने के कारण भी। हिन्दुस्तान व पाकिस्तान जब एक होने का दृढ़ मानस बना लेंगे तब ढेर सारी समस्याएं स्वतः खत्म हो जायेंगी। यह देश अविभाजित भारत है उसमें अनेक धर्म, अनेक जातियाँ और अनेक संस्कृतियाँ एक साथ प्रेम-भाव से रहती आयी हैं और आगे भी रह सकती हैं। भारत में अल्पसंख्यक, विशेष रूप से मुसलमान, एकदम महफ़ूज़ हैं। डॉ॰ लोहिया वृहत्तर भारत को देखना चाहते थे उनकी विश्व सरकार की संकल्पना थी जो बहुत कुछ यथार्थवादी थी।

आज़ादी से पहले के 50 वर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन की जो गल्तियाँ थीं, जिनमें साम्प्रदायिक या प्रान्तीय प्रतिनिधित्व, शक्ति का विभाजन आदि मुख्य थे, उनसे हिन्दुओं और मुसलमानों में गहरी खाईं उभरती चली गयी। मज़हब ने सियासत में टाँग अड़ाना शुरू कर दिया और कमज़ोर इच्छा शक्ति, ज़ोखिम उठाने से गुरेज़ रखने वालों और व्यवहारिक अक्षमता से घिरे लोगों ने उसे सहारा दिया। डॉ॰ लोहिया ने इस प्रक्रिया पर कई प्रश्न उठाये जो इस प्रकर है :-

1) विभाजन द्वारा जिस समस्या का समाधान करना था, वह आज तक यथावत है। विभाजन यह मानकर स्वीकारा गया था कि बिना खून-खराबे के एक देश दो देशों में बँट जायेगा, पर ऐसा नहीं हुआ। उल्टे भयावह रक्तपात हुआ- छः लाख के करीब लोग मारे गये और दो करोड़ से अधिक लोग घर से बेघर हुये।

2) जो भारतीय पाकिस्तान में रह रहे हैं और जो मुसलमान हिन्दुस्तान में रह

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 222 (1969).

रहे हैं यदि इनमें से किसी एक की सुरक्षा को खतरा हुआ तो दोनों के बीच बर्बरतापूर्ण कार्यों का सिलसिला शुरू हो जायेगा। यह खतरा राज्य के अस्तित्व के लिये भी हो सकता है।

3) यह कहना अनुचित है कि हिन्दुस्तान में जो होता है या पाकिस्तान में जो घट रहा है उससे एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं है। यथार्थतः उनका एक दूसरे से गहरा सम्बन्ध है और हमेशा रहेगा।

4) अल्पसंख्यकों का दमन मानवीय सभ्यता पर एक आक्रमण है। फलतः हिन्दुस्तान अपने अल्पसंख्यकों के साथ उचित व्यवहार करे, यह देखना पाकिस्तान का काम भी है और पाकिस्तान अल्पसंख्यकों के साथ ऐसा ही करे, यह देखना हिन्दुस्तान का भी काम है। यदि दोनों में से कोई भी अल्पसंख्यकों पर अन्याय और अत्याचार करे तो दूसरे को भी हक ज़ाता है कि वह अपने यहाँ के अल्पसंख्यकों पर अन्याय व अत्याचार करे या उस देश पर पलटन भेजे और दोषी राज्य को सबक सिखलाये। यह युद्ध उतना ही न्यायपूर्ण होगा, जितना कोई युद्ध अपने अस्तित्व की रक्षार्थ हो सकता है।

5) हत्या, लूट, आगज़नी के अतिरिक्त भी ऐसे तरीके हो सकते हैं, जिनसे अल्पसंख्यकों में असुरक्षा की भावना बनी रहे, जैसे सामाजिक तथा आर्थिक बहिष्कार या शोषण।

6) पाकिस्तान जिस आधार पर बना, उसके तहत और अपना वजूद बनाये रखने के लिये उसको यह जरूरी हो जाता है कि वह वो सब कुछ निडर होकर करे, जिससे अल्पसंख्यक हिन्दू अपना बोरिया-बिस्तर लेकर वहाँ से कूच कर दें और ऐसा ही वह कर भी रहा है। इससे कट्टरपंथी मुसलमान खुश हैं पर यह है गलत। डॉ॰ लोहिया का सुझाव है कि हिन्दुस्तान पाकिस्तान पर दबाव बनाकर यह प्रयत्न बराबर करता रहे कि पाकिस्तान अल्पसंख्यक हिन्दुओं के प्रति अमानवीय रुख में परिवर्तन लाने के लिये बाध्य हो सके।

7) पाकिस्तान का हिन्दुस्तान से एकमात्र झगड़ा अब सिर्फ कश्मीर को लेकर है जिसे बहुत पहले संयुक्त राष्ट्र संघ ने माना था कि कश्मीर हिन्दुस्तान का

हिस्सा है और पाकिस्तान ने बेशर्मी से उस पर हमला किया है।

8) पाकिस्तान की निगाह कश्मीर पर लगी रहने का प्रमुख कारण यही है कि कश्मीर में मुसलमानों की संख्या अधिक है और यदि वह हिन्दुस्तान में बना रहता है तो पाकिस्तान के बनाने का आधार ही झुठला जाता है और दूसरे उसे डर है कि इस तरफ कहीं वहाँ के मुसलमान सारे हिन्दुस्तानियों को एक राष्ट्र बनाने में कन्धे से कन्धा मिलाकर मदद नहीं करने लगे जैसा वे कर भी रहे हैं।

9) यह सोचना गलत होगा कि कभी रूस अटलांटिक गुट हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान के झगड़े का प्रयोग अपने हित में करना छोड़ सकेगा।

10) सम्मानपूर्ण एकता दोनों देशो में कायम हो इसके लिये हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की विदेश नीति को एक दूसरे के निकट आने की बहुत आवश्यकता है।

डॉ. लोहिया का कहना है कि, अचानक एक राष्ट्र को दो राष्ट्रों में अधिक समय तक विभाजित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ वह अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि नहीं है, जिसके आधार पर अलग-अलग उनका अस्तित्व बना रह सके। पाकिस्तान कदाचित् इस इच्छा शक्ति को अपने मन में संजोये रखे कि उसे मिश्र से लेकर इण्डोनेशिया तक फैले मुस्लिम राष्ट्र का निर्माण करना है, तो यह ऐसी कल्पना होगी, जिसकी कोई बुनियाद नहीं होगी। आस्ट्रिया तभी तक जर्मनी से अलग रह सका, जब तक पूर्वी यूरोप में उसका बहुत बड़ा साम्राज्य था। इसके अतिरिक्त पाकिस्तान की यह रणनीति हमेशा गलत साबित होती रही है कि, हिन्दुस्तान में मुसलमानों के साथ ज़ुर्म हो रहे हैं। हिन्दुस्तान में मुसलमान हिन्दुओं से कम सुरक्षित नहीं हैं जबकि पाकिस्तान हिन्दुस्तान में आतंकवादियों का प्रवेश कराकर हिन्दुस्तान की धर्म-निरपेक्ष नींव हिलाने की जी-तोड़ परन्तु असफल कोशिश करता रहा है और अब भी कर रहा है। वह यह समझता है कि, उसका यह कदम पाकिस्तानियों को, उन पाकिस्तानियों को जो कट्टरपंथी है, अधिक समय तक खुश रख सकेगा और अपने को बचाये रखने में कामयाब हो सकेगा, गलत है। दरअसल उसका यह साँप-छछूँदर का खेल उसके गले का फंदा बनता जा रहा है और वह वहाँ

की जनता को धोखे में बनाये रखने की नाकामयाब कोशिश कर रहा है।

डॉ॰ लोहिया भारत और पाकिस्तान के महासंघ की बात करते हैं और सन् 1948 ई॰ में दिये अपने वक्तव्य की ओर ध्यान ले जाने की चर्चा करते हुये कहते हैं कि, "तीन में से किसी एक या तीनों तरीकों से पाकिस्तान का अन्त हो जायेगा :-

1) बातचीत के माध्यम से संघीय एकता के द्वारा,

2) हिन्दुस्तान में समाजवादी क्रान्ति के द्वारा और

3) पाकिस्तान के हमला करने पर हिन्दुस्तान का ज़वाबी हमला।"[1]

डॉ॰ लोहिया कहते हैं कि, अगर कुछ हिन्दुओं की समझ में और कोई दलील न आये तो उन्हें जल्दी से जल्दी यह बात समझा देनी चाहिये कि पाकिस्तान के विरोध के लिये जरूरी है कि, वे मुसलमानों के दोस्त हों। उसी तरह जो मुसलमानों का विरोधी है, वह जरूरी तौर पर पाकिस्तान का दोस्त या एजेन्ट है। मुसलमानों का विरोध करना और उन्हें दबाना दो राष्ट्रों के सिद्धान्त का समर्थन करना है और इसलिये, पाकिस्तान को इससे ताकत मिलती है।... पाकिस्तान के साथ हिन्दुस्तान की नीति दलगत राजनीति से ऊपर होनी चाहिये।[2]

अन्ततः डॉ॰ लोहिया महासंघ का सुझाव देते हैं। उससे आगे की स्थिति यह है कि, हिन्दू-मुसलमान ही क्यों सभी धर्म वाले यहाँ हिन्दुस्तान में रहें, सारे भेदभाव भुलाकर और जागरूक नागरिक होने का फर्ज बखूबी निभाते हुये। पाकिस्तान काल्पनिक विभाजन जैसा है। जब यह विभाजन समाप्त हो जायेगा तब सब शान्ति व सुख से रहेंगे, साथ-साथ और उन्नत तथा महान हिन्दुस्तान की सम्पूर्ण स्वरूप संरचना को आत्मसात कर सकेंगे, सोल्लास और सानन्द। देश मज़हब से नहीं उसके रहने वालों के निर्मल मन, त्याग की भावना, सत्कर्म तथा सह-अस्तित्व की सहज आस्था से बनता है और वही सच्चे भारत का अखण्डित स्वरूप है।

भारत की आज़ादी के काफी पहले से ही क्षेत्रीयतावादी एवं अलगाववादी शक्तियाँ हावी हो गयी थीं और इन शक्तियों के कारण ही भारत का विभाजन हिन्दुस्तान व पाकिस्तान के रूप में सन् 1947 ई॰ में सामने आया।

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 236 (1969).
2. वही, पेज सं.- 238.

संघ राज्य भारत में जिस रूप में आने वाला था, उसके प्रति डॉ. आम्बेडकर का विरोध था। उनके अनुसार संघ राज्य का संविधान अधूरा होकर उसमें कुछ स्वाभाविक दोष थे। रियासतों को दिया गया फ़िज़ूल प्रतिनिधित्व, संघ राज्य विधान मण्डल के अप्रत्यक्ष चुनाव, महाराज्यपाल को दिये गये विशेष अधिकार, सार्वभौमत्व के आरक्षित अधिकार और लश्कर तथा ख़ज़ाने पर कब्ज़ा प्राप्त करने की असंभाव्यता आदि दोष थे। पुणे की अर्थशास्त्र और राजनीति की शिक्षा देने वाली '**गोखले अर्थशास्त्र संस्था**' में भाषण देते हुये डॉ. आम्बेडकर ने कहा था कि, संघ राज्य की स्थापना से देश स्वतंत्रता की ओर तो बढ़ेगा ही नहीं, अपितु वह उसके मार्ग में स्थायी रुकावट बन जायेगा। इसका कारण बताते हुये उन्होंने कहा था कि, संघ राज्य संविधान के अनुसार ब्रिटिश भारत के लोग कोई भी निर्णय लेने के लिये स्वतंत्र होंगे, पर भारतीय रियासतों में जिम्मेदार पद्धति का राज्य न होने से वहाँ से केन्द्रीय विधि-मण्डल में ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों द्वारा रियासतों के माध्यम से चुने गये पिट्ठू ही आ जायेंगे। उन्होंने कहा कि, नियोजित संघ राज्य में सबको नागरिक के समान अधिकार नहीं होंगे, क्योंकि रियासतों के लोग रियासतों के ही नागरिक रहेंगे। उन पर संघ राज्य का सीधा अधिकार नहीं चलेगा। यद्यपि हम संघ राज्य योजना के खिलाफ नहीं है, फिर भी एक संघ राज्य की परिकल्पना हमें अधिक पसंद है, क्योंकि एक संघ राज्य पद्धति राष्ट्रवाद के साथ सुसंगत है। वह भारत के लिये सम्प्रति उचित ही बात है, तथापि नियोजित संघ राज्य भारत की एकता के लिये विशेष सहायक नहीं होगा क्योंकि एक तो सभी रियासतों को उस संघ राज्य में शामिल होना संभव नहीं और दूसरे यह कि सुरक्षा विभाग और विदेश विभाग को संघ राज्य के अधीन न रखे जाने से यह संघ राज्य सच्चे अर्थ से जिम्मेदार पद्धति का राज्य नहीं होगा।[1]

डॉ. आम्बेडकर ने अक्टूबर, 1939 ई. में दिल्ली से एक जाहिर निवेदन प्रकाशित किया जिसके अन्त में उन्होंने कहा था कि, 'अगर मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग ने मुसलमानों के दिल में घर कर लिया है, तो भारत के अखण्ड

---

1. 29 जनवरी, 1939 को डॉ. आम्बेडकर का दिया गया भाषण।

रहने की आशा नहीं रखनी चाहिये। अगर दलित वर्ग ने अन्य धर्म को स्वीकार कर लिया, तो उसका पूरा दायित्व कांग्रेस पर ही पड़ेगा।'[1]

कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन अप्रैल, 1940 ई॰ में रामगढ़ में आयोजित किया गया। इसमें देश की मनुष्य शक्ति को भंग करने वाले प्रयासों का विरोध किया गया। उसी समय मुस्लिम लीग ने लाहौर के अपने अधिवेशन में वायव्य सीमा प्रान्त और पूर्व की ओर जिन विभागों में मुसलमान बहुसंख्यक हैं, वहाँ अलग राज्य स्थापित करने की मांग की। सन् 1940 ई॰ के अन्त में डॉ॰ आम्बेडकर का प्रमुख ग्रन्थ '**थाट्स ऑन पाकिस्तान**' (पाकिस्तान सम्बन्धी विचार) प्रकाशित हुआ। भारत के हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो टुकड़े करो और हिन्दुओं के उत्कर्ष का, शान्ति का और उद्धार का मार्ग खोलो, यह थी उस ग्रन्थ की रट। ग्रन्थ हिन्दुओं को ही परिलक्षित कर रखा गया था।[2]

डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा था कि, मेरे विचार में पाकिस्तान की मांग मात्र राजनीतिक असंयतता का परिणाम नहीं है, जो समय के साथ समाप्त हो जाये। मैंने जिस रूप में स्थिति का अध्ययन किया है, उससे मुझे ऐसा लगता है कि जिस प्रकार शारीरिक वृद्धि के साथ-साथ चरित्र की वृद्धि होती है, उसी प्रकार मुस्लिम जनता के राजनीतिक विकास के साथ-साथ पाकिस्तान की मांग प्रबल हो रही है। स्वाभाविक अस्तित्व की प्रक्रिया में यह मांग बनी रहेगी या नहीं, यह तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अस्तित्व के लिये संघर्ष में सक्रिय होने वाली ताकतों पर ही निर्भर करेगा। मैं पाकिस्तान से विचलित नहीं हूँ, न ही मुझे इस बारे में रोष है और न ही मेरा यह विश्वास है कि, यह मांग उपमाओं या रूपक अलंकारों से ध्वस्त हो जायेगी।... मेरे विचार में जिस योजना के पीछे भारत के 90 प्रतिशत मुसलमानों की भावनाएं जुड़ी हों, भले ही उनका उत्कट समर्थन हो, तो भी उसे एकदम अस्वीकार कर देना न तो बुद्धिमानी होगी और न ही सम्भव होगा। मुझे इस बारे में कोई संदेह नहीं कि पाकिस्तान के मामले में, उसके सभी पहलुओं का अध्ययन

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 311 (1981).
2. वही, पेज सं.- 317.

करना, उसकी परिणतियों को समझना और उसके बारे में कोई बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेना ही उचित होगा।[1]

उनका विचार था कि ब्रिटिश राजनीतिक शक्ति के सत्ता हस्तान्तरण पर वह अपनी सहमति देने से पहले इस बात पर अवश्य गौर करेगी कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच किसी न किसी प्रकार का समझौता हो जाये। ब्रिटेन आक्रामक हिन्दुओं को सत्ता सौंपने और उसे अपना उत्तराधिकारी बनाकर अल्पसंख्यकों से अपनी इच्छानुसार निपटने की सहमति नहीं दे सकता। यदि वह ऐसा करता है तो इससे एक और साम्राज्यवाद का उदय हो जायेगा। अतः हिन्दू समाज को पाकिस्तान के बारे में गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना पड़ेगा।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार यदि पाकिस्तान की योजना पर विचार किया जाता है तो कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक होगा। हिन्दुओं और मुसलमानों को इस विषय पर आपस में बात-चीत करके कोई उचित हल निकालना चाहिये। इसमें वे किसी की सहायता नहीं ले सकते। निश्चय ही वे यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि ब्रिटेन उनके लिये इसे तय करे। ब्रिटिश साम्राज्य के दृष्टिकोण से, जब तक वे सब साम्राज्य के तहत रहने में संतुष्ट हैं, उसमें ब्रिटिश सरकार को कोई दिलचस्पी नहीं है कि, भारत पाकिस्तान अविभाज्य रहे या दो भागों- पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में अथवा बीस भाषीय भागों में, जैसी कि कांग्रेस की योजना है, बँट जाये। ऐसे क्षेत्रीय विभाजन में ब्रिटेन प्रभावित नहीं होगा, इसलिये ब्रिटेन को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है।[2]

यदि हिन्दू यह आशा करते हैं कि ब्रिटेन पाकिस्तान की मांग को दबाने के लिये बल प्रयोग करेगा, तो यह असम्भव है। बल प्रयोग करना उपचार नहीं है। डॉ॰ आम्बेडकर ने इस सम्बन्ध में बर्क के विचारों का समर्थन किया कि, 'मात्र बल प्रयोग अस्थायी है। यह एक हद तक ही कारगर हो सकता है और पुनः दमन की आवश्यकता को नहीं टाल सकता।' इसीलिये डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि पाकिस्तान के मामले में दबाव को विकल्प मानना अकल्पनीय ही है। मुसलमान यह महसूस

---

1. बाबा साहब डॉ॰ आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय खण्ड-15, पेज सं॰- 18.
2. वही, पेज सं॰- 20.

करते हैं कि, सारे भारत के लिये एक केन्द्रीय सरकार पर सहमति व्यक्त करना, मुस्लिम प्रान्तीय सरकारों को एक हिन्दू केन्द्रीय सरकार के हाँथों में सौंप देना होगा और इसलिये यह आवश्यक है कि मुस्लिम प्रान्तों के सृजन से जो भी लाभ मिले वह उन्हें केन्द्र के हिन्दू सरकार के अधीन करके गवाँ न दे। अतः मुसलमान हिन्दू केन्द्रीय सरकार की निरंकुशता से बचने का यही रास्ता मानते हैं कि भारत में क़ोई एक केन्द्रीय सरकार नहीं हो।[1]

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार क्या केवल मुसलमान ही केन्द्रीय सरकार की स्थापना के विरोधी हैं। इस बारे में हिन्दुओं के क्या विचार हैं ? हिन्दुओं में राजनीतिक चर्चा यह है कि, भारत में स्थिर राजनीतिक ढाँचे के रूप में केन्द्रीय सरकार का होना आवश्यक है। इस चर्चा में दो तथ्य हैं :-

पहला- हिन्दू प्रान्तों के बीच सांस्कृतिक विद्वेष की भावना। हिन्दू प्रान्त किसी भी लिहाज़ से एक सुखद परिवार नहीं हैं। यह नहीं माना जा सकता कि, सिखों में बंगालियों अथवा राजपूतों या मद्रासियों के प्रति कोमलता का कोई भाव है। बंगाली केवल स्वयं को प्रेम करता है। मद्रासी अपनी ही दुनिया से बँधे हैं। जहाँ तक मराठों का सवाल है, कौन नहीं जानता कि मराठे, जिन्होंने भारत में मुस्लिम साम्राज्य का विध्वंस किया था, भारत के शेष हिन्दुओं के लिये ही आपदा बन गये थे, जिन्हें उन्होंने सताया और लगभग एक शताब्दी तक अपने अधिकार में रखा। हिन्दू प्रान्तों की कोई साझा परम्परा और हित भी नहीं है, जो उन्हें एक सूत्र में बाँधे रखे। दूसरी ओर भाषा, जाति और अतीत से जुड़े विवाद प्रभावी ताकते हैं, जो उन्हें विभाजित किये हुये है। यह सच है कि, हिन्दू संगठित होते जा रहे हैं और उनमें एक संयुक्त राष्ट्र बनाने की भावना बलवती हो रही है। परन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिये कि वे अभी एक राष्ट्र बने नहीं है। वे एक राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में हैं, और इससे पहले यह प्रक्रिया पूर्ण हो, एक ऐसा आघात भी लग सकता है, जो एक शताब्दी के तमाम किये धरे पर ही पानी फेर दे।

---

1. मोहम्मद इकबाल द्वारा तृतीय गोलमेज सम्मेलन 1932 में व्यक्त किये गये विचार।

दूसरा- तथ्य वित्तीय पक्ष है। इस बात की पूरी जानकारी नहीं है कि, केन्द्र सरकार को चलाने के लिये भारतीयों को क्या कीमत चुकानी पड़ती है और हर प्रान्त को औसतन कितना बोझ उठाना पड़ता है। इस सम्बन्ध में डॉ॰ आम्बेडकर ने तत्कालीन महत्वपूर्ण आँकड़े अलग-अलग प्रान्तों के प्रस्तुत किये और उन्होंने कहा कि, ऐसा समय आ सकता है जब भारत में केन्द्रीय सरकार के प्रबल समर्थक हिन्दुओं के लिये भी वित्तीय मामले देश की भक्तिपूर्ण भावनाओं पर भारी पड़ जायें। यह भी सम्भव है कि, किसी दिन साम्प्रदायिक लिहाज़ से मुसलमान और वित्तीय लिहाज़ से हिन्दू केन्द्रीय सरकार को समाप्त करने के लिये हाँथ मिला लें।

डॉ॰ आम्बेडकर का मानना है कि, यदि ऐसा होना है, तो नये संविधान की नींव रखे जाने से पहले ही हो जाना बेहतर होगा। यदि ऐसा उस नये संविधान की नींव पड़ने के बाद होता है, जिसमें एक केन्द्रीय सरकार के गठन की अवधारणा हो तो, यह बहुत भयानक होगा। इसके दुष्परिणामस्वरूप जहाँ भारत की एकता बनाये रखना असम्भव होगा, वहीं हिन्दू एकता की सुरक्षा भी असम्भव हो जायेगी।[1] इसी कारण भारतीयों को योजना बनाने और नींव रखने से पहले, जिसके लिये संवैधानिक ढाँचा खड़ा किया जाना है, यह देखना होगा कि क्या यह ढाँचा अस्थायी है अथवा स्थायी। एक बार जब अकेली नींव पर जिस पर एक से दूसरे छोर तक शहतीरे बिछाई गयी हों, पूरा ढाँचा रुक गया और उसके बाद, यदि उसका एक भी हिंस्सा शेष से अलग किया गया तो, वह कलंको को निकाल फेंकेगा और उससे सारा भवन हीं डगमगा जायेगा और ढाँचे के उन भागों में भी जिन्हें समग्र रूप में एक रखा जाना परिकल्पित था, दरारें पड़ जायेंगी और अगर उन्हें जोड़ने वाला सीमेन्ट भी घटिया स्तर का हो, तो दरारें पड़ने का खतरा उतना ही ज्यादा होगा। भारत के मामले में ऐसी ही स्थिति है। यदि समग्र भारत को एक मानकर नया ढाँचा तैयार किया जाये, या उसके आधार पर ढाँचा खड़ा किया जाये, और उसके बाद भारत-पाकिस्तान की पृथकता के सवाल के तहत हिन्दुओं को झुकना पड़े और उस अलगाव को प्रभावी करने के लिये उसमें बदलाव जरूरी हुआ तो उससे सारा ढाँचा ही चरमराकर गिर

---

1. बाबा साहब डॉ॰ आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्गमय खण्ड- 15, पेज सं.- 25.

सकता है। मुस्लिम बहुल प्रान्तों की आकांक्षा बड़ी आसानी से हिन्दू बहुल प्रान्तों को भी प्रभावित कर सकती है और मुस्लिम प्रान्तों द्वारा पैदा की गयी अलगाववादी भावना से चारो ओर विघटन हो सकता है।

डॉ॰ आम्बेडकर का ग्रन्थ 'थाट्स ऑन पाकिस्तान' हिन्दुओं को बताता है कि, मुसलमानों को अब एक नई जिन्दगी की जाग आ गयी है। अपना स्वयं राष्ट्र प्रस्थापित करने का ही उन्होंने फैसला किया है। अब तक वे अपने को एक अल्पसंख्यक ज़मात मानते थे, किन्तु उन्हें अपनी भवितव्यता मालूम हो गयी। जिस मुसलमान को एक नई भवितव्यता का मोहक सौन्दर्य नहीं दिखेगा, वह मूर्ख ही होगा। पाकिस्तान उनकी नई भवितव्यता, नये दृश्य पूरे प्रकाश से प्रज्ज्वलित उनकी भावुकता का सूरज है।

पाकिस्तान का तात्विक और गम्भीर समर्थन कर मुसलमानों के लिये उनकी विशाल और उज्ज्वल भवितव्यता का स्पष्ट वर्णन करके और हिन्दुओं के सम्मुख वाद-विवाद निर्माण कर ग्रन्थ हिन्दुओं को निर्मलता से बताता है कि, जिसके लिये लड़ा जाये ऐसा अखण्ड भारत, यह ध्येय है क्या ? सख्ती कोई उपाय नहीं है। अगर आपने पाकिस्तान को स्वीकृति दी, तो उसकी वजह से एक दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण करने और गुलामी में गिरने के डर से आप मुक्त होंगे। आप ग्रीक, तुर्किस्तान और अन्य देशों के इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन से कुछ लाभान्वित होकर भारत के हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो हिस्से करें। भरे सागर में जहाज़ डूब न जाये इसलिये जरूरत से ज्यादा माल को फेंक दिया जाना चाहिये। इसका ख्याल रखना चाहिये कि जहाज का पानी के ऊपर का भाग तली पर न जाये। प्रबल केन्द्रीय सरकार चाहिये तो भारत के टुकड़े कीजिये, अन्यथा परिणाम भयंकर होंगे। जबरदस्ती निर्माण की गयी एकता उन्नति के लिये रुकावट डालेगी। भारत की स्वतंत्रता की सभी आशाएं व्यर्थ जायेंगी। अगर कोई यह आग्रह करेगा कि भारत अखण्ड रहे, तो उसको पूरी निराशा ही मिलेगी। अखण्ड हिन्दुस्तान कभी भी एक संघ नहीं होगा।[1] तीसरा पक्ष जो ब्रिटिश सत्ता है वह यह समस्या हल नहीं कर

---

1. बी॰आर॰ आम्बेडकर, थाट्स ऑन पाकिस्तान।

सकेगी। द्वैत मत का ज़हर फिर से उमड़ आयेगा। भारत एक रक्तपक्षी रोगकारी राज्य होगा। जीते जी ही मृतवत पड़ा रहेगा और भारत यदि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच विभाजित होगा, तो जो दृश्य दिखायी देगा उससे तुलना करें। विभाजन की वजह से हर एक को अपनी भवितव्यता प्राप्त करने के लिये, अपनी इच्छा के अनुसार उपनिवेशी राज्य या सम्पूर्ण स्वातंत्र्य इनमें से कुछ भी प्राप्त करने के लिये जो मार्ग स्वीकार करना हो, वह खुला रहेगा।

डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर में 'क्षेत्रीयतावाद एवं अलगाववाद' विषय पर स्पष्ट मतभेद थे। डॉ॰ लोहिया प्रारम्भ से ही भारत में विद्यमान क्षेत्रीयतावादी एवं अलगाववादी शक्तियों के सख्त खिलाफ थे क्योंकि इन विघटनकारी तत्वों से देश की एकता तथा अखण्डता को खतरा पहुंचता है और साम्प्रदायिकता नामक ज़हर फैलता है जिससे सम्प्रदाय के आधार पर देश में हिंसा उत्पन्न होती है व देश का अनेक खण्डों में विभाजन होता है। यह स्थिति किसी भी दृष्टि से मानवता के हित में नहीं हो सकती है। डॉ॰ लोहिया एक ऐसे विचारक थे जो वृहत्तर भारत के साथ-साथ विश्व राज्य एवं विश्व सरकार का सपना देखते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में विश्व के सभी मानव एक हैं जिन्हें आपस में एक दूसरे का सम्मान करते हुये एकता के साथ रहना चाहिये। यद्यपि डॉ॰ लोहिया हिन्दुस्तान के दो टुकड़े भारत एवं पाकिस्तान के रूप में विभाजन के लिये मुख्य रूप से जिन्ना, गाँधी जी, पं॰नेहरू तथा सरदार पटेल को जिम्मेदार मानते थे तथापि वह इसके लिये स्वयं को भी जिम्मेदार मानते थे क्योंकि उनके जैसा असक्षम व्यक्ति विभाजन का विरोध करके भी सफल नहीं हो सका। इसमें ब्रिटिश शासन का बहुत बड़ा हाँथ था जिसने हिन्दू और मुसलमानों की एकता को खण्डित करने का काम किया। उसकी योजना पूरे भारत को खण्ड-खण्ड में बाँटने की थी जिसमें उसे कुछ हद तक सफलता भी मिली।

आज हिन्दुस्तान के लोग दो राज्यों में बँट जाने के बावजूद भी उनकी दशा अस्थिर है। यह खण्ड-खण्ड सोच दोनों देशों की समृद्धि के लिये हानिकारक सिद्ध हुई है। डॉ॰ लोहिया की मनःस्थिति अविभाजित हिन्दुस्तान की थी उसमें अनेक धर्म, अनेक जाति और अनेक संस्कृतियाँ एक साथ प्रेमभाव से रहती आयी हैं और आगे भी रह सकती हैं। अचानक एक राष्ट्र को दो राष्ट्रों में अधिक समय तक

विभाजित नहीं रखा जा सकता है, क्योंकि वहाँ वह अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि नहीं है, जिसके आधार पर अलग-अलग उनका अस्तित्व बना रह सके। अतः डॉ॰ लोहिया ने भारत और पाकिस्तान के महासंघ की बात की है और उन्होंने तीन में से किसी एक या तीनों उपायों द्वारा पाकिस्तान के अन्त की बात कही है- प्रथम संघीय एकता द्वारा, दूसरे समाजवादी क्रान्ति द्वारा और तीसरे हिन्दुस्तान के जवाबी हमला द्वारा। डॉ॰ लोहिया ने विभाजन की नींव को कमज़ोर करने हेतु हिन्दुओं को मुसलमानों के समीप एवं मुसलमानों को हिन्दुओं के समीप आने तथा भाईचारा स्थापित करने की बात कही जो कि साम्प्रदायिकता के नाश हेतु एक अच्छा रास्ता हैं।

डॉ॰ आम्बेडकर ने 'पाकिस्तान' के रूप में 'हिन्दुस्तान' से विभाजित राज्य का समर्थन किया और इस तरह उन्होंने उस समय अलगाववादी शक्तियों के समर्थन में बात कही। अविभाज्य भारत के लिये संघ राज्य जिस रूप में आने वाला था डॉ॰ आम्बेडकर उसके खिलाफ थे क्योंकि उनकी दृष्टि में संघ राज्य का संविधान अधूरा होकर उसमें कुछ स्वाभाविक दोष थे। इसमें रियासतों को दिया गया प्रतिनिधित्व फिज़ूल था, संघ राज्य विधान मण्डल के अप्रत्यक्ष चुनाव, महाराज्यपाल को दिये गये विशेषाधिकार जैसे दोष थे। संघराज्य की स्थापना से देश स्वतंत्रता की ओर तो बढ़ेगा ही नहीं वरन उसके मार्ग में स्थायी रुकावट बन जायेगा। डॉ॰ आम्बेडकर ने यह स्वीकार किया था कि, हिन्दुस्तान का विभाजन अनिवार्य हो गया है क्योंकि मुसलमानों में पाकिस्तान राज्य के प्रति भावनात्मक लगाव गहराई से जम चुका है, जिसे न तो दबाया जा सकता है और न ही इसे टाला जा सकता है। यद्यपि डॉ॰ आम्बेडकर 'भारत विभाजन' के मुद्दे में ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप के खिलाफ थे, उनकी दृष्टि में यह मामला हिन्दू-मुसलमानों को ही आपस में हल करना चाहिये। उन्होंने 'सांस्कृतिक विद्वेष' की भावना की दृष्टि से तथा 'वित्तीय भार' की दृष्टि से भारत के विभाजन को आवश्यक माना क्योंकि यदि समग्र भारत को एक मानकर एक राष्ट्र का निर्माण किया गया तथा बाद में भारत पाकिस्तान की पृथकता के सवाल के अन्तर्गत हिन्दुओं को झुकना पड़ा तो उससे सारा ढाँचा ही चरमराकर गिर सकता है। अतः बेहतर होगा कि इससे पहले ही विभाजन कर दिया जाय। डॉ॰ आम्बेडकर की दृष्टि में भरे सागर में जहाज़ डूब जाये, इसलिये ज़रूरत से ज्यादा

माल फेंक दिया जाना ही अच्छा होता है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि प्रबल केन्द्रीय सरकार चाहिये तो भारत के टुकड़े कीजिये अन्यथा परिणाम भयंकर होंगे। अखण्ड हिन्दुस्तान कभी भी एक संघ नहीं होगा।

निःसंदेह हम क्षेत्रीयतावादी एवं अलगाववादी शक्तियों का समर्थन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि, ऐसा करने पर अन्य दूसरी समस्यायें- साम्प्रदायिकता, देश का विघटन, राजनीतिक अस्थिरता, हिंसा, लूट, आगज़नी, तोड़-फोड़ आदि उठ खड़ी होंगी और किसी राज्य की एकता तथा अखण्डता कायम नहीं रह पायेगी। इतना ही नहीं ऐसी स्थिति में सम्बन्धित राज्य के पड़ोसी देशों व विश्व की अन्य ताकतों द्वारा अपना प्रभाव जमाने तथा वहाँ हस्तक्षेप करके अपना अधिकार ज़माने का खतरा भी पैदा हो सकता है। साम्प्रदायिकता एक ऐसा ज़हर है जो पूरे देश में फैलेगा और देश को खण्ड-खण्ड करने की कोशिश की जायेगी। अतः डॉ॰ लोहिया द्वारा इस प्रकार की विघटनकारी शक्तियों के खिलाफ आन्दोलन छेड़ देना ठीक ही है। उनके द्वारा हिन्दू-मुसलमान भाईचारे की बात करना देश की एकता को स्थापित करने में एक महत्वपूर्ण कदम साबित हो सकता है। परन्तु डॉ॰ लोहिया की यह कल्पना कि भविष्य में हिन्दुस्तान व पाकिस्तान एक हो जायेंगे। वर्तमान में एवं आगे आने वाले समय में व्यावहारिक स्तर पर साकार होती नहीं प्रतीत होती है। उनकी विश्व सरकार की कल्पना एक अच्छी दृष्टि का परिचायक है और हम उसे सिद्धान्ततः स्वीकार भी कर सकते हैं परन्तु ऐसा व्यवहार में सफलतापूर्वक संचालित होना बहुत ही कठिन है। डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा क्षेत्रीयतावाद एवं अलगाववादी शक्तियों का समर्थन एक बड़ी समस्या के निदान हेतु किया गया प्रतीत होता है। उन्हें यह आशा थी कि, मुसलमानों के पृथक पाकिस्तान के बन जाने से 'साम्प्रदायिकता' का अन्त हो जायेगा और हिन्दू व मुसलमान सुख व शान्ति से रहेंगे। परन्तु यदि हम आज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो पाकिस्तान के अलग राज्य बन जाने के बावजूद भी समस्या का समाधान नहीं हो पाया है। साम्प्रदायिकता की आग आज भी जल रही है तथा सुख व शान्ति कोसों दूर है। डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा सांस्कृतिक विद्वेष व वित्तीय भार की दुहाई देकर भारत विभाजन का समर्थन करना ठीक नहीं है। क्योंकि एक राष्ट्र में अनेक संस्कृतियाँ साथ-साथ, एकता से रहती रही हैं, रह रही

हैं और रह सकती है। कोई भी राष्ट्र क्षेत्रफल की दृष्टि से चाहे कितना ही व्यापक क्यों न हो वहाँ की अर्थव्यवस्था का सुदृढ़ होना वहाँ के नियम कानूनों एवं प्रशासनिक तन्त्र के ठीक ढंग से कार्य करने पर निर्भर करता है। अतः इन दोनों दृष्टिकोणों से अलगाववादी शक्तियों का समर्थन नहीं किया जा सकता है। वास्तव में किसी भी राज्य की एकता व अखण्डता को सुनिश्चित करने के लिये हम अलगाववादी एवं क्षेत्रीयतावादी शक्तियों का समर्थन नहीं कर सकते हैं। इन्हें राजनीतिक समाज की बुराई के रूप में देखा जाना चाहिये।

4.4. संवैधानिक विचार -

डॉ० लोहिया ने संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों को माना है, इतना ही नहीं उनसे हटकर या उनमें कतिपय परिवर्तन एवं संशोधन के द्वारा मौलिक अधिकारों की सर्वथा नई व्याख्या भी उन्होंने की है। डॉ० लोहिया ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय के समक्ष वक्तव्य देते हुये कहा था कि, "अब हमारे सन् 1950 के संविधान के पहले के कानूनों पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। जाब्ता फौज़दारी और ताज़ीरात हिन्द दोनों अंग्रेजों के दिये कानून हैं। मैं आपसे निवेदन करूंगा कि पुराने कानूनों को भारतीय संविधान की कसौटी पर जाँचा जाय जिसको हम भारत के लोगों ने बनाया है।"[1] ताज़ीरात हिन्द की दफा 188 के तहत धारा 144 के अपराधियों को सज़ा होती थी। डॉ० लोहिया के अनुसार, ये दोनों धारायें संविधान की धारा 19 (मौलिक अधिकार- स्वतंत्रता का अधिकार) के सामने टिक नहीं सकतीं, हाँ उस पर रोक या पाबन्दी लगाई जा सकती है और संविधान की धारा 19 (1) व (2) में यह रोकथाम केवल लोक-व्यवस्था के हित में जायज़ करार की गयी है और ज़ब तक लोक-व्यवस्था साबित न हो जाय, तब तक उस पर रोक नहीं लगायी जा सकती। डॉ० लोहिया ने अदालत से कहा कि मेरा मामला आपके सामने यह नहीं है कि जिला-मजिस्ट्रेट ने जो हुक्म दिया उसे रद्द कीजिये, बल्कि यह है कि, दफा 144 और 188 को मैं गैर-कानूनी करार कराना चाहता हूँ।

---

1. 11 अगस्त, 1966 को डॉ० लोहिया का इलाहाबाद उच्च न्यायालय के समक्ष दिया गया वक्तव्य।

डॉ. लोहिया द्वारा स्वीकृत संविधान प्रदत्त एवं उससे हटकर मौलिक अधिक़ारों का विवेचन इस प्रकार है :-

बौद्धिक स्वातंत्र्य का अधिकार -

डॉ. लोहिया की दृष्टि में यह अधिकार 'तिलक' के जन्म-सिद्ध अधिकार के करीब का ही विचार है। अधिकार तो मनुष्य को जन्म के साथ ही मिल जाते हैं। संविधान अथवा अन्य व्यवस्था जन्म से प्राप्त मौलिक अधिकारों की व्याख्या सहित पुष्टि करती है। स्वतंत्रता ही जीने का मूल अधिकार है। स्वतंत्रता की अनुभूति बुद्धि संगत है। मानव चेतना में स्वतंत्रता सन्निहित है। चेतना का अर्थ सहज स्वतंत्रता से है। सहज़ स्वतंत्रता अपने मूल का सम्बोध प्राप्त करना चाहती है। डॉ. लोहिया उसे राजनीतिक प्रसंग में स्वराज्य कहते हैं।

राज्य से अधिकारों का जन्म नहीं होता। ये अधिकार जन्म से मनुष्य के साथ होते हैं। मनुष्य सम्पूर्ण है और उसकी सारी यात्रा उसी सम्पूर्ण को प्राप्त करने की है। वह सम्पूर्ण होने की पुष्टि चाहता है। इस दृष्टि से डॉ. लोहिया का कहना है कि :-

1) अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण स्वतंत्रता हो यानि पढ़ने, लिख़ने और प्रकाशन की स्वतंत्रता। यहाँ तक कि अश्लील साहित्य भी छपने, वितरण करने आदि में पूर्ण स्वतंत्र हो। सेंसर किसी स्तर पर नहीं हो। कला, संगीत आदि के प्रकाशन या प्रस्तुतीकरण में कोई व्यवधान नहीं हो। उनका सहज प्रकाशन हो सके।

2) मनुष्य की आवश्यकताएं पशुवत नहीं हैं। मनुष्य पशु से बहुत ऊँचे स्तर पर है। मनुष्य मात्र पेटू प्राणी नहीं है। वह कला, साहित्य संस्कृति आदि से जुड़ा हुआ है। वह मानसिक तृप्ति भी चाहता है और सृजन के लिये निर्बाध आज़ादी भी। यथार्थतः उसकी आज़ादी उसकी सृजन-संभावनाओं की सहज़ अभिव्यक्ति के लिये नितान्त अपरिहार्य है।

3) वाणी की स्वतंत्रता मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। लोकतंत्र में हर एक अपनी बात कह सके, हर एक अपनी बात पर स्वतंत्रतापूर्वक, बिना भयांतक के बहस कर सके, फलतः इस दृष्टि से उसके मार्ग में व्यवधान

सामने नहीं आये।

व्यक्तिगत जीवन की स्वतंत्रता-

डॉ. लोहिया किसी भी कीमत पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात नहीं चाहते थे। वह कहते थे कि, हर व्यक्ति को एक हद तक अपने जीवन को अपने मन के मुताबिक चलाने का अधिकार होना चाहिये।[1] फलतः उसकी व्यक्तिगत ज़िदगी में कोई दखल नहीं हो। जैसे-

1) शादी करे या न करे।
2) शादी किये बिना स्त्री-पुरुष साथ-साथ रहें।
3) जीवन में दलाली न हो।
4) सामाजिक संस्थाएं और राजनीतिक संस्थाएं/दल उसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करें।
5) डॉ. लोहिया की दृष्टि में वह पत्नी बेहतर नहीं है, जो सात-आठ बच्चों को जन्म देती है, अपेक्षाकृत उसके, जिसने एक भी बच्चा नहीं जन्म दिया हो और यदि उसने एक अवैध बच्चे को जन्म दे दिया है, तो भी वह आठ बच्चों की माँ से श्रेष्ठ है।
6) डॉ. लोहिया का कहना है कि दहेज व्यक्तिगत स्वतंत्रता की विरोधी सड़ी-गली और गर्हित परम्परा है।
7) डॉ. लोहिया व्यक्तिगत आज़ादी के संदर्भ में उच्छृंखलता को नापसन्द करते थे।

मृत्युदण्ड और आत्महत्या-

डॉ. लोहिया मृत्युदण्ड के विरुद्ध थे और आत्महत्या के पक्षधर थे। उनका कहना था कि सरकार या व्यवस्था अथवा न्यायपालिका जघन्य से जघन्य अपराध के लिये मृत्युदण्ड नहीं दे सकती। गाँधी जी भी यह नहीं चाहते थे, क्योंकि मृत्युदण्ड से न अपराध कम होते हैं, न किसी को सबक मिलता है, उलटे समाज में आतंक-भय फैलता है।

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, सात क्रान्तियाँ, पेज सं.- 29 (1966).

डॉ. लोहिया आत्मदण्ड की वकालत करते हुये कहते हैं कि, यह विचित्र बात है कि स्वेच्छा से दण्ड देने का व्यक्ति को हक न मिले और राज्य उसे वही दण्ड दे दें। व्यक्ति आत्म-पीड़न के दौर से गुज़रता हुआ जब यह अनुभव करे कि, वह अपराधी है, या उससे जघन्य अपराध बन पड़ा है, जिससे उसकी आत्मा बेचैन रहती है, उसका सुख-चैन जाता रहा है और वह अपने को जीवित बनाये रखने के पक्ष में नहीं है, तब वह आत्मदण्ड के अधिकार का प्रयोग कर सकता है।

शासन या व्यवस्था मनुष्य को फाँसी दे, यह मानवता के विरुद्ध है। अमानवीय है। डॉ. लोहिया का यह मत सर्वथा मान्य है कि, व्यक्ति को जघन्य अपराध के लिये मृत्युदण्ड न देकर आजन्म कारावास की सज़ा दे दें। क्योंकि गला घोंटकर मार डालना मानवता के लिये अशोभनीय कृत्य है।

सविनय अवज्ञा का अधिकार-

डॉ. लोहिया मानव को यह अधिकार देना चाहते हैं कि, वह अत्याचारी और अस्थायी कानून की सविनय अवज्ञा कर सके, जिसमें हिंसा के स्थान पर अहिंसा हो। सत्य का आग्रह और असत्य की अवज्ञा नैतिक सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाते हैं और समझ के दायरे को विस्तृत करते जाते हैं। गाँधी जी ने सविनय अवज्ञा का मार्ग दिखाकर अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे।

जो कानून और व्यवस्था व्यक्ति के विकास को कुंठित, दमित और प्रताड़ित करती है और अहम पर आधारित रहती है, वह मानवोचित नहीं है। तब क्या करें? उस अवस्था तथा निर्दय कानून से कैसे टक्कर लें ? अन्याय तथा अत्याचार का कैसे सामना करें ? क्या ईंट का जवाब पत्थर से दें ? क्या राज शक्ति के आगे व्यक्ति हथियार लेकर खड़ा हो सकता है ? होगा तो उसका हश्र क्या होगा, यह भी स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में सविनय अवज्ञा के अधिकार का प्रयोग करना सर्वाधिक उचित, न्यायसंगत, नैतिक और मानवीय है। इससे समाज का रुग्ण वातावरण स्वस्थ्य बनने की दिशा में आगे आता है। यह ऐसा मौलिक अधिकार है, जिससे घृणा कम होती है और जो दृष्टिकोण बदलने में सहायक होता है।

सरकारी नौकरी और आज़ादी-

समाजवाद में सरकारी नौकरियों का दायरा बढ़ता जाता है। सत्ता की पकड़ और उसका शिकंजा सरकारी कर्मचारियों पर काबिज़ होता जाता है, परिणाम यह

होता है कि, सरकारी मानसिकता कुंठित होती है, वर्ज़नाओं से घिरती है और अपनी आज़ादी से वंचित होती है। डॉ. लोहिया ऐसी व्यवस्था के खिलाफ थे। उनकी सोच थी कि, सरकारी कर्मचारी को राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने, संगठन बनाने प्रचार-कार्य से जुड़ने, अपने विचार प्रस्तुत करने का यदि अधिकार नहीं है, तो वह पराधीन और पंगु है।

सम्पत्ति का अधिकार-

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 19 (1)(च) भारत के प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति अर्जन, धारण तथा व्यय का अधिकार देता है। इस गारन्टी के साथ प्रत्येक व्यक्ति बगैर बैधिक प्राधिकार के सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता। परन्तु डॉ. लोहिया सम्पत्ति के अधिकार को व्यक्ति का मौलिक अधिकार मानने से इन्कार करते हैं। कारण यह है कि तदंतर्गत व्यक्ति को यह अधिकार इसलिये प्रदान किया गया है ताकि इससे उसकी रक्षा हो सके और यदि इससे रक्षक के स्थान पर भक्षक होने के प्रमाण मिलें तो इस अधिकार को सीमित भी किया जा सकता है। उनका मानना है कि :-

1) श्रम के शोषण पर आधारित समग्र उत्पादनों के साधनों का राष्ट्रीयकरण हो।
2) कानून कायदे ऐसे बनें कि सम्पत्ति व्यक्तिगत न बन पाये।
3) बाल्यावस्था से शिक्षा ऐसी मिले कि सम्पत्ति मोह न जन्मे।
4) व्यक्ति शोषक प्रवृत्ति का शिकार होकर समाज के आर्थिक ढाँचे को असंतुलित न कर दे, अतः सरकार की वाज़िब दखल तदंतर्गत जायज़ है। ऐसा करना वांछनीय ही नहीं अपितु आवश्यक भी है।

धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार-

डॉ. लोहिया एक अर्थ में नास्तिक थे क्योंकि, उनका विश्वास मन्दिर, मस्जिद, चर्च आदि में नहीं था और न ईश्वर, अल्लाह एवं गॉड में था। उनका सम्पूर्ण विश्वास मानव-कर्म में था। उन्हें इस बात से कतई परेशानी नहीं थी कि मनुष्य अपने लिये मुक्ति का मार्ग कौन सा चुनता है और क्यों। न उन्हें मन्दिर, मस्जिद, चर्च आदि में जाने वालों से कोई परहेज़ था। लेकिन उनकी दृष्टि इस बात से आगाह करने की

अवश्य थी कि, धार्मिक स्वतंत्रता राजनीति तथा समाजनीति में दखलंदाजी करके उनके विकास-मार्ग में अवरोधक न बन जाये जैसा कि होता रहा है, हो भी रहा है। धर्म से राज्य संचालित नहीं होने लगे। धर्म राजनीति को प्रभावित नहीं करे यह ध्यान देना ज़रूरी है, क्योंकि धार्मिक मुक्ति या मोक्ष सामाजिक और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को न केवल बाधित करता है, अपितु जीवन को कट्टरपंथी बनाने की दिशा में पहल कर धार्मिक पतन के कगार पर ला खड़ा करता है। इन्हीं कारणों से डॉ. लोहिया धर्म-निरपेक्षता के पक्षधर थे। धर्म की स्वतंत्रता का दखल वे राजनीति व समाजनीति में नहीं चाहते थे।

समता का अधिकार-

डॉ. लोहिया समतावादी समाज के स्वप्न को धरती पर चरितार्थ होते देखना चाहते थे। भेद रहित समाज ही उनकी दृष्टि में समतावादी समाज है। उन्होंने अपने मत के प्रतिपादन में समता के चार क्षेत्रों का उल्लेख किया है :-

1) **वैधानिक समता** अर्थात विधि के अन्तर्गत भेदभाव की गुंजाइश न हो।

2) **आर्थिक समता** से उनका आशय था- शोषण रहित समाज की स्थापना करना। शोषक तथा शोषित भाव कर्म से व्यक्ति व समाज को मुक्ति मिले।

3) **राजनीतिक समता** के तहत देश के सभी नागरिक भेदभाव रहित प्रदत्त स्वतंत्रताओं और मानवाधिकारों का बिना किसी व्यवधान के प्रयोग कर सकें।

4) **आध्यात्मिक समता** के मायने थे कि व्यक्ति में सहन-शक्ति का विकास हो और सुख-दुख, हारी-बीमारी, जीवन-मरण, लाभ-हानि, यश-अपयश आदि स्थितियों में अपना संतुलन बनाये रख सकें।

डॉ. लोहिया के ये विचार मात्र राष्ट्र तक सीमित नहीं थे बल्कि वे सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की बात सोचते थे और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर छोटे-बड़े शक्तिशाली, कम शक्तिशाली, विकासमान-विकसित आदि सभी राष्ट्रों/देशों पर समतावादी सिद्धान्त को अपनाकर नागरिक चरित्र में ढालने पर ज़ोर देते थे। उनकी कल्पना में विश्व एक समाज है। वे समूचे विश्व को समतामूलक समाज के अन्तर्गत देखना चाहते थे। निश्चित ही उनके मन में, 'वसुधैव कुटुम्बकम' का स्थायीभाव सक्रिय था।

श्रमिक और स्वाधीनता-

डॉ. लोहिया श्रमिक के प्रति बहुत गहरे में उतरकर समतावादी समाज के लक्ष्य को पाने की दृष्टि से विचार करते हुये इस नतीज़े पर पहुंचते हैं कि, अधिकार से कर्तव्य गतिशील होते हैं, उनमें उमंग बलवती होती है और कार्य करने की क्षमता बढ़ती है। बिना अधिकार के वे नहीं मानते कि कर्तव्य की भावना सक्रिय हो सकती है। कार्य से जुड़ने के लिये मनुष्य की चेतना के उदात्त होने पर वे बहुत ज़ोर देते हैं। वे कहते हैं कि, इसके लिये मानव को मात्र कार्य सम्पादित करने का अधिकार ही नहीं चाहिये अपितु उसे विश्राम करने की भी स्वतंत्रता चाहिये। साथ ही उसे शिक्षा तथा संगठन का विरोध करने का भी अधिकार चाहिये।

डॉ. लोहिया जीवट इन्सान थे, पराक्रमी योद्धा थे और अन्याय, अत्याचार और अमानवीय आचरण के प्रति जुझारू भी थे। सिद्धान्तों को कर्म में उतारना उनकी अंदरूनी मंशा रहती थी। मन, कर्म और वचन से वे एक बने रहने के लिये जागरूक निष्ठावान थे। वे मृत्युपर्यन्त मौलिक अधिकारों के लिये दुद्धुर्ष संघर्ष करते रहे।[1]

डॉ. आम्बेडकर ने भारतीय संविधान के निर्माण में अपना अमूल्य योगदान दिया। उनके संवैधानिक विचारों में जनकल्याण की भावना देखी जा सकती है। मंत्रिमण्डल मिशन (1946 ई.) की सिफारिश के आधार पर अविभाजित भारत की संविधान सभा के लिये जुलाई, 1946 ई. में चुनाव सम्पन्न हुआ। इसमें कुल 296 सदस्य थे जो प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा एकल संक्रमणीय मतदान के द्वारा चुने गये थे। डॉ. आम्बेडकर मुस्लिम लीग के समर्थन पर बंगाल से संविधान सभा के सदस्य चुने गये थे। संविधान सभा का अधिवेशन 9 दिसम्बर, 1946 ई. को डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ और 11 दिसम्बर, 1946 ई. को सर्वसम्मति से डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को संविधान सभा का स्थायी अध्यक्ष चुन लिया गया। 13 दिसम्बर को पं. जवाहरलाल नेहरू ने संविधान सभा में एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें स्वतंत्र, सार्वभौम, सत्ता प्राप्त, प्रजातंत्र- भारत के ध्येय की

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया' (2003).

घोषणा की गयी। डॉ. आम्बेडकर ने संविधान सभा के सामने अपना वैधानिक दृष्टिकोण पेश करने के लिये एक स्मरण-पत्र तैयार किया जो 'राज्य और अल्पसंख्यक (States and Minorites) के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें कहा गया था कि, दलितों को केवल उन क्षेत्रों में, जिनमें सीटें सुरक्षित हैं, पृथक चुनाव का अधिकार मिलना चाहिये, अन्य क्षेत्रों में वे संयुक्त चुनाव में शामिल होंगे। इसके अतिरिक्त नागरिकों के अधिकारों का विवेचन और किसी राजनीतिक व्यवस्था विशेष में सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचा कैसा हो, यह भी उसमें उल्लिखित था। डॉ. आम्बेडकर ने राज्य समाजवाद की रूपरेखा भी प्रस्तुत की और यह तर्क दिया कि समाजवाद को संविधान का अंग बनाया जाये ताकि सामान्य कानून से उसे सरलता से बदला न जा सके। यदि जनतंत्र को 'एक मनुष्य, एक मूल्य' के सिद्धान्त तक जीवित रखना है, तो संविधान को न केवल राजनीतिक ढाँचे का निर्धारण करना चाहिये, बल्कि आर्थिक ढाँचे का स्वरूप भी निर्धारित होना चाहिये।[1]

2 जुलाई, 1947 ई. को माउण्ट-बेटन योजना के अनुसार भारत के दो टुकड़े भारतीय संघ और पाकिस्तान के रूप में हुये। ब्रिटिश लोकसभा ने भारत की स्वतंत्रता का प्रस्ताव (एक्ट ऑफ इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स) 15 जुलाई 1947 ई. को स्वीकृत किया।[2] जिसके फलस्वरूप संविधान सभा पूर्ण सत्ता प्राप्त संगठन बन गयी परन्तु अब वह सिर्फ विभाजित भारत की रह गयी। देश के विभाजन के साथ ही बंगाल का विभाजन हो गया, जिसकी वज़ह से अनेक सदस्यों सहित डॉ. आम्बेडकर को भी संविधान सभा की सदस्यता खोनी पड़ी। इस समय संविधान सभा में डॉ. आम्बेडकर ने कांग्रेस के साथ रचनात्मक सहयोग प्रदर्शित किया जिससे भारत विभाजन के बाद संविधान सभा में उनके पुनः प्रवेश का मार्ग प्रशस्त हुआ। चूँकि डॉ. एम.आर. जयकर ने त्याग-पत्र दे दिया था, इसलिये बम्बई से उनकी सीट को भरने के लिये बम्बई लेजिस्लेटिव कांग्रेस पार्टी ने संविधान सभा के लिये डॉ. आम्बेडकर को चुना और इस प्रकार वह पुनः निर्वाचित हुये।

---

1. बी.आर. आम्बेडकर, स्टेट्स एण्ड माइनारिटीज, 1947.
2. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 375 (1981).

15 अगस्त, 1947 ई. को भारत स्वतंत्र हुआ और डॉ. आम्बेडकर, पं. नेहरू के मंत्रिमण्डल में देश के प्रथम कानून मंत्री बने।[1] 29 अगस्त, 1947 ई. को संविधान सभा ने संविधान का मसौदा (प्रारूप) तैयार करने के लिये जिस 7 सदस्यीय समिति की नियुक्ति की घोषणा की, डॉ. आम्बेडकर उसके अध्यक्ष बनाये गये। 7 सदस्यीय समिति में डॉ. आम्बेडकर (अध्यक्ष) के अतिरिक्त अन्य सदस्य एन. गोपालस्वामी अय्यर, सैय्यद मोहम्मद सइदुल्ला, अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर, के.एम. मुंशी, बी.एल. मित्तर तथा डी.पी. खेतान थे। बाद में मित्तर के स्थान पर एन. माधव राव तथा खेतान की मृत्यु से रिक्त हुये स्थान पर टी.टी. कृष्णामाचारी सदस्य मनोनीत हुये। यद्यपि संविधान की प्रारूप समिति में डॉ. आम्बेडकर के अतिरिक्त 6 सदस्य थे तथापि संविधान की रचना के दायित्व का निर्वाह मुख्य रूप से डॉ. आम्बेडकर ने ही किया। जैसा कि 5 नवम्बर, 1948 को टी.टी. कृष्णामाचारी ने संविधान सभा में अपने भाषण में कहा था कि, "यह सभागृह इस बात से परिचित है कि लेखन समिति के कुल सात सदस्यों में से एक ने त्याग-पत्र दे दिया। उसकी जगह भरी नहीं गयी। एक सदस्य की मृत्यु हो गयी, उसकी भी जगह खाली है। एक सदस्य अमेरिका गये उनका स्थान भी रिक्त है। चौथे सदस्य रियासत सम्बन्धी कार्य में उलझे हुये हैं, इस कारण उनकी सदस्यता नाम मात्र है। एक दो सदस्य दिल्ली से बहुत दूर हैं। उनकी तबियत बिगड़ जाने के कारण वे लेखन समिति की बैठकों में उपस्थित ही नहीं हो सके। अन्ततः हुआ यही कि संविधान की सारी जिम्मेदारी अकेले आम्बेडकर जी को ही संभालनी पड़ी। ऐसी स्थिति में उन्होंने जिस पद्धति और परिश्रम से काम किया उस कारण वे इस सभागृह के आदर के पात्र हैं। राष्ट्र उनका सदैव ऋणी रहेगा।"[2]

डॉ. आम्बेडकर ने 4 नवम्बर, 1948 ई. को संविधान के प्रारूप जिसमें 315 अनुच्छेद एवं आठ अनुसूचियाँ थीं, को संविधान सभा के समक्ष पेश किया।[3] उन्होंने कहा था कि-

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 395-397 (1981).
2. वही, पेज सं.- 411.
3. विजय कुमार पुजारी, डॉ. आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.- 166 (1988).

"विधान कितना ही अच्छा हो, यदि उसको व्यवहार में लाने वाले मनुष्य अच्छे न हों, तो विधान निश्चय ही बुरा साबित होगा। उल्टे इसके अच्छे मनुष्यों के हाँथों में बुरा विधान भी अच्छा साबित होना संभवनीय है। भारत के लोग और उनके पक्ष कैसा बर्ताव करेंगे, यह कौन कह सकेगा ?"[1]

"यदि हम लोकतंत्र की स्थापना करना चाहते हैं, तो हमें अपने सामाजिक और आर्थिक ध्येय वैध मार्ग से साध्य करने चाहिये, अन्य हिंसात्मक मार्ग से नहीं। इस देश की राजनीति में जितनी भक्ति और विभूति पूजा है, उतनी अन्य किसी भी देश में नहीं है। धर्म में भक्ति मार्ग आत्मा की मुक्ति का मार्ग होगा, परन्तु राजनीति में भक्ति तथा विभूति पूजा अधोगति का और अन्त में अधिनायकतंत्रवाद का मार्ग है, इसमें संदेह नहीं।"[2]

"जिस विधान में हमने 'जनता के लिये, जनता का और जनता द्वारा' राज्य तत्व अन्तर्भूत किया है, वह विधान दीर्घकाल तक बना रहे, ऐसा यदि हम चाहते हैं, तो हमें हमारे सामने उपस्थित संकटों को समझने में उनका निराकरण करने में देर नहीं करनी चाहिये। देश की सेवा करने का यही मार्ग है।"[3]

26 नवम्बर, 1949 ई॰ को संविधान सभा ने संविधान का मसौदा बिल पास किया जिसमें 395 अनुच्छेद और 8 अनुसूचियाँ थीं। भारतीय संविधान की प्रस्तावना संविधान के उद्देश्यों के प्रस्तावों पर आधारित है। यद्यपि प्रस्तावना संविधान का अभिन्न अंग नहीं है तथापि इसका महत्व इस दृष्टि से बहुत अधिक है क्योंकि इसमें उन लक्ष्यों को स्पष्ट किया गया है जिन्हें संविधान के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तावना ("हम भारत के लोग... आत्मार्पित करते हैं।") को डॉ॰ आम्बेडकर ने पूरी एकाग्रता, विवेक और मानवीय मूल्यों को ध्यान में रखकर लिखा है। इस प्रस्तावना की प्रशंसा विश्व भर के इस विषय के विशेषज्ञों ने की है। पं॰ ठाकुरदास भार्गव ने इस प्रस्तावना को 'संविधान की आत्मा', संविधान का अर्थ विषद करने वाली यंत्रणा, 'संविधान की कुजी' कहा है। **सर अर्नेस्ट बार्कर** ने कहा

1. विजय कुमार पुजारी, डॉ॰ आम्बेडकर : जीवन-दर्शन, पेज सं.- 167 (1988).
2. वही, पेज सं.- 168.
3. वही, पेज सं.- 168.

है कि, "पश्चिमी राजनीतिक परम्परा के तत्वों को आत्मसात कर स्वतंत्र जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति इसमें हुई है।"[1]

मूल संविधान की प्रस्तावना में 'समाजवादी' एवं 'धर्म निरपेक्ष' शब्द नहीं थे। संविधान में 1976 ई॰ में 42वें संवैधानिक संशोधन करने के बाद ये शब्द जोड़े गये हैं। डॉ॰ आम्बेडकर ने 15 नवम्बर, 1948 ई॰ को संविधान की उद्देश्यिका में भारतीय शब्द के साथ धर्म-निरपेक्ष, संघीय व समाजवादी शब्दों के जोड़े जाने सम्बन्धी एक प्रस्ताव का संविधान सभा में विरोध किया। उनका तर्क था कि ऐसा करने से लोगों की स्वतंत्रता और उनके लोकतांत्रिक अधिकारों का हनन होगा। सामाजिक संगठन और आर्थिक ढाँचे का स्वरूप क्या हो ? यह तय करने की स्वतंत्रता लोगों को होनी चाहिये जिसे वे अपने मताधिकार के प्रयोग के माध्यम से कर सकते हैं। डॉ॰ आम्बेडकर के शब्दों में संविधान का कार्य लोगों को एक खास प्रकार के समाज में बाँधकर रखने का नहीं है। संविधान का उद्देश्य राज्य के विभिन्न अवयवों के कार्यों को नियमित करना है। यह किन्हीं विशेष व्यक्तियों या दलों को सत्ता में बैठाने का यंत्र नहीं है। उन्होंने आगे कहा कि राज्य की नीति क्या हो ? सामाजिक व आर्थिक विषयों में समाज को कैसे संगठित किया जाये यह ऐसे विषय हैं जिन्हें लोगों द्वारा समय व परिस्थितियों के अनुसार तय करना चाहिये।[2]

डॉ॰ आम्बेडकर भारत को एक संघराज्य के रूप में देख रहे थे। संविधान संघ राज्य स्वरूप का होगा इसकी घोषणा उन्होंने की। भारतीय संघ राज्य के कारण दो प्रकार की शासन पद्धतियाँ स्थापित हुई- (1) केन्दीय शासन (2) प्रदेश का शासन। संविधान ने ही केन्द्र और प्रदेश का निर्माण किया है। उन्हें संविधान से ही अधिकार प्राप्त हुये हैं। प्रदेश की सरकार के अधिकारों पर केन्द्र का आक्रमण न हो, इसके साथ ही केन्द्र का नियंत्रण प्रदेशों पर हो। डॉ॰ आम्बेडकर अमेरिका की तरह केन्द्र और प्रदेश के सम्बन्धों को ढीला-ढाला नहीं रखना चाहते थे। भारतीय संविधान, प्रदेशों को अपने स्वतंत्र संविधान बनाने के अधिकार नहीं देता। भारतीय संविधान को समझाते हुये उन्होंने कहा था कि, "अन्य संघ राज्यों के संविधान

---

1. वा. ना. कुबेर, डॉ. आम्बेडकर : एक विचार मन्थन, पेज सं.- 129.
2. डी. सी. अहिर, द लीगेसी ऑफ डॉ. आम्बेडकर, पेज सं.- 80-81 (1990).

अधिक दृढ़ और स्थायी स्वरूप के हैं, उनमें परिवर्तन असंभव सा है। भारतीय संविधान प्रगतिशील और परिवर्तनशील है।"[1] डॉ. आम्बेडकर ने संविधान में '**मज़बूत केन्द्र की व्यवस्था**' की है।

भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषायी व क्षेत्रीय भिन्नताओं तथा विघटनकारी प्रवृत्तियों को रोकने की दृष्टि से डॉ. आम्बेडकर केन्द्र को अधिक अधिकार देकर मज़बूत बनाना चाहते थे। उन्होंने ज़ोर देकर कहा कि मज़बूत केन्द्र आधुनिक युग और परिस्थितियों की माँग है और यह अपरिहार्य है।[2]

डॉ. आम्बेडकर ने मसौदा संविधान को संविधान सभागृह के सम्मुख प्रस्तुत करते हुये कहा था कि-

1) "मसौदा समिति ने 'सार्वभौम जनतांत्रिक जनसत्तात्मक राज्य' इस संकल्पना को मान्य किया है। संविधान 'फेडरल' स्वरूप का होगा, परन्तु 'फेडरेशन' शब्द का प्रयोग न करते हुये 'यूनियन' शब्द का प्रयोग किया गया है।

2) जनतांत्रिक मूल्यों पर आधारित सरकार को दो मुख्य कसौटियों पर खरा उतरना चाहिये- (अ) सरकार स्थिर हो (ब) जिम्मेदार पूर्ण हो।

3) **संविधान दो प्रकार का होगा-**

   (अ) एक संघ (युनिटरी)   (ब) संघ राज्य (यूनियन)

4) संविधान के अनुसार दो प्रकार के राज्य बनेंगे, परन्तु नागरिकत्व एक ही प्रकार का होगा।

5) किसी भी 'राज्य' को अपना स्वतंत्र संविधान बनाने का अधिकार नहीं होगा। इस कारण कोई भी 'राज्य' अपना स्वतंत्र अस्तित्व घोषित नहीं कर सकता।

6) सम्पूर्ण भारत में एक ही न्याय मण्डल होगा। देश भर में एक ही प्रकार के मौलिक अधिकार होंगे। महत्वपूर्ण स्थानों पर केन्द्रीय सेवाएं बनी रहेंगी।

7) संविधान के अनुकूल प्रशासकीय पद्धति होगी।

---

1. डी. सी. अहिर, द लीगेसी ऑफ डॉ. आम्बेडकर, पेज सं.- 131 (1990).
2. भगवानदास संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड- 1, पेज सं.- 166 (1963).

8) भारतीय भूमि जनतंत्र विरोधी रही है। इस कारण जनतांत्रिक मानसिकता विकसित करनी होगी।

9) ग्राम स्वराज्य के कारण भारत का नाश हुआ है। देहात अज्ञान, अन्ध-श्रद्धा के केन्द्र रहे हैं। इस कारण 'ग्राम-राज्य' को इकाई न मानकर 'व्यक्ति' को इकाई माना जाय।

10) संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकार अनियंत्रित नहीं हैं। मौलिक अधिकारों के साथ मार्गदर्शक तत्वों की योजना भी की गयी है।

11) सत्ता किसके हाँथ में हो, इसका निर्णय इस देश का मतदाता लेगा। इसी में भारतीय संविधान की कसौटी है।

12) केन्द्र सरकार अधिक शक्ति सम्पन्न हो।

13) इस देश के बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों गलत मार्गों का अनुसरण कर रहे हैं। अल्पसंख्यकों के अस्तित्व को नकारना यह बहुसंख्यकों की भूल है और अल्पसंख्यक हमेशा अल्पसंख्यक रहें यह भी गलत है। अल्पसंख्यक एक स्फोटक शक्ति के रूप में यहाँ है। उनकी भावनाओं का अगर स्फोट हुआ तो देश की संरचना ही ध्वस्त हो जायेगी।"[1]

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार संविधान वास्तव में व्यक्ति, जीवन और शासन-प्रशासन की नैतिकता के नियमों का दूसरा नाम है। परन्तु 'संवैधानिक नैतिकता' का मतलब 'प्राकृतिक भावना' नहीं है, वह जन्मतः नहीं होती है, वह निर्मित और विकसित करनी पड़ती है।

मौलिक अधिकार-

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार भारतीय संविधान में भाग-3 के अनुच्छेद 12 से 35 तक निर्धारित किये गये मौलिक अधिकार संविधान की प्रस्तावना की बुनियाद है। प्रस्तावना यह बताती है कि संविधान का मूल उद्देश्य समाज में स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की स्थापना है। संविधान के इन उद्देश्यों का परिपालन मौलिक अधिकारों के द्वारा होता है।

---

1. भालचन्द्र फड़के, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, पेज सं.- 221.

किसी भी राज्य का आधार वे अधिकार होते हैं जो वह अपने नागरिकों को प्रदान करता है। ये अधिकार इस अर्थ में नैसर्गिक या मौलिक माने जाते हैं क्योंकि ये अच्छे जीवन के लिये अनिवार्य होते हैं। संविधान में सम्मिलित कर दिये जाने से ये बहुत कुछ अनुलंघनीय हो जाते हैं तथा जनता और सरकार दोनों ही इनका आदर करने लगते हैं।

मौलिक अधिकारों का उद्देश्य शासन और विधान मण्डल दोनों को स्वेच्छाचारी होने से रोकना है। इनसे व्यक्ति को अपने विकास का अवसर मिलता है किन्तु सभी व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित करने अथवा समाज या राज्य के हितों की पूर्ति करने अथवा सुनियोजित समाज की स्थापना करने के उद्देश्य से राज्य द्वारा उन पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये होते हैं। राज्य एक निर्धारित सीमा के भीतर संविधान में दी गयी वैयक्तिक अधिकार सम्बन्धी व्यवस्थाओं का नियमन कर सकता है।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार मौलिक अधिकारों के दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं- प्रथम प्रत्येक नागरिक स्वयं अपने इन अधिकारों को प्रस्थापित करे और द्वितीय संसद या प्रदेश की विधि-सभा आगे जो भी कानून बनायेगी, उन पर इन मौलिक अधिकारों का नियंत्रण हो। दूसरे शब्दों में संसद या देश के किसी भी प्रदेश की विधि-सभा को इन मौलिक अधिकारों के विरुद्ध किसी भी प्रकार का कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं होगा। जो भी कानून बनेंगे वे इन्हीं मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये बनेंगे। उन्होंने कहा कि, "सबको समान अवसर प्राप्त हो, इस सूत्र को अगर कार्यान्वित करना है तो किसी भी वर्ग या जाति पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं होना चाहिये।"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार यह कहना गलत है कि, मौलिक अधिकार निरपेक्ष है और गैर-मौलिक अधिकार निरपेक्ष नहीं है। दोनों में वास्तविक अन्तर यह है कि गैर-मौलिक अधिकार सम्बद्ध पक्षों के बीच समझौते के फलस्वरूप बनते हैं जबकि 'मौलिक अधिकार' कानूनी उपहार है। व्यक्ति को प्राप्त इन अधिकारों को राज्य के उपहार के रूप में मानने का कदापि यह अर्थ नहीं है कि राज्य मौलिक

---

1. वा॰ ना॰ कुबेर, डॉ॰ आम्बेडकर : एक विचार मन्थन, पेज सं॰- 133.

अधिकारों को सीमित नहीं कर सकता। अमेरिका में मौलिक अधिकार निरपेक्ष नहीं है। उन्हें न्यायालय द्वारा सीमित किया जा सकता है और किया भी गया है।[1] भारतीय संविधान ने मौलिक अधिकारों को निरपेक्ष परिभाषित करने तथा सर्वोच्च न्यायालय को संसद के बचाव के लिये पुलिस शक्ति के नाम पर इन अधिकारों को सीमित करने, जैसा कि अमेरिका में हुआ, के स्थान पर राज्य को प्रत्यक्षतः इन्हें सीमित करने की अनुमति प्रदान की है।[2] सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार के सम्बन्ध में ऐसा हुआ भी है।

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार मसौदा समिति के सदस्य इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि मौलिक-अधिकारों को कठोर नहीं लचीला होना चाहिये जिससे कि उनमें प्रगतिशील परिवर्तनों को समाहित करने की गुजांइश हो। इसलिये प्रत्येक मौलिक-अधिकार के साथ यह अपवाद जोड़ा गया है कि राज्य उस पर तार्किक प्रतिरोध लगा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि अन्य व्यक्तियों, समाज और राज्य के हित की रक्षा के लिये जरूरी हो तो राज्य को व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को सीमित करने की शक्ति प्रदान किया जाना उचित है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि सत्ताधारी दल संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति का प्रयोग छोटी-छोटी बातों पर संविधान में संशोधन के लिये करे।

संविधान से प्रत्येक नागरिक को कुछ अपेक्षाओं का भी बोध होता है जिसे वह बहुत कुछ स्थायी मानता है और उसके अनुसार वह अपने जीवन व योजनाओं को कार्यरूप देता है। इसलिये राज्य को दूसरे शब्दों में सत्ताधारी दल या सरकार को अपरिहार्य कारणों व परिस्थितियों को छोड़कर संविधान में विशेष रूप से व्यक्ति को प्रदत्त मौलिक अधिकारों में परिवर्तन नहीं करना चाहिये चाहे भले ही ऐसे प्रकरणों पर न्यायालय के निर्णय सरकार के विरुद्ध होवें और उससे सत्ताधारी दल की प्रतिष्ठा को आँच पहुँचे।[3]

---

1. भगवानदास संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड- 1, पेज सं.- 163-164 (1963).
2. वही, पेज सं.- 164.
3. भगवानदास संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड- 3, पेज सं.- 180 (1979).

राज्य के नीति निर्देशक तत्व-

निर्देशक तत्वों या मार्गदर्शक तत्वों के सम्बन्ध में डॉ. आम्बेडकर ने कहा है कि, "मेरी दृष्टि में मार्गदर्शक तत्वों का अत्यधिक महत्व है, हमारा लक्ष्य आर्थिक जनतंत्र है इसे इन तत्वों में स्पष्ट किया गया है। केवल संसदीय प्रणाली की सरकार स्थापित करना, उसे एक निश्चित आर्थिक दिशा देना यहाँ तक ही हमारा लक्ष्य सीमित नहीं है- इसे स्पष्ट करने के लिये ही इन तत्वों का समावेश संविधान में हमने किया है।"[1]

संविधान में शासन की संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली के स्वरूप का निर्धारण किया गया है, परन्तु इसके साथ-साथ यह भी बताया गया है कि, राज्य का लक्ष्य (आदर्श) आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना है। आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये समाज के आर्थिक व सामाजिक ढाँचे का स्वरूप क्या हो, इसका निर्धारण संविधान में नहीं किया गया है। यह लोगों के ऊपर छोड़ दिया गया है कि वे संसदीय लोकतंत्र के तहत अपने मताधिकार के द्वारा इस सम्बन्ध में निर्णय लें। डॉ. आम्बेडकर की दृष्टि में संविधान को यह नहीं निश्चित करना चाहिये कि लोग किस विशेष प्रकार से रहें, उनके सामाजिक संगठन और आर्थिक ढाँचे का स्वरूप क्या हो ? ऐसा करना लोगों की स्वतंत्रता एवं लोकतांत्रिक अधिकारों को नकारना है।[2]

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना लोग कई विधियों से कर सकते हैं। कुछ लोग व्यक्तिवाद को आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना का सर्वोत्तम रूप मानते हैं। कुछ लोग समाजवादी राज्य को आर्थिक लोकतंत्र की प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय मानते हैं। कुछ लोग साम्यवादी विचारधारा के आधार पर आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना में विश्वास रखते हैं। इसलिये संविधान में यह लोगों के ऊपर छोड़ दिया गया है कि वे जिस विधि को चाहें उसके पक्ष में मतदाताओं का विश्वास अर्जित करें और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये पहल करें, किन्तु सरकार किसी भी दल की और किसी भी विचारधारा की क्यों न हो, उसे आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये पहल करनी होगी। यदि कोई सरकार ऐसा नहीं

---

1. वा. ना. कुबेर, डॉ. आम्बेडकर : एक विचार मन्थन, पेज सं.- 139.
2. डब्लू.एन. कुबेर, डॉ. आम्बेडकर : ए क्रिटिकल स्टडी, पेज सं.- 126 (1979).

करती है तो, उस पर संविधान के तहत कोई कानूनी बाध्यता नहीं होगी किन्तु मतदान के समय उसे जनता को अवश्य ही इस बात का ज़वाब देना होगा कि उसने संविधान द्वारा निर्देशित आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिये आवश्यक पहल क्यों नहीं की। तात्पर्य यह है कि आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना का जो लक्ष्य संविधान के भाग चार में अनुच्छेद 36-51 तक राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के अन्तर्गत निश्चित किया गया है उसके परिपालन के लिये सरकार कानून के प्रति नहीं बल्कि जनता के प्रति उत्तरदायी है।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार नीति निर्देशक सिद्धान्त संविधान द्वारा विधान मण्डल एवं कार्यपालिका को दिये गये निर्देश है कि, वे किस प्रकार संविधान द्वारा प्रदत्त अपनी शक्तियों का प्रयोग करें। ये सिद्धान्त राज्य नीति के निर्णायक आधार हैं। संविधान में राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि, वह कानून बनाते एवं उन्हें क्रियान्वित करते समय इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखे।[1]

ग्राम-सभा और ग्राम-पंचायत के सम्बन्ध में डॉ॰ आम्बेडकर के विचार सबसे भिन्न, मौलिक और किसी को भी बेचैन करने वाले रहे हैं। उन्होंने कहा है कि, "ग्राम या देहात के प्रति जिन्हें अभिमान है वे ये नहीं सोचना चाहते कि देहातों में घटित घटनाओं में या उसकी भविष्य की निर्मिति में गाँव वालों का क्या योगदान रहा है। इस देश में अनेक राजनीतिक घटनाएं हुई। हिन्दू, पठान, मोगल, मराठा और अंग्रेज बारी-बारी से इस देश पर राज्य करते रहे पर पंचायतें जैसी की वैसी रहीं। शत्रुओं की सेना इन देशों से कूँच कर रही थी, परन्तु गाँव वालों ने कभी भी किसी भी शत्रु का विरोध नहीं किया उल्टे उनके लिये रास्ता बनाकर दिया। पंचायतों की इस निष्क्रियता का अहसास होते हुये भी उसके प्रति हम अभिमान कैसे रखें ? महत्व टिके रहने का नहीं है। प्रश्न है किस स्तर पर ये टिके हैं। अत्यन्त कनिष्ठ और स्वार्थी स्तर पर यह टिके हैं। ग्राम-पंचायतों ने इस देश का नाश ही किया है। हमारे देहात और हमारी पंचायतें स्थानिक अहंकारों की गन्दगी से युक्त, अज्ञान की गुफा, संकुचितता, और जातिवाद के प्रतीक बन गये हैं। ऐसे पंचायतों को इकाई

---

1. भगवानदास संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड- 3, पेज सं॰- 165-167 (1979).

कैसे बना सकते हैं ?"[1]

भारत के प्रधानमंत्री को सर्वाधिक अधिकार दिये जाने के वे समर्थक थे। 'सामूहिक जिम्मेदारी' यह मंत्रिमण्डल की आत्मा है। इसी पर मंत्रिमण्डल की इमारत खड़ी है। इस कारण उन्हें अधिक अधिकार देना जरूरी है। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार दो पद्धतियों से अधिकार के ये तत्व क्रियान्वित किये जा सकते हैं- (1) प्रधानमंत्री की सलाह लिये बिना किसी की भी नियुक्ति मंत्रिमण्डल में नहीं की जा सकती। (2) प्रधानमंत्री की इच्छा के विरुद्ध किसी को भी मंत्रिमण्डल में रखा नहीं जा सकता।

भारतीय न्याय पद्धति की विशेषता स्पष्ट करते हुये डॉ. आम्बेडकर ने कहा है कि, "भारतीय संघ राज्य में दो प्रकार के प्रशासन चलते हैं- (1) केन्द्र (2) प्रदेश। परन्तु दो न्याय पद्धतियाँ नहीं हैं। उच्च न्यायालय और सर्वोच्च न्यायालय ये दोनों वास्तव में एक ही हैं। नागरिक कानून, मुज़रिमों सम्बन्धी कानून ये सब एक ही पद्धति के हैं।"[2]

प्रत्येक प्रदेश में विधान परिषद हो या नहीं, इस सम्बन्ध में संविधान समिति ने कोई निर्णय नहीं लिया है। इसके अधिकार उन्होंने राज्य सरकारों को दिये हैं। विधान परिषद और राज्य सभा में किसानों को प्रतिनिधित्व दिया जाय ऐसा आग्रह किया गया। डॉ. आम्बेडकर का कहना था कि, इस देश की अधिकांश जनता देहातों में ही रहती है। चुने गये प्रतिनिधि इसी वर्ग से आते हैं इसलिये उन्हें अलग से प्रतिनिधित्व देने की जरूरत नहीं है।[3]

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार प्रत्येक सांसद को संसद अथवा संसद की किसी समिति में किये गये भाषण के सम्बन्ध में न्यायालय में खींचा नहीं जाना चाहिये। दूसरे शब्दों में सांसदों को 'विशेषाधिकार' दिये जाने चाहिये। ये प्रावधान तीन पद्धतियों से किये जा सकते हैं :-

---

1. वा. ना. कुबेर, डॉ. आम्बेडकर : विचार मन्थन, पेज सं.- 140.
2. वही, पेज सं.- 144.
3. वही, पेज सं.- 146.

1) संसद को किस प्रकार के विशेषाधिकार हैं, किन अधिकारों से उन्हें वंचित किया गया है, इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख संविधान में किया जाये।

2) उपर्युक्त कानून के तहत संसद और सांसदों को विशेषाधिकार नहीं दिये गये थे। केवल भाषण की स्वतंत्रता थी।

3) ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के निम्न सदन (हाउस ऑफ कॉमन) में इस सम्बन्ध में जो प्रथायें हैं उन्हीं को स्वीकार किया जाय।

संविधान धर्मग्रन्थ की तरह पवित्र होते हुये भी जड़ या अपरिवर्तनीय नहीं होता, न ऐसा उसे होना चाहिये। काल और परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन अपेक्षित है। अगर इस प्रकार के परिवर्तन उसमें कोई करना नहीं चाहता, या उसके लिये विरोध करता है, तो ऐसे संविधान से प्रगति के बजाय दुर्गति ही होगी। इस कारण संविधान संशोधन जरूरी है। लोगों की बढ़ती आकांक्षाओं को पूर्ण करना यह संविधान का महत्वपूर्ण दायित्व है। संविधान द्वारा स्थापित जनतांत्रिक सत्ता जब तक अस्तित्व में होती है, तब तक संविधान संशोधन होते ही रहते हैं। ऐसे संशोधनों का अर्थ है, राष्ट्र की बढ़ती जरूरतों का प्रतिबिम्ब। संशोधन की व्यवस्था को नकारने का अर्थ है मृत पीढ़ी का जीवन्त पीढ़ी पर राज। भूतकाल का वर्तमान काल पर राज। इन अनेक कारणों को देखते हुये डॉ. आम्बेडकर ने संशोधन के प्रावधान का समर्थन किया। परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि संविधान की किसी भी धारा को कभी भी, कोई भी आसानी से बदल सकता है अथवा उसमें संशोधन कर सकता है। उन्होंने कहा है कि, "सम्पूर्ण संविधान को तीन विभागों में बाँटा गया है। पहले विभाग में वे धारायें आती हैं, जिनमें केवल संसद-सभा के सदस्य बहुमत से संशोधन पारित कर सकते हैं। दूसरे विभाग में 2/3 बहुमत की शर्त रखी गयी है। तीसरे विभाग में संसद के 2/3 बहुमत के साथ-साथ देश के प्रत्येक प्रदेश की विधान सभाओं की मान्यता भी अनिवार्य कर दी गयी है। यह संविधान संशोधन विश्व भर में सबसे आसान तरीके का है, उसे उन्होंने अभिमानपूर्वक स्पष्ट किया।है।"[1]

---

1. वा. ना. कुबेर, डॉ. आम्बेडकर : विचार मन्थन, पेज सं.- 149.

डॉ. आम्बेडकर कहा करते थे कि संवैधानिक मार्गों से चलकर अगर हम इस देश में समता, बन्धुता और मैत्री के मूल्यों को स्थापित नहीं कर पायेंगे, 'मनुष्य' की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पायेंगे, तो यह देश किसी दिन साम्यवाद के रास्ते पर चलने लगेगा। अगर यह संविधान अपनी इस भूमिका को निभा नहीं पायेगा, तो यह जलाने लायक ही रह जायेगा। उनका दृढ़ विश्वास जनतांत्रिक व्यवस्था पर था। जनतंत्र, राष्ट्रवाद और समता, बन्धुता और मैत्री इन मूल्यों का समन्वय संविधान की विशेषता है। वास्तव में इन्हीं मूल्यों से उनके व्यक्तित्व की पहचान भी बनती है। विश्व के अन्य जनतांत्रिक देशों के संविधान में जो-जो भी उत्कृष्ट, मानवीय और नैतिक है, उन सबका समन्वय संविधान में करने का प्रयत्न डॉ. आम्बेडकर ने किया है।

डॉ. लोहिया ने अपने संवैधानिक विचारों के अन्तर्गत अन्यायी ब्रिटिश कुशासन की गलत नीतियों का विरोध किया तथा स्वतंत्रता के बाद उन्हें भारतीय संविधान की कसौटी में जाँचने की बात कही। उन्होंने प्रबल केन्द्रीकरण के विरुद्ध विकेन्द्रीकृत सत्ता का समर्थन किया। संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों तथा उससे हटकर मानव अधिकारों को बनाये रखने की वकालत की। उनकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को एक हद तक अपने जीवन को अपने मन के मुताबिक चलाने का अधिकार होना चाहिये उसकी व्यक्तिगत जिन्दगी में कोई दखल नहीं होनी चाहिये जैसे किसी व्यक्ति को शादी करने या न करने के लिये बाध्य नहीं किया जाना चाहिये, सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं का सदस्य होने के लिये बाध्य नहीं किया जाना चाहिये आदि। डॉ. लोहिया मृत्युदण्ड को अमानवीय मानते थे लेकिन आत्महत्या का समर्थन करते थे। वे व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करना चाहते थे तथा राजनीति में धर्म के हस्तक्षेप को अस्वीकार करते थे। उन्होंने व्यक्ति की वैधानिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक व आध्यात्मिक समता का समर्थन किया और निर्बलों, गरीबों एवं कमज़ोर वर्ग के लोगों को कर्तव्य करने की हिदायत देने के पहले अधिकार देने की बात कही।

डॉ. आम्बेडकर को 'भारतीय संविधान निर्माण' के लिये गठित प्रारूप समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। अतः उन्होंने संविधान निर्माण का महत्वपूर्ण

कार्य किया। उन्होंने संविधान में सभी प्रकार के भेदभावों को खत्म करके लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत संसदीय शासन प्रणाली अपनाने का समर्थन किया। वे जनतंत्र को 'एक मनुष्य एक मूल्य' के सिद्धान्त तक जीवित रखने के लिये संविधान में न केवल राजनीतिक ढाँचा को निर्धारित करने के पक्ष में थे, वरन आर्थिक ढाँचे के स्वरूप को भी निर्धारित करने के इच्छुक थे और उन्होंने ऐसा किया भी। उनकी दृष्टि में संविधान कितना भी अच्छा क्यों न हो यदि उसे कार्यान्वित करने वाले लोग अच्छे नहीं होंगे तो वह संविधान अच्छा नहीं साबित हो सकता। अतः संविधान की सफलता एवं असफलता उसको व्यवहार में प्रयोग करने वाले मनुष्यों की बुद्धिमत्ता एवं विवेक पर निर्भर करती है। डॉ. आम्बेडकर यद्यपि राज्य समाजवाद को संविधान का अंग बनाये जाने के पक्ष में थे तथापि उन्होंने 'धर्म निरपेक्ष', 'समाजवादी' शब्दों को संविधान में जोड़े जाने का विरोध किया था क्योंकि उनकी दृष्टि में इससे लोगों की स्वतंत्रता और उनके लोकतांत्रिक अधिकारों में हस्तक्षेप हो सकता है। बाद में 1976 ई0 में 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा इन शब्दों को संविधान में जोड़ा गया। भारतीय संविधान की प्रस्तावना संविधान के उद्देश्यों के प्रस्तावों पर आधारित है, जिसे डॉ. आम्बेडकर ने अत्यन्त एकाग्रता, विवेक एवं मानवीय मूल्यों को ध्यान में रखकर तैयार किया था। उनकी दृष्टि में संविधान का उद्देश्य राज्य के विभिन्न अवयवों के कार्यों को नियमित करना है। यह किन्हीं विशेष व्यक्तियों या दलों को सत्ता में बैठाने का यंत्र नहीं है वरन यह लोकतंत्र को स्थापित करने का एक माध्यम है। डॉ. आम्बेडकर ने संविधान में 'संघराज्य' स्वरूप का समर्थन किया, जिसमें शासन की दो पद्धतियाँ होंगी- केन्द्रीय शासन और प्रान्तीय शासन। परन्तु सम्पूर्ण भारत में नागरिकता एक ही प्रकार की 'भारतीय नागरिकता' होगी। यह व्यवस्था अमरीका व रूस दोनों से भिन्न प्रकृति की होगी। राज्य की एकता व अखण्डता को कायम रखने के लिये केन्द्र को मज़बूत बनाने का प्रयास किया गया है। प्रदेशों को अपने अलग संविधान बनाने की स्वतंत्रता नहीं प्रदान की गयी है। डॉ. आम्बेडकर ने सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषायी एवं क्षेत्रीय विभिन्नताओं व विघटनकारी शक्तियों को रोकने के लिये केन्द्रीय सरकार को मज़बूत व सशक्त बनाने की कोशिश की थी।

डॉ॰ आम्बेडकर ने मौलिक अधिकारों को संविधान की प्रस्तावना की बुनियाद कहा है। उनकी दृष्टि में मौलिक अधिकारों के दो लक्ष्य है- प्रथम प्रत्येक नागरिक स्वयं इन अधिकारों को प्रस्थापित करे और द्वितीय देश या प्रदेश की विधायिका को मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कोई भी कानून बनाने का अधिकार न हो। उन्होंने संविधान में मुख्य रूप से सात प्रकार के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की है- प्रथम समानता का अधिकार, जिसमें विधि के समक्ष समानता के साथ-साथ धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का अन्त और अस्पृश्यता आदि का अन्त कर दिया गया है। द्वितीय स्वतंत्रता का अधिकार, तृतीय शोषण के विरुद्ध अधिकार, चतुर्थ धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, पंचम संस्कृति एवं शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, षष्ठम सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन का अधिकार, जिसे 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा निरसित कर दिया गया है और सप्तम संवैधानिक उपचारों का अधिकार। डॉ॰ आम्बेडकर की दृष्टि में मौलिक अधिकार निरपेक्ष नहीं है। उन्होंने समय और परिस्थितियों के बदलने पर अथवा यदि अन्य व्यक्तियों, समाज और राज्य के हित की रक्षा के लिये जरूरी हो तो राज्य को मौलिक अधिकारों को सीमित करने की शक्ति प्रदान करने का समर्थन किया है परन्तु इस शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिये।

डॉ॰ आम्बेडकर ने 'राज्य नीति के निर्देशक तत्वों' को संविधान में उचित स्थान दिये जाने की कोशिश की है जिससे आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना संभव हो सके, लेकिन उन्होंने इन तत्वों के क्रियान्वयन के लिये राज्य को बाध्य करना उचित नहीं समझा। साथ ही साथ संविधान में राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि, वह कानून बनाते समय इन तत्वों को ध्यान में रखे। डॉ॰ आम्बेडकर ने ग्राम पंचायतों के बजाय 'व्यक्ति' को इकाई के रूप में स्वीकार किया क्योंकि उनकी दृष्टि में ग्राम पंचायतें गंदगी से युक्त अज्ञान व अंधकार की गुफा है, संकुचितता व जातिवाद की प्रतीक है अतः उन्हें इकाई नहीं माना जा सकता। उन्होंने केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत प्रधानमंत्री को सर्वाधिक अधिकार दिये जाने का समर्थन किया, और सामूहिक जिम्मेदारी के सिद्धान्त को मंत्रिमण्डल की आत्मा कहा। उन्होंने भारतीय संघ में केन्द्र और राज्य दो प्रकार की शासन व्यवस्था होने के बावजूद सम्पूर्ण देश

में एक ही प्रकार के न्याय मण्डल का समर्थन किया। डॉ. आम्बेडकर ने संविधान को अपरिवर्तनीय नहीं माना। उसमें समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलाव लाना अवश्यम्भावी माना अतः उन्होंने संवैधानिक संशोधन का समर्थन किया, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि, संविधान की किसी भी धारा को कभी भी, कोई भी आसानी से बदल सकता है। भारतीय संविधान में संशोधन का अधिकार केवल भारतीय संसद को प्राप्त है। संशोधन की प्रक्रिया में कठोरता एवं लचीलेपन का सामंजस्य स्थापित किया गया है। वास्तव में डॉ. आम्बेडकर दूर द्रष्टा थे, वे नहीं चाहते थे कि, संविधान जड़ होकर रह जाये, और यदि ऐसा किया भी जाता तो आगे आने वाले समय में क्रान्तियों का दौर शुरू हो जाता। डॉ. आम्बेडकर ने भविष्यवाणी की थी कि, यदि यह संविधान अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा तथा अपनी भूमिका को नहीं निभा पाया तो यह सिर्फ जलाने लायक रह जायेगा और एक दिन यह देश साम्यवाद के रास्ते पर चल पड़ेगा, जो कि ठीक नहीं होगा।

डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर के संवैधानिक विचार एक ऐसी संवैधानिक व्यवस्था का समर्थन करते हैं जो लोकतांत्रिक पद्धति पर आधारित हो तथा जिसमें जनता के अधिकारों एवं हितों को सुरक्षा प्राप्त हो। डॉ. लोहिया के संवैधानिक विचार ज्यादा विकसित नहीं हो पाये क्योंकि वे राजनीतिक आन्दोलन में इतना ज्यादा व्यस्त थे कि, इस ओर ध्यान नहीं दे सके। इसका एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि, उन्हें इस कार्य को करने का मौका नहीं मिला। जिस समय संविधान निर्माण का कार्य हो रहा था, उसके कुछ समय पूर्व तक डॉ. लोहिया को ब्रिटिश सरकार ने जेल में बन्द करके कठोर शारीरिक, मानसिक यातनाएं दी थी, जिससे वे काफी कमज़ोर पड़ गये थे। उनके द्वारा ब्रिटिश शासन की कठोर नीतियों का विरोध करना और व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के साथ-साथ मानव अधिकारों का समर्थन करना लोकतांत्रिक राज्य के संविधान के अनुकूल है। दूसरी ओर डॉ. आम्बेडकर के संवैधानिक विचार अत्यधिक व्यापक है। उन्होंने भारतीय संविधान के निर्माण में अपना अमूल्य योगदान दिया इसके लिये हम उनके ऋणी हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर उन्होंने संविधान में जो भी व्यवस्थाएं दी हैं वे किसी भी देश

के संविधान की स्थिरता के लिये महत्वपूर्ण एवं आवश्यक हैं। संविधान में सभी प्रकार के भेद-भावों को खत्म करना और संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्था करना एक समतामूलक समाज के लिये बहुत ही आवश्यक उपाय है। राजनीतिक स्थिरता के साथ-साथ देश की जनता खुशहाल रहे और उच्च जीवन-स्तर पर जीवन-यापन करे इसके लिये संविधान में आर्थिक ढाँचे के स्वरूप को भी निर्धारित करना जरूरी था। परन्तु डॉ॰ आम्बेडकर के द्वारा संविधान सभा में 'धर्म-निरपेक्ष' एवं 'समाजवादी' शब्दों का विरोध करना ठीक कदम नहीं कहा जा सकता क्योंकि भारत एक बहुधर्मावलम्बी देश है, जहाँ किसी विशेष धर्म को संरक्षण नहीं प्रदान किया जा सकता। भारत में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि पूँजीपतियों को पूरी तरह उखाड़ फेंका जायेगा, वरन यहाँ एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना है जिसमें गरीबी, शोषण, अत्याचार और गुलामी न हो।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भारतीय संविधान में 'संघराज्य' के अन्तर्गत केन्द्र और राज्य के शासन को निर्धारित करने के साथ एक अच्छा कार्य यह किया कि इस व्यवस्था को संघराज्य अमरीका एवं सोवियत रूस से भिन्न प्रकृति का रखा, क्योंकि यदि यह इन दोनों में से किसी देश की नकल होती तो देश की एकता और अखण्डता को खतरा पहुंच सकता था। डॉ॰ आम्बेडकर ने संविधान में मौलिक अधिकारों को महत्वपूर्ण स्थान देकर तथा उनका उल्लंघन सामान्य परिस्थितियों में राज्य के द्वारा न करने की व्यवस्था करके वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना की है। इससे देश का प्रत्येक नागरिक भयमुक्त स्वतंत्र वातावरण में रहते हुये जीवन-यापन कर सकता है, लेकिन उन्होंने सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन के अधिकार को प्रदान करके समाज में व्यक्तियों के बीच आर्थिक असमानता उत्पन्न करने की भूल की है। इससे समाज में एक ओर धनी तो दूसरी ओर निर्धनों की संख्या में वृद्धि होगी इसी कारण से इस अधिकार को संवैधानिक संशोधन के माध्यम से केवल कानूनी अधिकार बना दिया गया है। डॉ॰ आम्बेडकर ने राज्य नीति के निर्देशक तत्वों की संविधान में व्यवस्था करके आर्थिक लोकतंत्र को स्थापित करने का प्रयास किया जो कि जनकल्याण हेतु आवश्यक है। परन्तु उन्होंने संविधान में ग्राम-पंचायतों की स्थिति को कमज़ोर बना दिया जिसे ठीक नहीं कहा जा सकता

क्योंकि यदि हम भारत के गाँवों का विकास नहीं करेंगे तो निश्चित रूप से हम भारत की समृद्धि को ऊपर नहीं उठा सकते। यदि हम गाँवों में समुचित सुविधाएं एवं व्यवस्थाएं मुहैया करवा दे तो गाँव अंधकार व अंध-विश्वास की गुफा नहीं रहेंगे वहाँ जन-जाग्रति निश्चित रूप से होगी। वर्तमान में जबकि पंचायतों को सशक्त बनाया जा चुका है तो वहाँ अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन देखने को मिल रहा है। कोई भी संविधान सदैव स्थिर नहीं रखा जा सकता उसको परिवर्तनशील होना आवश्यक होता है क्योंकि जो प्रावधान संविधान में निर्धारित किये गये हैं जरूरी नहीं है कि परिस्थितियों के बदलने पर वह ठीक साबित हों अतः डॉ॰ आम्बेडकर के द्वारा संवैधानिक संशोधन की व्यवस्था करना उचित दिशा में एक सुलझा हुआ कदम कहा जा सकता है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने संविधान निर्मित हो जाने के बाद यह सारगर्भित टिप्पणी की थी कि, संविधान अच्छा तभी साबित हो सकता है जब उसको क्रियान्वित करने वाले लोग अच्छे होंगे अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि, ऐसे योग्य एवं व्यावहारिक अनुभव से युक्त राजनीतिज्ञ शासन सत्ता पर आयें जो इस संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत यथार्थ लोकतंत्र को स्थापित करके गरीबों के दुख-दर्द को दूर कर सकें।

4.5. भारत की विदेश-नीति एवं पड़ोसी राष्ट्रों से सम्बन्ध-

1935 ई॰ में पं॰ नेहरू की अध्यक्षता में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसमें परराष्ट्र विभाग खोलने का निर्णय लिया गया, क्योंकि अभी तक कांग्रेस की कोई विदेश नीति नहीं थी। इस परराष्ट्र-विभाग का मंत्री डॉ॰ राममनोहर लोहिया को नियुक्त किया गया था तथा इसका कार्यालय इलाहाबाद में स्थापित किया गया। डॉ॰ लोहिया ने इस कार्य को लगन के साथ शुरू किया। कुछ महीनों में ही विश्व के कई राष्ट्रों के संगठनों से सम्पर्क स्थापित हो गया और उन्होंने विश्व की घटनाओं से पूरा सम्पर्क रखा। इसी विभाग के अन्तर्गत डॉ॰ लोहिया की लिखी अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय विषयों पर कई रचनाएं भी प्रकाशित हुईं जिनमें- 'चीन और भारत', 'भारतीय विदेश-नीति', 'विदेशी ठेकेदारों की लूट', 'सरकारी कर्मचारियों के वेतन' आदि प्रमुख हैं।

डॉ॰ लोहिया ने दिसम्बर 1936 ई॰ में फैजपुर कांग्रेस अधिवेशन में परराष्ट्र-विभाग के अन्तर्गत जो विदेश नीति निर्धारित की थी, उस रिपोर्ट को प्रस्तुत किया। इस रिपोर्ट से स्पष्ट हुआ कि, कार्यालय न केवल अच्छी तरह चलाया गया बल्कि उसे अपने निश्चित उद्देश्यों में सफलता भी मिली।[1] अपनी रिपोर्ट में डॉ॰ लोहिया ने विदेश नीति के सम्बन्ध में कुछ बुनियादी आधार प्रस्तुत किये। उसी समय उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया था कि, हिन्दुस्तान और इंग्लिस्तान की विदेश नीतियों का सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये क्योंकि, ये सम्बन्ध केवल इंग्लैण्ड का ही हित साधन करते हैं। उन्होंने सम्मेलन से यह अनुरोध किया कि कांग्रेस आज़ाद हिन्दुस्तान की विदेश नीति के लिये एक व्यापक रूपरेखा तैयार करे। तात्कालिक कार्यक्रम के रूप में रिपोर्ट में सुझाव दिया गया था कि, व्यापारिक सम्बन्धों और कर नीतियों को इस प्रकार बदला जाये कि, उनसे देश का हित सिद्ध हो, इंग्लैण्ड का नहीं। हम दुनिया के सामने यह स्पष्ट कर दें कि, हिन्दुस्तान की पलटन को हिन्दुस्तान की जनता का समर्थन प्राप्त नहीं है और अन्य देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके राजनैतिक नेताओं और सांस्कृतिक प्रवक्ताओं का आदान-प्रदान करें।

परराष्ट्र विभाग ने डॉ॰ लोहिया के नेतृत्व में दो महत्वपूर्ण कार्य किये[2]- **एक** उसने भारतीय जनता का आह्वान किया कि वह ब्रिटिश साम्राज्य की विदेश नीति से अपने को पूरी तरह अलग करके अपनी आज़ादी अथवा जनतंत्र के लिये लड़ने वाले राष्ट्रों का सक्रिय समर्थन करे। इस प्रश्न पर मतभेद विशेष नहीं था इसके कुछ नतीजे भी निकले। कांग्रेस की ओर से एक डॉक्टरी मिशन चीन गया। अबीसीनिया पर इटली के हमले का भारतीय राष्ट्रवादी क्षेत्रों में तीव्र विरोध हुआ। परराष्ट्र विभाग ने इस तरह के दिवस मनाने और सहायता, चन्दा आदि भेजने का आह्वान किया। आह्वान में कहा गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य से हमारा अलग अस्तित्व हो, उसी दृष्टि से चन्दा भेजने का महत्व है। "हम अब श्री एन्टोनी ईडन और ब्रिटिश सरकार की नीति के गुलाम नहीं। हमारे अपने परराष्ट्र सम्बन्ध है।"

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 58 (1969).
2. वही, पेज सं.- 59.

दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय नीति का प्रतिपादन है। परराष्ट्र विभाग का पहला प्रकाशन डॉ. राममनोहर लोहिया की एक छोटी सी पुस्तिका थी- 'नागरिक स्वातंत्र्य के लिये लड़ाई' ('ऑन दि स्ट्रगल फॉर सिविल लिबर्टीज़')। इस पुस्तिका के द्वारा पहली बार एक नीति प्रतिपादित की गयी कि तत्कालीन विवाद जनतंत्र और तानाशाही के बीच में नहीं था। डॉ. लोहिया ने फ्रांस, इंग्लैण्ड और अमरीका की व्यवस्थाओं का इस पुस्तिका में विश्लेषण किया। फ्रांस में कानून के सामने आदमी आज़ाद और बराबरी का दर्ज़ा लेकर पैदा हुआ है, लेकिन अदालत में आदमी-आदमी में फर्क किया जाता है। उन्होंने कहा था कि, "जो बातें फ्रांसीसी क्रान्ति की बुनियाद थीं, वही अब अमल में नहीं लायी जातीं और उनकी अवहेलना की जाती है। अमरीका धनिकों का स्वर्ग बनता जा रहा है और वहाँ लोकतांत्रिक अधिकारों पर बड़े ज़ोर से हमला हो रहा है। हड़तालों को फौजी अनुशासन से कुचला जाता है और संगीन के बल पर बम बरसाने वाले ज़हाजों की मांग की जाती है। अमरीकी उपनिवेशों में शांतिपूर्ण संगठनों और आज़ादी के साथ अपनी राय ज़ाहिर करने पर भी बड़ी बन्दी है। इंग्लैण्ड में नागरिक अधिकारों पर जबरदस्त प्रहार होने लगे हैं, कहा जाता है कि, अमरीका में नागरिक स्वतंत्रता के लिये कानून से खतरा है, वहाँ इंग्लिस्तान में यह खतरा शासन व्यवस्था से है।"[1]

परराष्ट्र विभाग के परिपत्र **'न मास्को, न बर्लिन, प्रत्युत लन्दन'** में डॉ. लोहिया ने लिखा था कि स्पेन के गृह युद्ध के समय से 'लीग ऑफ नेशन्स' की कार्य शक्ति का अन्त हो गया और लन्दन की हस्तक्षेप न करने वाली कमेटी को उसके काम सौंप दिये गये। लन्दन को बहुधा फैसिज़्म और कम्युनिज़्म के बीच का मध्यस्थ कहा जाता है। लेकिन असलियत यह है कि, इसके पीछे जनतंत्र और तानाशाही का विरोध नहीं बल्कि लन्दन जहाँ एक ओर चाहता है कि, फासीज़्म की ताकत ज्यादा न बढ़ने पाये वहाँ दूसरी ओर उसकी ज्यादा लम्बी और गहरी लड़ाई समाजवाद के साथ है। परिपत्र में उन्होंने इंग्लैण्ड के दकियानूसी चरित्र पर भी प्रकाश डाला। उन्होंने विशेषकर इस बात पर ज़ोर दिया कि तात्कालिक शांति का जो नारा लगाया जाता है वह जनतंत्र की शक्तियों के हित पर आघात करने वाला

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 60 (1969).

तो होता ही है उसके द्वारा शांति की रक्षा भी नहीं हो सकती। दो वर्ष बाद महायुद्ध की विभीषिका ने इस दृष्टि की सत्यता प्रमाणित कर दी।

इसी परिपत्र में रूस की घटनाओं पर टीका करते हुये डॉ॰ लोहिया ने लिखा है कि ये घटनाएं रूस और दुनिया के भविष्य की दृष्टि से ख़ेदजनक है। रूस के प्रति दुनिया के मज़दूरों की आस्था रही है कि, वह मुक्ति का अग्रदूत है। उसमें इन घटनाओं से कमज़ोरी आयी। दूसरी ओर रूस जिस नई सभ्यता के निर्माण का प्रयोग स्थल बना है, उसके विकास के बारे में गम्भीर शंकाएं उत्पन्न हो गयी हैं। इनसे इतना जाहिर हो जाता है कि रूस में एक गुट की तानाशाही हो गयी है। वह अब भी पूँजीवादी विश्व के लिये समाजवादी चुनौती है, लेकिन उसने नई सभ्यता को एक गहरा धक्का पहुँचाया है।

सन् 1963 ई॰ में विदेश नीति की बहस की शुरूआत डॉ॰ लोहिया ने '**चित्त जेथा भयशून्य, उच्च जेथा शिर**' नामक सारगर्भित शब्दों से किया। भयशून्य विदेश नीति के बिना वह सफल नहीं हो सकती। डॉ॰ लोहिया का कहना था कि हमारे हिन्दुस्तान की विदेश नीति भयशून्य नहीं है इसलिये वह सफल नहीं हो सकती और देश का भला नहीं कर सकती। सिर्फ इसलिये नहीं कि हमारे पास धन नहीं है, सिर्फ इसलिये नहीं कि हमारे पास नेता नहीं है, बल्कि इसलिये कि विदेश नीति का सिद्धान्त नहीं, सोच नहीं, सपना नहीं, हिन्दुस्तान आगे नहीं देख पाया। हमारे पास क्या नहीं था ? 44 करोड़ आदमी, एक माने में कहा जाये तो 60 करोड़ आदमी, महात्मा गाँधी, पुराना देश। यह सब हमारे हक में थे जिनके द्वारा हम अपनी विदेश नीति को सफल बना सकते थे, लेकिन इस सिद्धान्तहीनता ने हमें खत्म कर डाला। डॉ॰ लोहिया का विचार था कि स्वतंत्रता के बाद पहले दो चार वर्षों को छोड़कर पिछले दस-बारह वर्षों में हिन्दुस्तान आश्रित रहा है। कश्मीर के मामले में रूस के रोक वोट पर आश्रित रहा है और पंचवर्षीय योजना के मामले में अमरीका के डालर पर आश्रित रहता है। अतः जब तक हिन्दुस्तान इस आश्रय से छुटकारा नहीं ले लेता तब तक उसके लिये स्वतंत्र राय रखना प्रायः असम्भव है।

एक बार प्रधानमंत्री नेहरू ने विदेश नीति की दो कसौटियाँ बताईं थी- (1) देश का हित (2) विश्व व्यवस्था। पहली कसौटी के सम्बन्ध में डॉ॰ लोहिया ने कहा

है कि, "हम लोग कम से कम 17-18 हजार वर्ग मील खो चुके हैं। कैलाश मानसरोवर वाली हिसाब से 1 लाख वर्ग मील। विश्व व्यवस्था की दृष्टि से हमारी विदेश नीति पराश्रित है। विदेश नीति का कोई सिद्धान्त नहीं, सोच नहीं, सपना नहीं। पिछले 15 वर्षों की हिन्दुस्तान की विदेश नीति में विश्व शांति की थोथी पैगम्बरी और चालाकी की कूटनीति है। विदेश नीति की सबसे बड़ी कसौटी है पड़ोसियों से हमारे सम्बन्ध। एक भी पड़ोसी देश ऐसा नहीं जो चीन के मुकाबले में हिन्दुस्तान का ज्यादा दोस्त है।"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर ने भारतीय विदेश नीति के बारे में 7 अक्टूबर, 1951 को कहा था कि, "अपनी विदेश नीति में हम पूँजीवाद और संसदीय प्रजातंत्र के बीच भेद नहीं कर पाये हैं। पूँजीवाद की नापसंदगी समझने योग्य है। लेकिन हमें ध्यान में रखना चाहिये कि, संसदीय प्रजातंत्र कमज़ोर होने पर तानाशाही का विकास न होने पाये। वरना यह बिल्कुल वैसा ही होगा जैसे कि, बच्चे को 'टब' में नहलाने के बाद गन्दा पानी बाहर फेकने के साथ बच्चे को भी फेक देना, पर पानी को फैंक कर बच्चे को उठा लेना चाहिये।"[2]

डॉ॰ आम्बेडकर ने 27 सितम्बर, 1951 ई॰ को केन्द्रीय, नेहरू मंत्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया था। त्याग-पत्र जिन कारणों से दिया गया था उन्हें उन्होंने 10 अक्टूबर, 1951 ई॰ को एक वक्तव्य में स्पष्ट किया। डॉ॰ आम्बेडकर ने त्याग-पत्र देने के पाँच प्रधान कारण बताये जिनमें नेहरू की विदेश-नीति जो तत्कालीन समय अपनायी जा रही थी एक कारण था। डॉ॰ आम्बेडकर पहली संसद की राज्य सभा में 1952 ई॰ में चुनकर पहुँचे। 23 मई, 1952 ई॰ के बजट सत्र में राज्यसभा में 1952-53 के बज़ट पर चर्चा हुई। इसी सत्र में 27 मई को डॉ॰ आम्बेडकर ने बज़ट पर अध्ययन पूर्ण विस्तृत भाषण दिया। इसी भाषण में उन्होंने पं॰ नेहरू की विदेश नीति और कश्मीर समस्या पर सरकार की खिंचाई की थी।

भारत की विदेश नीति (पं॰ नेहरू की विदेश नीति) के बारे में कहा जाता है कि, हिन्द महासागर शांति का आंगन बनना चाहिये। यह भारत की विदेश नीति

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 84 (1969).
2. चां॰ भ॰ खैरमोड़े, डॉ॰ भीमराव रामजी आम्बेडकर, चरित्र खण्ड- 10, पेज सं.- 159.

का महत्वपूर्ण सूत्र है। भारत की इस अनोखी विदेश नीति की विशेषता को ध्यान में रखकर उपमहाद्वीप और पूर्व रसिया, अरब राष्ट्र आदि के बीच आर्थिक और सरकारी स्तर पर आपसी सम्बन्ध स्थापित हों, यही भारत की विदेश नीति है। विदेश नीति के मूल मार्गदर्शक तत्वों के बारे में कहा जाता है कि, विश्व में शांति स्थापना के लिये क्रियाशील रहना, विश्व के सब देशों के साथ सहयोग की भूमिका पर सम्बन्ध बढ़ाना, समान और न्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था उभारने हेतु प्रयत्नशील रहना, साथ ही विश्व में जहाँ कहीं भी स्वतंत्रता और समता के लिये संघर्ष चल रहा हो, उसे मन से समर्थन देना, यही हमारी विदेश नीति के बुनियादी तत्व हैं। गुट-निरपेक्षता की संकल्पना, उपनिवेशवाद विरोधी संकल्पना, साम्राज्यवादी संकल्पना तथा आपस में शांति के साथ रहने की संकल्पना आदि को भारत की विदेश नीति का आधार मानकर पं. नेहरू ने इन्हीं के तहत अपनी नीतियों को कार्यरूप प्रदान किया।

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार, "जब मैं अपनी विदेश नीति की बात सोचता हूँ तो मुझे **बिस्मार्क** और **बर्नाड शॉ** का कानून स्मरण हो जाता है। बिस्मार्क ने कहा था कि, 'राजनीति किसी आदर्श के साक्षात्कार करने का खेल नहीं है। वह जो संभव है, उसी को साक्षात करने का खेल है।' कुछ समय बाद बर्नाड शॉ ने कहा था कि, 'अच्छे आदर्श अच्छे होते हैं, लेकिन हमें याद रखना चाहिये कि अत्यधिक अच्छा बनना खतरनाक होता है।' हमारी विदेश नीति संसार के इन दो महान व्यक्तियों द्वारा दिये गये बुद्धिमत्तापूर्ण उपदेश के सर्वथा विरुद्ध हो जाती है।"[1]

यह असंभव को संभव करने तथा अत्यधिक अच्छा बनाने की नीति हमारे लिये कितनी खतरनाक साबित हुई, यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि आज हमारी आमदनी का कितना बड़ा भाग सैनिक और रक्षा व्यय में चला जाता है। अपनी भूखों मरती करोड़ों जनता के लिये खाद्यान्न जुटाना कठिन हो रहा है और औद्योगीकरण के लिये आवश्यक सहायता प्राप्त करना मुश्किल हो रहा है। डॉ. आम्बेडकर ने बजट पर भाषण देते हुये कहा था कि-

---

1. चां. भ. खैरमोड़े, डॉ. भीमराव रामजी आम्बेडकर, चरित्र खण्ड- 10, पेज सं.- 111.

"हम बतला चुके हैं कि हमारी विदेश नीति शांति और भाईचारे की नीति है। मेरे सम्मानित मित्र, दीवान चमनलाल ने इसे नेहरू का सिद्धान्त कहा है। अगर नेहरू के सिद्धान्त का यही ध्येय है तो इसका स्वागत है, बशर्ते कि इसे सभी माने। लेकिन अगर विश्व में शांति और भाईचारा बनाये रखने के लिये यह भारत की विदेश नीति है, तब मैं जानना चाहता हूँ कि हमारा दुश्मन या हमारे दुश्मन कौन है, जिनके खिलाफ या जिनसे बचाव हेतु हम 197 करोड़ रुपया फौज़ पर खर्च कर रहे हैं"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर ने अपने भाषण में कहा था कि इस समय भारत की कुल आय (रिवेन्यु) 404 करोड़ है और उसमें से केवल सेना पर 200 करोड़ के लगभग खर्च हो रहा है। यह देश के लिये घातक बात है। सेना पर होने वाले खर्च को यदि हम 50 करोड़ कम कर दे, तब दामोदर घाटी योजना का कार्य तीन वर्ष में पूरा हो जायेगा और विदेश से हमें 50 करोड़ का कर्ज़ा भी नहीं लेना पड़ेगा। कश्मीर की सुरक्षा के लिये यह खर्च आवश्यक है। अगर कोई ऐसा कहता है तो कश्मीर और भारत पर आक्रमण करने की मूर्खता पाकिस्तान नहीं करेगा। सेना पर जरूरत से ज्यादा होने वाले खर्च में कटौती कर उसे समाज के हित में लगाया जाय।

भारत शासन की वर्तमान वैदेशिक नीति देश के लिये हानिकारक सिद्ध हुई है। आज दुनिया में हमारा कोई मित्र नहीं रह गया है। हम इतने शक्तिहीन हो गये हैं कि सारा संसार हमारी उपेक्षा कर रहा है। आज संसार में स्पष्ट रूप से दो गुट हैं- आप उन्हें पूँजीवादी और जनवादी गुटों में पुकारते हैं। अमेरिका और रूस दोनों एक दूसरे गुट के नेता हैं। इन दोनों गुटों की अर्थव्यवस्था का आधार देखकर हमें वहाँ की शासन पद्धति पर गौर करना चाहिये।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार अपनी वैदेशिक नीति को प्रबल बनाने का मूलमंत्र है स्वयं को सरल एवं सादा बनाना। उनका है कि चीन के लिये सुरक्षा परिषद में स्थान खोज़ने के बजाय हमें स्वयं अपने लिये स्थायी स्थान प्राप्त करने का आन्दोलन करना चाहिये। कश्मीर के विषय में उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक है।

---

1. चां॰ भ॰ खैरमोड़े, डॉ॰ भीमराव रामजी आम्बेडकर, चरित्र खण्ड- 11, पेज सं॰- 15.

"एशिया में प्रभुत्व की उपेक्षा कोई नहीं कर सकता है। इसी आधार पर हम अपने देश को बाँट चुके हैं। अतः कश्मीर में भी वही करना चाहिये। जम्मू और लद्दाख जहाँ मुस्लिमों का बहुमत है, कश्मीर घाटी जहाँ 85 प्रतिशत मुसलमान हैं पाकिस्तान को दे देना चाहिये क्योंकि जनमत लेने पर यदि मुसलमानों ने पाकिस्तान में मिलने की राय दी तो जम्मू और लद्दाख समेत पूरा कश्मीर ही हमसे अलग हो जायेगा। तब शरणार्थियों की समस्या फिर सामने आयेगी।"[1] देश की दिनों दिन बढ़ती हुई भुखमरी और गरीबी देश की दूसरी समस्या है। भारत को समृद्ध बनाने के लिये औद्योगीकरण आवश्यक है किन्तु वही नहीं किसी देश का मूलाधार वहाँ की खाद्य समस्या है। सबसे पहला काम देश के लिये खाद्यान्न के लिये आत्म-निर्भर बनना है। अतः भारत की प्रमुख समस्या उसकी खेती को उन्नत बनाना है। यह समस्या ज़मीन को बड़े टुकड़ों में बाँटकर नहीं, वरन 9300 लाख एकड़ भूमि जिस पर कृषि नहीं की जाती उसे कृषि योग्य बनाकर भूमिहीनों को अविलम्ब बाँट देनी चाहिये।

डॉ॰ लोहिया ने भारत की स्वतंत्रता के पूर्व कांग्रेस के परराष्ट्र विभाग के मंत्री पद पर रहते हुये भारत की विदेश नीति के कुछ ऐसे बुनियादी आधार प्रस्तुत किये, जो भारत की विदेशी राष्ट्रों के प्रति नीति तथा पड़ोसी राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध को रेखांकित करते हैं। इसके अन्तर्गत उन्होंने हिन्दुस्तान का इंग्लैण्ड के साथ विदेश सम्बन्ध को तोड़ देने की वकालत की क्योंकि, ये सम्बन्ध केवल इंग्लैण्ड का ही हित साधन करते थे। विशेषकर आर्थिक, व्यापारिक क्षेत्र में। इसी समय उन्होंने भारतीय जनता का आह्वान किया कि ब्रिटिश साम्राज्य की विदेश नीति से अपने आपको पूरी तरह अलग करके अपने आपको पूर्णरूप से आज़ादी की लड़ाई एवं जनतंत्र को स्थापित करने के लिये लगायें। आज़ादी के बाद डॉ॰ लोहिया ने पं॰ नेहरू की विदेश नीति की कठोर आलोचना की। उनकी दृष्टि में, हिन्दुस्तान की विदेश नीति भयशून्य नहीं है, इसलिये वह सफल नहीं हो सकती और देश का भला नहीं कर सकती। विदेश नीति का सिद्धान्त सुनिश्चित होना चाहिये, उसकी सोच और सपना होना

---

1. 8 नवम्बर, 1951 को लखनऊ विश्वविद्यालय में आयोजित छात्र संघ के व्याख्यान में मालवीय हॉल में डॉ॰ आम्बेडकर के सम्बोधन के कुछ अंश।

चाहिये जिससे हम राष्ट्र हित में स्वतंत्र रूप से अन्य देशों के साथ मधुर संबंधों की स्थापना कर सकें।

वास्तव में डॉ॰ लोहिया की दृष्टि दूरगामी हित की ओर संकेत करती है, क्योंकि किसी भी देश की विदेश नीति की सफलता के लिये पहली आवश्यकता 'राष्ट्र हित' होती है और दूसरी आवश्यकता है- अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के बिना अपनी स्वतंत्र विदेश नीति का प्रतिपादन करना। डॉ॰ लोहिया ने पं॰ नेहरू की विदेश नीति की आलोचना में मुख्य रूप से इन दो बातों को उठाया था। 'राष्ट्र हित' के मामले में भारत-सरकार की स्थिति यह थी कि, जहाँ एक ओर पाकिस्तानी सीमा में उसे अपनी भूमि का नुकसान उठाना पड़ा वहीं चीन के हमले द्वारा भी उसे अपनी भूमि खोनी पड़ी। चीन ने हमारी भूमि पर अभी भी कब्ज़ा जमा रखा है। यह भारत की विदेश नीति की सफलता नहीं कही जा सकती। इसमें भारत के राष्ट्रीय हितों पर चोंट पहुंची है। दूसरी ओर स्वतंत्रता के बाद भारत की विदेश नीति विदेशी शक्तियों से प्रभावित होती हुई जान पड़ती है, इसीलिये डॉ॰ लोहिया ने भारतीय विदेश नीति को 'भयमुक्त' नहीं माना। आज़ादी के बाद भारत एक स्वतंत्र, सम्प्रभु सम्पन्न देश है इसलिये यह उसके हक में नहीं कहा जा सकता कि वह अपनी विदेश नीति का संचालन विश्व की शक्तियों के दबाव में करे। ऐसा करना हमारे राष्ट्र हित में नहीं होगा। यद्यपि इसीलिये भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति पर चलने का प्रयास किया था परन्तु यह सत्य है कि, भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति समय और परिस्थितियों के अनुसार किसी न किसी गुट की ओर झुकी हुई दिखाई देती है।

डॉ॰ आम्बेडकर चूँकि संसदीय प्रजातंत्र के समर्थक थे, इसलिये वे तानाशाही के विकास होने से खतरा महसूस कर रहे थे। उन्होंने पं॰ नेहरू की विदेश नीति से असहमत होते हुये मंत्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया था क्योंकि, उनकी दृष्टि में देश की विदेश नीति 'विस्मार्क' और 'बर्नाड शॉ' द्वारा दिये गये बुद्धिमत्ता पूर्ण उपदेशों के विरुद्ध है। इन दोनों का विचार था कि 'जो संभव हो वही करना चाहिये तथा अत्यधिक अच्छा बनना खतरनाक होता है।' डॉ॰ आम्बेडकर ने पं॰ नेहरू सरकार द्वारा किये जा रहे रक्षा व्यय की आलोचना की। उन्होंने इसमें कटौती करने तथा करोड़ों भूखों मरती जनता के लिये खाद्यान्न जुटाने की बात कही। उन्होंने भारत की

तत्कालीन विदेश नीति को देश के लिये हानिकारक कहा क्योंकि विश्व में भारत के कोई मित्र नहीं रह गये और भारत इतना शक्तिहीन हो गया कि, सारा संसार उसकी उपेक्षा कर रहा है। डॉ॰ आम्बेडकर ने विदेश नीति को सफल बनाने के लिये स्वयं को सरल एवं सादा बनाने की सिफारिश की। उन्होंने भारत को समृद्धिशाली बनाने के लिये औद्योगीकरण को आवश्यक माना तथा निम्न वर्ग के लोगों के उत्थान करने की बात कही, जिससे विदेशों में भारत की अच्छी साख बने।

वास्तव में गरीबी दूर करना, देश का विकास करना एवं संवृद्धि दर को ऊपर उठाना अच्छा और देश के हित में है परन्तु डॉ॰ आम्बेडकर की यह बात कि रक्षा व्यय में कटौती करके गरीबी निवारण एवं देश का विकास किया जाय स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्येक देश की विदेश नीति का प्रथम लक्ष्य राष्ट्रहित होता है और पहला राष्ट्रहित 'देश की सुरक्षा' होता है। यदि हम देश की सुरक्षा को ताक में रख देंगे तो अन्य हितों को प्राप्त करने में भी असफल रहेंगे। अतः पहली जरूरत देश की सुरक्षा है। भारत को उसके पड़ोसी देशों पाकिस्तान व चीन की ओर से बराबर खतरा बना रहता है और इन्होंने भारत के ऊपर कई बार हमला करने की कोशिश भी की है। अतः भारत को इस विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है। यद्यपि यह हो सकता है कि, सुरक्षा व्यय एवं गरीबी निवारण व देश का विकास में एक संतुलन स्थापित किया जाये, परन्तु यह ध्यान रहे कि राष्ट्र की एकता व अखण्डता के लिये देश की आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की सुरक्षा अपरिहार्य है।

कुशल विदेश नीति उसी को कहा जा सकता है, जब हम विश्व के देशों से अपने राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित करवा लेने के बावजूद भी अपनी स्वतंत्र विदेश नीति में किसी प्रकार की आँच न आने दे। साथ ही साथ अपनी देश की सुरक्षा को सर्वोपरि रखते हुये उसकी एकता व अखण्डता को बनाये रखें। आज जबकि भारत की आज़ादी के 60 वर्ष हो चुके हैं और भारत लगभग सभी क्षेत्रों में अपना विकास करने में समर्थ है तो उसे राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखकर दबाव से मुक्त विदेश नीति का संचालन करने की आवश्यकता है।

4.5. (क) पाकिस्तान एवं विदेश नीति-

15 अगस्त, 1947 ई॰ को देश का विभाजन हुआ। खेदपूर्ण बँटवारे से देश में अनेक सवाल पैदा हुये। न केवल उस समय खून की नदियाँ बहीं बल्कि उस समय के सवाल आज तक भी नहीं हल हो पाये और पाकिस्तान हिन्दुस्तान का रिश्ता अब भी उलझा हुआ है। कृतिम तरीके से बनायी गयी इस चीज के खिलाफ डॉ॰ लोहिया थे, उन्होंने इस परिस्थिति का बुनियादी विवेचन किया।

डॉ॰ लोहिया के अनुसार हिन्दुस्तान की सरकार का पाकिस्तान के बारे में रुख/सोच दोतरफा नहीं रहना चाहिये था। एक पाकिस्तान को बेमतलब खुश करने का और दूसरा उसे बेमतलब नाराज़ करने का। पाकिस्तान के साथ हिन्दुस्तान सरकार की नीति बुनियादों पर बननी चाहिये थी। एक ओर ईमानदारी से संघीय रिश्ते कायम करने की, और दूसरी ओर अस्वाभाविक सीमा के पार जो कुछ हो उसमें पूर्ण दिलचस्पी लेने की। पाकिस्तान में जो हत्या, बलात्कार, आगज़नी होती थी, उसकी पूर्ण जानकारी दुनिया को खासकर अरब देशों- ईरान, अफगानिस्तान और इंडोनेशिया को करानी चाहिये। उन्होंने कहा कि, संयुक्त राष्ट्र संघ में छोटे-छोटे राष्ट्रों की बड़ी संख्या स्वाभाविक रूप से किसी बड़े राष्ट्र के साथ होने वाले झगड़े में छोटे राष्ट्र का साथ देती है।[1]

अल्पसंख्यक संबंधी नीति स्पष्ट करते हुये डॉ॰ लोहिया ने कहा था कि, हिन्दुस्तान को शरणार्थियों को खुशी से स्वीकार करके पाकिस्तान पर दबाव डालना चाहिये कि वह अपना रास्ता बदले और हिन्दुस्तानियों को यह भी तय कर लेना चाहिये कि वह अपने यहाँ के अल्पसंख्यकों को दूसरों की राजनीति का मोहरा और रक्तपात का शिकार नहीं बनने देंगे।

पाकिस्तान किसी भी तरह कश्मीर को हासिल करना चाहता था और कश्मीर सवाल का स्वरूप कश्मीर भू-भाग तक सीमित न रहके मुस्लिम लीग के द्विराष्ट्रवाद और कांग्रेस के बहुरंगी एकराष्ट्रवाद के बीच के सैद्धान्तिक मतभेद का ही हो गया था। बाहर की दुनिया कश्मीर का सवाल समझ नहीं सकी थी।

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 178 (1969).

पाकिस्तान हिन्दुस्तान का झगड़ा सत्ता या लालच के कारण नहीं बल्कि मूलतः राष्ट्रवाद की संगठित तथा एक्यवर्धक शक्ति व विघटक एवं विच्छेदक शक्ति का झगड़ा है, यह पृष्ठभूमि अज्ञात थी।[1]

हिन्दुस्तान, कश्मीर में मतगणना कराने को वचनबद्ध था। कश्मीर के महाराजा को बहुत पहले हटा देना चाहिये था। हिन्दुस्तानी मंत्रिमण्डल के एक मंत्री को कश्मीर में रहना चाहिये था। भूमि सुधारों में देर नहीं करनी चाहिये थी लेकिन हिन्दुस्तान की सरकार हिचकती रही और उसने कोई साहसपूर्ण कदम नहीं उठाया और इस कारण कश्मीर की लड़ाई आधी हारी जा चुकी थी। इसी पृष्ठभूमि में डॉ॰ लोहिया ने कहा था कि पाकिस्तान में इलाकों का अलगाव और अनमेल इतना अधिक है कि, वह किसी भी समय ताश के महल की तरह गिर सकता है। लेकिन ऐसा होने के पहले मुमकिन है कि, वह हिन्दुस्तान को दोष देकर दंगों और युद्ध की नीति पर चल कर अपने ऐतिहासिक भविष्य से बचना चाहे।

डॉ॰ लोहिया ने कहा था कि पाकिस्तान भारत के संबंध अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के अधिक व्यापक सवाल का एक अंग है इसलिये विदेश नीति की समस्याओं का इन पर गहरा असर पड़ता है। अगर इन दोनों इलाकों की विदेश नीति अलग-अलग रही तो निश्चय ही अटलांटिक या सोवियत गुट अपने हित में इसका लाभ उठायेंगे। डॉ॰ लोहिया ने सुझाव दिया कि दोनों राष्ट्रों को अमरीका या रूस दोनों गुटों से अलग रहकर तीसरे खेमें की नीति पर चलना चाहिये।"[2]

जिन लोगों का इतिहास और भाषा एक है, उनमें स्थायी विभाजन नामुमकिन है। भूगोल, अर्थशास्त्र और परराष्ट्र नीति के द्वारा एक बनी हुई जनता का विभाजन करना मुश्किल है और इस दृष्टि से सन् 1948 ई॰ में, भारत विभाजन के कुछ महीने बाद ही डॉ॰ लोहिया ने मत व्यक्त किया था कि, "तीन में से एक या तीनों तरीकों से पाकिस्तान का अंत हो जायेगा प्रथम बात-चीत के जरिये महासंघ बनाकर, द्वितीय हिन्दुस्तान में समाजवादी क्रान्ति के द्वारा, और तृतीय पाकिस्तान के हमला करने पर हिन्दुस्तान के जवाबी हमलों के द्वारा।

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 179 (1969).
2. वही, पेज सं.- 180.

डॉ० लोहिया के अनुसार "भारत के दीमाग की एक नई कोशिश तब शुरू होगी, जिसमें बौद्धिक रागात्मक मेल होगा, जो विविधता में एकता को निष्क्रिय नहीं बल्कि सशक्त सिद्धान्त बनायेगा और जो स्वच्छ लौकिक खुशियों को स्वीकार करके भी सभी जीवों और वस्तुओं की एकता को नज़र से ओझल न होने देगी।"

"हिन्दुस्तान अगर नौकर है तो पाकिस्तान गुलाम। हिन्दुस्तान मालिक बदल सकता है। उसे आज़ादी है कि वह कभी अमरीका का और कभी रूस का नौकर रहे। पाकिस्तान गुलाम है। वह मालिक बदल नहीं सकता।" डॉ० लोहिया ने कहा है कि, हिन्दुस्तान के हिन्दू और मुसलमान जितना एक दूसरे के निकट आयेंगे, उतनी ही विभाजन की नींव कमज़ोर होगी। इस कारण हमें 'मुस्लिम हितैषी लेकिन पाकिस्तान विरोधी नीति' चलानी चाहिये।

सन् 1948 ई० में कश्मीर के सवाल पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रदर्शन हुआ, इससे यह स्पष्ट हुआ कि हिन्दुस्तान की परराष्ट्र नीति असफल हुई है। डॉ० लोहिया ने स्पष्ट किया कि किसी भी आज़ाद देश में उधर की जनता दुनिया के राष्ट्रों से मित्र संबंध रखने के लिये परराष्ट्र विभाग को जिम्मेदार मानती है। संयुक्त राष्ट्र संघ में कश्मीर के सवाल पर जो दुनिया का मत प्रदर्शन हुआ, वह हिन्दुस्तान के इतना खिलाफ हुआ कि हिन्दुस्तान को अपनी परराष्ट्र नीति के बारे में पुनर्विचार करना चाहिये। जनता ने अब तक इस विषय को बहिष्कृत कर दूर रखा था। जनता ने तर्कनिष्ठ बहस छेड़ना तो छोड़ ही दिया, आलोचना का एक शब्द भी नहीं कहा है। यह स्थिति अब बदलनी चाहिये और जनमत की ताज़ी हवा परराष्ट्र विभाग के पुराने बन्द कमरों में बहनी चाहिये।"[1]

डॉ. लोहिया ने कहा है कि, " वाकई कश्मीर का सवाल संयुक्त राष्ट्र संघ में पेश करना गल्ती (भूल) थी। अब कहा जाता है कि यह बाहरी सलाह से किया गया। कुछ भी हो, संयुक्त राष्ट्र संघ में कश्मीर प्रश्न की प्रगति से एक महत्वपूर्ण परिस्थिति ज़ाहिर हुई है कि दुनिया में पाकिस्तान के बहुत से दोस्त है और हिन्दुस्तान का प्रायः एक भी नहीं।

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 157 (1969).

पाकिस्तान ने 24-25 अप्रैल 1965 ई. को कच्छ के छडबेट, बियारबेट चौकियों पर आक्रमण किया था। तब से डॉ. लोहिया लड़ाई में कड़ी कार्यवाई करने के लिये लाल बहादुर शास्त्री सरकार को तंग कर रहे थे। 1962 ई. में चीनी आक्रमण के दौरान भारत माता के शरीर के मांस में चीनी राक्षस ने अपने दाँत गड़ाकर भारत की जो बेईज़्ज़ती की थी, जो मात खानी पड़ी थी, उसका दर्द डॉ. लोहिया के दिल में चुभ रहा था। अब और मानहानि न होने देने का उन्होंने बीड़ा उठाया और इस सवाल पर तूफान खड़ा किया। उन्होंने संसद में शुरू में ही पूँछा यह युद्ध है या नोंक-झोंक, फैसला करो। डॉ. लोहिया ने कहा कि अगर हम युद्ध की स्थिति में हैं, तो कहना चाहता हूँ कि, शास्त्री जी इस वक्त अपनी सरकार को केंचुआ सरकार बनाये हुये हैं, वह जो बरसात में केचुवा चला करता है, जिसका कि कोई नतीजा नहीं निकला करता और मैं अपने आपको निकम्मा मानता हूँ कि इस सरकार को हटा नहीं सकता। लेकिन यह सरकार इतनी निर्लज्ज हो गयी है कि शास्त्री जी ज़मीन पर ज़मीन खोते चले जा रहे हैं लेकिन अभी तक कोई अपना संकल्प नहीं कर पाते।[1]

डॉ. लोहिया जब विदेश (पू. जर्मनी) से लौटे (1965) उस समय सरकार ने शर्मनाक, काला 'कच्छ समझौता' किया था। डॉ. लोहिया के मन में प्रक्षोभ, संताप, उद्वेग, चिढ़, घृणा इत्यादि भावनाओं का उबाल आया। कच्छ के तिहरे समर्पण से वे बेचैन हुये। **एक** तो भारत अपने इलाके से हट गया है, वह अपनी सेना अपने इलाके में भेज नहीं सकता, **दूसरे** पाकिस्तान ने भारत के इलाके के एक टुकड़े पर गश्त लगाने का अधिकार प्राप्त किया है। **तीसरे**, सरकार की यह राय कि, मामला केवल सीमा निर्धारण का है, सीमा विवाद का नहीं, खण्डित हो गयी है और ट्रिव्यूनल की बात सोची जा रही है। कच्छ समझौते से उत्पन्न इस स्थिति पर रोशनी डालते हुये डॉ. लोहिया ने कहा है कि-

"जब तक समग्र संबंधों पर पूरी तरह सोचा नहीं जाता, तब तक भारत एक आत्म-समर्पण से दूसरे आत्म-समर्पण तक घिसटता ही रहेगा।"[2]

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 224 (1969).
2. वही, पेज सं.- 426.

सितम्बर 1965 में पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर आक्रमण करने के साथ ही डॉ॰ लोहिया की भविष्यवाणी सही साबित हुई। डॉ॰ लोहिया ने पहले ही इशारा किया था कि कच्छ का रन दलदल है लेकिन लाहौर का मार्ग तो साफ है। "मज़बूरियाँ देश और सरकार को उस रास्ते पर ले गयीं। 6 सितम्बर को शास्त्री सरकार ने पाकिस्तानी आक्रमण का प्रथम बार दुश्मन की भूमि में जाकर प्रति आक्रमण से जवाब दिया। डॉ॰ लोहिया की लगतार कोशिश को यश मिला।"[1]

10 जनवरी 1966 ई॰ को ताशकन्द सन्धि पर दस्तखत करने के बाद प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री की हृदय क्रिया बन्द होने से मृत्यु हुई। ताशकन्द सन्धि देश का अपमान करने वाली सन्धि थी। लड़ाई के द्वारा भारत ने जो हासिल किया था वह सन्धि करके गँवाया। हाजीपीर, कारगिल जैसी चौकियाँ तो देनी ही पड़ी लेकिन एक-दूसरे के अन्तर्गत व्यवहार में हस्तक्षेप न करना मंजूर करके भारत ने बादशाह अब्दुल गफ्फार खाँ को धोखा दिया। जम्मू तथा कश्मीर में अपना भू-भाग समझ कर मुज़ाहिदों की घुसपैठ पाकिस्तान द्वारा चल रही थी। डॉ॰ लोहिया ने कहा था कि यह संधि कबूल करके भारत-सरकार ने कश्मीर को मुक्त करने का पाकिस्तान का हक मान्य किया है।

भारत के विभाजन के बाद से पाकिस्तान ने जो भारत विरोधी रुख अपनाया वह बाद में शत्रुता में परिणत हो गया। इस प्रकार पाकिस्तान का जन्म ही साम्प्रदायिक द्वेष तथा घृणा पर हुआ है। जासूसी, तोड़-फोड़, सीमा का उल्लंघन आदि ऐसी घटनाएं होने लगीं। डॉ॰ आम्बेडकर ने नेहरू मंत्रिमण्डल से अपने त्याग-पत्र संबंधी वक्तव्य में विदेश नीति और कश्मीर की समस्या के संबंध में जो प्रश्न उठाये वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने कहा कि हमारा पाकिस्तान के साथ जो झगड़ा हुआ है वह हमारी विदेश नीति का ही अंग है जिससे मैं अत्यधिक असंतुष्ट हूँ। पाकिस्तान से जो हमारे संबंध बिगड़े हुये हैं, उसके मूल में दो कारण हैं- एक **कश्मीर का प्रश्न** और दूसरे **पूर्वी बंगाल में अपने लोगों की स्थिति**।[2] मुझे यही ज्ञात हो रहा है कि पूर्वी बंगाल में जो अपने लोग हैं वे सभी समाचार-पत्रों की सूचना के अनुसार हैं। आज

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 434 (1969).
2. चा. भ. खैरमोड़े, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, चरित्र खण्ड- 10, पेज सं.- 111.

अपने लोग असाध्य स्थिति से गुज़र रहे हैं। कश्मीर की अपेक्षा उन लोगों की तरफ ध्यान देना चाहिये। इसकी परवाह न कर हमने कश्मीर के प्रश्न पर ही अपने कर्तव्य की बाज़ी लगा दी। ऐसा होने पर मुझे प्रतीत होता है कि, हम एक अयथार्थ बात के लिये झगड़ रहे हैं। हमारे झगड़े का मूलाधार यह है कि, हम यह निर्णय करना चाहते हैं कि, किसका पक्ष न्याय का है और किसका पक्ष अन्याय का है ? मेरी समझ के अनुसार प्रश्न यह नहीं है कि किसकी बात मानी जाये या कौन वास्तव में ठीक नहीं है ?[1] लेकिन सही क्या है, यह होना चाहिये। इस मुख्य सवाल को लेते हुये डॉ. आम्बेडकर का हमेशा से यह मानना रहा है कि कश्मीर का विभाजन कर देना चाहिये। हिन्दू और बुद्धिस्ट भाग भारत को और मुस्लिम आबादी वाला क्षेत्र पाकिस्तान को दे देना चाहिये। उन्होंने कहा है कि, ''अगर आप कश्मीर को तीन भागों में बाँटना चाहते हैं- (1) युद्ध विराम संधि क्षेत्र (2) कश्मीर की दून (घाटी) और (3) जम्मू लद्दाख का क्षेत्र इस बारे में अगर घाटी में जनमत संग्रह कराया जाय तो मुझे भय है कि कश्मीर के हिन्दू और बुद्धिस्टों को उनकी इच्छा के विरुद्ध पाकिस्तान में धकेल दिया जायेगा। इसी तरह की समस्या हम पूर्वी बंगाल में झेल रहे हैं।''[2] जो समस्या धर्म के आधार पर तय की गयी है उसे उसी आधार पर हल करनी होगी। साम्प्रदायिक विद्वेष जब कश्मीर को विभाजित कर चुका है तो राजनैतिक इकाई और संवैधानिक बंधन कश्मीर को जोड़ने में सहायक नहीं हो सकते हैं।

डॉ. आम्बेडकर नेहरू की विदेश नीति और कश्मीर के सवालों पर उनकी ढुलमुल नीति के विरोधी थे। डॉ. आम्बेडकर की इस भूमिका की अनेक समाचार-पत्रों ने खुलकर प्रशंसा की है। 12 अक्टूबर 1951 ई. के 'नवशक्ति' पत्र के सम्पादकीय में इस बात पर प्रकाश डालते हुये स्पष्ट लिखा गया है कि-

''नेहरू की विदेश नीति बिल्कुल बचकानी है, अव्यावहारिक और सपने जैसी थी। देश की आज की प्राथमिक अवस्था को रास न आने वाली और शत्रु निर्माण करने वाली वह नीति थी। नेहरू को स्वतंत्र ढंग से कार्य करने का अवसर

---

1. चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, बाबा साहब की भविष्यवाणियाँ, पेज सं.- 20-44.
2. चां. भ. खैरमोड़े, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, चरित्र खण्ड- 10, पेज सं.- 111-113.

उसी समय मिलेगा जिस समय यह देश शक्तिशाली और स्वावलंबी होगा। डॉ. आम्बेडकर के व्यावहारिक बुद्धि को यह नीति जंची नहीं। इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक बात न थी। नेहरू की भारत-पाक सम्बन्धी नीति ऐसी ही कमज़ोर और तनावशून्य थी। कश्मीर का सवाल संयुक्त राष्ट्रसंघ की ओर ले जाकर उन्होंने भयंकर गल्ती की और आज उसके परिणाम देश के हर नागरिक को आर्थिक दृष्टि से भुगतने पड़ते हैं। फौजी विशेषज्ञों का कहना है कि, कश्मीर में कुछ सप्ताह और युद्ध चालू रहता तो पूरा प्रदेश भारत के नियंत्रण में आता, लेकिन हमारी सरकार को अचानक शांति की याद आयी और उन्होंने वहीं युद्ध रोक दिया। अभी नेहरू पाक के आह्वान को जवाब दे रहे हैं, कश्मीर पर हुआ आक्रमण यह भारत पर हुआ आक्रमण है, ऐसा नेहरू बताते हैं। बदकिस्मती से अभी भी पाक में युद्धोपयोगी सामग्री जा रही है। कश्मीर का 1/3 प्रदेश शत्रु के कब्ज़े में है, फिर भी नेहरू को ऐसा नहीं लगता कि, पाक ने कश्मीर पर आक्रमण किया। जबकि इस सारी स्थिति से सारा देश त्रस्त है। इस स्थिति के कारण ही डॉ. आम्बेडकर के सामने बँटवारे की योजना सामने आयी है। बंगाल का सवाल भी अधिक महत्वपूर्ण है। फिर भी नेहरू उस मामले में लापरवाह हैं। यह उनका आक्षेप ठीक लगता है।"[1]

डॉ. आम्बेडकर के सहयोगी रहे बंगाल शेड्यूल्ड कॉस्ट फेडरेशन के पूर्वाध्यक्ष तथा पाकिस्तान के पूर्व मंत्री जोगेन्द्रनाथ मण्डल को डॉ. आम्बेडकर द्वारा सूचित कश्मीर का विभाजन मान्य नहीं था। डॉ. आम्बेडकर के सुझाव को उन्होंने नकारा और कहा था कि-

"समुदाय के आधार पर डॉ. बी.आर. आम्बेडकर के द्वारा कश्मीर के विभाजन पर दिये गये सुझाव का परिणाम भय और उपद्रव की सम्भावना होती और इसकी भी संभावना बनती कि विभाजन के वैसे दृश्य पुनः उभरते जिनके हिन्दू, सिख, मुस्लिम भारत के विभाजन के बाद भुक्त-भोगी रहे थे। पाकिस्तान की सेन्ट्रल केबिनेट के पूर्व सदस्य जे.एन. मण्डल ने ऐसा अनुभव किया।"[2]

---

1. चा. भ. खैरमोड़े, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर, चरित्र खण्ड- 10, पेज सं.- 103-104.
2. द टाइम्स ऑफ इण्डिया, 16 अक्टूबर 1951 का अंक।

पं॰ नेहरू ने डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा कांग्रेस सरकार के खिलाफ जो मुद्दे उठाये थे उनका रोषपूर्ण भाव में जवाब देते हुये कहा था कि- "मेरी विदेश नीति पर कई लोगों की ओर से अनेक प्रकार की आलोचनाएं हो रही हैं। डॉ॰ आम्बेडकर कहते हैं कि, इस नीति के कारण हमारे कोई दोस्त नहीं रहे हैं, किन्तु मैं पूरे विश्वास के साथ कहता हूँ कि, इसी नीति के चलते हमारी दुनिया में काफी प्रतिष्ठा बढ़ी है। तात्विक दृष्टि से ही नहीं व्यावहारिक दृष्टि से भी यही भूमिका सही साबित हुई है, मेरे प्रधानमंत्री रहते हुये हमारी नीति तटस्थ रहेगी। जिन लोगों को हमारी विदेश नीति स्वीकार नहीं है, कांग्रेस को अपना मत नहीं देना चाहिये।"[1]

पं॰ नेहरू ने समाजवादी और शेड्यूल कॉस्ट फेडरेशन की संयुक्त नीति पर टीका की और विदेश नीति का विश्लेषण करते हुये कहा था कि- "मंत्रिमण्डल से बाहर निकलते ही डॉ॰ आम्बेडकर ने भारत की विदेश-नीति पर टिप्पणी की है। क्या अशोक मेहता और डॉ॰ आम्बेडकर की दोस्ती में समाजवादियों ने डॉ॰ आम्बेडकर की विदेश नीति स्वीकार की है ? क्या डॉ॰ लोहिया जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त व्यक्ति को डॉ॰ आम्बेडकर के लिये समाजवादी पक्ष ने छोड़ दिया है ? इस बारे में डॉ॰ लोहिया अभी तक बताते थे कि, विदेश नीति कैसे हज़म करना चाहिये। लेकिन समाजवादी आसमान में अभी डॉ॰ आम्बेडकर और डॉ॰ लोहिया जैसे दो तारे जगमगाएंगे और नज़दीक आकर भी वे क्या करेंगे ?[2]

'नवशक्ति' पत्र ने काश्मीर की समस्या के बारे में डॉ॰ आम्बेडकर से अनेक सवाल साक्षात्कार के माध्यम से पूछे थे। कश्मीर का विभाजन जातीय तत्वों के आधार पर किया गया तो क्या द्विराष्ट्रवाद मान लेना चाहिये ? इस सवाल का जवाब देते हुये डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा था कि-

"मैं यथार्थवादी पुरुष हूँ जो दिखता है, उस पर विचार कर उसका उपाय ढूँढना यह किसी राजनीतिक मनुष्य का काम है और मैंने पहले पाकिस्तान को मान्यता देने का आग्रह सोच रखा था। आस्ट्रेलिया, चेकास्लाविकिया आदि देशों में जो हुआ उसकी पुनरावृत्ति इस देश में नहीं होगी, ऐसा मुझे लगता था। इसीलिये

---

1. 'नवशक्ति' 28 नवम्बर, 1951.
2. वही।

मैंने स्पष्ट रूप से बताया कि अगर मुसलमानों के लिये उनका स्वयं का राज्य चाहिये, तो उन्हें एक ही राज्य में उनकी इच्छा के खिलाफ दबाकर नहीं रख सकते। क्या उस प्रकार ही हुआ और सब मुसलमान पाक के लिये लड़ें और उन्होंने स्वतंत्र राष्ट्र का निर्माण किया ? उस बँटवारे का कश्मीर आखिरी भाग है यही मेरा मत है।''[1]

सन् 1947 ई. में भारत ने पाकिस्तान से 'जैसे थे' समझौता किया था। इस वायदे से भी कश्मीर का सवाल नहीं हल हुआ। इसके विपरीत यह सवाल और उलझ गया। भारत के साथ हुये, इस समझौते का उल्लंघन करके पाकिस्तान ने आक्रमण कर उत्तर की ओर मुज़्ज़फरपुर, चिलास गिलगिट, पुंछ आदि करीबन 42 मील का भू-प्रदेश अधिकार में कर लिया। पूरे कश्मीर को पाकिस्तान में मिलाने के लिये ही पाकिस्तान ने भारत पर 3 अक्टूबर, 1947 ई. को हमला किया। पण्डित नेहरू ने पाकिस्तानी सरकार से सैनिक पीछे कर लेने की प्रार्थना की। लेकिन उनकी बात का उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया और 'जैसे थे' समझौते का उल्लंघन किया अन्ततोगत्वा 25 जनवरी, 1948 ई. के दिन कश्मीर का सवाल संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.ओ.) में दाखिल हुआ। उस समय पाकिस्तान ने कहा था कि, भारत पर हमने किसी भी तरह का आक्रमण नहीं किया। हमारी सरकार ने आतंकवादियों को किसी भी प्रकार की मदद नहीं दी। पाकिस्तान ने ऐसा भी दावा किया कि यह पाकिस्तान का हमला नहीं था, बल्कि कश्मीर की जनता का हिन्दू राजा के खिलाफ विद्रोह था। भारत ने यू.एन.ओ. में अपना पक्ष बड़े प्रभावशाली ढंग से रखा। 22 अक्टूबर 1947 ई. के दिन कश्मीर की अधिकृत सरकार (महाराजा हरि सिंह) की ओर से कश्मीर का विलय भारत में हो गया और कश्मीर भारत का अंग बन गया।

डॉ. आम्बेडकर की घोषणा सच साबित हुई कि, ''संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से यह सवाल हल तो हुआ नहीं, बल्कि उलझता ही जायेगा।'' डॉ. आम्बेडकर के अनुसार, जम्मू कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है और कश्मीर के महाराजा ने उसी समय भारत में कश्मीर के विलय होने के आश्वासन की मदद मांगी थी। भारत ने

---

1. 'नवशक्ति' 25 नवम्बर, 1951.

भी उस समय मदद देकर कश्मीर की स्वतंत्रता की रक्षा की। कश्मीर प्रान्त के शामिल नामे का सवाल सरल और सुलभ होने से हमारी सरकार को संयुक्त राष्ट्र संघ में नहीं जाना चाहिये था। पाकिस्तान ने ऐसा किया होता तो चलेगा। यू.एन.ओ. द्वारा मध्यस्थता करने से इस सवाल का हल निकल आयेगा, ऐसा भारत-सरकार को लगा था परन्तु पं. नेहरू की गल्ती के कारण उसके परिणाम आज भी देश को भोगने पड़ रहे हैं। इस घटना की टिप्पणी करते समय "भीम शक्ति" ने अपने सम्पादकीय लेख "भारतीय राजनीतिक स्थिति में कश्मीर" में लिखा था कि-

'पिछले इतिहास की गल्तियों को दुहराना राज्यकर्ताओं की बड़ी भूल होगी। उससे राष्ट्र की बड़ी हानि होगी। आज़ाद कश्मीर को मुक्त करने की समस्या उसी गल्ती का परिणाम है। भारत के रणबाँकुरे जंगली हमलावरों के नाम कश्मीर में हुये आक्रमण का परिमार्जन कर जब पाकिस्तानी फौज़ को खदेड़ रहे थे, उसी समय समझौता कर कश्मीर प्रश्न सुरक्षा मण्डल को सौंपकर 'युद्ध विराम रेखा' का निर्माण हुआ। कुछ राजनीतिक पंडितों ने, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर ने भी चेतावनी देकर आग्रह किया था कि, सम्पूर्ण कश्मीर मुक्त किये बिना यह प्रश्न सुरक्षा मण्डल को न सौंपा जाय, परन्तु पं. नेहरू ने यह बात नहीं मानी। परिणामतः 'आज़ाद कश्मीर' पाकिस्तान का गुलाम बनाया गया और वह भारत की एक जटिल समस्या हो गयी। राष्ट्रमण्डल उसे न तो हल करता है और न तो अपने हाँथ ही उससे अलग करता है।[1]

भारतीय संविधान में धारा 370 को सन् 1949 ई. में समविष्ट किया गया। तब से इस धारा के विषय में देश भर में विवाद शुरू हुआ। कश्मीर के संबंध में संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1948 ई. में जनमत संग्रह का प्रस्ताव मंजूर किया जिससे एक नई परिस्थिति निर्मित हुई। रिपोर्ट के अनुसार जनमत संग्रह कश्मीर घाटी तक ही मर्यादित किया गया। शेख अब्दुल्ला ने इसका फायदा उठाने का प्रयास किया। उन्होंने पं. नेहरू पर ऐसा दबाव डाला कि यदि भारत को कश्मीरी मुस्लिमों के मतों की जरूरत है तो, कश्मीर की अस्मिता को स्थायी रूप में बरकरार रखना आवश्यक

---

1. 'भीमशक्ति', रविवार दिनांक 29 अगस्त, 1965.

है। अब्दुल्ला की भी यही इच्छा थी कि, कश्मीर पर केन्द्र-सरकार का अधिकार संरक्षण, विदेश नीति और संचार विभागों तक ही मर्यादित रहना चाहिये। कश्मीर के लिये अलग नागरिक संहिता होनी चाहिये और भारतीय जनता को कश्मीर में किसी भी तरह का अधिकार नहीं होना चाहिये, यही उनकी मांग थी। पं. नेहरू ने शेख अब्दुल्ला को तत्कालीन विधि-मंत्री डॉ. आम्बेडकर के पास भेजा। शेख अब्दुल्ला की बातें सुनने के बाद डॉ. आम्बेडकर ने शेख अब्दुल्ला को जो कहा उस संदर्भ में प्रो. बलराज मधोक लिखते हैं कि, उन्होंने (डॉ. आम्बेडकर ने) शेख अब्दुल्ला को स्पष्ट कहा था कि-

"आपकी इच्छा के अनुसार भारत को तुम्हारी रक्षा करनी चाहिये, आपके प्रदेश में रास्ते बनाने चाहिये। आपके प्रदेश में अनाज की आपूर्ति करनी चाहिये। कश्मीर को भारत की बराबरी का अधिकार प्राप्त होना चाहिये, परन्तु भारत-सरकार को अत्यन्त सीमित अधिकार होने चाहिये और भारतीय जनता को कश्मीर में कुछ भी अधिकार नहीं होने चाहिये। इन बातों के लिये भारत के विधि-मंत्री के नाते मान्यता देना भारत के हित में विद्रोह करना होगा और मैं यह कभी नहीं करूँगा।"[1] इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय संविधान के निर्माता डॉ. आम्बेडकर का संविधान की धारा 370 का स्पष्ट विरोध था। भारतीय संविधान में इस तरह की ऐसी कई धाराएं हैं, जिनको डॉ. आम्बेडकर ने केवल राजनीतिक समझौते के रूप में सम्मिलित किया।

डॉ. लोहिया प्रारम्भ से ही पाकिस्तान नामक भारत से विभाजित अलग राज्य बनाने के खिलाफ थे परन्तु यदि बँटवारा हो ही गया है तो वे हिन्दुस्तान की सरकार को बताना चाहते थे कि, पाकिस्तान के साथ भारत की विदेश-नीति बुनियादी आधारों पर स्थापित होनी चाहिये। उनकी दृष्टि में पाकिस्तान कश्मीर को किसी भी तरह हासिल करना चाहता है और भारत सरकार के लचीले रुख के कारण 1947 ई. में ही कश्मीर में आधी लड़ाई हारी जा चुकी है। उन्होंने कश्मीर समस्या का हल कश्मीर के विभाजन द्वारा नहीं, वरन भारत-पाकिस्तान को मिलाकर एक संघ बनाकर हल करने का सुझाव दिया। उनकी इच्छा थी कि, पाकिस्तान का

---

1. 'तरुण भारत', 18 मार्च, 1992.

अंत होकर ही रहेगा। इसके लिये हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे के समीप आना चाहिये और भारत को मुस्लिम हितैषी और पाकिस्तान विरोधी नीति चलाना चाहिये जिससे विभाजन की नींव कमज़ोर हो सके। उनका यह कहना ठीक है कि, भारत और पाकिस्तान दोनों को विश्व के दोनों गुटों से अलग रहकर गुट-निरपेक्षता की नीति पर चलना चाहिये। वे कश्मीर मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाने को एक भयंकर भूल मानते थे, जो कि यथार्थतः सत्य है। उनकी दृष्टि में संयुक्त राष्ट्र संघ में कश्मीर के सवाल पर जो दुनिया का मत प्रदर्शन हुआ वह भारत के इतना खिलाफ हुआ कि, भारत को अपनी परराष्ट्र नीति के बारे में पुनर्विचार करना चाहिये। यह प्रश्न यू.एन.ओ. में आने के साथ ही ज़ाहिर हो गया कि दुनिया में पाकिस्तान के बहुत मित्र हैं जबकि भारत के एक भी नहीं है।

डॉ॰ लोहिया पाकिस्तान द्वारा हिन्दुस्तान की ज़मीन पर किये जा रहे हमलों के प्रति भारत-सरकार को चेतावनी देते रहे और उसे सावधान करते रहे। 1965 ई॰ में भारत-सरकार ने पाकिस्तान से पहले 'कच्छ समझौता' और बाद में 'ताशकन्द समझौता' किया जिसमें भारत ने पाया कम एवं खोया ज्यादा था। डॉ॰ लोहिया इन दोनों समझौतों के प्रति नाराज़ थे तथा उनका मन प्रक्षोभ, संताप, उद्वेग और चिढ़ से भरा था।

डॉ॰ आम्बेडकर पाकिस्तान के प्रति हिन्दुस्तान की विदेश-नीति से संतुष्ट नहीं थे, उन्होंने पाकिस्तान के साथ भारत के बिगड़े हुये सम्बन्धों के लिये दो कारणों को उत्तरदायी माना- प्रथम- कश्मीर की समस्या और द्वितीय- पूर्वी बंगाल की समस्या। उनकी दृष्टि में भारत-सरकार ने कश्मीर समस्या की ओर ही अपने कर्तव्य की बाज़ी लगा दी है जबकि उसे कश्मीर की अपेक्षा पूर्वी बंगाल के लोगों की ओर भी ध्यान देना चाहिये। उनका निष्कर्ष था कि, यदि 1947 ई॰ में हुये पाकिस्तान के साथ संघर्ष को कुछ दिन और जारी रखा जाता तो पूरा कश्मीर भारत के कब्ज़े में होता परन्तु पं॰ नेहरू को उसी समय 'शान्ति' की नीति याद आयी और युद्ध विराम रेखा का निर्माण किया गया। इस तरह कश्मीर का काफी भू-भाग पाकिस्तान का गुलाम हो गया। डॉ॰ आम्बेडकर ने कश्मीर समस्या का समाधान 'कश्मीर का विभाजन' करके सुझाया है क्योंकि उनकी दृष्टि में जो समस्या धर्म के आधार पर

तय की गयी है, उसे उसी आधार पर हल करनी होगी। उन्होंने भी कश्मीर के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाने को गलत कहा तथा उनके द्वारा की गयी यह भविष्यवाणी कि संयुक्त राष्ट्र संघ में यह सवाल हल तो नहीं होगा वरन उलझता जायेगा, आज सच साबित हो रही है। उनका यह भी मानना था कि पं. नेहरू की ढुलमुल नीति के चलते भारत के कोई मित्र नहीं रह गये। डॉ. आम्बेडकर का भारतीय संविधान की धारा 370 जिसमें कश्मीर के लिये विशेष प्रावधान हैं, से स्पष्ट विरोध था। उन्होंने ऐसी धारायें राजनीतिक समझौते के रूप में ही संविधान में सम्मिलित की थी।

डॉ. लोहिया के द्वारा कश्मीर समस्या के समाधान के लिये सुझाया गया हल भारत की अखण्डता एवं उसको सम्प्रभु सम्पन्न राष्ट्र बनाये रखने के लिये ठीक होगा। उनके द्वारा हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाने एवं भाईचारा स्थापित करने की सिफारिश भी साम्प्रदायिकता नामक ज़हर को फैलने से रोकने के लिये आवश्यक है। लेकिन उन्होंने पाकिस्तान के अन्त व भारत-पाक संघ बनाने की जो भविष्यवाणी की थी, वह आज तक व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं हो सकी है और आगे आने वाले समय में ऐसी संभावनाएं नहीं है कि पाकिस्तान का अन्त होकर भारत-पाक संघ बन सके क्योंकि **प्रथमतः** पाकिस्तान में जितने भी शासक हुये है वह किसी भी कीमत पर भारत के साथ संयुक्त होने के पक्ष में कभी भी दिखाई नहीं दिये। **द्वितीयतः** भारत एवं पाकिस्तान में समाजवादी क्रान्ति एक साथ आना केवल कल्पना है जिसे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में साकार होना बहुत मुश्किल है। **तृतीय** यदि भारत अपने जवाबी हमले के द्वारा पाकिस्तान को भारत का अंग बनाने की कोशिश करता है तो वर्तमान 'परमाणु अस्त्र' के युग में दोनों देशों का विनाश अवश्यम्भावी है, साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण भारत के खिलाफ हो जायेगा और भारत के अस्तित्व को ही खतरा हो सकता है।

आज भी पाकिस्तान भारत को शत्रु के रूप में देखता है, वह कश्मीर को किसी भी कीमत पर हासिल करना चाहता है। वहाँ पर लोकतंत्र की स्थापना स्थायी रूप से अभी तक सम्भव नहीं हो सकी है और वहाँ के सैनिक शासकों की सह से आतंकवादी घुसपैठियों को पनाह मिली हुई है। वे कश्मीर एवं भारत में

घुसपैठ करके यहाँ की शान्ति व व्यवस्था को भंग करने की कोशिश कर रहे हैं जो भारत व पाकिस्तान दोनों के हित में नहीं है। पाकिस्तान के प्रति भारतीय विदेश नीति ऐसी होनी चाहिये कि हमारा पड़ोसी हमारे ऊपर कभी आक्रामक न हो सके और यदि वह ऐसा कदम उठाये तो हम उसे मुँहतोड़ जवाब दे सकें। यद्यपि दोनों देशों के बीच शान्ति व भाईचारे की नीति सबसे अच्छी नीति हो सकती है।

डॉ. आम्बेडकर द्वारा कश्मीर समस्या के समाधान के लिये सुझाया गया हल कि 'कश्मीर का विभाजन' करके मुस्लिम बहुल जम्मू व लद्दाख को पाकिस्तान को दे देना चाहिये, ठीक नहीं कहा जा सकता। आज की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये हमें यह नहीं लगता कि इस समस्या का पूर्णरूपेण हल इस समाधान में निहित है क्योंकि इससे साम्प्रदायिक हिंसा, लूट, उपद्रव, भय, आतंक और विनाश का पुनः वातावरण बनने की आशंका है जैसाकि भारत-पाकिस्तान विभाजन के समय 1947 ई. में हुआ था। इसके साथ-साथ यह भी निश्चित है कि, जिस राष्ट्र को आत्म-संतोष नहीं होता वह कभी संतुष्ट नहीं हो सकता वह आगे भी अपनी इसी प्रसारवादी नीति पर चलता रहेगा। कश्मीर का विभाजन करने से भारत की अखण्डता को खतरा एवं क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा मिलेगा क्योंकि इसी आधार पर भारत के अन्य क्षेत्रों से भी अलग राज्य बनाने की मांग ज़ोर पकड़ने लगेगी जिसे दबाना बहुत ही मुश्किल हो जायेगा। कश्मीर विभाजन करने से पूरे देश का जनमत प्रभावित होगा और आगे आने वाली सरकार इसको अंजाम देकर अपने पैरों में कुल्हाड़ी नहीं मार सकती क्योंकि पूरा देश सम्बन्धित सरकार के खिलाफ हो जायेगा।

वास्तव में भारत-पाकिस्तान के मध्य मधुर सम्बन्ध स्थापित न हो पाने के पीछे सबसे बड़ा उत्तरदायी कारण कश्मीर का मुद्दा ही है और इस समस्या का समाधान आज तक नहीं हो सका है। इसका समाधान भारत-पाकिस्तान के संघ बनाने पर तो हो जायेगा परन्तु संघ बनाना ही व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं है। दूसरी ओर कश्मीर का विभाजन भी इस समस्या का उचित हल नहीं है। अतः अन्त में जो परिस्थिति बनती है, वह यह है कि, भारत व पाकिस्तान दोनों को वास्तविक युद्ध विराम रेखा को सीमा रेखा के रूप में स्वीकार कर लिया जाना चाहिये और

पाकिस्तान द्वारा कश्मीर एवं भारत में जारी आतंकवादी हिंसा को प्रोत्साहन देना बन्द किया जाये जिससे दोनों देशों के मध्य मधुर सम्बन्धों की स्थापना हो सके, दोनों देश विकास के पथ पर आगे बढ़ सकें और दोनों देशों की जनता भयमुक्त वातावरण में सुख-शान्ति एवं अमन-चैन के साथ रह सके।

4.5.(ख) चीन और विदेश नीति-

डॉ॰ लोहिया चीन की साम्राज्यवादी, प्रसारवादी नीति के विरोधी थे। वे तटस्थता को भारत के संदर्भ में स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि भारत को तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार करने की जरूरत नहीं थी। सत्रह साल से हिन्दुस्तान की नीतियों के लिये कहा जाता रहा है कि, हमारे लोग हर मामले को अलग-अलग देखेंगे और उस पर निर्णय करेंगे। इससे यह आभास हो सकता है कि, हम जैसा कहते रहे हैं, वैसा ही करते रहे हैं। लेकिन हर मामले को अलग-अलग रखकर देखने की बात भी असल में पलायन थी। जैसे कि तिब्बत वाला मामला आया, नहीं देखा गया, हंगरी वाला मामला आया, बहुत देर से देखा गया, अल्जीरिया वाला मामला आया, बहुत कम देखा गया।[1] उन्होंने आगे कहा कि, संवैधानिक दृष्टि से जैसा कि और जगह करते हैं, वैसा ही करना चाहिये था। वहाँ तो हमारी चौकियाँ थीं। क्या जरूरत थी देने की। उन्हें चलने देते। यह सब साम्राज्यशाही का समझौता था। आखिर चीन भी तो तिब्बत के बारे में प्रमाण देता है। चीन भी तो अंग्रेजों की आड़ लेता है। हमारी तो वहाँ पलटनी चौकियाँ थीं और साथ ही व्यापार की चौकियाँ भी थीं। पूर्वी इलाके में यातुंग, गैरतो, ज्ञानमंडी के ऊपर अपनी चौकियों को हमने छोड़ दिया। कागज पर लिखे इस समझौते को कि तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता है, स्वीकार करने की हमें जरूरत नहीं थी। मैं नहीं कहता कि हम अपनी पलटने भेजते, क्योंकि नपुंसक सरकार से ऐसा कहना बेवकूफी होगी।[2]

भारत की आज़ादी के बाद जिस समय कांग्रेस सरकार ही क्यों, समाजवादी दल के जयप्रकाश नारायण आदि नेता भी चीनी दोस्ती की मृग-मारीचिका में भटक रहे थे उसी समय डॉ॰ लोहिया ने चीनी दोस्ती को धोखा एवं खतरा बताया था।

---

1. 'दिनमान', 9 मई, 1965 में प्रकाशित, डॉ॰ लोहिया के साक्षात्कार से।
2. वही।

1949 ई॰ में चीन ने नन्हें तिब्बत की शिशु हत्या की थी, उसका गला अपने बेरहम पीले पंजे से दबाया था और पं॰ नेहरू ने उस पर पंचशील की मुहर लगायी थी। डॉ॰ लोहिया ने हिन्दी जनता को आर्य, द्रविड़ और मंगोल आदि मानववंशों में विभाजित करने वालों का धिक्कार किया और माँग की कि, लिपि, भाषा, धर्म, रहन-सहन की पद्धति, विचार इत्यादि दृष्टि से तिब्बत भारत से ही ज़्यादा नज़दीक है और वह आज़ाद रहना चाहिये।

25 जून, 1954 ई॰ को 'चाऊ-एन-लाई' भारत की यात्रा पर आये। भारत तथा चीन के प्रधामंत्रियों का संयुक्त वक्तव्य जारी किया गया। उन्होंने पंचशील के पाँचों सिद्धान्तों को दोहराते हुये भारत तथा चीन की मित्रता में विश्वास प्रकट किया। लेकिन इस संधि की स्याही अभी सूखी भी नहीं थी कि, चीन ने जुलाई में उत्तर प्रदेश के बाराबर होती क्षेत्र के भारतीय सैनिकों की मौजूदगी पर विरोध प्रकट किया और पहली दफा भारतीय भू-भाग पर दावा किया। इधर चीन लगातार भारत के साथ दुर्व्यवहार कर रहा था, तो भारत सरकार प्रयास कर रही थी कि, चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्यत्व प्राप्त हो। पं॰ नेहरू ने मित्रता बढ़ाने के उद्देश्य से चीन की यात्रा की। उन्होंने चीनी नेताओं के साथ चीन में प्रकाशित कुछ मानचित्रों के बारे में बातचीत की उनमें 50 हजार वर्गमील भारतीय क्षेत्र को चीनी क्षेत्र के रूप में दिखाया गया था। जवाब में चाऊ-इन-लाई ने कहा था इन चीनी मानचित्रों का विशेष महत्व नहीं है। वे पुराने कुमिनसंग मानचिंत्रों के आधार पर तैयार किये गये है और चीन सरकार को उनमें संशोधन करने को समय नहीं मिला।

सन् 1959 ई॰ में चीन ने लद्दाख के स्यांगूर और उर्वसीयम (नेफा) के लोंगजू में चौकिया बना ली। इस सम्बन्ध में प्रधानमंत्री नेहरू ने कहा था कि लद्दाख का कुछ इलाका जो चीनियों के कब्जे में चला गया है वह ऐसा है, पथरीला है, ऊसर है और उस पर घास की एक दूब तक नहीं उगती। डॉ॰ लोहिया की विद्रोही आत्मा प्रक्षुब्ध हुई उन्होंने कहा कि, आपकी खोपड़ी में भी तो ऊसरपन है। वे आम सभाओं में यह पूछने लगे कि ऐसे प्रधानमंत्री को क्या कहा जाये ?' श्रोतृगण भी जवाब देने लगा "गद्दार! गद्दार!"[1]

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 380 (1963).

डॉ॰ लोहिया ने संसद में सवाल पूछा कि, दिल्ली की सरकार भांग पीकर नशे में है क्या ? और उन्होंने घोषित किया कि अंग्रेजी साम्राज्यशाही की निर्धारित की हुई मैकमोहन रेखा गलत है। कैलाशमानसरोवर और पूर्ववाहिनी ब्रह्मपुत्री ही भारत की उत्तरी सीमा है। मैकमोहन रेखा के 60 या 70 मील उत्तर मनसर गाँव पर हिन्दुस्तान का अधिकार था। हम न सिर्फ उसकी मालगुजारी लेते थे बल्कि 1948 ई॰ के पहले की सभी अभिलेखों में वहाँ की आबादी भी हिन्दुस्तान में गिनी जाती थी। डॉ॰ लोहिया ने इस तथ्य को उजागर किया तो भी पं॰ नेहरू ने इस पर ध्यान नहीं दिया। उल्टे उन्होंने कहा था कि यह सही है कि, वह गाँव भारत का था, लेकिन वह घाटे का सौदा था। उस गाँव से जितना कर मिलता उससे ज्यादा पैसा कर वसूल करने में खर्च होता था।[1]

भारत-चीन मामले में इतनी बेइज़्ज़ती होने के बावजूद पं॰ नेहरू ने चाऊ-इन-लाई को 1960 ई॰ में फिर से भारत भेंट का निमंत्रण दिया। डॉ॰ लोहिया ने सावधान किया कि 'सरकार बड़ी भारी गल्ती' कर रही है।

कुछ ही समय बाद 20 अक्टूबर 1962 ई॰ को भारत के इतिहास का कलंकमय तथा राष्ट्रीय शर्म का अशुभ दिन आया जब चीनी सेना भारत पर आक्रमण करके भारतीय भूमि पर घुस आयीं। उसी दिन साबित हुआ कि, भारतमाता की रक्षा कांग्रेस सरकार नहीं कर सकती। खिझमाने चौकियों पर कब्ज़ा करके चीनी सेना आगे बढ़ रही थी। घबराहट, भगदड़ तथा अस्त-व्यस्तता की कोई सीमा नहीं रही। जिन बड़े सरकारी अधिकारियों का कर्तव्य था कि वे जनता का मनोबल सम्भाले, वे ही बुज़दिली से भागे।

1962 ई॰ के चीन के खुले आक्रमण के बाद भी 26 अक्टूबर 1962 ई॰ को भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के सदस्यत्व का समर्थन किया। तब डॉ॰ लोहिया ने कहा कि मेरा जी जल उठता है। तड़पता है।' डॉ॰ लोहिया बराबर दो टूक बात करने पर ज़ोर देते रहे। वे चाहते थे कि, चीन ने भारत के गौरव को खण्डित किया है अतः उसके प्रति अपनी नीति स्पष्ट करनी चाहिये। दुविधा में रहना देश हित में

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं॰- 381 (1963).

नहीं है। वे कहते हैं कि, "भारत जो सवाल उठाये दम से उठाये। उसे छेड़खानी नहीं करनी। जहाँ तक उपनिवेशवाद का प्रश्न है, हिन्दुस्तान को दम के साथ इस सवाल को उठाना चाहिये। चीन के मामले में या तो बिल्कुल चुप रहना चाहिये या फिर वहाँ बिल्कुल खुलकर मैदान में आना चाहिये। हमें वहाँ कहना चाहिये कि चीन ने हमारी ज़मीन छीनी है और तिब्बत को खत्म किया है। अगर कोई कहे कि पहले यह क्यों नहीं कहा गया तो साफ मानना चाहिये कि हमसे गलती हो गयी थी। चीन की हरकतों को साम्राज्यशाही के रूप में हिन्दुस्तान को रखना चाहिये। लेकिन इसमें गलती हो रही है। मुझे पता चला है कि विदेश मंत्रालय वहाँ पर एशियाई-अफ्रीकी मुल्कों में बाँटने के लिये अणुबम के मसले पर छोटी-छोटी किताबें छाप रहा है। अणुबम का नारा बनाकर हम चीन से कूटनीतिक लड़ाई नहीं लड़ सकते। हमें यह सोंचना चाहिये कि इसका एशियाई-अफ्रीकी देशों पर क्या असर पड़ेगा। हिन्दुस्तान को बिना संकोच यह कहना चाहिये कि चीन ने न केवल हमारी ज़मीन छीनी है, बल्कि सारी दुनिया पर आक्रमण की कार्यवाई की है। हिन्दुस्तान को यह फैसला कर लेना चाहिये कि एक तो यह अफ्रोएशिया वाली लकड़ी है और दूसरी निरपेक्षता वाली लकड़ी है। उनका सहारा लेने के लिये अपने सिद्धान्तों को छोड़ने का काम अपने से अनर्थ करने वाला होगा। हिन्दुस्तान हर उस राज्य को मान्यता देता है जो अपनी ज़मीन पर काबिज़ है। लेकिन खुद उस सिद्धान्त के खिलाफ उसने च्यांग-काई-शेक को मान्यता नहीं दी जो मिलनी चाहिये। इस्राइल को मान्यता दे दी, लेकिन उससे राजदूत का संबंध नहीं है।"[1]

डॉ॰ लोहिया ने आह्वान किया कि, "हमें हिमालय के प्रति ईमानदार और जंबूद्वीप के प्रति सचेत रहना चाहिये।" तिब्बत को मुक्त करो, 15 अगस्त, 1947 ई॰ की सीमा रेखा ही भारत की सीमा रेखा रहे, भारत-सरकार अनिवार्य सेना भरती करे, साथ-साथ सरकार सच्ची निरपेक्ष परराष्ट्र नीति अपनाये, क्रान्तिकारी कर्मों द्वारा जनता को प्रोत्साहित करे, दुविधा छोड़कर तिब्बत के पठार तक युद्ध ले जाये, इत्यादि मांगों के लिये डॉ॰ लोहिया ने प्रचार आन्दोलन खड़ा किया। कई जगहों पर

---

1. 'दिनमान', 9 मई, 1965 में प्रकाशित डॉ॰ लोहिया के साक्षात्कार से।

'हिमालय बचाओ' सम्मेलन आयोजित किये गये। डॉ. लोहिया ने यह भी आह्वान किया कि समता की बुनियाद पर देश में परिवर्तन लाकर सैन्य शक्ति के पीछे जनशक्ति खड़ी करनी चाहिये। दोनों शक्तियों का परस्पर नाता हाँथ और मुट्ठी जैसा है।

डॉ. आम्बेडकर ने पं. नेहरू की विदेश नीति के सिद्धान्तों की समीक्षा की। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार, जिन सिद्धान्तों पर हमारे प्रधानमंत्री चल रहे हैं वे केवल तीन हैं- (1) शान्ति (2) समाजवाद/साम्यवाद एवं जनतंत्र में सह-अस्तित्व (3) सीटो (दक्षिण पूर्व एशिया संरक्षण संगठन) गुट का विरोध करना। पं. नेहरू की अन्तर्राष्ट्रीय नीति के मूलाधार हैं शान्ति का अनुसरण, किसी गुट में सम्मिलित होकर नहीं वरन अपना स्वतंत्र रुख अपनाकर जातीय भेदभाव का अन्त, परतंत्र लोगों की आज़ादी में सहयोग, साम्राज्यवादी की समाप्ति तथा स्वतंत्रता की रक्षा करना।[1]

डॉ. आम्बेडकर ने कहा है कि हमारे सामने और कोई दूसरी समस्या नहीं है। केवल इसके कि विश्व में साम्यवाद बढ़ रहा है। किसी सिद्धान्त की सार्थकता को हम नहीं समझ सकते हैं, यदि हम वर्तमान संसार के सामने जो समस्याएं हैं, उनसे अपरिचित हैं। एक ओर संसार का वह भाग है जो संसदीय शासन प्रणाली और स्वतंत्र लोकतंत्र में विश्वास करता है, दूसरी ओर यह जो संसार में साम्यवाद फैलता जा रहा है, इन्हीं दोनों का संघर्ष है। मैं सुदूर अतीत में नहीं जाना चाहता हूँ, मैं मई 1945 ई. से प्रारम्भ करता हूँ जबकि युद्ध समाप्त हो गया था। मई 1945 ई. तक रूस 10 यूरोपीय राज्यों को हड़प चुका था। एक फिनलैण्ड, दूसरा इस्तोनिया, तीसरा लेस्विया, चौथा लिथुआनिया, पाँचवां पोलैण्ड, छठां चेकोस्लोवाकिया, सातवां हंगरी, आठवाँ रूमानिया, नौवा बुल्गेरिया और दसवाँ अलवानिया।[2]

इन राष्ट्रों के अतिरिक्त रूस ने जर्मनी, आस्ट्रिया, नार्वे, तथा बार्न हाल्स के डेनमार्कद्वीप के भी कुछ हिस्सों पर अधिकार कर लिया है। इन दस यूरोपीय राज्यों

---

1. एम.एन. दास, द पॉलिटिकल फिलॉसिफी ऑफ जवाहरलाल नेहरू, पेज सं.- 201-202 (1961).
2. भगवानदास, डॉ. आम्बेडकर के विचार, पेज सं.- 48-64.

में से तीन को रूस ने एकदम हड़पकर अपने राज्य में मिला लिया शेष सात रूसी प्रभाव में हैं। रूस द्वारा यूरोपीय प्रदेशों को अपने अधिकार में ले लेने का अर्थ 85 हजार वर्गमील क्षेत्रफल को हथिया लेना और दो करोड तीस लाख मनुष्यों को अपना दास बना लेना था।

डॉ. आम्बेडकर ने नेहरू के शान्ति सिद्धान्त की समीक्षा करते हुये कहा है कि, हम शान्ति चाहते हैं युद्ध कोई नहीं चाहता। प्रश्न इतना नहीं है कि हमें इस शान्ति का मूल्य कितना चुकाना पड़ेगा ? क्या चुका रहे हैं ? और क्या चुका चुके हैं ? अब यह स्पष्ट है कि इस शान्ति के लिये देशों के हिस्से काटने या अंग-भंग कर देने को सहन किया जा रहा है।[1]

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार आकार प्रकार की दृष्टि से साम्यवादी देश एक राक्षस के समान है। किसी ने किसी राक्षस को नहीं देखा। कम से कम मैंने नहीं देखा। कहा जाता है कि, वह इतना बड़ा आदमी होता है जितने बड़े आदमी की आप कल्पना कर सकते हैं। यहाँ आदमी के स्थान पर एक विशाल देश है जो दूसरे देशों को इस सिद्धान्त की आड़ लेकर हड़पता और अपने में मिलाता जाता है और कहता है वह उन्हें मुक्त कर रहा है। जहाँ तक मैं देख सकता हूँ "रूसी युक्ति" पराधीनता का पूर्व रूप है वह ऐसी मुक्ति नहीं है, जिसके पीछे स्वतंत्रता हो। लेकिन यह तथ्य की बात है कि यह तथ्य मुझे काफी कष्ट देता है कि, जब-जब राक्षस मुँह खोलता है और खाने के लिये कुछ कहता है तब-तब आप इस शान्ति के द्वारा उसके मुँह में कुछ न कुछ डालते रहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते। जब हम उसको नियमपूर्वक और लगातार कुछ-कुछ खिलाते ही रहेंगे, तो मैं आपसे पूछता हूँ, क्या इसकी कल्पना नहीं की जा सकती कि वह राक्षस एक दिन हमारी ओर मुँह फैलायेगा और कहेगा कि, "अब तुम्हें हड़पने के अतिरिक्त और कुछ खाने को नहीं रहा। अब मैं तुम्हें खा लेना चाहता हूँ।"[2] अतः हम डींग न मारें। अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े में अभी हमारी शक्ति परीक्षा नहीं हुई है। जब अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े में हम उतरेंगे तब हमें पता चलेगा कि हम अपनी ही परिस्थिति का मुकाबला कर सकते हैं या नहीं ?

1. भगवानदास द्वारा संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर खण्ड-1, पेज सं.- 87 (1963).
2. वही, पेज सं.- 88.

राक्षस के मुँह में इस प्रकार खाना पहुँचाते रहने का सिद्धान्त बड़ा खतरनाक है।

यह सिद्धान्त कि साम्यवाद और स्वतंत्र प्रजातंत्र साथ-साथ रह सकते हैं, डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार सत्य नहीं है। उन्होंने स्वयं कहा, "साम्यवाद एक जंगली आग के समान है, यह हर एक और प्रत्येक वस्तु को जो इसके मार्ग में आती है, निगलती जाती है। यह सम्भव है कि जो देश साम्यवाद के केन्द्र से बहुत दूर है, यह अनुभव करें कि, जब तक वह आग उनके पास पहुंचेगी तब तक समाप्त हो ही जायेगी या यह भी हो सकता है कि अग्नि उनके पास तक कभी पहुंचे ही नहीं। लेकिन उन देशों के बारे में क्या कहा जाये जो इस आग के पड़ोस में रहते हैं ? क्या आप यह आशा कर सकते हैं कि यह आग और मानव निवास साथ-साथ रह सकते हैं।"[1] कभी नहीं। जंगली आग में कृपा दृष्टि नहीं होती है उसमें प्रेम और मित्रता की भावनायें नहीं होती हैं। सन् 1962 ई॰ के चीनी आक्रमण ने डॉ॰ आम्बेडकर की भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध कर दिया कि साम्यवादी दानव भारत की ओर मुड़कर कुछ खाने को चाहेगा और चीन द्वारा भारत का विरोध कहीं न कहीं अभिव्यक्त होता रहता है।

कनाडा और इंग्लैण्ड जैसे देश भारत की विदेश नीति की प्रशंसा करते हैं। वे सह-अस्तित्व की नीति के लिये भारत को बधाइयाँ देते हैं। लेकिन जैसा कि डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि, "कनाडा के राजनीतिज्ञ आसानी से कह सकते हैं, कि सह-अस्तित्व की नीति सम्भव है क्योंकि कनाडा, चीन तथा रूस से हजारों मील दूर है। इसी तरह इंग्लैण्ड भी अपने को आग की लपटों से निकालकर अब सोंचता है कि वह कुछ और करने के लिये थक चुका है और इसलिये वह सह-अस्तित्व की नीति का समर्थन करता है।"[2] लेकिन इंग्लैण्ड तथा कनाडा दोनों ही साम्यवादी देशों से दूर हैं। अतः उनके लिये, सह-अस्तित्व की नीति स्वाभाविक तौर पर अच्छी होनी चाहिये, हालांकि विदेश नीति के निर्धारण में भौगोलिक तत्वों को भूल जाते हैं।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, लोगों को यह नहीं भूलना चाहिये कि किसी देश की विदेश नीति को निश्चित करने में भौगोलिक साधनों का महत्वपूर्ण स्थान

---

1. भगवानदास द्वारा संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर खण्ड-1, पेज सं॰- 88-89 (1963).
2. वही, पेज सं॰- 89

होता है। प्रत्येक देश की विदेश नीति अपनी-अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है जो बात कनाडा के लिये ठीक है वह हमारे लिये ठीक नहीं हो सकती और इसी तरह जो बात इंग्लैण्ड के लिये सत्य हो सकती है। वह हमारे लिये सत्य नहीं हो सकती।[1] इसलिये सह-अस्तित्व का सिद्धान्त उनको बहुत ही अच्छा लगता है, हालांकि भारत के नेताओं ने भौगोलिक स्थितियों को बिना विचारे अपनी विदेश नीति का निर्धारण किया दिखायी देता है। अतः विदेश नीति का फिलहाल की घटनाओं को देखते हुये पुनः निर्धारण किया जाना चाहिये।

डॉ. आम्बेडकर नेहरू की शान्ति और सह-अस्तित्व की नीति से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने उन देशों के साथ मिलकर रहने की सलाह दी जो जनतंत्र और स्वतंत्रता के प्रेमी हैं तथा भारत को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। डॉ. आम्बेडकर ने नेहरू की सीटो के प्रति नीति का समर्थन नहीं किया। उनके अनुसार सीटो जैसे संगठनों का सदस्य बनने से भारत को कोई हानि नहीं है। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार, सीटो किसी देश पर आक्रमण करने के लिये गठित नहीं किया गया। वह ऐसा संगठन है जो स्वतंत्र देशों पर होने वाले आक्रमणों को रोकने के लिये बनाया गया है।"[2] उनके अनुसार अमेरिकी और अंग्रेज लोग रक्षा की द्वितीय पंक्ति का अनुसरण कर रहे हैं और वह यह है कि चीन और रूस को संसार के किसी भाग को कब्ज़े में करने से रोका जाये। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे सभी स्वतंत्रता प्रेमी देशों को स्वीकार करना चाहिये। सीटो की शक्ति भारत के ऊपर किसी भी आक्रमण को रोकने में सहायक सिद्ध हो सकेगी। इस प्रकार भारत रक्षा पर व्यय किये जाने वाले धन को बचाकर अन्य आर्थिक विकास के कार्यों में लगा सकता है।

क्या भारत को अतिक्रमण का भय नहीं है ? डॉ. आम्बेडकर के अनुसार, "भारत के ऊपर अतिक्रमण का बहुत अधिक भय है... यह देश एक ओर पाकिस्तान तथा अन्य मुस्लिम देशों के द्वारा घिरा हुआ है... और इसमें अधिक कठिनाई नहीं कि वे मिलकर एक गुट बना लें और दूसरी ओर चीन का तिब्बत के ऊपर आधिपत्य स्वीकार करके, हमारे प्रधानमंत्री (पं. नेहरू) ने चीनी लोगों को अपनी सीमाओं को

---

1. भगवानदास द्वारा संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर खण्ड-1, पेज सं.- 89 (1963).
2. वही, पेज सं.- 91

भारत की सीमा के पास लाने में व्यावहारिक मदद की है। इन सब बातों को देखते हुये यह विश्वास न करना ढुलमुल नीति का काम होगा कि भारत को अतिक्रमण का अब कोई भय नहीं है और आगे चलकर भी नहीं होगा। लेकिन अतिक्रमण उनके द्वारा अवश्य होगा जो अतिक्रमण करने की आदत में होते हैं। वास्तव में ऐसा ही हुआ। चीन ने सन् 1962 ई॰ में और पाकिस्तान में सन् 1965, 1971 और 1999 ई॰ में भारत पर हमला करके डॉ॰ आम्बेडकर की बातों को सत्य सिद्ध कर दिया और उनका भय अब भी ज्यों का त्यों बना हुआ है।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार पं॰ नेहरू की विदेश नीति की केवल एक ही मुख्य देन है और वह है 'पंचशील का सिद्धान्त'। ये पाँच सिद्धान्त हैं- (1) एक दूसरे देश की क्षेत्रीय ईमानदारी तथा प्रभुसत्ता के प्रति सम्मान (2) अतिक्रमण न करना (3) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना (4) समानता तथा पारस्परिक सहयोग और (5) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

भारतीय विदेश नीति अधिकांशतः पंचशील पर आधारित है जिसे साम्यवादी चीन ने भी स्वीकार किया था और 'तिब्बत सन्धि' में उसको स्थान दिया गया था। लेकिन चीनी नेता इस शुभ सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने में बिल्कुल असमर्थ रहे। डॉ॰ आम्बेडकर के विचार से राजनीति में पंचशील का कोई स्थान नहीं है और साम्यवादी देशों की राजनीति में तो बिल्कुल नहीं।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, "पंचशील बौद्ध धर्म का आवश्यक अंग है, और यदि माओत्से तुंग को पंचशील में विश्वास होता तो वह अपने देश में बौद्ध लोगों के प्रति दूसरे ढंग से व्यवहार करता। राजनीति में पंचशील के लिये कोई स्थान नहीं है विशेषकर साम्यवादी देशों की राजनीति में।"[1] ऐसा इसलिये है कि साम्यवादी देशों की नैतिकता निरन्तर रूप से परिवर्तित होती रहती है। साम्यवादियों की दृष्टि में, सार्वभौमिक नाम की कोई नैतिकता नहीं है। आज की नैतिकता, कल की नैतिकता नहीं होगी। आज की नैतिकता के अनुसार, आप अपने शब्दों पर अड़े रह सकते हो और कल की नैतिकता के ऊपर आप उन्हें भंग कर सकते हो।[2] इसके

---

1. भगवानदास द्वारा संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर खण्ड-1, पेज सं.- 91 (1963).
2. वही, पेज सं.- 92

अतिरिक्त जब साम्यवादी लोग अन्य देशों के साथ बात-चीत करते हैं, तो उनको पृथक-पृथक इकाई के रूप में मानते हैं और जब भारत बातचीत करता है, तो सद्भावना से प्रारम्भ करके कृतज्ञता में अन्त करता है।

डॉ. आम्बेडकर का विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में सिद्धान्तों का बहुत कम महत्व होता है। उन्हें साधन के रूप में प्रयोग करते है और समय आने पर भंग भी कर देते हैं। "निःसंदेह सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं, लेकिन मैं मानता हूँ कि राजनीतिज्ञ लोग सिद्धान्तों से घृणा करते है, विशेषकर वे जो विदेशी मामलों में काम करते हैं। वे बिना सिद्धान्तों के काम करना चाहते हैं और उनके लिये एक बात एक इकाई ही मानी जानी चाहिये।"[1] इस दृष्टिकोण से शांति और पंचशील के सिद्धान्त किसी देश पर बाध्य नहीं हैं। यदि कोई देश उन्हें नहीं चाहता तो उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर है। वास्तव में चीनी आक्रमण ने शांति और पंचशील के सिद्धान्तों का गला घोटकर रख दिया।

डॉ. लोहिया ने भारत-सरकार द्वारा चीन के प्रति अपनायी गयी विदेश नीति की कठोर आलोचना की और चीन की साम्राज्यवादी, प्रसारवादी नीति का विरोध किया। उन्होंने तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता को स्वीकार करने को भारत-सरकार की एक बहुत बड़ी भूल कहा। वास्तव में इस भूल का परिणाम यह हुआ कि चीन भारत की सीमा में अपनी चौकियाँ बनाने में सक्षम हो गया और 1962 ई. में उसने भारत पर खतरनाक आक्रमण कर दिया। डॉ. लोहिया ने पंचशील को धोखा कहा और ऐसी स्थिति में जबकि चीन भारत पर आक्रामक होता जा रहा था, उसने भारत की भूमि के लद्दाख और नेफा के कुछ इलाकों पर कब्ज़ा स्थापित कर रखा था- भारत की सरकार चीन के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्यता प्राप्त करवाने के लिये प्रयास कर रही थी जिसे डॉ. लोहिया ने अच्छा नहीं माना। उन्होंने पं. नेहरू की इस नीति की आलोचना की। डॉ. लोहिया ने अंग्रेजों द्वारा भारत-चीन के बीच निर्धारित की गयी मैकमोहन रेखा को भी गलत करार दिया क्योंकि मैकमोहन रेखा के उत्तर में 60-70 मील तक की दूरी पर स्थित मनसर गाँव पर भारत का कब्ज़ा

---

1. भगवानदास द्वारा संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर खण्ड-1, पेज सं.- 84 (1963).

था। उन्होंने अणुबम के सहारे चीन से लड़ाई का समर्थन नहीं किया। वे चाहते थे कि, भारत को विश्व विरादरी के सामने इस बात को रखना चाहिये कि चीन आक्रामक है, उसने हमारी ज़मीन छीनी है। वास्तव में यह डॉ. लोहिया की अहिंसावादी, शांतिवादी दृष्टि का परिचायक है।

डॉ. आम्बेडकर भी चीन के प्रति अपनायी जा रही पं. नेहरू की विदेश नीति से सहमत नहीं थे। वे विश्व में साम्यवाद के प्रसार को खतरनाक मानते थे क्योंकि, इससे उन्हें संसदीय शासन प्रणाली एवं स्वतंत्र लोकतंत्र खत्म हो जाने की आशंका थी। उनकी दृष्टि में साम्यवाद और स्वतंत्र लोकतंत्र दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते हैं। डॉ. आम्बेडकर ने पंचशील को अव्यावहारिक माना। वास्तव में राजनीति में पंचशील का कोई स्थान नहीं है। उन्होंने पं. नेहरू के शांति सिद्धान्त की समीक्षा की और शांति की नीति की आड़ में साम्यवादी देशों के सामने समर्पण नहीं कर देने की सिफारिश की। उन्होंने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को अपने पड़ोसियों विशेषकर चीन के संदर्भ में प्रयोग किये जाने को ठीक नहीं माना। डॉ. आम्बेडकर ने पं. नेहरू की सीटो के प्रति नीति का समर्थन नहीं किया क्योंकि उनकी दृष्टि में सीटो जैसे संगठन का सदस्य बनने से भारत को कोई हानि नहीं है, यह स्वतंत्र देशों पर होने वाले आक्रमणों को रोकने के लिये बनाया गया संगठन है। उन्होंने तिब्बत के ऊपर चीन के आधिपत्य को स्वीकार करने को चीन के लिये भारत के ऊपर आक्रमण करने को रास्ता देना कहा जो कि 1962 ई. में सही साबित हुआ। हम डॉ. आम्बेडकर की इस बात से सहमत है कि साम्यवादी देश एक राक्षस की भाँति होता है, जिसे चाहे जितना खाना दो वह कभी तृप्त नहीं होता और अन्त में वह हमें खाने के लिये दौड़ता है इसलिये साम्यवादी चीन से सदैव सावधान रहने की आवश्यकता है। उन्होंने भारतीय विदेश नीति की भौगोलिक स्थितियों को देखते हुये पुनः निर्धारित करने की वकालत की और भारत को उन देशों के साथ मित्रता बढ़ाने की सलाह दी जो लोकतांत्रिक प्रणाली के रक्षक हैं।

यह सत्य है कि चीन एक ऐसा साम्यवादी देश रहा है जो स्वतंत्रता के बाद से ही भारत के ऊपर आक्रामक रहा है इसलिये भारतीय विदेश नीति निर्माताओं को चीन के साथ संबंधों को स्थापित करते समय हमेशा सतर्कता बरतने की

आवश्यकता है। चीन के लिये पंचशील के सिद्धान्त का कोई अर्थ नहीं है, उसने 1962 ई. में इनका खुलेआम उल्लंघन करके भारत पर आक्रमण किया और आज भी वह हमारी भूमि को अपने कब्ज़े में किये हुये है। अतः भारतीय नेतृत्व को चीन के सामने दोस्ती का हाँथ फैलाने के पहले उससे यह कहना होगा कि वह भारत की भूमि को खाली करे तथा विश्व में यह संदेश दे कि वह आक्रामक नहीं है। साथ ही भारत-सरकार 1947 ई. में निर्धारित सीमा रेखा को मानने के लिये चीन को बाध्य करने का प्रयास करे। यद्यपि चीन के साथ भारत के मुधर सम्बन्धों की स्थापना से आर्थिक, व्यापारिक एवं तकनीकी क्षेत्र में दोनों देशों को लाभ पहुंच सकता है तथा दोनों देशों के लोग लाभान्वित हो सकते हैं मगर यह तभी सम्भव हो सकता है जब चीन अपनी प्रसारवादी नीति पर अमल करना बन्द कर दे। वर्तमान में भारतीय विदेश नीति में मौलिक परिवर्तनों की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को नवीन दृष्टिकोण से देखे जाने की जरूरत है। भारतीय नेतृत्व को यह दिखा देना चाहिये कि उसकी शांति की नीति भय एवं कमज़ोरी की नीति नहीं है, वरन एक साहसी देश की नीति है।

4.5.(ग) गोवा की स्वतंत्रता का मामला एवं विदेश नीति-

गोवा भारत का अविभाज्य भाग होते हुये भी, वहाँ पर पुर्तगालियों का जुल्मी शासन 500 वर्षों से चला आ रहा था। उनकी तानाशाही इतनी ज़बरदस्त थी कि नागरिक स्वतंत्रता के मामूली हकों का भी पूरी तरह से खात्मा हो गया था। वहाँ पर तीन दिन पूर्व गवर्नर की इज़ाजत लेकर ही आमसभा हो सकती थी। किताबों और अख़बारों के नामों के लिये भी इज़ाजत लेनी पड़ती थी। अख़बारों को प्रकाशन के पहले दिखाना पड़ता था। विज्ञापन, प्रकाशन, निमंत्रण पत्रिका, विवाह निमंत्रण पत्रिका इत्यादि तक को भी पहले दिखाना पड़ता था। लेखन, मुद्रण की आज़ादी पर बहुत ही बड़े प्रतिबन्ध लगाये गये थे। इस प्रकार जनता के ऊपर सरकारी रवैया क्रूरतम था।

डॉ. लोहिया ने अपने गोवा निवासी मित्र डॉ. जुलियोमेनेजिस के द्वारा सन् 1938 ई. में गोवा के जुल्मी शासन की कहानी सुनी थी उसी समय उन्होंने कहा था कि, "गोवा हमारे देश का हिस्सा है। हम गोवा की आज़ादी और एकता की लड़ाई

को ऐसे गन्दे ज़ालिमवाद को नहीं दबाने देंगे।"[1]

यद्यपि डॉ॰ लोहिया 10 जून, 1946 ई॰ को मैनेजिस के यहाँ असोलना गाँव (गोवा) में आराम करने पहुँचे परन्तु जब वहाँ की जनता के दुख-दर्द को आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से देखा तो उन्होंने ज़ालिम पुर्तगाली सरकार से लड़ने के लिये कमर कसी और वहाँ स्वतंत्रता के आन्दोलन का सूत्रपात किया। डॉ॰ लोहिया और मैनेजिस ने 18 जून को मडगाँव में बुलाई गयी सभा में 15-20 हजार लोगों के बीच अपने को पुर्तगाली पुलिस के हाँथों गिरफ्तार करवा दिया। इस सभा में डॉ॰ लोहिया का भाषण तो नहीं हो पाया था, परन्तु उसकी प्रतियाँ लोगों में बाँट दी गयी जिसमें डॉ॰ लोहिया ने कहा था कि-

"मैं किसी खास उद्देश्य से गोवा नहीं आया हूँ। इस प्रदेश और यहाँ की जनता के प्रति मेरा आकर्षण ही मुझे यहाँ पर लाया है। कुदरती-रम्य दृश्यों का और सीधे रीति-रिवाज़ वाले लोगों का यह प्रदेश मुझे बहुत ही पसन्द आया किन्तु जिस कानून के मुताबिक गोवा को जिन्दगी काटनी पड़ती है, उस पर मुझे अचरज़ हुआ इन कानूनों द्वारा सभा करना, संस्था बनाना, लेखन भाषण करना, आदि हक नष्ट किये गये है। प्रकाशन के पूर्व, छपाने के पहले सरकारी अफसरों को लेख दिखाना पड़ता है। लोगों का दिल दर्द से भरा है। उनकी आँखें हिन्दुस्तान की तरफ लगी हैं। उनको गोवा सरकार पर गुस्सा आता है। लेकिन व्यक्त करने का तरीका वे नहीं जानते।" उन्होंने आगे कहा कि, "यहाँ की पुर्तगाली सरकार की फिकर मुझे इतनी नहीं है। क्योंकि पुर्तगालियों के बड़े भाई ब्रिटिशों की सत्ता खत्म होने के बाद पुर्तगालियों की यहाँ पर सत्ता नष्ट होगी ही। लेकिन यहाँ का असली सवाल सांस्कृतिक स्वरूप का है। राष्ट्रीय जीवन के प्रधान प्रवाह में जाकर सशक्त बनाने का गोवा-वासियों का काम है। पुर्तगाली शासकों ने गोवा के समाज का अराष्ट्रीयकरण अधिक परिश्रम से किया है। उन्होंने हर एक धार्मिक संस्था की मदद से केवल पुर्तगाल के नहीं बल्कि ब्रिटेन की दृष्टि से भी गोवा को साम्राज्यशाही का आश्रय स्थान बनाया है। गोवा के साथ हिन्दुस्तान की दृष्टि से भी साम्राज्यवादी संस्कृति का यह खतरनाक आश्रय स्थान नेस्तनाबूद करना चाहिये। गोवा के राष्ट्रीय जीवन

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 114 (1969).

के पुनरुत्थान के लिये नागरिक स्वातंन्त्र्य का अपहरण करने वाले बदनाम काले कानूनों को हटाना, यह पहला कदम है। बहुत से गोवावासी मेरे पास आये और कुछ करने की इच्छा उन्होंने प्रकट की। वे नहीं आते तो भी मैं खामोश नहीं बैठ सकता था। इसलिये कि गोवा हिन्दुस्तान का हिस्सा है और मैं हिन्दुस्तानी हूँ। विचार-आचार की आज़ादी पर इस तरह का कठोर नियंत्रण रखना मैं नहीं समझ सकता। सभी हिन्दुस्तानियों को गोवा-वासियों की सहायता करनी चाहिये।"[1]

29 जून, 1946 ई॰ को बम्बई में फणसवाड़ी विधान भवन की सभा में डॉ॰ लोहिया ने बताया कि केवल गोवा के कल्याण की दृष्टि से नहीं बल्कि भारतीय आज़ादी की दृष्टि से भी साम्राज्यशाही संस्कृति का यह द्वीप धोखादायक है और इसको तोड़ना चाहिये। इसी सभा में डॉ॰ लोहिया को 15 हजार रुपयों की थैली भेंट की गयी।

10 जुलाई, 1946 ई॰ को पं॰ नेहरू ने अख़बार वालों को साक्षात्कार में कहा अब कांग्रेस भारतीय आज़ादी की लड़ाई में अपनी शक्ति केन्द्रित कर रही है। छोटी-छोटी लड़ाइयों की तरफ ध्यान देने की हमें फुरसत नहीं है। भारत के खूबसूरत कपोल पर गोवा एक छोटा सा फोड़ा है। भारत के आज़ाद होने के बाद उसे केवल हाँथ की उँगली से मसलने में देर नहीं लगेगी। गोवा में हुकूमत के खिलाफ आन्दोलन की ज़रूरत नहीं प्रतीत होती। ब्रिटिश सत्ता मिटाने से पुर्तगाली सत्ता आप ही मिट जायेगी। पं॰ नेहरू के इस बयान के उत्तर में 12 जुलाई को डॉ॰ लोहिया ने ज़वाबी बयान दिया कि-

"गोवा भले ही भारत के कपोल का फोड़ा हो सकता है लेकिन कश्मीर के दूसरे फोड़े की अपेक्षा पहले फोड़े ने ही भारत के मुँह को बदसूरत बनाया है। भारत के अन्य किसी भी हिस्से से गोवा-वासियों का मन ज्यादा बन्धन में बँधा हुआ है। गोवा के भावनाशील लोग ज़ुल्मी कानून के खिलाफ बहादुरी से खड़े हो गये हैं और भारतीय जनता की हमदर्दी उनकी तरफ दौड़ रही है। हम लोगों को गाँधी जी का समर्थन मिला है। इसलिये अन्य नेताओं की तरफ देखना फिज़ूल होगा।"[2]

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 116-117 (1969).
2. ओंकार शरद, लोहिया : एक प्रामाणिक जीवनी, पेज सं.- 129 (2001).

सरदार पटेल ने कहा था कि, गोवा लड़ाई से हमारा ताल्लुक नहीं है, नेहरू-पटेल की इस भूमिका का बुरा असर गोवा-वासियों पर हुआ। डॉ॰ लोहिया को सबसे अधिक धक्का तब लगा जब जयप्रकाश ने भी कहा कि गोवा के सवाल को इतना महत्व देना उचित नहीं है, क्योंकि दूसरे भी महत्वपूर्ण कार्य है।

महात्मा गाँधी ने गोवा के गवर्नर द्वारा गाँधी जी को लिखे पत्र का ज़वाब देते हुये लिखा था कि, "डॉ॰ लोहिया की राजनीति शायद मुझसे भिन्न हो सकती है। लेकिन उन्होंने गोवा में जाकर उधर की कलंकमय जगह पर अपनी उँगली रखी है और इसी कारण मैं उनकी तारीफ करता हूँ।...आप और गोवा के नागरिक दोनों को ही डॉ॰ लोहिया को बधाई देनी चाहिये कि, उन्होंने यह मशाल जलायी। इस दृष्टि से आपका परकीय ऐसा उनका वर्णन यदि इतना खेदपूर्ण न होता तो हास्यास्पद होता। वास्तव में पुर्तगाल से आये हुये पुर्तगाली पराये हैं। चाहे वे लोकहितैषी के नाते आये हों या दुनिया की तथाकथित कमज़ोर जातियों के शासक बनकर। वर्णभेदों को समाप्त करने का जिक्र आपने किया है। मैंने जो हालत देखी है वह यह है कि जाति भेदों का खात्मा तो नहीं ही हुआ है बल्कि जाति प्रथा से ज्यादा खतरनाक पुर्तगाली शासकों की एक नई जाति और हो गयी है।"[1]

जनवरी 1947 ई॰ में डॉ॰ लोहिया ने जब यह सुना कि पं॰ नेहरू गोवा के प्रति सरेआम उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण अपना रहे हैं तब उन्हें बहुत बड़ा दुख हुआ। डॉ॰ लोहिया ने पाया कि नेहरू पहले वाले नेहरू नहीं रहे हैं। यह एकदम कटु सत्य है कि नेहरू का मस्तिष्क अभिजात्य वर्ग से आबद्ध था। उनकी दृष्टि में पश्चिम की चकाचौंध थी। भारतीयता के प्रति उनमें अन्दर से कोई खास लगाव नहीं था। वे आत्मा से यूरोपियन थे।[2]

1948-49 ई॰ में डॉ॰ लोहिया को गोवा के देश-भक्तों और भारत-सरकार के बीच मध्यस्थता करने के लिये कहा गया था और डॉ॰ लोहिया ने इसका प्रखर प्रतिवाद किया। इस प्रकार के अनुभवों के कारण डॉ॰ लोहिया ने पं॰ नेहरू की तुलना सालाज़ार से सन् 1954 ई॰ में की, और गोवा में लड़ने वालों का मित्र और

---

1. 'हरिजन' 11 अगस्त, 1946.
2. राजेन्द्र मोहन भटनागर, समग्र लोहिया, पेज सं.- 86 (1982).

मार्गदर्शक दिल्ली के तख्त पर बैठा हुआ है ऐसे स्पष्ट् मत प्रकट करके आन्दोलन के बारे में खामोशी स्वीकार की।

डॉ॰ लोहिया इस नतीज़े पर पहुँचे कि जब तक श्री नेहरू दिल्ली के तख्त पर बैठे हैं तब तक कोई भी सवाल हल होने वाला नहीं है। उनका मानना था कि, "पाँच वर्ष पहले तक मुझे भी विदेशी प्रश्नों में और विशेषकर हिन्दुस्तान की सरहदों- नेपाल, मणिपुर, कश्मीर, गोवा में विशेष दिलचस्पी रहती थी। अब उतनी नहीं क्योंकि, कटु अनुभव से मैंने सीखा कि जब तक दिल्ली की गद्दी नहीं सुधरती, इन प्रश्नों का निराकरण संभव नहीं। इसलिये गैर-सरकारी आदमी को इन प्रश्नों में दिलचस्पी रखते हुये भी ज्यादा समय दिल्ली की गद्दी सुधारने में देना चाहिय।"[1]

कुछ भी हो 1946 ई॰ की जून में डॉ॰ लोहिया ने गोवा में जो मशाल जलायी उससे गोवा के कमज़ोर व निश्चेष्ट लोगों में आत्म-विश्वास और स्फूर्ति तो आई ही। डॉ॰ लोहिया की इस कृति को इतिहास कभी नहीं भूल सकेगा। गोवा की औरतों ने अपने लोकगीतों में डॉ॰ लोहिया का नाम जोड़ा है। वहाँ का यह गीत तो बहुत ही प्रसिद्ध हुआ है- "**पहली माझी ओवी, पहिले माझ फूल, भक्ती ने अर्पिन लोहिया ना।**"[2]

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार गोवा के संबंध में प्रधानमंत्री की नीति सही कदम है, गोवा को स्वतंत्र कराना एक ठोस कदम है। डॉ॰ आम्बेडकर ने इसका समर्थन किया और कहा कि इस मामले में सबको साथ देना चाहिये किन्तु पुर्तगालियों द्वारा गोवा छोड़ने की, और गोवा के हस्तान्तरण की ओर प्रधानमंत्री का ध्यान स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद दिलाया गया।[3] एक प्रतिनिधि मण्डल द्वारा इस प्रस्ताव को प्रधानमंत्री के पास भेजा गया था, किन्तु उन्होंने उसमें कोई रुचि नहीं दिखाई। यदि प्रधानमंत्री प्रारम्भ से इसमें सक्रिय रुचि लेते तो भारत सरकार की एक छोटी सी पुलिस कार्यवाही द्वारा गोवा पर अधिकार कर सकते थे। किन्तु वे गोवा के लिये आवाज़ उठाते रहे, उन्होंने कुछ किया नहीं। परिणाम यह हुआ कि पुर्तगाली गोवा में

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 129 (1969).
2. दृष्टव्य : कवि बोरकर ने भी कहा था- "धन्य लोहिया, धन्य भूमि यह, धन्य उसके पुत्र।"
3. डॉ॰ ज्ञानचन्द्र खिमेसरा, डॉ॰ आम्बेडकर का आर्थिक चिन्तन, पेज सं.- 124 (1995).

मोर्चाबन्दी किये हुये हैं निश्चय ही प्रधानमंत्री की सूचना ठीक होगी और उस पर विश्वास करना चाहिये कि गोवा सैन्य शक्ति रक्षित नहीं है और वहाँ पुर्तगालियों द्वारा लायी गयी कोई सेना और हथियार नहीं है। पुर्तगाली गोवा के नागरिकों के साथ बहुत सदव्यवहार करते तो क्या गोवा पर हम अपना दावा छोड़ देते ? वे शायद गोवा को स्वतंत्र उपनिवेश का दर्ज़ा दें, और वहाँ के लोगों को पूर्ण नागरिकता का। फिर भी गोवा पर हम अपना दावा नहीं छोड़ेंगे निःसंदेह वह भारत का एक हिस्सा है। यह दुर्भाग्य की बात है कि बहुत से प्रबुद्ध देश भी पुर्तगालियों का साथ दे रहे हैं। डॉ॰ आम्बेडकर को यह जानकर अत्यन्त दुःख हुआ कि श्री चर्चिल भी पीछे-पीछे पुर्तगालियों का साथ दे रहे हैं। इसी प्रकार का रुख ब्राजील का भी है। इसे ठीक से संयुक्त राज्य अमेरिका का रुख नहीं पता क्योंकि उन्होंने इस विषय पर सार्वजनिक रूप से कोई घोषणा नहीं की। संभवतः उनकी हमदर्दी भी पुर्तगालियों के साथ है। आश्चर्य होता है कि ऐसा क्यों हो रहा है। इंग्लैण्ड जिसने स्वेच्छा से हमें स्वतंत्रता दी। इसी स्थिति में विरोधी राय दूसरे देश को क्यों दे रहा है ? इसको समझना असम्भव है। डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार मुझे ऐसा लगता है कि प्रधानमंत्री चाहे मेरा सुझाव स्वीकार करें या न करें, वे प्रधानमंत्री को यह सबक सिखाना चाहते हैं कि गुट-निरपेक्ष मार्ग पर चलने की कीमत चुकानी पड़ती है।[1]

डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि, प्रधानमंत्री के लिये मेरा एक सुझाव है। यदि पुर्तगालियों को संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य सदस्यों का समर्थन प्राप्त है, तो हमें उनके साथ सैनिक संघर्ष नहीं करना चाहिये। किन्तु मेरे पास दो प्रस्ताव है। अमेरिका में "लुई सियाना" राज्य का प्रकरण था जहाँ फ्रांसीसियों का आधिपत्य था। उस राज्य के दोनों ओर अमेरिकी आधिपत्य था। अमेरिकन चाहते थे कि फ्रांसीसी अपना आधिपत्य छोड़ दें ताकि वह राज्य भी संयुक्त राज्य अमेरिका में सम्मिलित किया जा सके उसको प्राप्त करने के लिये उन्होंने एक कीमत चुकाई। मेरे पास उसके आँकड़ें भी हैं। इतने बड़े क्षेत्र के लिये वह कीमत अधिक नहीं है। गोवा उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है 'लुई सियाना' के एक नगर के बराबर गोवा का क्षेत्रफल होगा। यदि प्रधानमंत्री इसे अपनाना चाहें- प्रधानमंत्री को दूसरा सुझाव

1. डॉ॰ ज्ञानचन्द्र खिमेसरा, डॉ॰ आम्बेडकर का आर्थिक चिन्तन, पेज सं.- 125 (1995).

यह है कि गोवा को लीज़ पर ले लिया जाय जिस प्रकार बरार को पट्टे पर लिया गया था। बरार निज़ाम की सम्पत्ति थी वे वहाँ के शासक थे किन्तु 1853 ई. में ब्रिटिश सरकार ने स्थायी लीज़ पर उसे ले लिया।

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार हम गोवा पर पूर्णाधिकार चाहते हैं और वहाँ अपना शासन स्थापित करना चाहते हैं। हमारे देश में एक ऐसा उदाहरण है, जिसमें एक राजा की सम्पत्ति लीज़ पर ली गई और बाद में वह स्थायी रूप से देश का हिस्सा बन गयी। यह एक दूसरा विकल्प है जिसे प्रधानमंत्री कार्य रूप दे सकते हैं। कोई कारण नहीं है कि इन दोनों तरीकों में कोई तरीका पुर्तगालियों को मनाने में सफल न हो।

डॉ. आम्बेडकर ने कहा है कि एक दिन मैं एक ग्रन्थ पढ़ रहा था जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की चेराम हाउस स्थित संस्था ने प्रकाशित किया उसमें उन बातों की चर्चा की गयी थी जो द्वितीय विश्व युद्ध का कारण बनीं और ग्रन्थकर्ता ने दो बातें बताईं हैं कि युद्ध क्यों हुआ और क्यों नहीं बचाया जा सका ? एक कारण यह था कि मज़दूर पार्टी के लिये निःशस्त्रीकरण आन्दोलन ज़ोर पकड़ा हुआ था और इसलिये भी चेम्बरलेन के लिये यह संभव न रहा कि वह यूरोप में 'शक्ति संतुलन' को बनाये रख सकें। उन्होंने हिटलर को बढ़ने दिया और इतना बढ़ने दिया कि बाद में उसे नियंत्रण में रखना कठिन हो गया। दूसरा कारण उसने बताया कि चेम्बरलिन ने हिटलर के वचनों पर विश्वास करके सबसे बड़ी भूल की थी हिटलर से बढकर कोई मिथ्यावादी नहीं हुआ। जिस समय सुडेरन के जर्मन लोगों को चैकोस्लोवाकिया से पृथक किया गया, उस समय उसकी हर मांग पूरी हो गयी। उसने कहा कि अब उसे और कुछ नहीं चाहिये। लोकसभा के हर सदस्य को इस बात का स्मरण होगा कि उस समझौते पर हस्ताक्षर करने के दिन ही उसने चैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया। मैं आशा करता हूँ कि हमारे प्रधानमंत्री से ऐसी भूलें नहीं होंगी।[1]

गोवा भारतीय भू-भाग में स्थित होने के बावजूद यहाँ वर्षों से पुर्तगाली अत्याचारी शासन स्थापित था जिसने नागरिक स्वतंत्रताओं एवं नागरिक अधिकारों

---

1. डॉ. ज्ञानचन्द्र खिमेसरा, डॉ. आम्बेडकर का आर्थिक चिन्तन, पेज सं.- 125-126 (1995).

का हनन कर रखा था। डॉ. लोहिया, अत्याचार तथा अन्याय चाहे जहाँ हो उसे नहीं देख सकते थे, इसलिये उन्होंने गोवा के राष्ट्रीय जीवन के लिये नागरिक स्वातंत्र्य का अपहरण करने वाले बदनाम काले कानूनों को हटाना अपना फर्ज समझा जो कि एक सही कदम था। उन्होंने इस कार्य को गोवा के कल्याण की ही दृष्टि से नहीं, वरन भारत की आज़ादी के लिये भी करना आवश्यक समझा। उन्होंने पं. नेहरू व सरदार पटेल की गोवा के प्रति लचीली नीति की कटु आलोचना की तथा गोवा जैसे मुद्दे के प्रति सकारात्मक रुख अपनाने का आह्वान किया। वास्तव में गोवा के प्रति डॉ. लोहिया के लगाव को इतिहास याद रखेगा।

डॉ. आम्बेडकर ने भी गोवा मामले में पं. नेहरू सरकार के हस्तक्षेप को देर से की गयी कार्यवाही कहा तथा गोवा की स्वतंत्रता का समर्थन किया। गोवा की पुर्तगाली कुशासन से मुक्ति के लिये उन्होंने दो सुझाव दिये- प्रथम गोवा को भारत सरकार द्वारा खरीद लिया जाये या फिर द्वितीय गोवा को लीज़ पर ले लिया जाये। उन्होंने सरकार से आशा की कि दो में से किसी एक सुझाव पर अवश्य अमल किया जायेगा और गोवा को निरंकुश शासन से मुक्ति मिलेगी।

निश्चित रूप से साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी शक्तियाँ अत्याचार और शोषण पर आधारित होती हैं। यह अत्याचार और शोषण विश्व में चाहे जिस मुल्क में हो मानवता के लिये इसका विरोध अवश्य किया जाना चाहिये। डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर दोनों ही ऐसे विचारक थे जो साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, शोषण, अत्याचार, गरीबी, असमानता आदि के खिलाफ आजीवन संघर्ष करते रहे। ग़ोवा चूँकि भारतीय भू-भाग पर स्थिति ऐसा क्षेत्र था जिस पर पुर्तगालियों ने वर्षों से कब्ज़ा कर रखा था इसलिये उसकी स्वतंत्रता भी भारत की स्वतंत्रता के साथ-साथ अनिवार्य थी। भारत की आज़ादी के बाद यदि पुर्तगाली शासन गोवा से नहीं हटता तो भी देर-सबेर उसको 'गोवा' को मुक्त करना ही पड़ता क्योंकि उसको गोवा को अपना उपनिवेश बनाये रखना भौगोलिक दृष्टि से सम्भव नहीं हो पाता। आज गोवा भारत का अविभाज्य हिस्सा बन चुका है जिस पर केवल भारत का शासन स्थापित है।

4.6. राष्ट्रवाद एवं विश्वराज्यवाद-

राष्ट्रवाद वह विचारधारा है जो देश के प्रति भक्ति एवं प्रेम की भावना पर आधारित है। यह भावना जन्म या किसी की इच्छा से जाग्रत होती है। राष्ट्रवाद का वास्तविक आधार लोगों की सांस्कृतिक एवं एकात्मीयता की भावनाएं होती हैं। स्पष्टतः राष्ट्रवाद मनुष्य के दीमाग की उपज है और इसीलिये इसका सीधा सम्बन्ध मानव जीवन एवं उसकी क्रियाओं से है। "राष्ट्रवाद अपने उपयुक्त भाव में एक ऐसा पद है, जिसका सम्बन्ध राज्य से अधिक न होकर समाज के क्षेत्र से है। यह एक ऐसी भावना है जिसका सीधा सम्बन्ध सम्पूर्ण राष्ट्रीय समाज की परम्पराओं तथा उपलब्धियों से है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार देश भक्ति का सम्बन्ध अपनी जन्मभूमि तथा उसकी सभी भौतिक विशेषताओं से है।"[1] राष्ट्रवाद एवं देशभक्ति दोनों का सम्बन्ध निःसंदेह मानव समाज से है। मानवीय समाज के साथ सम्बन्ध के बिना उसका सच्चा स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता है।

पश्चिमी देशों में राष्ट्रवाद की भावना का उदय हिंसात्मक तत्वों को लेकर हुआ इसीलिये सिडने ब्रूक्स, नार्मन ऐंजिल आदि ने राष्ट्रवाद को मानवता का शत्रु बताया। राबर्टसन ने तो यहाँ तक कहा है कि, राष्ट्रवाद एक अबौद्धिक भावना है और मानवता का इसी में भला है कि वह इससे शीघ्र ही छुटकारा पाये। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रवाद के पीछे मानवीय तत्व भी है जिसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। यदि हम भारतीय संदर्भ में देखें तो भारतीय नेताओं ने शान्तिप्रिय तत्वों को ही बढ़ावा दिया है। बालगंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी, पं॰ नेहरू, डॉ॰ राममनोहर लोहिया तथा डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर जैसे नेताओं ने लोगों में राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत किया शान्ति एवं अहिंसा के साथ, न कि हिंसात्मक तत्वों के द्वारा।

डॉ॰ लोहिया के चिन्तन में 'राष्ट्रवाद' को मज़बूत बनाने के तत्व निहित हैं इतना ही नहीं उनका चिन्तन विश्वराज्यवादी भी है जो कि पूरी मानव जाति को समान दृष्टि से देखता है। डॉ॰ लोहिया पूर्णरूप से भारतीय संस्कृति में रचे-बसे थे

---

1. ई. बार्कर, प्रिन्सिपल्स ऑफ सोशल एण्ड पॉलिटिकल थ्योरी, पेज सं.-161 (1961).

उन्होंने अपनी प्रत्येक अवधारणा का प्रतिपादन मनुष्य मात्र के कष्टों एवं दुखों को दूर करने के लिये किया है। भारत के पददलित, शोषित एवं पीड़ित लोगों को ऊपर उठाने के लिये उन्होंने अथक प्रयास किया। उनके अधिकारों को उन्हें प्राप्त करवाने के लिये अथक परिश्रम किया। उन्होंने राष्ट्र की एकता व अखण्डता को बनाये रखने के लिये तथा राष्ट्रवाद की नींव को मज़बूत करने के लिये वर्ण एवं जाति व्यवस्था का विरोध किया तथा इसे जड़ से खत्म करने का आह्वान किया, सामाजिक, राजनीतिक और सर्वाधिक रूप से आर्थिक समानता पर जोर दिया, अस्पृश्यों को सामाजिक न्याय दिलाने का प्रयास किया, सामाजिक कुरीतियों पर कुठाराघात किया, साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रवाद जैसी विकृतियों का पूर्णरूप से विरोध किया। डॉ॰ लोहिया राष्ट्रवाद को मज़बूती प्रदान करने के लिये समाज से गरीबी, बेरोज़गारी, पिछड़ापन, अशिक्षा, स्त्री-पुरुष असमानता, अस्पृश्यता, जातिवाद आदि को हटाना अनिवार्य मानते थे क्योंकि इन बुराइयों के रहते हुये राष्ट्रवादी संस्कृति विकसित नहीं हो सकती है। डॉ॰ लोहिया का मत है कि "लगभग एक हजार वर्ष की भारत की गुलामी का कारण केवल जाति प्रथा है।"[1]

राष्ट्रवादी संस्कृति विकसित करने के लिये डॉ॰ लोहिया ने हिन्दुस्तान में हिन्दी भाषा के व्यापक स्तर पर प्रयोग का समर्थन किया। उनकी दृष्टि में, "अंग्रेजी का सार्वजनिक इस्तेमाल फौरन बन्द हो जाना चाहिये। विधायिकाओं, सरकारी दफ्तरों, अदालतों, दैनिक समाचार-पत्रों और नाम पतों में अंग्रेजी का इस्तेमाल नहीं होना चाहिये तथा अंग्रेजी की आवश्यक पढ़ाई भी बन्द होनी चाहिये।"[2] यद्यपि भारत बहु-भाषायी देश है और यहाँ पर अनेक भाषायें व बोलियाँ बोली जाती हैं तथापि डॉ॰ लोहिया हिन्दुस्तान में हिन्दी भाषा को ही बढ़ावा देना चाहते थे। उनका विरोध अनेक भाषाओं के बोलने या बोलने वालों से नहीं था वरन उनका विरोध अंग्रेजी को हटाने के लिये था क्योंकि यहाँ का जनमानस अंग्रेजी भाषा को ठीक से समझने में असमर्थ है तथा अंग्रेजों की संस्कृति यहाँ पर हॉबी होती जा रही है जो कि भारतीय संस्कृति एवं उसकी अस्मिता पर कुठाराघात है अतः हिन्दुस्तान में

---

1. लक्ष्मीकान्त वर्मा, समाजवादी दर्शन और डॉ॰ लोहिया, पेज सं.- 82 (1991).
2. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, 'भाषा', पेज सं.- 75-76.

राष्ट्रवाद को मज़बूत बनाने के लिये यहाँ एक भाषा 'हिन्दी' को बढ़ावा देना आवश्यक है यह ऐसी भाषा है जिसे यहाँ का जन-जन समझ सकता है।

डॉ॰ लोहिया ने साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रवाद को 'राष्ट्रवाद' की नींव को कमज़ोर करने वाले घटक के रूप में रेखांकित किया। भारत की आज़ादी के समय भारत में व्याप्त साम्प्रदायिकता नामक ज़हर के कारण अखण्ड भारत की एकता को खतरा पहुँचा है। हिन्दू और मुसलमान नामक इन दो गुटों के बीच अपने स्वार्थों को लेकर द्वन्द उत्पन्न हुये इससे क्षेत्रीयतावादी शक्तियाँ अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयीं तथा हिन्दुस्तान का विभाजन भारत और पाकिस्तान के रूप में हो गया। डॉ॰ लोहिया ने हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिकता को कम करने के लिये या खत्म करने के लिये व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों स्तरों पर व्यापक प्रयास किया। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य भाईचारा स्थापित करने की असफल कोशिश की। भारत-पाकिस्तान के बँटवारे के समय दोनों ओर भीषण साम्प्रदायिक दंगे हुये। 1947 ई॰ में बँटवारा के बाद दोनों ओर के 6 लाख आदमी मरे और डेढ़ करोड़ लोग बिना घर-बार के हो गये।[1] डॉ॰ लोहिया का कहना है कि, "हिन्दुस्तान के हिन्दू और मुसलमान एक राष्ट्र हैं या दो ? सात सौ वर्षों का हिन्दुस्तान का इतिहास इस सवाल पर दुविधा में रहा है और इसके हल बराबर बने और बिगड़े हैं। दोनों धर्मों को मिलाकर एक राष्ट्र में ढालने की बहादुर कोशिशें हुई हैं और अक्सर वे करीब-करीब सफल भी हुईं। लेकिन धर्म के फर्क की बाधा ने इसमें बड़ी रुकावट की और कट्टरपंथियों ने बार-बार फिर सवाल को जिन्दा कर दिया। लेकिन इसके एक नतीजे में कोई शक नहीं है और वह यह कि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के मुसलमान अन्य किसी देश के लोगों की अपेक्षा चाहे वे मुसलमान ही हों, हिन्दुओं के ज्यादा नज़दीक हैं। इसी तरह हिन्दुस्तान के हिन्दू किसी और देश के लोगों की अपेक्षा इस देश के मुसलमानों के ज्यादा नज़दीक हैं।"[2]

इस तरह डॉ॰ लोहिया ने भारत में विद्यमान साम्प्रदायिक एवं क्षेत्रीयतावादी जैसी राष्ट्र निर्माण में बाधक शक्तियों का विरोध किया। उनका विचार था कि,

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 219 (1969).
2. वही, पेज सं.- 221.

अंग्रेजी शासन में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक साथ ही राजनीतिक समुदाय में ढालने और उनके बीच की दूरी को बढ़ाने के दोनों क्रम एक साथ ही चलते रहे। हिन्दू और मुसलमान एक राष्ट्र में लगभग ढल गये थे। लेकिन अंग्रेजी राज ने अपने शासन को कायम रखने के लिये पुरानी रुकावट का इस्तेमाल किया।

राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रवादी होने के साथ-साथ डॉ. लोहिया की दृष्टि विश्वराज्यवादी थी। उनके लिये समस्त विश्व एक सम्पूर्ण इकाई के समान था जिसे इन्सान ने टुकड़ों में बाँट रखा है। चाहे गोरा मनुष्य हो या काला, मनुष्य मनुष्य होने के नाते एक है। उसे एक सुदृढ़ इकाई के रूप में जीने का अधिकार है। डॉ. लोहिया का मानना था कि मानव सभ्यता आज जिस शिखर तक पहुँच गयी है, उसे देखते हुये इस सम्पूर्ण मानव जाति को एक सम्बद्धता और एक दूसरे के सुख-दुख का भागीदार होकर जीने की सुविधा होनी चाहिये। पूरी मानव सभ्यता को यह अनुभव करना चाहिये कि सारे संसार में मनुष्य मात्र की एक बिरादरी है। यदि वह सबको एक मानकर नहीं चलेगी तो हर दस-पाँच वर्ष बाद एक युद्ध की विभीषिका, एक सामूहिक नरसंहार, एक विस्फोट, ऐसा होगा जो पूरे संसार को हिला देगा।

डॉ. लोहिया पूरे विश्व में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे। आज संसार में व्याप्त भय तथा सत्रांस के वातावरण में कोई भी राष्ट्र चाहे कि वह अपने आपमें बन्द होकर बाहर की घटनाओं से अपने को बचा ले या इन विषमताओं से मुक्ति पा ले तो यह असम्भव है। इसी प्रकार यदि सभी राष्ट्रों में कलह, युद्ध और आतंक का वातावरण हो और इन सबके बीच कोई चाहे कि किसी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना जागृत कर ले तो वह भी असंभव है। विश्व में शान्ति-व्यवस्था स्थापित करने के लिये एक साथ दोनों स्तरों पर काम करना होगा। एक ऐसी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समझदारी विकसित करनी होगी कि जिससे दोनों स्तरों पर एक व्यापक संतुलन एक दूसरे की सापेक्षता में विकसित हो सके।

डॉ. लोहिया की जाति की व्याख्या बहुत व्यापक है। जहाँ भारत के विषय में वह वर्ण-व्यवस्था को सारी विषमताओं का केन्द्र मानते थे तथा वर्ण-व्यवस्था के आधार पर पूरे समाज की जकड़बन्दी की बात करते थे, वहीं वह विश्व स्तर पर भी

वर्ण एवं धन तथा तकनीक के आधार पर विकसित एक नये प्रकार की जाति व्यवस्था की चर्चा करते हैं। गोरी दुनिया और रंगीन दुनिया के भेद, तकनीकी आधार पर विकसित देश और आधुनिक तकनीक से अनभिज्ञ पिछड़े देश की विषमतायें एक नये प्रकार की वर्ण व्यवस्था को जन्म देती हैं। साम्राज्यवादी देशों की जमींदारी की ऐंठ और उपनिवेश में बँटे अन्य देशों की पराधीनता, इन सबको डॉ॰ लोहिया एक प्रकार की वर्ण-व्यवस्था का सर्वथा नया विकसित रूप मानते हैं। इसके साथ वह पिछड़े देशों में जाति के आधार को, भाषा और धर्म तथा वंश को भी अन्दरूनी रूप से जर्जर करने वाली बात मानते हैं। उनका निश्चित मत था कि समस्त विश्व किसी न किसी प्रकार की जाति व्यवस्था में फँसा हुआ है। इसी कारण विश्व का विकास अवरुद्ध है।[1] डॉ॰ लोहिया नीग्रों जाति के प्रति गोरी जाति वालों द्वारा किये जाने वाले अन्याय को अन्तर्राष्ट्रीय जातिवाद का एक जीता-जागता रूप बताते हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय जातिवाद देखने में भारतीय जाति-व्यवस्था से भिन्न लगता है, परन्तु इसकी जड़ें उसी गन्दी मनोवृत्ति की परिचायक हैं, जो भारत की जाति व्यवस्था में हैं। इसी प्रकार डॉ॰ लोहिया अफ्रीका के रंगभेद को भी मानवता के अपमान का ही जघन्य रूप मानते थे।

डॉ॰ लोहिया ने अपने विचारों में विश्व सरकार की कल्पना की है। उनके अनुसार आज संसार का सारा व्यापार युद्ध और हथियार को केन्द्र में रखकर हो रहा है। उदात्त मूल्य, जिनसे मानवता का विकास हो सकता है, उन्हें त्याग दिया गया है। अब समय आ गया है जब मानसिकताओं और मनों का संघ बनाना जरूरी हो गया है। मन और मानसिकता के आधार पर जब विश्व के समस्त राष्ट्रों का नया संगठन बनेगा, उदात्त मानव मूल्यों के आधार पर मुक्ति कामना से विश्व संगठन रूप लेगा तभी विश्व स्तर पर वास्तविक समता स्थापित होगी। उनका कहना था कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का पुनर्गठन होना चाहिये। इस संगठन के तहत या स्वयं इस संगठन को एक विश्व सरकार का रूप देना चाहिये। इस विश्व सरकार में विश्व के राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की संसद हो, जिसके दो सदन राज्यसभा और लोकसभा

1. डॉ॰ लोहिया द्वारा 'अन्तर्राष्ट्रीय जाति व्यवस्था', विषय पर 1951 में हावर्ड विश्वविद्यालय में दिये गये भाषण के अंश।

जैसे हों। इन सदनों में राष्ट्रों के निर्वाचित प्रतिनिधि बिना किसी भेदभाव के सदस्य बनाये जायें इस विश्व संसद के दोनों सदन इतने सक्षम हों कि जहाँ कहीं भी मानव अधिकारों का हनन हो या अन्याय हो, वहाँ वे हस्तक्षेप कर सकें। डॉ. लोहिया तो एक ऐसी विश्व सरकार की कल्पना करते थे, जिसके पास अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का कोश और अन्तर्राष्ट्रीय सहमति के आधार पर एक विश्व सेना भी हो। आवश्यकता पड़ने पर यह विश्व सरकार कहीं भी सैनिक हस्तक्षेप करने में समर्थ हो।[1]

डॉ. लोहिया का मानना था कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में न्याय स्थापित करना है, तो जो भी विश्व सरकार बने उसे तीन खतरों से बचना चाहिये। पहला तो यह कि, उस सरकार की सदस्यता पर किसी भी प्रकार की रोक न लगायी जाय, दूसरा यह कि, इस विश्व सरकार की सुरक्षा-परिषद की सदस्यता स्थायी हो। अस्थायी सदस्यता से हमेशा तदर्थवादी मनोवृत्ति से सही निर्णय नहीं हो पाते, और तीसरा यह कि वीटो पॉवर को समाप्त होना चाहिये। उनका मत था कि आज के 'संयुक्त राष्ट्र संघ' के पास जो अधिकार हैं वह अपर्याप्त हैं। उसमें प्रभुता सम्पन्नता का सर्वथा अभाव है। इसीलिये वह कोई भी निर्णय नहीं ले पाता। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था तब तक कारगर नहीं हो सकती जब तक वह अपने आपमें प्रभुता सम्पन्न न हो। यह प्रभुता सम्पन्नता तब तक नहीं आ सकती, जब तक कि ईमानदारी से विश्व के सारे प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र अपने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की प्रभुता सम्पन्नता को सामूहिक संकल्प द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को हस्तान्तरित नहीं करते। डॉ. लोहिया की दृष्टि में किसी भी राष्ट्र में न्याय और समता तब तक नहीं स्थापित हो सकती, जब तक कि विश्व स्तर पर भी लोग न्याय और समता स्थापित करने की ओर कदम नहीं बढ़ायेंगे। राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्र को एक अन्योन्याश्रित रूप में काम करना होगा तभी विश्व के स्तर पर मानवता को गरीबी और शोषण से मुक्ति मिलेगी। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये डॉ. लोहिया ने निम्नलिखित शर्तें रखीं :-

1) विश्व नागरिकता को मान्यता दी जाय।

2) सभी राष्ट्र विश्व सरकार की स्थापना में अपना योगदान दें।

---

1. लक्ष्मीकान्त वर्मा, समाजवादी दर्शन और डॉ. लोहिया, पेज सं.- 242 (1991).

3) विश्व सरकार प्रभुता सम्पन्न सरकार हो और वह प्रभावी ढंग से काम करे।

4) संसार के उपेक्षित राष्ट्र, तीसरी शक्ति के मूल स्रोत को स्वीकार करके ही विश्व संगठन की पहल की जाय।

5) स्वराष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में एक सरल और सहज आवागमन बना रहे।[1]

डॉ॰ लोहिया राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध के खिलाफ और निःशस्त्रीकरण के समर्थक थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि, "मैं अणुबम का पुजारी नहीं हूँ मैं हथियारों को बहुत बुरा समझता हूँ। मैं हथियारों से घृणा करता हूँ। अणुबम से भी मैं घृणा करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि दुनिया ऐसी हो कि जिसमें यह सब खत्म हो जाय।"[2] उनका विश्वास था कि बीसवीं शताब्दी के अन्त तक या तो यह अणुबम रहेंगे या यह विश्व रहेगा। उनके मतानुसार यदि विश्व का कोई रूप बचेगा भी तो उसमें रोग-ग्रस्त, अपाहिज, बुद्धि-शून्य, लोग ही बचेंगे। इस अंग-भंग दुनिया का भविष्य भी बहुत दर्दनाक होगा। आज जिस हथियार की दौड़ में दुनिया की सरकारें तन-मन-धन देकर लगी हैं, वे भय, आशंका और सत्रांश से प्रेरित हैं। इस आतंक और सत्रांश से मुक्ति का एकमात्र मार्ग **'अहिंसा'** का है। वास्तव में अन्याय को हिंसात्मक ढंग से लड़कर नहीं मिटाया जा सकता। अन्याय को शान्ति के हथियार से ही दूर किया जा सकता है। हथियार हमेशा बड़े हथियार से पराजित होता है। इसलिये हथियार का विरोध केवल अहिंसा का मार्ग अपना कर ही किया जा सकता है।

विश्व अर्थव्यवस्था के बारे में डॉ॰ लोहिया का कहना था कि इसमें व्यापक स्तर पर असमानता एवं शोषण व्याप्त है। आज की दुनिया में शान्ति भंग का मुख्य कारण यही है कि सारी दुनिया अमीर और गरीब में बँटी हुई है। जो गरीब है उन पर अमीर देश वाले दया करते हैं, कृपा करते हैं। उनकी इस दया और कृपा के कारण गरीब देश इन अमीर देशों के घर अपने आपको गिरवी कर देते हैं। उनके बंधक हो जाते हैं। अपनी कृपा के बदले में अमीर देश इन गरीब देशों को अपने-

---

1. लक्ष्मीकान्त वर्मा, समाजवादी दर्शन और डॉ॰ लोहिया, पेज सं.- 243-244 (1991).

2. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, 'सप्तक्रान्तियाँ' (1966).

अपने पक्ष में करने के लिये अनेक प्रकार के जाल फैलाते है। गरीब देश विदेशी सहायता लेने के लिये मज़बूर होते हैं। अर्थ और तकनीक के अभाव में ये गरीब देश कर्ज. में फँस जाते हैं। डॉ. लोहिया ने इस स्थिति को समाप्त करने के लिये पूरी विश्व-अर्थव्यवस्था को एक ऐसा नया रूप देने की कोशिश की है कि जिसमें बँधुवा होने और महाजन बनने की नौबत ही न आये। इसके लिये डॉ. लोहिया एक "विश्व विकास समिति" का संगठन बनाना चाहते थे। वे चाहते थे कि यह "विश्व विकास समिति" आर्थिक समानता लाने की दिशा में काम करे और पूरे विश्व को विकसित करने का संकल्प लेकर ऐसी योजना बनाये जिसमें न कोई बँधुवा बने और न कोई महाजन। ऐसी व्यवस्था बनने से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो व्यभिचार, दलाली और बेरोज़गारी बढ़ती है वह समाप्त होगी।

वास्तव में डॉ. लोहिया "विश्व विकास समिति" को जिस भाव से स्थापित करना चाहते थे वह महाजन और कर्ज़दार से अलग भाव था। वह प्रत्येक राष्ट्र में एक व्यापक विश्व चेतना के माध्यम से सहोदर भाई जैसे व्यवहार को जागृत करना चाहते थे। सारे राष्ट्र छोटे-बड़े, अमीर-गरीब यदि इस भावना से काम करें तो सारे विश्व में समानता, सम्पन्नता और सौहार्द का वातावरण अपने आप बनेगा।

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार, राष्ट्रवाद को किसी भी रूप में परखा जाये और कोई भी इसे त्यागने की इच्छा प्रकट करे, लेकिन राष्ट्रवाद एक ऐसा तथ्य बन चुका है कि इसे मानव समाज से पृथक नहीं किया जा सकता। उन्होंने कहा है कि, "राष्ट्रवाद एक ऐसा तथ्य है जिसको न तो भुलाया जा सकता है और न ही अस्वीकार किया जा सकता है। चाहे कोई व्यक्ति राष्ट्रवाद को अबौद्धिक भावना कहे या वास्तविक भ्रम, इसमें एक ऐसी शक्ति निहित है, एक ऐसा गत्यात्मक बल है, जिससे अनेक साम्राज्यों को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। राष्ट्रवाद सही है अथवा मानवता के लिये हानिकारक है, यह केवल जोर देने की भावना पर निर्भर है।"[1] डॉ. आम्बेडकर राष्ट्रवाद को मानव जीवन में एक शक्ति के रूप में मानते हैं। उनमें राष्ट्रवाद की भावना का उदय उन लोगों में आस्था के साथ हुआ जो निर्धन, शोषित एवं अछूत थे। वे उन सभी लोगों के लिये समानता एवं नागरिक अधिकार

1. बी. आर. आम्बेडकर, पाकिस्तान आर द पार्टीशन ऑफ इण्डिया, पेज सं.- 207 (1946).

चाहते थे जो उनसे वंचित हो चुके थे। हिन्दू समाज में करोड़ों लोगों को मानव अधिकारों से पृथक रखा गया। उन्हें नारकीय जीवन बिताने को मज़बूर कर दिया गया और सदियों तक उनको ऐसा ही जीवन बिताना पड़ा।

डॉ॰ आम्बेडकर का कहना है कि, दलितों के ऊपर थोपी गयी दासता और पृथकता की भावना का मूल कारण छुआछूत था। छुआछूत ने भेदभाव की भावना को ही बढ़ावा नहीं दिया, वरन बहुत से वर्गों को समानता, नागरिक अधिकार तथा जीवन की अन्य बहुमूल्य बातों से वंचित कर रखा जिनके आधार पर एक सच्चे मानव जीवन का निर्माण किया जाता है।[1] सर्वप्रथम डॉ॰ आम्बेडकर ने शोषित वर्गों के लिये, अधिकारों की मांग रखी। यहीं से उनकी राष्ट्रवाद की भावना का उदय हुआ। उन्होंने सच्चे राष्ट्रवाद की जड़ों को खोज़ा और उन लोगों के साथ एकात्मीयता प्रदर्शित की जो सदियों से उपेक्षित थे। उनके हृदय में राष्ट्रीय भावनाओं का जागरण दो बातों के विरोध में हुआ- **प्रथम** वे ब्रिटिश राज का अन्त चाहते थे और **द्वितीय** वे भारत में व्याप्त आन्तरिक शोषण को समाप्त किये जाने के पक्ष में थे। दूसरे शब्दों में वे बाह्य शासन एवं आन्तरिक अन्याय दोनों के विरुद्ध थे।

ब्रिटिश शासन के बारे में डॉ॰ आम्बेडकर का विचार था कि विदेशी शासन ने भारत में आवश्यक सुधार करने की हिम्मत नहीं की क्योंकि उसे यह भय था कि यदि भारतीय समाज में मौलिक परिवर्तन किये जायेंगे तो ब्रिटिश राज के विरोध में बहुत से शक्तिशाली तत्व उठ खड़े होंगे।[2] इसीलिये उन्होंने सामाजिक सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वे अपने शासन को ही कायम रखने की चिन्ता में व्यस्त रहे अन्यथा वे यहाँ छुआछूत और जातिवाद की भावनाओं को अधिक मज़बूत बनाकर नहीं जाते। आन्तरिक अन्याय के बारे में डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि भारतीय समाज छोटी एवं बड़ी जातियों में विभाजित है। जातियों में एक ऐसी स्तरीय भावना है कि यदि ऊपर की ओर जाया जाये तो सम्मान की भावना बढ़ती जाती है और यदि नीचे की ओर आया जाये तो घृणा की भावना उत्पन्न होती है।

---

1. गोलमेज परिषद् (प्रथम सत्र- 12 नवम्बर, 1930- 19 जनवरी, 1931) प्रॉसीडिंग्स, पेज सं.- 123-129.
2. बसन्तमून द्वारा संकलित, डॉ॰ आम्बेडकर : राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, खण्ड- 2, पेज सं.- 504-505 (1982).

हिन्दू समाज संगठन कुछ ऐसा है कि, "इसमें समानता एवं स्वतंत्रता के लिये जो प्रजातांत्रिक जीवन के लिये आवश्यक है, कोई स्थान नही है।"[1] डॉ॰ आम्बेडकर ने इस बात पर बल दिया है कि, राजनैतिक दलों और नेताओं को अछूत, निर्धन एवं शोषितों के हालात की ओर भी देखना चाहिये। नवीन भारत के निर्माण में कुछ वास्तविक तथ्यों की परीक्षा भी करनी चाहिये। वे केवल इतना चाहते थे कि यहाँ के अछूतों एवं शूद्रों को कुछ संरक्षण मिलना चाहिये ताकि वे सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रगति कर सकें।

इस प्रकार डॉ॰ आम्बेडकर केवल बाह्य शासन से ही स्वतंत्रता नहीं चाहते थे, इसके साथ-साथ वे भारत में रहने वाले करोड़ों अछूतों के लिये भी स्वतंत्रता चाहते थे जिनके लिये यह असम्भव बना दी गयी थी। विदेशी राज्य के प्रति संघर्ष एवं शोषितों के प्रति प्रेम ने उनके अन्दर सच्ची राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत कर दिया। यही कारण है कि उन्होंने आज़ादी प्राप्त करने में अच्छा योगदान दिया और अपने देश में अधिकारहीन लोगों के लिये मानव अधिकार भी सुलभ करवाये। उन्होंने कहा था कि, "मैं मानता हूँ कि उच्च कहे जाने वाले हिन्दुओं के साथ मेरा कुछ बातों पर मौलिक मतभेद है, लेकिन मैं आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने देश की रक्षा हेतु मैं अपनी जान भी दे दूँगा।"[2]

डॉ॰ आम्बेडकर अन्य भारतीय राष्ट्रवादियों के समान ब्रिटिश तटस्थतावाद के विरुद्ध थे। उनके अनुसार, "ब्रिटिश सरकार ने उत्साहपूर्वक या हिम्मत से परिगणित जातियों के अधिकारों के लिये प्रयत्न नहीं किये और न अछूतों के लिये प्रारम्भिक मानवीय अधिकारों को अजनतांत्रिक संस्थाओं का अन्त करके सुलभ बनाया।"[3] उन्होंने कहा है कि, "जब हम अपनी वर्तमान स्थिति की तुलना ब्रिटिश राज्य के पूर्व वाले भारतीय समाज से करते हैं, तो हमें मालूम पड़ता है कि प्रगति के बजाय हम केवल समय व्यतीत कर रहे हैं। ब्रिटिश राज्य के पूर्व, छुआछूत के कारण हम बहुत ही सोचनीय अवस्था में थे। क्या ब्रिटिश सरकार ने इसे मिटाने के

---

1. भगवानदास द्वारा संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड- 1, पेज सं.- 9 (1963).
2. धनंजय कीर, बाबा साहब डॉ. आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 339 (1981).
3. ए. आर. देसाई, सोशल बैक ग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज़्म, पेज सं.- 246 (1959).

लिये कुछ किया है ? ब्रिटिश राज्य के पूर्व, हम मन्दिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। क्या अब हम प्रवेश कर सकते हैं ? ब्रिटिश शासन के पूर्व हमें पुलिस में भर्ती नहीं होने दिया जाता था। क्या ब्रिटिश सरकार ने हमें ऐसा अधिकार दिया है ? ब्रिटिश राज्य के पूर्व, हमें फौज़ में भर्ती नहीं होने दिया जाता था। क्या फौज़ का द्वार अब हमारे लिये खुला है।"[1] वास्तव में इन महत्वपूर्ण प्रश्नों का कोई भी संतोषजनक उत्तर नहीं मिला जिसका परिणाम यह हुआ कि डॉ॰ आम्बेडकर के अन्दर विदेशी शासन के प्रति विद्रोह की भावना उठ खड़ी हुई।

डॉ॰ आम्बेडकर के जीवन का यह उद्देश्य था कि स्वतंत्रता के साथ-साथ इस महान देश की एकता भी सुरक्षित रखी जाये। उन्होंने कहा था कि, "मुझे इस देश के भावी सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक विकास के ढाचे के प्रति किंचित भी संदेह नहीं है। मैं जानता हूँ कि, आज हम राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से विभाजित हैं। हम पृथक-पृथक खेमों में हैं, और शायद मैं भी एक पृथक खेमे में हूँ। इतना सब होते हुये भी, मुझे विश्वास है कि समय और परिस्थितियों के आने पर, संसार में कोई भी इस देश को एक बनने से नहीं रोक सकता और विभिन्न जातियाँ एवं धर्म होने पर भी, मुझे यह कहने में बिल्कुल संकोच नहीं है कि एक दिन हम लोग किसी न किसी रूप में संगठित ढंग से रहेंगे।"[2] डॉ॰ आम्बेडकर के हृदय में अपने देश के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। अपने देश की भावी प्रगति में उनका पूर्ण विश्वास था। अपने देश और उसके निवासियों में अटूट विश्वास रखते हुये, डॉ॰ आम्बेडकर ने सदैव विघटनकारी, अन्यायपूर्ण तथा दमनकारी तत्वों की आलोचना की और साहस के साथ सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता पर बल दिया। उनके शब्दों में, "भारत में केवल राजनीतिक एकता की ही आवश्यकता नहीं है, बल्कि हृदय और आत्मा के एकत्व की भी आवश्यकता है, अन्य शब्दों में, सामाजिक एकता। राजनैतिक एकता में यदि वास्तविक संगठन का प्रदर्शन नहीं होता तो उसका कोई मूल्य नहीं है। यह उन लोगों की एकता के समान है जो बिना मित्र बने ही एक दूसरे के साथी बन जाते हैं। व्यक्तिगत रूप से, मैं नहीं मानता कि केवल भौतिक हितों की

---

1. डॉ॰ आम्बेडकर : राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज, पेज सं॰- 504.
2. संविधान सभा में दिया गया भाषण, 17 दिसम्बर (1946).

संतुष्टि से ही स्थायी एकता स्थापित की जा सकती है।"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर राजनैतिक क्षेत्र में उद्दण्डता के कट्टर विरोधी थे। राजनैतिक उद्दण्डता का सीधा अर्थ होता है "ऐच्छिक मारकाट और नियोजित नुकसान पहुँचाने की विधि।" राजनैतिक उद्दण्डवादी लोग सामाजिक संघर्षों तथा झगड़ों को बढ़ावा देते हैं। वे राजनैतिक उपद्रवों की विस्तृत रूप से योजना बनाते हैं और आये दिन उनको व्यावहारिक रूप देते रहते हैं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के समय, कई समुदायों ने इस उद्दण्डता की विधि को राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपना साधन बनाया।[2] उनकी इस विधि ने भारत में अनेक उपद्रव किये। जानमाल की बहुत सी हानि हुई। हजारों की संख्या में बेगुनाह लोग भी मारे गये। अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये उन्होंने अन्याय तथा बर्बादी के ढंग अपनाये। इन्हीं कारणों से डॉ॰ आम्बेडकर ने राजनैतिक उद्दण्डता की विधि को बहुत ही निम्नकोटि का ढंग बताया।

राजनैतिक संगठनों में उद्दण्डता की प्रवृत्ति का प्रवेश होना बहुत ही भयंकर परिणामों का सूचक होता है। इससे विघटनकारी तत्व उत्पन्न होते हैं। लोगों में एकता का भाव तथा भाईचारे की भावना नहीं रहती। सामाजिक प्रगति में अनावश्यक बाधाएं उत्पन्न होती हैं, और नैतिकता का भी ह्रास होता है। लोगों में भय तथा संकीर्णता का दौर बना रहता है। इसीलिये डॉ॰ आम्बेडकर ने इस विधि को अमानुषिक बताया और कहा कि यदि राजनैतिक निष्पक्षता कायम रखनी है तो किसी भी प्रकार की उद्दण्डता से अलग रहना चाहिये।

अनैतिकता और अन्याय के अतिरिक्त इससे लोगों में बदले की भावना भी आ जाती है। वे अपने विरोधियों को समाप्त करवाने में बिल्कुल ही नहीं चूकते। उस समय स्थिति और भी गम्भीर एवं अशोभनीय हो जाती है जब विरोधी लोग भी बदले की भावनाओं में बह जाते हैं। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि, "यह बदले की भावना उद्दण्डता के प्रति उद्दण्डता के नायक उदाहरण हमारे समक्ष उत्पन्न करती

---

1. डॉ॰ आम्बेडकर, पाकिस्तान आर द पार्टीशन ऑफ इण्डिया, पेज सं.- 180-181 (1946).
2. वही, पेज सं.- 260.

है।"[1] इसलिये एक अच्छे राजनैतिक वातावरण की स्थापना के लिये, यह आवश्यक है कि लोग इन बातों का परित्याग करें। राजनैतिक नेताओं तथा सम्बन्धित लोगों को यह समझना चाहिये कि उद्दण्डता से किसी भी समस्या का हल नहीं निकलता है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने सदैव 'तुष्टिकरण की नीति' का विरोध किया है। वे ठीक निर्णय किये जाने के पक्षपाती थे। अच्छे आधार मिलने पर किसी विषय को तय कर लेना ही ठीक होता है। उनका कहना है कि, "संतुष्टता की नीति का अर्थ होता है अतिक्रमण करने वाले को खरीद लेना, उसके अनैतिक कार्यों में सहयोग देना और उन बेगुनाह लोगों की उपेक्षा करना जो उसकी बातों के शिकार बनते हैं।"[2] संतुष्टता की नीति से उस आदमी को अधिक लाभ होता है जिसके प्रति यह नीति अपनायी जाती है। वह जो कुछ चाहता है प्राप्त करने के लिये आतुर एवं लालायित रहता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी संतुष्ट नहीं रहता और जैसा कि मानव स्वभाव है उस व्यक्ति को जितना समय और अवसर मिलता है वह अधिक से अधिक माँगने का प्रयास करता ही रहता है। लेकिन जब उसकी मांगे पूरी नहीं होती हैं तो वह राजनैतिक उद्दण्डता की नीति का भी प्रयोग करने लगता है जिससे राजनैतिक वातावरण दूषित बन जाता है। तुष्टिकरण की नीति से राजनैतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं और सामाजिक प्रगति में भी बाधायें आती हैं। समय-समय पर इससे उपद्रव भी उत्पन्न होते हैं। इसलिये अच्छा ढंग यही है कि विवादग्रस्त विषयों पर ठीक-ठीक फैसला कर लिया जाये। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि, "मैं उन लोगों से हूँ जो यह विश्वास करते हैं कि जो आवश्यक है उसकी ओर ध्यान दिया ही जाना चाहिये। सिर को बालू में दबाकर बात-चीत के लिये इन्कार करने से क्योंकि उनसे किसी की भावना को ठेस पहुँचती है, कोई लाभ नहीं है।"[3] इसमें संदेह नहीं कि डॉ॰ आम्बेडकर ठीक निर्णय का सुझाव देते हैं परन्तु वे आवश्यक तथा न्यायपूर्ण बातों पर ही बल देते हैं। वे कभी भी बुराई या दोष के सामने झुक जाने को नहीं कहते।

1. डॉ॰ आम्बेडकर, पाकिस्तान आर द पार्टीशन ऑफ इण्डिया, पेज सं.- 261 (1946).
2. वही, पेज सं.- 201.
3. वही, पेज सं.- 383.

बुराई के सामने झुक जाना या अतिक्रमणकारी के सामने आत्मसमर्पण कर देना, नैतिक भावनाओं के विरुद्ध है। यह अपने अस्तित्व को मिटाने के समान होगा।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भारतीय जन-जीवन के लिये, धर्म को आवश्यक बताया। धर्म से सामान्य संस्कृति का विकास होता है। डॉ॰ आम्बेडकर का मानना था कि किसी धर्म के कारण भारत की एकता छिन्न-भिन्न नहीं होनी चाहिये। राष्ट्रवाद एवं धर्मनिरपेक्षता की नीति को धक्का नहीं लगाना चाहिये। भारत के लिये उन्होंने, धर्मनिरपेक्षता की नीति को ही ठीक बताया क्योंकि यहाँ इतने लोग हैं कि वे एक ही धर्म में शामिल नहीं हो सकते हैं। इसी नीति के द्वारा यहाँ सब धर्म सम्मानपूर्वक रह सकते हैं। यहाँ धार्मिक विविधता रही है और शायद सदैव रहेगी। निरपेक्षता की नीति का यह अर्थ नहीं है कि लोग अधार्मिक रहें या राज्य लोगों की धार्मिक भावनाओं का आदर न करे। इसका अर्थ है कि राज्य किसी भी व्यक्ति के ऊपर किसी भी धार्मिक विश्वास को थोपेगा नहीं।[15] कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म को स्वीकार करके अपना जीवन-यापन कर सकता है।

धर्म-निरपेक्षता की नीति में और धार्मिक आस्था में कोई विरोध नहीं है। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि, मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं रहता। उसका एक ऐसा मानसिक ढाँचा होता है जिसे विचार रूपी भोजन की आवश्यकता पड़ती है। धर्म से मनुष्य में आशा का संचार होता है और मानव को कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। लेकिन उन्होंने धर्म के नाम पर कभी राष्ट्रीय-अन्धता का समर्थन नहीं किया। धार्मिक भिन्नता हालांकि भारत में आवश्यक है, लेकिन इसके कारण एक दृढ़ राष्ट्रीय जीवन के विकास में बाधा नहीं आनी चाहिये। डॉ॰ आम्बेडकर चाहते थे कि, धर्म एकता की स्थापना का प्रभावशील माध्यम होना चाहिये जिससे मानवीय समाज की दृढ़ता बढ़े। धर्म में सामाजिक दृढ़ता बढ़नी चाहिये और सामाजिक दृढ़ता से राष्ट्रीय एकता, सैनिक शक्ति और आर्थिक समृद्धि में प्रगति होनी चाहिये।

इस प्रकार डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, राष्ट्रवाद वह आध्यात्मिक एकत्व है जो मनुष्यों के हृदयों में सन्निहित है। किसी राष्ट्र के लोगों की आन्तरिक एकता का प्रदर्शन राष्ट्रवाद है। लोगों की सामाजिक और सांस्कृतिक एकता ही किसी राष्ट्र का निर्माण करती है। डॉ॰ आम्बेडकर को यह विश्वास था कि, राष्ट्रवाद सामाजिक

सामंजस्य की स्थापना के लिये एक अच्छा एवं उपयुक्त ढंग है। इसलिये सच्चे राष्ट्रवाद की अनुभूति उसी समय हो सकती है जब पूर्णरूप से सामाजिक एकता एवं भाईचारे की भावना लोगों में बिना जातीय, रंग और धार्मिक भेदभाव के आ आये। जब तक जातिवाद, साम्प्रदायिकता, शोषण और अन्याय बने रहेंगे तब तक राष्ट्र खुशहाल एवं प्रगतिशील नहीं बन सकता। अतः राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत होकर लोगों को जातीय एवं क्षेत्रीय सीमाओं से आगे बढ़कर प्रेम एवं मित्रता का हाँथ बढ़ाना चाहिये।

डॉ॰ आम्बेडकर के राजनीतिक विचारों में यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि, सच्चे राष्ट्रवाद के लिये दो बातों का होना आवश्यक है- **प्रथम** राष्ट के संदर्भ में, राष्ट्रवाद का मौलिक आधार सामाजिक एकता की दृढ़ भावना होनी चाहिये। इसके बिना राष्ट्रवाद स्थायी रूप से नहीं टिक सकता। **द्वितीय**, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, राष्ट्रवाद का आधार मानव प्रगति एवं भलाई होना चाहिये अन्यथा संकुचित राष्ट्रवाद संघर्ष एवं युद्धों को जन्म दे सकता है। राष्ट्रवाद को अन्याय या दमन का रूप धारण नहीं करना चाहिये।

संक्षेप में, वह अन्तर्राष्ट्रीय तालमेल के जबरदस्त समर्थक थे और साथ-साथ भारतीय राष्ट्रवाद का उन पर गहरा प्रभाव था। ये दोनों ही बातें परस्पर विरोधी न होकर, एक-दूसरे की पोषक हैं।

डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर दोनों के विचारों में राष्ट्रवाद एवं विश्वराज्यवाद के तत्व देखने को मिलते हैं। डॉ॰ लोहिया ने राष्ट्रवाद की नींव को मज़बूत बनाने के लिये भारत जैसे विशाल देश में पददलित, शोषित एवं पीड़ित लोगों को ऊपर उठाना आवश्यक माना, वर्ण एवं जाति व्यवस्था को जड़ से खत्म करना चाहा, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समानता स्थापित करने पर बल दिया, अस्पृश्यों को सामाजिक न्याय दिलाने का प्रयास किया व सामाजिक कुरीतियों पर आन्दोलनात्मक प्रहार किया। उन्होंने राष्ट्र की एकता व अखण्डता को बनाये रखने के लिये साम्प्रदायिक एवं क्षेत्रीयतावादी शक्तियों का विरोध किया। डॉ॰ लोहिया ने माना कि राष्ट्रवादी संस्कृति विकसित करने के लिये गरीबी, बेरोज़गारी, अशिक्षा, स्त्री-पुरुष असमानता, अस्पृश्यता, जातिवाद को भारतीय समाज से खत्म करना आवश्यक है। उन्होंने

'अंगेजी' का विरोध और 'हिन्दी' भाषा के व्यापक प्रयोग का समर्थन किया क्योंकि हिन्दी भाषा से यहाँ का जन-जन परिचित है जबकि अंग्रेजी भाषा दासता की प्रतीक है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने राष्ट्रवाद को मानव समाज के लिये अत्यन्त आवश्यक माना तथा इसे मानव जीवन में एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया। उनके अन्दर राष्ट्रवाद की भावना का उदय उन लोगों में आस्था के साथ हुआ जो निर्धन, शोषित एवं अछूत थे। उनके हृदय में राष्ट्रीय भावनाओं का जागरण दो बातों के विरोध में हुआ- प्रथम वे ब्रिटिश राज का अन्त चाहते थे और द्वितीय वे भारत में व्याप्त आन्तरिक शोषण को भी समाप्त करवाना चाहते थे। वास्तव में बाह्य शासन के समान ही कष्टकारी आन्तरिक शोषण अर्थात भारत में विद्यमान सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक असमानता, अन्याय, शोषण, दासता, अस्पृश्यता, जातिवाद, गरीबी, बेगारी आदि था जिसके रहते हुये बाह्य शासन से मुक्ति का कोई मतलब नहीं था। डॉ॰ आम्बेडकर ब्रिटिश तटस्थतावाद के विरोधी थे क्योंकि ब्रिटिश तटस्थतावाद के कारण भारत के शोषित वर्ग के लोगों में कोई परिवर्तन नहीं आया और उनकी स्थिति जैसी थी वैसी ही बनी रही। उनके हृदय में अपने देश के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। अपने देश की भावी प्रगति में उनका पूर्ण विश्वास था। अपने देश और उसके निवासियों में अटूट विश्वास रखते हुये डॉ. आम्बेडकर ने सदैव, विघटनकारी, अन्यायपूर्ण तथा दमनकारी तत्वों की आलोचना की और साहस के साथ सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता पर बल दिया। वे राजनैतिक क्षेत्र में उद्दण्डता के कट्टर विरोधी थे क्योंकि राजनैतिक उद्दण्डतावादी लोग सामाजिक संघर्षों तथा झगड़ों को बढ़ावा देते हैं, इससे जानमाल की बहुत हानि होती है तथा अनेक बेगुनाह लोग भी मारे जाते हैं। इसीलिये डॉ. आम्बेडकर ने इसे अमानुषिक माना। उन्होंने तुष्टीकरण की नीति का भी विरोध किया तथा ठीक निर्णय लिये जाने पर ज़ोर दिया क्योंकि तुष्टिकरण की नीति से राजनैतिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं और सामाजिक प्रगति में भी बाधाएं आती हैं। समय-समय पर इससे उपद्रव भी उत्पन्न होते हैं। डॉ. आम्बेडकर भारतीय जन-जीवन के लिये धर्म को आवश्यक मानते थे क्योंकि धर्म से सामान्य संस्कृति का विकास होता है। उन्होंने धर्म-निरपेक्षता की नीति को

भारत के लिये ठीक बतलाया। इसी नीति के द्वारा यहाँ सब धर्म सम्मानपूर्वक रह सकते हैं और राष्ट्रवादी संस्कृति विकसित होगी। उनकी दृष्टि में सच्चे राष्ट्रवाद की अनुभूति उसी समय हो सकती है जब पूर्ण रूप से सामाजिक एकता एवं भाईचारे की भावना लोगों में बिना जातीय, रंग और धार्मिक भेदभाव के आ जाये।

निश्चित रूप से राष्ट्रवाद सम्बन्धी विषय पर डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर के विचार देश में राष्ट्रवादी संस्कृति को विकसित करने में सहायक हो सकते हैं, आवश्यकता है इन पर अमल किये जाने की। भारत में मौज़ूद अनेक समस्याएं राष्ट्रवादी संस्कृति को विकसित होने में बाधक बनी हुई हैं। इसीलिये डॉ. लोहिया ने राष्ट्रवाद की नींव को मज़बूत बनाने के लिये भारतीय समाज से वर्ण एवं जाति व्यवस्था, छुआछूत, अस्पृश्यता, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक असमानता, गरीबी, बेरोज़गारी, दासता, शोषण, अत्याचार, सामाजिक अन्याय, अशिक्षा, स्त्री-पुरुष असमानता को समाप्त करना आवश्यक माना। उनके द्वारा भारतीय समाज में विद्यमान साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रीयतावाद जैसी विघटनकारी ताकतों का विरोध करना भी राष्ट्रवाद की नींव को मज़बूत बनाने हेतु आवश्यक है। इन विकृतियों के रहते हुये भारत में राष्ट्रवादी संस्कृति का विकसित होना असम्भव है।

डॉ. आम्बेडकर ने राष्ट्रवाद की नींव को मज़बूत बनाने के लिये विदेशी शासन को समाप्त किये जाने के साथ-साथ आन्तरिक शोषण को भी समाप्त किया जाना आवश्यक माना। वास्तव में यदि बाह्य आज़ादी मिल जाये और देश में शोषण, दासता, अस्पृश्यता, जातिवाद, असमानता एवं अन्य समस्याएं बनी रहें तो किसी भी तरह से राष्ट्रवादी संस्कृति विकसित नहीं हो सकती। इससे समाज में विषमता एवं आक्रोश जन्म लेगा तथा राष्ट्र की एकता व अखण्डता को खतरा के साथ-साथ पुनः पराधीनता का डर बना रहेगा। इसलिये जितना अधिक महत्वपूर्ण बाह्य शासन से मुक्ति है उतना ही महत्वपूर्ण आन्तरिक शोषण से छुटकारा पाना है। राष्ट्रवाद के लिये जरूरी है कि देश में सभी प्रकार के विभेदों का अन्त व सभी लोगों में भाईचारे की भावना हो। डॉ. आम्बेडकर द्वारा ब्रिटिश तटस्थतावाद, राजनीतिक उद्दण्डता तथा तुष्टिकरण की नीति का विरोध करना भी ठीक ही है क्योंकि इन तत्वों के रहते हुये किसी समस्या का समाधान न होकर उसका क्षेत्र और व्यापक

होता चला जाता है। अतः राष्ट्रवादी संस्कृति को विकसित करने के लिये ठीक-ठीक निर्णय लिया जाना चाहिये तथा स्पष्टवादी नीति को अपनाया जाना चाहिये।

डॉ. लोहिया विश्वराज्यवादी थे। वे सम्पूर्ण मानव जाति को एक मानते थे। उनकी दृष्टि में पूरी मानव सभ्यता को यह अनुभव करना चाहिये कि सारे संसार में मनुष्य मात्र की एक विरादरी है। वे पूरे विश्व में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे। उन्होंने विश्व स्तर पर एक नये प्रकार की जाति व्यवस्था की व्याख्या की है। उन्होंने रंग के आधार पर गोरी व रंगीन दुनिया, तकनीक के आधार पर विकसित व अनभिज्ञ पिछड़े देश तथा एक ओर साम्राज्यवादी तो दूसरी ओर उपनिवेश में बँटे देश बतलाये। वे मानते थे कि समस्त विश्व किसी न किसी प्रकार की जाति व्यवस्था में फँसा हुआ है और इसी कारण विश्व का विकास अवरुद्ध है। डॉ. लोहिया ने विश्व सरकार की कल्पना की थी। वे मानते थे कि जब मन और मानसिकता के आधार पर विश्व के समस्त राष्ट्रों का नया संगठन बनेगा, उदात्त मानव मूल्यों के आधार पर मुक्ति कामना से विश्व संगठन रूप लेगा, तभी विश्व स्तर पर वास्तविक समता स्थापित होगी। उन्होंने इसके लिये संयुक्त राष्ट्र संघ को अपर्याप्त माना क्योंकि इसमें प्रभुता सम्पन्नता का सर्वथा अभाव है। वास्तव में किसी भी राष्ट्र में न्याय और समता तब तक नहीं स्थापित हो सकती जब तक कि विश्व स्तर पर भी लोग न्याय और समता स्थापित करने की ओर कदम नहीं बढ़ायेंगे। डॉ. लोहिया राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध एवं शस्त्रीकरण के खिलाफ थे क्योंकि इससे भय एवं आतंक व्याप्त होता है और मानवता का विनाश होता है इसीलिये उन्होंने 'अहिंसा' के मार्ग को ठीक बतलाया जो कि आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। उन्होंने विश्व की अर्थव्यवस्था से असमानता एवं शोषण को खत्म करने के लिये उसे एक नया रूप देने का प्रयास किया जिससे बँधुवा और महाजन- ये दो विपरीत स्थितियाँ बनने की नौबत ही न आयें। इसके लिये उन्होंने 'विश्व विकास समिति' का सुझाव रखा। यह समिति सारे विश्व को विकसित करने का संकल्प लेकर योजनाबद्ध ढंग से काम करेगी।

डॉ. आम्बेडकर ने भी स्वीकार किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रवाद का आधार मानव प्रगति एवं भलाई होना चाहिये अन्यथा संकुचित राष्ट्रवाद संघर्ष एवं

युद्धों को जन्म दे सकता है। डॉ॰ आम्बेडकर के विश्वराज्य सम्बन्धी विचार डॉ॰ लोहिया की तुलना में पिछड़े हुये हैं फिर भी उन्होंने अपने विचारों में अत्याचार, शोषण, दासता तथा असमानता का समर्थन कतई नहीं किया। यह शोषण, अत्याचार, दासता व असमानता विश्व के चाहे जिस हिस्से में हो उन्होंने इनका विरोध ही किया है।

यद्यपि डॉ॰ लोहिया के विश्वराज्य से सम्बन्धित विचार मानवता के हित में हैं और यदि इनके अनुसार कार्य किया जाय तो मानवाधिकारों की रक्षा की जा सकती है परन्तु दुर्भाग्यवश आज तक डॉ॰ लोहिया की कल्पना की विश्व सरकार निर्मित या विकसित नहीं हो पाई है इसके लिये विकासशील व पिछड़े देशों से कहीं अधिक विकसित देश जिम्मेदार हैं। विकसित देश अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर प्रत्येक कार्य करना चाहते हैं इसीलिये विश्व स्तर पर अनेक प्रकार की असमानताएं व्याप्त हैं। इन असमानताओं को खत्म करने के लिये तथा मानवता की रक्षा के लिये विकसित देशों को इस संदर्भ में गहराई से चिंतन करने की आवश्यकता है।

पंचम् अध्याय

"डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर का आर्थिक चिन्तन एवं व्यावहारिक रूप"

1. आर्थिक चिन्तन का स्वरूप,
2. प्रजातंत्रीय स्वरूप एवं आर्थिक ढाँचा,
3. आर्थिक, सामाजिक, पर्यावरण एवं राज्य समाजवाद,
4. आर्थिक विकास में महिलाएं,
5. दलित वर्ग के आर्थिक उत्थान की दिशा,
6. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध।

पंचम् अध्याय

''डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर का आर्थिक चिन्तन एवं व्यावहारिक रूप''

5.1. आर्थिक चिन्तन का स्वरूप :

जब हम भारतीय आर्थिक चिन्तन के स्वरूप पर दृष्टि डालते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि भारतीय आर्थिक चिन्तन आध्यात्मिकता, धर्म और नैतिकता से सदैव जुड़ा रहा है लेकिन इसका अभिप्राय यह कतई नहीं है कि भारत में चिन्तन की कोई परम्परा नहीं थी। वास्तव में 300 वर्षों से अंग्रेजी शासन काल में पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा के माध्यम से हमारे अवचेतन में यह तथ्य बिठाया गया है कि आर्थिक प्रगति के मानदण्डों के आधार पर हमारा चिन्तन शून्य है लेकिन यह यथार्थतः असत्य है।

भारतीय आर्थिक चिन्तन का प्रारम्भ ऋग्वेद और अथर्ववेद की ऋचाओं से प्रारम्भ होता है। चन्द्रगुप्त युग का चाणक्य (कौटिल्य) अपने अर्थशास्त्र का प्रतिपादन ऋग्वेद और अथर्ववेद की ऋचाओं से करता है। जिस राजनीतिक अर्थशास्त्र का विकास यूरोप में 16वीं शताब्दी में हुआ उसी चिन्तन का प्रादुर्भाव भारत में ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में ही हो चुका था। चन्द्रगुप्त ने जिस कार्य संरचना भूमि, बन्दोबस्त विदेशी व्यापार और उत्पादन नीतियों की विवेचना की उसका स्रोत चाणक्य का अर्थशास्त्र ही था। कौटिल्य विश्व के प्रथम अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने ऋग्वेद और अथर्ववेद पुराण और पाली, प्राकृत के अनेक प्रसंगों में और बिखरे हुये सूत्रों से

राजनीतिक अर्थशास्त्र की रचना की। कौटिल्य ही व्यावहारिक अर्थशास्त्र के जनक है। भारतीय आर्थिक चिन्तन लोक-कल्याण से जुड़ा हुआ है। भारतीय अर्थनीति का योग स्वकल्याण और लोक-कल्याण को विरोधी रूप में विकसित नहीं करता है। इसलिये प्राचीन भारतीय राज्यों की अर्थव्यवस्थाएं लोक-कल्याण से अधिक जुड़ी हुई थीं।[1]

इतिहासकार मैक्सी ने कहा है कि भारतीय इतिहास एवं दर्शन, यूरोप के इतिहास और दर्शन से अधिक प्राचीन है और आर्थिक विचारों की दृष्टि से भी निष्फल नहीं है किन्तु विश्वविद्यालयीन प्रणाली में शोध और ग्रन्थ रचना की शुरुआत भारत में 1784 ई॰ में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापक के सहयोग से प्रारम्भ हुई। इस समय एड्मस्मिथ का अर्थशास्त्र बुलन्दी पर था। पूँजीवाद का विकास और पूँजीवादी ताकतों का आक्रमण भारत पर हुआ। अंग्रेजी सरकार ने इस परम्परा को अपने हित में माना कि 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक प्राचीन ग्रन्थों को यूरोप ले जाया गया और अंग्रेजी अर्थशास्त्रियों ने उसका अनुवाद किया। भारतीय आचार्यों द्वारा रचे हुये सूत्रों, नीति सूत्रों को हमें अंग्रेजी संस्करणों में पढ़ना पड़ा। कई मौलिक ग्रन्थों का समापन हो गया। देश में मनु से महात्मा गाँधी तक के चिन्तन को अंग्रेजी साहित्य में उपलब्ध कराये गये किन्तु इस प्रक्रिया में साहित्य रचना में यह बेईमानी बढ़ती गयी कि हमें जो कुछ भी सीखना है अंग्रेजी विद्वानों के ग्रन्थों से ही सीखना है। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजी के माध्यम से दीक्षित विद्वानों ने पाश्चात्य अर्थशास्त्र को ही अर्थशास्त्र का मूल मान लिया। परिणामस्वरूप जैसे-जैसे भारत में विश्वविद्यालीय पद्धति पर शिक्षा का विकास हुआ शिक्षित पीढ़ी का चिन्तन भारतीय आर्थिक चिन्तन से अलग हो गया।[2]

भारतीय अर्थदर्शन, नीतिशास्त्र, राजधर्म, दण्डनीति आदि से सम्बन्धित रहा। अरस्तू चाणक्य का समकालीन रहा है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बृहस्पति को अर्थशास्त्री माना, क्योंकि बृहस्पति ने आर्थिक आचरण पर राजा, व्यक्ति और समाज के दायित्व का उल्लेख किया है। लेकिन कौटिल्य ने मनु के

---

1. दुर्गादास, फ्राम कर्ज़न एण्ड नेहरू आफ्टर कौलिप्स, लंदन पेज सं.- 163 (1963).
2. बी. आर. आम्बेडकर, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव इन टू द अण्टचेबिल्स, पेज सं.- 88 (1946).

नीतिशास्त्र, बृहस्पति के अर्थशास्त्र और शुक्राचार्य के जनशास्त्र का समन्वय कर जिस अर्थशास्त्र की रचना की वह विश्व विश्रुत प्रथम पुस्तक अर्थशास्त्र थी। आज हम जिस पर्यावरण संतुलन, विश्वकल्याण की बात कर रहे हैं, वह कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में "वसुधैव कुटुम्बकम" अर्थशास्त्र को प्रस्तुत करके की थी। राजा की जननीति, राज्य संतुलन, भूमि प्रबन्ध और कर संरचना यह सभी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को भ्रष्ट करने वाले थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने राजा के आचरण को अनुशासित किया जो आज भी हमारे लिये नीतिपरक है। सरकार के अपव्यय को रोकने के लिये मार्गदर्शक है।

आज का अर्थशास्त्र केवल धनोपार्जन का अर्थशास्त्र रह गया है। परन्तु कौटिल्य का अर्थशास्त्र मनुष्य के व्यवसाय व्यापार, और भूमि से जुड़ा हुआ था। भूमि से जन रचना करना, भूमि का पालन करना यही अर्थशास्त्र है। लोक-कल्याण में भूमि का प्रबन्धन करना, आदि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित है। शुक्रनीति में भी कहा गया है कि, अर्थशास्त्र का क्षेत्र, केवल धन या सम्पत्ति प्राप्त करने के उपायों की विवेचना करना नहीं अपितु राज्य द्वारा दण्डनीति का निर्माण इस प्रकार करना है, कि राज्य के कोष में धन का आगमन भी हो और समाज में अपराधों पर प्रतिबन्ध लगाकर संतुलन भी कायम हो। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय में उसे दण्डनीति कहा है। प्राचीन ग्रन्थों में इसे नीतिसार का नाम भी दिया गया है। क्या अच्छा, क्या बुरा है से उचित निर्णय करने का कार्य नीतिशास्त्र करता है इसलिये नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र का एक भाग है। कामन्दक ने अपने नीतिशास्त्र में यह स्पष्ट किया है कि राज्य को कितना कर लगाना चाहिये, राज्य के कार्यों से जीवन कल्याणकारी हो यह आवश्यक माना गया है। शुक्रनीति शास्त्र के रचयिता ने तथा अग्नि-पुराण में राम के उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है। इन सभी पुराणों में राजा के जनकल्याण के क्या दायित्व हैं, कर कितना लगाया जाना चाहिये, राजा को राजकोष से कितने धन का उपयोग करना चाहिये आदि। शुक्रनीति और अग्नि-पुराण दोनों में ही समाज की संवैधानिक उन्नति का और उनके जीवन को आनन्दमयी बनाने के लिये उनके उपाय बताये गये हैं।[1]

---

1. चन्द्रभारिल, सोशल एण्ड पॉलिटिकल ऐडियाज ऑफ डॉ. बी.आर. आम्बेडकर (1977).

प्राचीन भारत में आज की तरह विशिष्ट ज्ञान की शाखा के रूप में अर्थशास्त्र नहीं था। इसके कारण प्राचीन भारतीय दर्शन का उद्देश्य जीवन को सुखमय बनाना था और जीवन को सुखमय बनाने के लिये आदर्श मापदण्ड उद्देश्य थे, जिनमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का समन्वय था इसलिये कभी उसे नीतिशास्त्र भी कहा गया था कभी कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कभी शुक्रनीति शास्त्र कभी दर्शनशास्त्र कहा गया और कभी राजशास्त्र कहा गया। इन विभिन्न संज्ञाओं में मूलतः सामाजिक अर्थ-संरचना है जो समाज में समभाव को उत्पन्न कर सके, की विवेचना थी। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में वेद, प्रामाणिक ग्रन्थ, उपनिषद, पुराण, महाकाव्य, जैन और बुद्ध जातक आदि है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिशास्त्र आदि में राष्ट्रों के वैदेशिक व्यापारिक और आर्थिक सम्बन्धों की विवेचना की गयी है। राज्य का आय-व्यय, करारोपण, रक्षा व्यय, वनों और दुर्गों की रक्षा करना व जनकल्याण के कार्यों का उल्लेख मिलता है। भारतीय प्राचीन साहित्य में आर्थिक चिन्तन की यह परम्परा स्वांतः सुखाय ओर लोक-कल्याण दोनों को साथ लेकर प्रवृत्त हुई। प्राचीन अर्थतन्त्र प्रणाली, प्रगति और जीवन-स्तर को समझने के लिये हमारे पास तीन मुख्य स्रोत हैं- मुद्राशास्त्र, ताम्रपत्र और शिलालेख।[1]

आर्थिक विचारों के इतिहास में यह माना जाता है कि एडम-स्मिथ ने उत्पादन के अर्थशास्त्र का प्रतिपादन सर्वप्रथम 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' में किया, परन्तु यह एक त्रुटिपूर्ण भ्रान्ति है। उत्पादन के अर्थशास्त्र का प्रतिपादन कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ईसा पूर्व ही कर दिया था। उत्पादन और विनिमय की परम्पराओं का उल्लेख बृहस्पति के अर्थशास्त्र में विद्यमान है। इतिहास में अनेक प्रामाणिक उदाहरण हैं- राजा टोडरमल का भूमि बंदोबस्त और शेरशाह सूरी का बाजार प्रबन्ध जो यह सिद्ध करता है कि बाजार अर्थव्यवस्था का निर्माण भारत में प्राचीनकाल से रहा है। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय वाङ्मय लोक-कल्याण से जुड़े हुये है इसलिये यह कहना कि कल्याणकारी अर्थशास्त्र का प्रादुर्भाव मार्शल और पीगू की देन है, उचित नहीं है। वितरण के क्षेत्र में यह कहना कि रिकार्डो, वह प्रथम अर्थशास्त्री था जिसने लगान सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, भ्रामक है क्योंकि मौलिक लगान सिद्धान्तों की

---

1. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, थॉट्स ऑन पाकिस्तान (1941).

जानकारी हमें चाणक्य के अर्थशास्त्र व मुद्राराक्षस से बिन्दुसार और अशोक महान् के शासनकाल से प्राप्त होती है तथा राजा टोडरमल भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के प्रथम भूमि प्रबन्धक सिद्ध हुये हैं। वितरण के सिद्धान्तों में उत्पादनों के साधनों की भागीदारी की विवेचना शुक्रनीति तथा आचार्य चाणक्य के अर्थशास्त्र में हमें प्राप्त होती है और उनका आर्थिक चिन्तन इस स्तर के विकास की अवधारणा को पूर्ण करता है जिससे भारतीय परिवेश में 'स्वस्थ विकास' अधिक उपयुक्त होगा। इसलिये 19वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों ने जिस परिवर्तन और 20वीं शताब्दी के अर्थनीतियों ने जिस स्थैतिक विकास की अवधारणा दी है वह तो भारतीय अर्थ-चिन्तन की एक स्वाभाविक प्रकृति है। भारतीय अर्थ-चिन्तन में व्यापार चक्रों के और उत्पन्न होने की कोई संभावनाएं नहीं हैं, तो उनके नियंत्रण की चिन्ता भी नहीं है। किन्स, फिटमेन, किन्डल बर्ज़र और सेम्युलसन को हम कौटिल्य, कामन्दक, बृहस्पति और शुक्राचार्य में खोज़ सकते हैं। इसी परम्परा में गोखले, रानाडे, महात्मा गाँधी, डॉ. राममनोहर लोहिया, डॉ. बी.आर. आम्बेडकर और पं. नेहरू ने सामाजिक अर्थ-चिन्तन को आगे बढ़ाया। जिस राज्य समाजवाद की चर्चा यूरोपीय अर्थशास्त्रियों में देखी गयी है वही डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर ने हमारे समक्ष भारतीय परिवेश में प्रस्तुत किया है।

भारत में प्राचीनकाल से विद्यमान आर्थिक चिन्तन आध्यात्मिकता, धर्म और नैतिकता से सदैव जुड़ा रहा है। आर्थिक चिन्तन का प्रारम्भ ऋग्वेद और अथर्ववेद की ऋचाओं से होता है। कौटिल्य विश्व के प्रथम अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने ऋग्वेद और अथर्ववेद, पुराण और पाली, प्राकृत के अनेक प्रसंगों में और बिखरे हुये सूत्रों से राजनीतिक अर्थशास्त्र की रचना की। प्रारम्भ से ही भारतीय आर्थिक चिन्तन लोक-कल्याण से जुड़ा हुआ था तथा नीतिशास्त्र, राजधर्म, दण्डनीति आदि से सम्बन्धित रहा है। आज हम जिस पर्यावरण संतुलन और विश्व कल्याण की बात कर रहे हैं, उसे कौटिल्य ने बहुत पहले अपने अर्थशास्त्र में 'वसुधैव कुटुम्बकम' के रूप में व्याख्यायित कर दी थी। आज का अर्थशास्त्र केवल धनोपार्जन का अर्थशास्त्र रह गया है, लेकिन कौटिल्य का अर्थशास्त्र मनुष्य के व्यवसाय, व्यापार और भूमि से जुड़ा था। 'एड्म-स्मिथ' ने जिस उत्पादन के अर्थशास्त्र का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ

'वेल्थ ऑफ नेशन्स' में किया है, उसे कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ईसा पूर्व ही कर दिया था। पूरे प्राचीन भारतीय वाङ्मय लोक-कल्याण की भावना से जुड़े थे अतः यह कहना गलत होगा कि, कल्याणकारी अर्थशास्त्र मार्शल और पीगू की देन है। 19वीं एवं 20वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों ने जिस परिवर्तन और स्थैतिक विकास की अवधारणा दी है, वह भारतीय आर्थिक चिन्तन की एक स्वाभाविक प्रकृति है।

वास्तव में प्राचीनकाल से ही भारत में आर्थिक चिन्तन का स्वरूप सुदृढ़ था परन्तु ब्रिटिश शासन द्वारा इसको स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि भारत में राज्य कर रहे अंग्रेज शासक व प्रशासक यह नहीं प्रमाणित होने देना चाहते थे कि आर्थिक चिन्तन की दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप यूरोप से कहीं आगे हैं। इसीलिये उन्होंने भारत में उपलब्ध अनेक महत्वपूर्ण प्राचीनकालीन लिपिबद्ध साहित्य व सामग्री को यूरोप में ले जाकर वहाँ उसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करवाकर उसका अंग्रेजी संस्करण भारत में उपलब्ध करवाया जिससे यह आभास हो सके कि भारत में आर्थिक चिन्तन बहुत पिछड़ा हुआ है। लेकिन यह ब्रिटिश शासन की चाल थी। यहाँ पर उपलब्ध अनेक धर्मग्रन्थ जिनमें आर्थिक चिन्तन बिखरे हुये रूप में उपलब्ध है, इस बात के प्रमाण हैं कि भारत में प्राचीनकाल से ही आर्थिक चिन्तन का स्वरूप सशक्त था। यद्यपि प्राचीनकाल में आर्थिक चिन्तन ज्ञान की एक विशेष शाखा अर्थशास्त्र के रूप में उपलब्ध नहीं था और इसीलिये उसे अर्थशास्त्र, दण्डविद्या, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजशास्त्र आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया तथापि इनमें आर्थिक चिन्तन की झलक स्पष्टतः देखने को मिलती है। वर्तमान समय में भारत एक सशक्त अर्थव्यवस्था वाले देश के रूप में विश्वपटल पर उभरा है। इस उभरती अर्थव्यवस्था की साख विश्व में अत्यधिक बढ़ी है जिससे विदेशी पूँजी निवेशकों की संख्या में दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही है। इसके पीछे भारतीय आर्थिक चिन्तन के स्वरूप का स्थायी रूप से विकसित होना रहा है।

5.2. प्रजातन्त्रीय स्वरूप एवं आर्थिक ढाँचा :

जनतन्त्रात्मक व्यवस्था में सत्ता का स्रोत जनतंत्रात्मक संस्थायें होती हैं और सत्ता की अभिव्यक्ति भी इन्हीं संस्थाओं से होती है। अर्थात् स्रोत एवं प्रवाह,

ऊर्जा और उसका संचार संस्था से संस्था तक होता है। परन्तु लोकतन्त्र में कभी-कभी असावधानी के कारण या निहित स्वार्थों के बर्चस्व से ये संस्थाये जड़ भी हो जाती हैं। यह जड़ता कभी-कभी इतनी तीव्र होती है कि, स्रोत केन्द्रित होकर किसी एक संस्था या दो चार संस्थाओं में रह जाता है और प्रवाह रुक जाता है तथा ऊर्जा ठण्डी पड़ने लगती है। डॉ. लोहिया के अनुसार राजनैतिक और आर्थिक स्तर पर जब जड़ता बढ़ जाती है, तब समाज के हर क्षेत्र में पतनशीलता और ठहराव आ जाता है। अतः जनतान्त्रिक शक्तियों को इस पतनशीलता और ठहराव से मुक्त करने के लिये विकेन्द्रीकृत व्यवस्था को अपनाया जाता है।

आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन के साधनों और स्रोतों तथा वितरण के माध्यमों और साधनों पर बुनियादी ईकाई का स्वामित्व और अधिकार अक्षुण्ण हो और इसी क्रम में बुनियादी ईकाई की क्षेत्र, प्रदेश और केन्द्र की ऐसी सारणी बने, जिसके तहत बुनियादी ईकाइयों की स्वायत्तता भी सुरक्षित रहे और वे केन्द्र से जुड़ी भी रहें। इस तरह विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि शक्ति, क्षमता और प्रतिभा का विकास ऊर्ध्वमुखी हो अर्थात शक्ति नीचे से ऊपर की ओर निरन्तर बढ़ने वाली हो, शक्ति नीचे से मिले, ऊपर से उड़ेली न जाय। शक्ति जब नीचे से प्रस्फुटित होकर दर्जा-ब-दर्जा ऊपर की ओर उठेगी तो बुनियादी ईकाई और केन्द्र के बीच एक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होगा। विकास प्राकृतिक और स्वाभाविक होगा उसमें किसी भी प्रकार की कृतिमता नहीं आयेगी। बुनियादी इकाई में स्थानीय संसाधनों और प्रतिभाओं का सदुपयोग होगा। स्थानीय संसाधनों का भी संकलन और उपयोग उत्पादन में वृद्धि करेगा। स्थानीय प्राकृतिक संसाधन और स्थानीय तकनीक की परम्परा को प्रश्रय देने से केन्द्रीकृत उद्योगों में जो अतिरिक्त व्यय होता है और परिवहन तथा अन्य खर्चों से मूल्य वृद्धि होती है, उसमें बचत होगी। इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में आर्थिक स्थिति मज़बूत होगी।

डॉ. लोहिया गाँवों की पारम्परिक संरचना में निहित आत्म-निर्भरता के भाव फिर से जागृत करके गाँवों की उन निर्जीव संस्थाओं में प्राण फूँकना चाहते थे। गाँव की संरचना में बढ़ई, लोहार, मोची, कुम्हार, दर्जी आदि आज भी है, लेकिन उनके पेशे अर्थाभाव में और संरक्षण न पाने से निर्जीव है। शहरों का बड़ा तेज हमला

गाँवों पर होने से उनकी परम्परागत कला कौशल की कद्र नहीं है। गाँव की बुनियादी इकाई के आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी चरित्र को विकेन्द्रीकरण से बल मिलेगा और हर गाँव को अपने में पूर्णतया आत्म-निर्भर बनाया जा सकता है।

डॉ. लोहिया ने गाँधी जी की भाँति बड़ी मशीनों के उपयोग की निन्दा की है। उन्होंने अर्थशास्त्र का पूरा ढाँचा ही ऐसा बनाया था कि केवल भारत में ही नहीं पूरे संसार में बड़ी मशीनों के उपयोग को दानवी और राक्षसी सिद्ध किया जा सके। आदमी को छोटा और असहाय बनाने वाली इन भारी मशीनों का उपयोग सीमित करके छोटी मशीनों को ग्रामोद्योग तथा कुटीर उद्योग के स्तर पर इस्तेमाल करने को वह एक क्रान्तिकारी कदम मानते थे। उन्होंने कहा है कि- "हमारे दिमाग पर जो भारी मशीनों द्वारा औद्योगीकरण की धुन्ध छायी है या जो कुटीर उद्योग की पारम्परिक विधि के प्रति व्यामोह है, यह दोनों हटने चाहिये। इस बात पर अनुसन्धान करना चाहिये कि कैसे और किस सीमा तक तेल, बिजली या कोयले का छोटे पैमाने पर ऊर्जा पैदा करने के लिये उपयोग किया जा सकता है। कैसे ऐसी छोटी मशीनें बनायी जा सकती हैं जो बिना भारी पूँजी के सुलभ हो सके।"[1]

छोटी मीशनें का उपयोग डॉ. लोहिया ग्रामोद्योग को बढ़ावा देने के लिये आवश्यक मानते थे। उन्होंने इसके समर्थन में कहा कि "हर झोपड़ी में, गाँवों में, कस्बों में ये छोटी मशीनें सुलभ होनी चाहिये। ग्रामोद्योग के काम में इन मशीनों का उपयोग अनेकानेक घरेलू कामों में दासी के रूप में किया जाना चाहिये। इनको ऐसा बनाना चाहिये, जो तात्कालिक कार्यक्षमता और उत्पादन दोनों में वृद्धि पैदा करे। इन छोटी मशीनों के लगाने में बड़ी पूँजी की आवश्यकता नहीं होगी इन छोटी मशीनों से केवल पिछड़े देशों का आर्थिक संकट ही नहीं दूर होगा, बल्कि इससे समाज के बहुत से लक्ष्यों की सिद्धि होगी।"[2]

डॉ. लोहिया स्पष्ट कहते थे कि अमरीका और रूस की तरह बड़ी मशीनों की नकल पर पिछड़े देश अपनी आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं कर सकते। उनका मत था कि यह बड़ी मशीनें, पूँजीवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद और उपनिवेशवाद के

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म, पेज सं.- 320-335 (1963).
2. वही, पेज सं.- 320-336.

गठजोड़ से पैदा हुई है। बड़ी मशीनों द्वारा किया गया उत्पादन बिना उपनिवेशवाद के खपाया ही नहीं जा सकता। डॉ॰ लोहिया का सपना था कि गाँव-गाँव में बिजली हो, घर-घर में छोटी मशीनें हों, सारा गाँव कार्यरत हो, और रोशनी, हवा, पानी की, सुविधा हो, हर जगह उत्पादन में लगा आदमी हो तो देश की समृद्धि और विकास से पूरा भारत चमकने लगेगा। डॉ॰ लोहिया का यह सपना देश के उपलब्ध संशाधनों और मानव शक्ति पर आधारित था। इसीलिये भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिये वह छोटी मशीनों का प्रयोग एक क्रान्तिकारी कदम भी मानते थे।

डॉ॰ आम्बेडकर प्रजातान्त्रिक प्रणाली के पक्षधर थे। उनके राजनीतिक जीवन में गति अवश्य रही है, सामाजिक जीवन में आक्रोश रहा है, परिवर्तन की ललक रही है, परन्तु उनका परिवर्तन का रास्ता कभी भी फाँसीवादी अथवा अराजकतावादी नहीं था। डॉ॰ आम्बेडकर को दलितों की आर्थिक स्थिति का पूरी तरह पता था। वे जानते थे कि, इन जातियों के लगभग सभी सदस्य आर्थिक दृष्टि से सर्वहारा हैं। केवल सामाजिक प्रतिष्ठा से ही नहीं, धन-दौलत से भी वे पूर्णतया वंचित हैं, अतः उन्हें सामाजिक अन्याय के खिलाफ ही नहीं, बल्कि आर्थिक शोषण के खिलाफ भी लड़ना होगा। दलितों के लिये संघर्ष करते हुये उन्होंने परम्परागत राजनीति को छोड़कर दलित वर्ग के आह्वान को ऊर्जा दी। डॉ॰ आम्बेडकर का संसदीय प्रणाली में विश्वास था लेकिन उनके लिये संसदीय प्रजातन्त्र के स्वरूप में आर्थिक समानता और आर्थिक आज़ादी को जीवित रखना पहली आवश्यकता थी। उन्होंने कहा था कि संसदीय जनतन्त्र का अर्थ है वंशानुगत परम्परा के नियमों का निषेध। कोई भी व्यक्ति शासक का वंशानुगत सदस्य होने के कारण शासक नहीं बन सकता है, जो भी शासक बनना चाहता है समय-समय पर जनता द्वारा चुना जायेगा। उसे जनता का समर्थन मिलना आवश्यक है। संसदीय शासन व्यवस्था में वंशानुगत शासन का कोई स्थान नहीं है। संसदीय व्यवस्था में केवल विचार विनिमय ही नहीं होता है, अपितु संसदीय शासन व्यवस्था के होते देश में ही विपक्ष स्वतन्त्रता और न्यायपूर्ण चुनाव का अवसर पाता है, जिसके आधार पर लोकतन्त्र कार्य करता है।[1]

---

1. चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, बाबा साहब की भविष्यवाणियाँ, पेज सं॰- 9-40.

डॉ॰ आम्बेडकर राजनैतिक लोकतन्त्र को सामाजिक लोकतन्त्र में बदलना चाहते थे। मज़दूर संघ की एक बैठक को सम्बोधित करते हुये उन्होंने सितम्बर 1943 में कहा था-

"संसदीय लोकतन्त्र के आदर्श को नष्ट किया है, संविदा की स्वतन्त्रता की कल्पना ने। संसद ने आर्थिक असमानताओं की ओर ध्यान नहीं दिया और संविदा के पक्षों के बीच गैर बराबरी की सूरत में संविदा की शर्तों के परिणामों पर विचार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि संसदीय लोकतन्त्र ने स्वतन्त्रता के समर्थक के नाते गरीबों, दलितों और अधिकार-वंचित लोगों के खिलाफ होने वाले अन्याय को निरन्तर आगे बढ़ाया।"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार विपक्ष की आवश्यकता संसदीय जनतन्त्र में एक महत्वपूर्ण बात है। एक सत्ता की राजनैतिक जीवन की कुंजी विपक्ष है और विपक्ष होना किसी भी जनतन्त्रीय व्यवस्था का आवश्यक अंग है। जहाँ संसदीय शासन व्यवस्था है वहीं विपक्ष के महत्व को स्वीकार करके विपक्ष के नेता को भी सरकार द्वारा तनख्वाह दी जाती है।

निष्पक्ष चुनाव स्वतन्त्रता और न्यायपूर्ण चुनाव संसदीय जनतन्त्र का दूसरा स्तम्भ है बिना किसी रक्तपात के शान्तिपूर्ण ढंग से सत्ता दूसरे हांथों में हस्तान्तरित हो सकती है। परन्तु बड़े-बड़े उद्योगपतियों और व्यापारियों द्वारा राजनीतिक दलों को जो भारी चन्दा दिया जाता है वह खतरे से खाली नहीं है।यदि पैसे वाले लोग किसी राजनैतिक पार्टी के कोष में धन देकर चुनावों को प्रभावित करने का प्रयत्न करेंगे तो नेतृत्व कैसा होगा ? जिसने पार्टी को पैसा दिया है, बदले में दल के सत्ता में आ जाने पर वे अपने लिये सुविधाएं बढ़वायेंगे और ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय हित की निश्चित ही उपेक्षा होगी। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये डॉ॰ आम्बेडकर ने डी.ए.बी. कॉलेज जालन्धर, पंजाब में 28 अक्टूबर, 1951 ई॰ को दिये गये भाषण में महाभारत का उदाहरण दिया है। "पाण्डव और कौरवों के बीच हुये युद्ध में भीष्म एवं द्रोंण ने कौरवों का पक्ष लिया। भीष्म ने ऐसा स्वीकार किया कि पाण्डव का पक्ष न्यायपूर्ण था और कौरवों का अन्यायपूर्ण। जब भीष्म से किसी ने प्रश्न किया कि,

---

1. सोर्स मैटीरियल ऑन बाबा साहब आम्बेडकर एण्ड द मूवमून्ट ऑफ अण्टचेबिल्स, खण्ड-1, पेज सं.- 275 (1982).

कौरवों के अनुचित आचरण के उपरान्त उन्होंने कौरवों का पक्ष क्यों लिया तब भीष्म का उत्तर था कि, मैंने कौरवों का नमक खाया है, इसलिये उनका अन्यायपूर्ण व्यवहार के बावजूद भी मुझे उनका साथ देना पड़ा।"[1] आर्थिक ढाँचे को मज़बूत बनाने के लिये कुछ महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान देना आवश्यक है-

काले धन का प्रयोग और उसके खतरे :

डॉ. आम्बेडकर का मत था कि बनियों, मारवाड़ियों और करोड़पतियों से सहायता लेकर संसदीय जनतन्त्र को सफल नहीं बनाया जा सकता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वाधीनता को बचाने के लिये यह आवश्यक है कि संसदीय जनतन्त्र को बाहरी धन से बचाया जाय। स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव तभी हो सकते हैं जबकि उच्च वर्गों से धन लिये बिना चुनाव कराये जायें। अन्यथा भारत का संसदीय जनतन्त्र अपने मूल उद्देश्य से भटक जायेगा। डॉ. आम्बेडकर का मत था कि संसदीय जनतन्त्र ने उन्हें विशेष रूप से आकर्षित किया है। यदि यह संफल होता है तो साम्यवादी व्यवस्था हस्तक्षेप करने लगेगी और हमारी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जायेगी। देश के विज्ञ व्यक्ति होने के नाते हमारा और आपका कर्तव्य है कि संसदीय शासन व्यवस्था को सही अर्थों में जीवित रखने की दिशा में प्रयास करें।"[2]

जनतन्त्र में सुविधाओं का बँटवारा :

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार जनतन्त्र का स्वरूप सदैव बदलता रहता है। स्वयं इंग्लैण्ड में भी 1688 ई. की क्रान्ति के पहले जो जनतन्त्र था वह क्रान्ति के बाद बदला। 1832 ई. के बाद जनतन्त्र में सुधार हुआ है और ये सुधार उद्देश्यों के परिवर्तन के साथ-साथ आगे बढ़ते गये। पुराने ब्रिटिश जनतन्त्र का उद्देश्य था कि, राजा के विशेष अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगे। संसद के बाहर भी राजा को कानून बनाने का विशेषाधिकार प्राप्त होने के कारण राजा के अधिकारों को सीमित किया जा सके और संसद का कानून चले। इस प्रकार एकात्मक शासन व्यवस्था के विरोध में जनतन्त्र की स्थापना हुई।

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, अछूत कौन और कैसे, पेज सं.- 42-80 (1976).
2. बी. आर. आम्बेडकर, जाति-भेद का उच्छेद, पेज सं.- 10-38 (1974).

वर्तमान जनतन्त्र का उद्देश्य राजा के अधिकारों को कम करना नहीं है, अपितु जनता के हितों की रक्षा करना है। वर्तमान गतिशील संसार में राष्ट्रों का उद्देश्य जनतन्त्र को सुरक्षित रखना है और जनतन्त्र का अभिप्राय है कि शासन की रूपरेखा इस प्रकार बने कि जनता की आर्थिक और सामाजिक स्थिति में बिना रक्तपात किये क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये जा सकें। यदि जनतन्त्र को चलाने वाले आर्थिक और सामाजिक स्थिति में बिना रक्तपात किये बुनियादी परिवर्तन उत्पन्न कर सकें तो वही सच्चे अर्थ में जनतन्त्र होगा। इतिहास का अध्ययन हमें यह सिखाता है कि समय-समय पर जनतन्त्र असफल रहा है, उसका पहला कारण असमानता है। यदि दलित वर्ग का निर्माण हुआ है तो एक वर्ग होगा जिस पर काम का कोई बोझ नहीं है, और दूसरा वह वर्ग जिस पर काम का बोझ अधिक है किन्तु सुविधायें नहीं हैं। ऐसी सुविधाओं की असमान वितरण प्रणाली राजनीति में आयी और क्रान्तियाँ भी हुई हैं। इसलिये इतिहास से सबक लेकर सुस्पष्ट समानता पर आधारित संसदीय जनतन्त्र का विकास किया जाना चाहिये। डॉ. आम्बेडकर ने लिंकन का कथन उद्धरित करते हुये कहा था कि अपने आप में विभाजित घर खड़ा नहीं रह सकता है। लेकिन शायद लोग उसका अर्थ नहीं समझते हैं। लिंकनं का आशय यह था कि यदि उत्तर राज्यों और दक्षिण राज्यों में आपस में मतभेद होंगे तो हम लोग बाहरी शत्रु का सामना नहीं कर सकेंगे। उनका 'विभाजित घर' से यही अभिप्राय था जो वह लोगों को बताना चाहते थे। डॉ. आम्बेडकर के विचार से इस वाक्य का कहीं अधिक गहरा अर्थ है- समाज के विभिन्न वर्गों के बीच की दरार, सफलता में सबसे बड़ी बाधा है। दलित और दलित वर्ग जिन पर काम का पूरा बोझ होता है दूसरी ओर विशेषाधिकार प्राप्त लोग सुविधाओं का भोग करते हैं। वह सुविधाओं को स्वेच्छा से त्याग भी नहीं सकते हैं। ऐसी स्थिति में जनतन्त्र सफल नहीं हो सकता है। संसदीय जनतन्त्र की सफलता सुविधाओं के समुचित बँटवारे पर ही निर्भर है। हमारी लड़ाई सुविधाओं के बँटवारे की ही है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सुविधाओं के बँटवारे को लेकर वर्ग संघर्ष हुआ है और इसी वर्ग संघर्ष ने जनतन्त्र के मूल्यों में परिवर्तन किया है।[1]

---

1. ऋषि हरिश्चन्द्र, मानव अधिकारों के प्रबल पक्षधर, डॉ. आम्बेडकर, पेज सं.- 110-118 (1989).

शहरीकरण और औद्योगीकरण :

डॉ॰ आम्बेडकर शहरीकरण को विकास का मापदण्ड मानते थे। आर्थिक विकास के लिये विशेषकर दलितों के विकास के लिये शहरीकरण आवश्यक है। गाँव की सीमित आवश्यकताओं से घिरी जिन्दगी को डॉ॰ आम्बेडकर ने अगतिशीलता का जीवन कहा है। औद्योगिक प्रगति नये व्यवसायों के क्षेत्र प्रारम्भ करती है। दलितों को अपने परम्परागत व्यवसायों से मुक्ति मिल जाती है। जब दलित वर्गों के लोग शहरों में निवास करने लगेंगे। तकनीकी और गैर परम्परागत व्यवसायों में जुड़ने लगेंगे तो दलितों का आर्थिक, सामाजिक उत्थान होगा।

डॉ॰ आम्बेडकर मानते थे कि, जिन्दगी छोटी है, इसमें एक उद्देश्य के लिये व्यक्ति कार्य कर सकता है उन्होंने दलित वर्ग को गाँधी तथा गाँधीवाद से सावधान किया था क्योंकि उनकी दृष्टि में गाँधी जी कुछ हितकारी नहीं है सिवाय प्रकृति की ओर बढ़ने के माध्यम से गाँव की ज़िन्दगी के प्रतीक हैं। मशीन एवं आधुनिक दुनिया से उन्हें कुछ लेना देना नहीं है। वे आर्थिक सामाजिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी थे।

अवसरों की समानता प्रजातन्त्र की प्राण वायु :

दलितों की आर्थिक दासता समाप्त किये बिना प्रजातन्त्रीय प्रणाली का कोई अर्थ नहीं। प्रजातान्त्रिक प्रणाली की प्राण वायु आर्थिक समानता, आर्थिक उत्थान के समान अवसरों की उपलब्धता है। दास प्रणाली प्रजातान्त्रिक प्रणाली की विरोधी हैं जिस अर्थतन्त्र में दासता, बेगारी और आर्थिक उत्थान के समुचित अवसरों की आज़ादी नहीं है, तो उसमें प्रजातन्त्र की आत्मा मर चुकी होती है। यदि प्रजातन्त्र को जीवित रखना है, तो व्यवसाय, उत्पादन, व्यापार, उद्यम प्रत्येक क्षेत्र में अवसरों की समानता देना आवश्यक है। वह स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता ही नहीं है, जहाँ एक वर्ग के लोग मनुष्य जैसे जीवन जीने के लिये तरसते हों। अपने पेट की आग बुझाने के लिये एक शक्तिशाली वर्ग के आश्रित हो। जब तक समाज इस दायित्व से मुक्त नहीं होता प्रजातान्त्रिक आधार का निर्माण नहीं हो सकता। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा था कि दासता का अर्थ मात्र दमन का कानूनी रूप मात्र ही नहीं होगा। इसका अर्थ है समाज की वह अवस्था जिसमें कुछ लोगों की अन्य लोगों द्वारा अनिर्धारित उन बातों को ग्रहण करने के लिये बाध्य करना जिनके आचरण तथा कार्यों को नियंत्रित

किया जा सके। ऐसी स्थिति उस समाज में पायी जाती हैं जहाँ कानून की दृष्टि में कोई दासता विद्यमान हो।

डॉ. लोहिया प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत मज़बूत आर्थिक ढाँचा चाहते थे। इसके लिये उन्होंने विकेन्द्रीकरण की नीति को अपनाने पर बल दिया है। इस विकेन्द्रीकरण की नीति का अर्थ शक्ति, क्षमता और प्रतिभा का विकास ऊर्ध्वमुखी होना है अर्थात शक्ति नीचे से मिले ऊपर से उड़ेली न जाये। उत्पादन के साधनों और स्रोतों तथा वितरण के माध्यमों व साधनों पर बुनियादी इकाइयों का स्वामित्व एवं अधिकार बना रहे। ऐसी व्यवस्था में विकास प्राकृतिक और स्वाभाविक होगा जिसमें किसी प्रकार की कृतिमता नहीं होगी। डॉ. लोहिया गाँवों की पारम्परिक संरचना में निहित आत्म-निर्भरता के भाव फिर से जागृत करके गाँवों की उन निर्जीव संस्थाओं में प्राण फूँकना चाहते थे जो शिथिल पड़ चुकी थी। उन्होंने प्रजातान्त्रिक आर्थिक व्यवस्था में भारी मशीनों के उपयोग की निन्दा की थी क्योंकि ये मशीनें आम आदमी को छोटा एवं असहाय बनाती हैं, अतः इनका उपयोग सीमित करके छोटी मशीनों को ग्रामोद्योग तथा कुटीर उद्योग के स्तर पर इस्तेमाल करने को डॉ. लोहिया एक क्रान्तिकारी कदम मानते थे। उन्हें विश्वास था कि छोटी मशीनों के उपयोग से न केवल लोगों की दशाओं में सुधार होगा वरन पिछड़े देशों का आर्थिक संकट भी दूर होगा तथा समाज के बहुत से लक्ष्यों की सिद्धि होगी। उनकी दृष्टि में बड़ी मशीनें पूँजीवाद, मार्क्सवाद और उपनिवेशवाद के गठजोड़ से पैदा हुई हैं।

वास्तव में डॉ. लोहिया जहाँ एक ओर छोटी मशीनों के माध्यम से गाँव के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन लाना चाहते थे, वहाँ दूसरी ओर विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के द्वारा पंचायतों के माध्यम से गाँव को स्वायत्त बनाकर उसे सत्ता और विधि के क्षेत्र में सशक्त संस्था के रूप में विकसित करना चाहते थे। उनका यह विश्वास कि स्वायत्तपूर्ण स्वावलम्बी गाँवों के माध्यम से सत्ता ऊर्ध्वमुखी होकर प्रदेश और केन्द्र को शक्ति प्रदान की जा सकती है, ठीक है कि परन्तु इसे यथार्थ में लागू करने के लिये गाँव के लोगों को जागरूक होना पहली शर्त है। क्योंकि जब तक जनता जागरूक नहीं होगी तब तक वह अपने अधिकारों का ठीक ढंग से प्रयोग नहीं कर सकेगी। ऐसा यदि सम्भव हो जाये तो वह यथार्थ में लोकतांत्रिक प्रणाली होगी।

आर्थिक विकेन्द्रीकरण उस सम्पूर्ण योजना का एक निर्णायक अंग है जिससे एक लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकृत ढाँचा का निर्माण सम्भव हो सकेगा और गाँवों का विकास होने के साथ-साथ पूरे भारत का विकास सम्भव होगा। इस व्यवस्था में जिसमें वास्तविक लोकतान्त्रिक प्रणाली कार्य करेगी, निश्चित रूप से आर्थिक ढाँचा मज़बूत होगा। निम्न, कमज़ोर, पीड़ित, दलित एवं पिछड़े वर्गों को रोज़गार मिलेगा। उनके शोषण का अन्त होगा तथा उनका जीवन-स्तर उच्च होगा।

डॉ॰ आम्बेडकर का भी संसदीय प्रजातान्त्रिक पद्धति पर पूर्ण विश्वास था और इस प्रणाली में वे आर्थिक समानता तथा आर्थिक आज़ादी को जीवित रखना चाहते थे। उन्होंने संसदीय प्रजातन्त्रात्मक पद्धति में सशक्त विपक्ष और निष्पक्ष निर्वाचन को महत्वपूर्ण माना क्योंकि इससे प्रथमतः सत्ताधारी दल की अनुचित नीतियों का विरोध हो सकेगा और द्वितीयतः बिना किसी रक्तपात के सत्ता परिवर्तन हो सकेगा। उन्होंने 'काले धन' जो कि राजनीतिक दलों द्वारा चुनावी खर्चे के लिये पूँजीपतियों से लिया जाता है, के प्रयोग और उसके खतरे से सावधान किया क्योंकि इसके कारण सम्बन्धित राजनीतिक दल पक्षपातपूर्ण रवैया अपनायेगा जिससे गरीब, दलित और कमज़ोर वर्ग के लोगों के हितों की हानि होगी व उनका आर्थिक विकास अवरुद्ध होगा। डॉ॰ आम्बेडकर ने जनतन्त्र में सुविधाओं के बँटवारे में समानता लाने की बात कही, क्योंकि समाज के विभिन्न वर्गो के बीच की दरार, सफलता में सबसे बड़ी बाधा है। उनकी दृष्टि में जनतन्त्र को चलाने वाले, आर्थिक और सामाजिक स्थिति में बिना रक्तपात किये बुनियादी परिवर्तन उत्पन्न कर सकें, तो वही सच्चे अर्थ में जनतन्त्र होगा। उन्होंने गाँव की सीमित आवश्यकताओं से घिरी ज़िन्दगी को अगतिशीलता का जीवन कहा तथा आर्थिक विकास के लिये मज़बूत केन्द्र, औद्योगीकरण और शहरीकरण का समर्थन किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में बड़े उद्योग स्थापित होने से ही दलितों एवं निर्बलों को काम मिलेगा, उन्हें दासता से मुक्ति मिलेगी और उनका आर्थिक विकास होगा। इस तरह संसदीय प्रजातान्त्रिक स्वरूप में आर्थिक ढाँचा मज़बूत होने की कल्पना डॉ॰ आम्बेडकर ने की।

वास्तव में डॉ. आम्बेडकर द्वारा संसदीय प्रजातान्त्रिक पद्धति के माध्यम से समाज में आर्थिक समानता स्थापित करना तथा उनके द्वारा लोकतन्त्र को मज़बूत बनाने के लिये काले धन के प्रयोग से सावधान करना दोनों महत्वपूर्ण बातें हैं। साथ ही उनके द्वारा लोकतन्त्र में विपक्ष के होने तथा निष्पक्ष निर्वाचन की सिफारिश करना भी एक सही कदम है, क्योंकि ये ऐसे आधार स्तम्भ है जिनके बिना लोकतन्त्र रूपी महल अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह सकता है। उन्होंने सुविधाओं के समान बँटवारे और उत्पादन के समान वितरण पर बल दिया जिससे कमज़ोर वर्ग के लोगों की आर्थिक समृद्धि सम्भव है। डॉ. आम्बेडकर ने दलित एवं कमज़ोर वर्ग के लोगों के कष्टों को दूर करने एवं मज़बूत आर्थिक ढाँचा स्थापित करने के लिये केन्द्रीकरण, औद्योगीकरण एवं शहरीकरण का समर्थन किया है। वास्तव में हम कह सकते हैं कि, देश की सम्प्रभुता की रक्षा एवं उसकी एकता व अखण्डता को मज़बूत बनाने के लिये केन्द्रीकरण हो परन्तु भारत के गाँवों की उपेक्षा करके नहीं। गाँव सीमित आवश्यकताओं एवं गतिहीनता का केन्द्र नहीं रहेंगे, यदि हम वहाँ समुचित सुविधाएँ उपलब्ध करवा दें। यदि गाँवों की उपेक्षा होगी तो वहाँ रहने वाले गरीब व कमज़ोर वर्ग के लोगों के कष्ट कैसे दूर हो सकते हैं। इसी प्रकार औद्योगीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके प्रारम्भ होने के बाद पूँजीपति अधिकाधिक धनाढ्य बनते जाते हैं तथा कमज़ोर वर्ग के लोगों के कष्टों में बढ़ोत्तरी होती जाती है। इससे समाज में विषमता फैलती है और हम जिस लक्ष्य के लिये औद्योगीकरण का समर्थन कर रहे होते हैं उसे पाने में असफल रह जाते हैं। शहरीकरण के द्वारा लोग शहरों में बसना शुरू करेंगे जो कि उच्च वर्ग के लोगों के लिये तो फायदे की बात होगी परन्तु निम्न वर्ग के लोगों के कष्टों में कमी आयेगी, ऐसा सोंचना भ्रामक होगा। क्योंकि गाँव की भोली-भाली गरीब जनता जो केवल मज़दूरी करना जानती है, उसके पास कोई हुनर नहीं होता, जब वह शहर में आयेगी तो स्वाभाविक रूप से उसके खर्चे में वृद्धि होगी और यदि उसे अपने काम की उचित मज़दूरी नहीं मिलती तो, या तो वह बेरोज़गार रहेगा जो कि उसके लिये अधिक कष्टदायक होगा या फिर वह कम मज़दूरी में काम करने के लिये बाध्य होगा। शहर में चूँकि मज़दूरों की संख्या अधिक होगी इसलिये सभी को काम मिले, यह सम्भव नहीं होगा। ऐसी

स्थिति में गाँव की तुलना में उनका जीवन-स्तर निम्न होगा। इतना ही नहीं उनसे कम मज़दूरी में अधिक काम लिये जाने से उनका शोषण होगा, अतः शहरीकरण से भी आवश्यक नहीं है कि कमज़ोर व निम्न वर्ग के लोगों के जीवन-स्तर में वृद्धि हो और उनका शोषण खत्म हो जाये। अन्तिम उपाय यही है कि विवेन्द्रीकरण की नीति को प्रोत्साहन देते हुये लघु एवं कुटीर उद्योगों द्वारा गाँव में स्थानीय स्तर पर गाँव के लोगों को रोज़गार देकर उनका विकास किया जाय। ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था में आर्थिक ढाँचा मज़बूत होगा।

5.3. आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण एवं राज्य समाजवाद :

डॉ. लोहिया आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक (बौद्धिक) व्यवस्थाओं को प्रत्येक समाज में भिन्न मानते हुये इस बात पर ज़ोर देते हैं कि, प्रत्येक समाज की वर्ग व्यवस्था का संपृक्त गहन अध्ययन होना चाहिये और तद्नुसार इस व्यवस्था में परिवर्तन हेतु अलग-अलग कदम एक साथ उठाने चाहिये। विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति उनकी दृष्टि में शोषक है। विशेषाधिकार जन्म से भी हासिल होते हैं और प्रयत्नों से भी प्राप्त किये जाते हैं। डॉ. लोहिया भारत में तीन प्रकार के विशेषाधिकार जाति, सम्पत्ति और भाषा की बात करते थे।[1]

1) **जाति-** विशेषाधिकार के अन्तर्गत विजयी वर्ग ने पराजित वर्ग को नष्ट न करके उनके अधिकारों को सीमित कर दिया। फलतः विजयी वर्ग आमदनी को बाँधे रखने के प्रयत्न में लगा रहा। धीरे-धीरे यह वर्ग द्विज अधिकारों को बटोरता हुआ शक्ति को प्राप्त हुआ और शूद्र अधिकतर वंचित होकर निर्जीव असहाय और शक्तिहीन होता चला गया।

2) **सम्पत्ति-** विशेषाधिकार के निर्माण में अहम भूमिका का निर्वाह करती है। इससे एक ओर विलासिता, निष्क्रियता और आमोद-प्रमोद जीवन का लक्ष्य बनता है और दूसरी ओर अभावों के दलदल में फँसे हुये नर-मादा कीड़ों की सेना, बिलखती हुई जीवित मृतप्राय बनती जाती है।

3) **भाषा-** से सम्बन्धित विशेषाधिकार से डॉ. लोहिया का आशय आंग्ल भाषा से था। आंग्ल भाषा के ज्ञान के अभाव में करोड़ों-करोड़ लोग प्रजातांत्रिक

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया', पेज सं.- 347 (2003).

पद्धति में कतई सहयोग नहीं दे पा रहे हैं। उलटे भाषा के कारण सामन्ती परिवेश को बल मिल रहा है। लोक-भाषा, लोक-भूषा, लोक-भोजन और लोक-भवन अपमानित हो रहे हैं। उससे एक प्रकार की आत्महीनता से नागरिक ग्रस्त है।

डॉ॰ लोहिया की दृष्टि में उपुर्यक्त तीन विशेषाधिकारों से समाज में चार वर्गों का निर्माण हुआ है :-

1) **शासक वर्ग-** डॉ॰ लोहिया ने शासक वर्ग के बारे में कहा है कि- "हिन्दुस्तान के शासक वर्ग को आप समझ लेना। उसके तीन हाथ होते हैं। एक धनी। धनी माने करोड़पति नहीं, अच्छे खाते-पीते मध्यम वर्गीय लोग, दूसरे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग, और तीसरे ऊँची जाति के लोग।" अर्थात् वह इन तीनों में विशिष्ट होने के नाते भारतीय समाज का सबसे बड़ा शोषक होता है।

2) **उच्च मध्यम वर्ग-** यह शासक वर्ग से जुड़ा है ये लोग उच्च जाति व आंग्ल-भाषा-भाषी होते हैं।

3) **निम्न मध्यम वर्ग-** इस वर्ग में सम्पत्ति, भाषा (अंग्रेजी) और उच्च जाति, इसमें से एक गुण ही होता है।

4) **विशुद्ध सर्वहारा वर्ग-** इसके पास न सम्पत्ति होती है, न भाषा और न जाति। वर्ग भेद की इस दीवार को गिराये बिना कोई भी आर्थिक कार्यक्रम इस देश की उन्नति में सहायक नहीं हो सकता।

भारतीय समाज में व्याप्त विषमताओं के कारणों का विश्लेषण करने के बाद डॉ॰ लोहिया ने इन विषमताओं को मिटाने के लिये अनेक नीतियाँ बतलायीं :-

1) **जाति नीति-** जाति भारत में विशेषाधिकार की श्रेणी में आती है। ऊँची जाति के लोग जन्म से ही '**श्रेष्ठ**' बन जाते हैं। नीची जाति के लोग बिना किसी अपराध के जन्म लेते ही '**निम्न**' करार दिये जाते हैं। इस भेद को मिटाने के लिये डॉ. लोहिया ने 'जाति तोड़ो आन्दोलन' चलाया। जाति की विशिष्टता और उसके आधार पर समाज में जो विशेषाधिकार मिलते हैं, उनको समाप्त करने के लिये डॉ. लोहिया ने यह आन्दोलन चलाया था।

उन्होंने सामूहिक सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह आदि सामाजिक सम्बन्धों पर भी काफी बल दिया।

2) **भूमि नीति-** डॉ॰ लोहिया का मानना था कि पूरा देश मूलतः कृषि प्रधान होने के नाते सामान्य से सामान्य जन, भूमि से जुड़कर ही आत्मतुष्टि प्राप्त करता है। लेकिन स्थिति यह है कि लगभग 60 प्रतिशत से अधिक लोग गाँव में रहने के बावजूद भूमिहीन हैं और खेतिहर मज़दूर के नाम से जाने जाते हैं। इस विषमता को मिटाये बगैर शोषण का नाश नहीं हो सकता। इसलिये उन्होंने भूमि संग्रह की प्रवृत्ति के खिलाफ राष्ट्रीय स्तर पर भूमि वितरण और भूमि के राष्ट्रीयकरण पर विशेष बल दिया है। ऐसे बड़े जमींदार-जागीरदार जिनके पास निजी उपभोग में आने वाली भूमि से अधिक भूमि संग्रहीत है, उनकी भूमि का राष्ट्रीयकरण का आन्दोलन उन्होंने तीव्र किया था। उनका कहना था कि, भूमि की एक सीलिंग होनी चाहिये। अतिरिक्त भूमि का राष्ट्रीयकरण करके उसका वितरण भूमिहीनों में होना चाहिये। ऐसा करने से समाज का सर्वहारा वर्ग अपने को सुरक्षित अनुभव करेगा। यही नहीं, भूमिहीन होने के सन्ताप से भी वह मुक्त होगा। भूमि से जुड़कर उसकी हीन भावना स्वतः नष्ट होगी।

3) **भू-सेना : अन्न नीति-** भूमि नीति का पूरक आन्दोलन अन्न नीति है, और अन्न नीति का पूरक आन्दोलन भू-सेना है। भूमि नीति में तो बड़े-बड़े जमींदारों के पास जो भूमि एकत्रित है, उसके राष्ट्रीयकरण की बात है परन्तु भू-सेना के आन्दोलन से ऊसर-बंजर, परती पड़ी भूमि के सुधार का आन्दोलन प्रारम्भ हो जायेगा, बेकार पड़ी भूमि का जीर्णोद्धार होगा। इसके लिये वह एक ऐसी भूमि सेना बनाना चाहते थे, जो हर गाँव में सामूहिक रूप से ऐसी भूमि का सुधार करे और उसे खेती के लिये उपयुक्त बनाये। इस सेना में अकेले फावड़ा चलाने वाले लोग नहीं होंगे वैज्ञानिक और भू-शास्त्री भी होंगे जिनकी सलाह से उसे उपजाऊ और उपयोगी बनाया जा सकेगा। यह भू-सेना जिस सामाजिक क्रान्ति की अग्रदूत होगी उसी से एक सांस्कृतिक चेतना उभर कर आयेगी।

देश के लाखों बेकार नवयुवक जब इस सेना के सदस्य होंगे तब देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन में एक नई शक्ति का उदय होगा, श्रम को सम्मान मिलेगा। प्रतिभा और श्रम का सम्मानजनक योग एक नया जीवन-रस प्रवाहित करेगा। बहुत सी सीढ़ियाँ टूटेंगी। नये संस्कारों का जन्म होगा। जहाँ ऊसर-बंजर भूमि को यह सेना फिर से एक नया जीवन प्रदान करेगी, वहीं यह सेना देश के अन्न उत्पादन के सही वितरण में भी प्रभावी भूमिका निभायेगी।

4) **मूल्य नीति-** पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह है कि पूँजीपति सस्ते दामों में चीजें खरीदकर जमा करता है और जब अभाव होता है, तब वह सस्ते दामों की चीजों को महंगे दामों में बेचता है। यही कार्य बड़े-बड़े कारखानों के उद्योगपति भी करते हैं। अधिक मात्रा में चीजों के उत्पादन से मूलतः चीजों की लागत कम होती है, लेकिन लागत मूल्य कम होने के बावजूद उद्योगपति उसे महंगे दामों पर बेचता है। इस नीति से मूल्य स्थिर नहीं हो पाते। देश के बाहर और भीतर दोनों जगह मूल्य सम्बन्धी कोई नीति न होने से तरह-तरह की विषमताएं फैलती है। डॉ॰ लोहिया ने मूल्यों को स्थिर करने के लिये कुछ नियम बनाये थे जो इस प्रकार है :-

1. दो फसलों के बीच अन्न आदि के दामों में एक आने से या 16 प्रतिशत से अधिक दाम नहीं बढ़ना चाहिये।
2. कच्चे माल और तैयार माल के बीच एक और डेढ़ (1 : 1.5) का अनुपात होना चाहिये यानि यदि कच्चा माल एक रुपये के बाजार भाव पर बेचा गया हो तो तैयार माल की कीमत डेढ़ रुपये से अधिक नहीं होगी चाहिये।
3. इस संतुलन को बनाये रखने के लिये खेतिहर दाम में ओर कारखाने के दाम में राष्ट्रीय स्तर पर नीति, खेतिहर दाम के आधार पर निर्धारित की जानी चाहिये।
4. यही अनुपात राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी बनाये रखना चाहिये तभी खेतिहर दाम से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय दामों में समानता आयेगी।
5. मकान के किराये के सम्बन्ध में भी औसत आय और किराये के बीच

सामंजस्य स्थापित करने के लिये वेतन के दस प्रतिशत से ज्यादा किराया मकान का नहीं होना चाहिये।

6. जगह-जगह मूल्य निर्धारण समितियों का गठन होना चाहिये जो विभिन्न समुदायों, व्यापारिक संगठनों में तालमेल बैठाकर विषमता को दूर करने की कोशिश करें।

7. देश के जागरूक बुद्धिजीवियों और संगठनों को सरकारी लूट, पूँजीपतियों की लूट और बड़े किसानों की लूट के खिलाफ निरन्तर आन्दोलन चलाना चाहिये।

5. **आय नीति-** मूल्यों का बड़ा गहरा सम्बन्ध आय से है। डॉ॰ लोहिया ने आय की विषमता का वर्णन करते हुये कहा है कि, चरम दारिद्रय की अवस्था में सामाजिक चेतना मर जाती है, या कम से कम क्षीण हो जाती है। समृद्धि और सुख में रहने वाले व्यक्ति अपने और दरिद्र जनता के बीच निर्ममता की प्राचीर खड़ी कर लेते हैं। सामाजिक चेतना का पुनर्जागरण तभी सम्भव है, जब इन प्राचीरों को ढहाया जाय और ये प्राचीरें भी गिर सकती हैं, जबकि आमदनी का परस्पर अन्तर निश्चित सीमा के अन्दर रखा जाय। उन्होंने कहा है कि, '44 करोड़ छोटे लोग बराबर है 1 करोड़ बड़े लोगों के, 19 और 44 का औसत फर्क है। व्यक्तिगत फर्क तो और ज्यादा है- 30 हजार का, दस हजार का, 25 हजार का फर्क।' यह फर्क मामूली नहीं है। इससे पूरे राष्ट्र की कार्यक्षमता पर प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिक कुण्ठायें पैदा होती हैं। कृतिम विभाजन होते हैं इसलिये डॉ॰ लोहिया ने आय के सम्बन्ध में भी नीति का पालन करना आवश्यक समझा और कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये :-

1. आय पर नियंत्रण का एक ही तरीका है कि न्यूनतम आधार पर अधिकतम आय निर्धारित की जाय। डॉ॰ लोहिया का कहना था कि, "न्यूनतम आमदनी बुनियादी सवाल है वह तय करती है कि कुल आमदनी कितनी हो। तीन आना तय करता है कि कुल आमदनी या औसत आमदनी 15 आना से ज्यादा न जाय। 15 आना नहीं तय करता है कि न्यूनतम आमदनी तीन आना हो।"[1]

---

1. लोकसभा में लोहिया, अगस्त 1963.

2. न्यूनतम आय को बढ़ाने के लिये धनिक वर्ग के खर्च पर सीमा बाँधनी चाहिये।
3. व्यक्तिगत और सार्वजनिक संस्थानों के बड़े अधिकारियों को जो सुविधाएं दी जाती हैं, उनको घटाना चाहिये। इसी के तहत डॉ॰ लोहिया ने प्रधानमंत्री पर हजार रुपये मासिक खर्च किये जाने की कटु आलोचना की थी।
4. न्यूनतम आय बढ़ाने और राष्ट्रीय आय की क्षमता को विकसित करने की दृष्टि से डॉ॰ लोहिया ने दो प्रकार की सेवाएं मानी थी। एक उत्पादन क्षमता बढ़ाने वाली, दूसरी गैर-उत्पादक। डॉ. लोहिया नौकरियों को गैर-उत्पादक मानते थे। नौकरियों से राष्ट्रीय आय की खाईं बढ़ जाती है। इसीलिये इनमें छटनी की जानी चाहिये और छटनी किये हुये लोगों को अन्न सेना, भू-सेना, आदि उत्पादन प्रधान कार्यों में लगाना चाहिये।
5. विदेशी आयात पर रोक लगाकर देशी वस्तुओं का उपयोग बढ़ाना।
6. **राष्ट्रीयकरण-** जब तक बड़े पूँजीपतियों का राष्ट्रीयकरण नहीं होगा तब तक तीन आने वाले आदमी की गरीबी दूर नहीं की जा सकती।

6. खर्च की सीमा-

आय पर नियंत्रण और मूल्य पर अनुशासन पाने के लिये आवश्यक है कि खर्च पर सीमा लगे। खर्च पर सीमा लगाने के तीन उद्देश्य हैं- **पहला-** यह कि समाज में सम्भव बराबरी का लक्ष्य प्राप्त हो। **दूसरे-** यह कि धन का संग्रह करके व्यक्तिगत पूँजी में बदलने की क्षमता समाप्त हो यदि यह प्रक्रिया बन्द हो जाये और सम्भव आर्थिक समता स्थापित हो जाय तो फिर समाजवादी समाज का लक्ष्य जल्दी प्राप्त हो सकता है। **तीसरा-** यह कि ऐसा करने से उत्पादन में वृद्धि होगी और वस्तुओं के मूल्य में स्थिरता आयेगी असमान खपत समाप्त होगी। डॉ. लोहिया ने लोकसभा में प्रस्ताव पेश करते हुये कहा था कि "खर्च की सीमा यदि बाँध दी जाय तो मेरे हिसाब से करीब हजार से पन्द्रह सौ करोड़ यानी 15 अरब रुपया हर साल बच सकता है।"[1]

---

1. लोकसभा में लोहिया, 16 अगस्त 1967, पेज सं.- 26-27.

डॉ॰ लोहिया का कहना था कि गरीब की गरीबी का एहसास पैसे वाले को नहीं है। खर्च पर सीमा बाँधने से अमीर पूँजीपति को जब सीमित आय में ही जीवन निर्वाह करना पड़ेगा। तब वह अनुभव कर पायेगा कि दाल-रोटी, नून और तेल के लिये गरीब को कितना संघर्ष करना पड़ता है। उसे वह अवसर नहीं मिलेगा कि मनचाहे दाम देकर वह बाजार से जो चाहे सो ले ले। ऐसी हालत में चीजों के दाम अपने आप ही नीचे गिरेंगे। दाम गिरने से अमीर और गरीब दोनों को राहत मिलेगी।

डॉ॰ लोहिया का मुख्य चिन्तन समाज, राज्य और अर्थ इन तीन तक सीमित था।[1] वे राज्य को सर्वशक्तिशाली रूप में तो देखना चाहते थे, परन्तु संकीर्ण राष्ट्रीयता से हटकर। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पूरा-पूरा लाभ उठा पाने की स्थिति में ही वे राज्य की शक्ति का समर्थन करते थे। राज्य पर जनता के अंकुश के वे समर्थक थे। डॉ॰ लोहिया स्वयं प्रजातांत्रिक समाजवाद के पोषक थे अतः जनशक्ति के वे प्रबल समर्थक थे। उनका विश्वास था कि जिस प्रकार स्वचेतना की भावना से मनुष्य अपना पूर्ण विकास करने में समर्थ होता है। उसी प्रकार स्वतंत्र जनशक्ति राज्य को विकसित ही नहीं करती अपितु सशक्त बनाती है। डॉ॰ लोहिया के राज्य समाजवाद से सम्बन्धित विचार इस प्रकार है :-

1. राज्य में व्यक्तियों की आय का अधिकतम तथा न्यूनतम अन्तर कम से कम हो- सीमित हो। एक ओर अरबपति या करोड़पति और दूसरी ओर अर्धनग्न व भूखा इन्सान- ये दोनों भयानक असमानताएं समाज की धुरी को हिला देती हैं। दोनों को प्रकृति ने एक सा बनाया है। एक जगह जन्म दिया है। फिर भी दोनों में इतना अन्तर है, जो हमारी सामाजिक संचेतना को कमज़ोर व खोखला कर रहा है।
2. एक ओर विशेषाधिकारों से युक्त जन और दूसरी ओर अधिकार-विस्मृत जन बड़े-बड़े प्रशासनिक अधिकारी, मंत्री, उद्योगपति, सेंठ-साहूकार, ठेकेंदार आदि अधिक आमदनी वाले हैं और साथ में शासन की विशेष कृपा भी उन पर है। दूसरी ओर निर्धन है, जो शासन से भी उपेक्षित हैं।
3. **राजकीय सेवा में अन्तर-** केन्द्र तथा राज्य के कर्मचारियों के वेतन में

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, समग्र लोहिया, पेज सं.- 186 (1982).

अन्तर है। एक प्रकार का काम करने वाले केन्द्र व प्रान्त के कर्मचारियों के वेतन व सुविधाओं में अन्तर है। एक केन्द्र की सेवा में क्लर्क, दूसरा बैंक में क्लर्क, तीसरा प्रान्त की सेवा में क्लर्क और चौथा अर्द्ध-राजकीय या नगरपालिका आदि की सेवा में क्लर्क के वेतन में अन्तर है। इसी प्रकार स्थायी तथा अस्थायी कर्मचारी के वेतन में भी अन्तर है। डॉ॰ लोहिया की दृष्टि से यह अन्तर विषमता को बढ़ाने वाला है तथा समाज के खर्च को वर्गों में बाँटने वाला है।

4. राज्य में जो अनाप-शनाप रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा है और वातानुकूलित कक्षों की व्यवस्था की जा रही है, वह भी गरीब जनता के साथ धोखा है। लोकसभा में अनेक बार डॉ॰ लोहिया ने सरकारी महकमों में होने वाले शाही खर्च की चर्चा की और सनसनी खेज तथ्य प्रस्तुत किये।
5. देश की कुल आमदनी का 67 प्रतिशत व्यय उन लोगों पर हो रहा है, जो कि विशेषाधिकार प्राप्त हैं, बड़े हैं, सेंठ-साहूकार हैं और 33 प्रतिशत आम जनता पर। यह अन्तर यह सिद्ध करता है कि सरकार स्वयं भेदभाव की खाईं को पाटना नहीं चाहती है। आम जनता के हित में देश की आय-व्यय की व्यवस्था की जाये।
6. डॉ॰ लोहिया चाहते थे कि इसी प्रकार गैर-सरकारी संस्थानों अथवा कम्पनियों, कारखानों आदि में भी सरकारी, गैर-सरकारी नौकरी में अन्तर वाली व्यवस्था हटनी चाहिये। इसी से देश में अनुशासन पैदा होगा और असंतोष कम होगा।
7. डॉ॰ लोहिया औसत आय की वृद्धि के पक्ष में थे। उनकी मान्यता थी कि किसी देश की औसत आय में वृद्धि उस देश की सम्पन्नता की सूचक है वे मानते थे कि आय बढ़ेगी तो उत्पादन में भी स्वतः वृद्धि होगी। इससे आर्थिक पिछड़ापन भी दूर होगा और लोगों का जीवन-स्तर सुधरेगा।

डॉ॰ लोहिया की राज्य-समाजवाद की अवधारणा भारत वर्ष में प्रचलित दशाओं से निकली है। अपने समाजवाद को वह भारतीय लोगों के दुखों की समाप्ति के ढंग और भारतवर्ष को अपने गौरवमय अतीत की वापसी के रूप में देखते हैं।

अपने व्यक्तियों की दशाओं को सुधारने के लिये किये जाने वाले प्रयासों में भारतवर्ष अनेक व्याधियों से ग्रस्त है। भारतवर्ष का पूर्व का गौरव एवं समृद्धि, गरीबी, लगातार बीमारी, निरक्षरता एवं गुटबन्दी से स्थानापन्न हो गयी है। डॉ॰ लोहिया ने समाज के आर्थिक एवं सामान्य उद्देश्यों को जानने का तथा उन्हें सद्भाव की अवस्था में एकीकृत करने का प्रयास किया। इस प्रकार उन्होंने समाजवाद के एक नवीन दर्शन को जन्म दिया जिससे यह विश्व में सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन की एक शक्तिशाली शक्ति हो गया।

डॉ॰ आम्बेडकर व्यक्ति और समाज के उत्थान के लिये आर्थिक और सामाजिक पर्यावरण को प्रमुख रूप से जिम्मेदार मानते हैं। उनका कहना था कि राष्ट्र के उत्थान की शाश्वतता, अहिंसा, प्रजातंत्र, नैतिकता और धर्म के संरक्षण में है। सामाजिक न्याय, बन्धुत्व, समता, चरित्र, सदाचरण, शिक्षा, नवजागरण, तकनीकी विकास, प्रवर्जन प्रवृत्ति, जाति निरपेक्ष, श्रम विभाजन, एक समंजन क्रिया है, जिनके असंतुलन, अपर्याप्त पूर्ति और असमान वितरण पर विकास केन्द्रों में विचलन हो जाता है। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा था कि विकास और विज्ञान का अविछिन्न सम्बन्ध है। इन दोनों का संकुल आर्थिक सामाजिक स्थिति की रचना करता है। यदि विकास मानव हृदय को परिष्कृत करके परोपकार, समाजसेवा, सहयोग, सौजन्य उत्पन्न करता है तो विज्ञान मानव को बाह्य रूप से मज़बूत करता है।[1]

विकास की सफलता देश के आम लोगों की निपुणता, नेतृत्व, संयम, उत्कण्ठा तथा इसे सामाजिक हितों से अनुकूलन स्थापित करने पर निर्भर करती है। जिस समुदाय में अपने देश की समस्याओं को सुलझाने की प्रबल इच्छा हो और वे उदासीन तथा अदृश्य न हों अपितु स्वतः सामुदायिक कार्यकलाप में अभिक्रम करने की उत्कृष्ट तथा गतिशील क्षमता रखते हों, तो उस देश अथवा स्थान की प्रगति मानवतावादी सृजनात्मक परार्थवादी अवश्य होगी।[2]

---

1. भगवानदास द्वारा संकलित, दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड-1, पेज सं.- 70-76 (1963).
2. वही, पेज सं. 70-76.

भारतीय आर्थिक विकास में सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण संरक्षणात्मक और सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करता है। विकास और संस्कृति के बीच अटूट सम्बन्ध स्थापित किया गया है, जो पूर्णतः वैज्ञानिक तथा तार्किक है। भोगवृत्ति और भौतिक समृद्धि की लालसा ने मनुष्य, समुदाय, वर्ण, वर्ग, जाति की मर्यादाओं को प्रदूषित किया है। धर्म के प्रति टूटती आस्थाएं, मिथ्या अभिमानों से जुड़ती जातिवादी संस्कृति ने आर्थिक सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषित किया है। राजनैतिक संगठनों की सत्ता लोलुपता ने देश के सांस्कृतिक पर्यावरण को प्रदूषित किया और उसे धकेल दिया है। इस मर्यादा विहीनता ने कोई भौगोलिक सीमा का बन्धन स्वीकार नहीं किया है। फलस्वरूप सम्पूर्ण भारत छूत, अछूत, दलित और पिछड़े वर्गों में बँटकर बिखर गया जिससे देश की स्वायत्तता काल के गाल में समाहित हो गयी है। राजनैतिक दृष्टि से, हम स्वायत्तता का दावा भले ही करें परन्तु आर्थिक धरातल पर बुनें हमारे ताने-बाने हमारे हांथों में नहीं हैं। हम केवल मूकदर्शी हैं। एक दिशा में परिवर्तन की ओर लुढ़कने के लिये उसी प्रकार विवश हैं जैसे पहाड़ की ढलान से लुढ़काया हुआ पत्थर होता है।[1]

देश में रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, वेद, उपनिषद आदि के रूप में एक विशाल वाङ्मय उपलब्ध हुआ है, किन्तु इनकी विवेचनाओं से कट्टर जातिवाद, वर्ण-भेद और छुआ-छूत उपजा, जिससे भारत का सामाजिक पर्यावरण प्रदूषित हो गया। इसने भारत के स्वस्थ्य आर्थिक विकास के वातायन बन्द कर दिये। भारत की मानवतावादी सांस्कृतिक अनुभूति को नष्ट कर दिया। आत्मानुभूति से परे, आध्यात्मिक अनुभूति के अभाव में, वर्गीय ईर्ष्या के तपते मरुस्थल में, आर्थिक सामाजिक विकास के कल्पतरु सूख गये। राष्ट्र यदि संकीर्ण सामाजिक बंधनों से मुक्त हो जायें। ऊँच-नीच के भेदभाव से ऊपर उठ जायें तो विकास का उचित पर्यावरण बन सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि सम्पूर्ण जनशक्ति अपनी ऊर्जा को राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने में लगाये और नैतिक मूल्यों को समझे तथा नैतिक अनुशासन से नियमबद्ध हो, तभी उसकी भौतिकवादी प्रवृत्ति पर अंकुश लग सकता है।[1] हमें निष्ठापूर्वक नैतिकता, धर्म, समता, बन्धुत्व और सामाजिक न्याय

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अण्टचेबिल्स, पेज सं.- 88 (1946).

की शिक्षा जनसमुदाय को देनी होगी, जिससे सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक पर्यावरण को स्वस्थ बनाया जा सके। समाज में प्रेम और उत्साह की भावना को प्रबल बनाया जा सके। डॉ॰ आम्बेडकर ने इस क्रिया को इस प्रकार प्रस्तुत किया है:-

1) **संकल्पना समाज एक समायोजन क्रिया-**

1. डॉ॰ आम्बेडकर समाज को एक संगठन तथा इकाई मानते थे, आर्थिक प्रगति के लिये वे सामाजिक संगठन को परिवर्तित करना चाहते हैं। समाज के विभिन्न अंग व्यक्ति और उसकी संस्थाएं हैं जो एक सामाजिक पर्यावरण का निर्माण करते हैं। आर्थिक प्रगति का मार्ग सामाजिक परिवेश से ही प्रशस्त होता है। समाज में रक्त परिभ्रमण के लिये स्नायु-तंत्र के बिना हृदय-तंत्र गतिशील नहीं रहता है। हृदय-तंत्र के बिना स्नायु-तंत्र की गतिशीलता की कोई उपादेयता नहीं है। सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं की यह एक समायोजन क्रिया है।[2] डॉ॰ आम्बेडकर का मत है कि, भारत में सही अर्थ में लोकतंत्र की स्थापना में समय चाहिये क्योंकि भारत का बुनियादी स्वरूप प्रजातांत्रिक नहीं है। वास्तव में राजनैतिक प्रजातंत्र किसी भी देश में तब तक स्थायी नहीं हो सकता है जब तक कि उसकी बुनियाद सामाजिक आर्थिक प्रजातंत्र पर न खड़ी हो। भारत में लोकतंत्र की स्थापना का लक्ष्य सामाजिक-आर्थिक प्रजातंत्र की समायोजन क्रिया प्रारम्भ करना है। सामाजिक प्रजातंत्र का अर्थ है- जाति विहीन, वर्ग विहीन, शोषण विहीन समाज की रचना। आर्थिक प्रजातंत्र का आशय आर्थिक उत्थान के समान अवसर उपलब्ध कराना तथा विकास के साधनों का विकेन्द्रीकरण करना है। आर्थिक और सामाजिक प्रजातंत्र की ऊर्जा स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के सिद्धान्तों में विद्यमान है। जब तक लोगों को आर्थिक, सामाजिक स्वतंत्रता, समानता एवं सामाजिक न्याय प्राप्त नहीं होगा, तब तक आर्थिक सामाजिक प्रजातंत्र स्थापित नहीं हो सकता।[3]

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर, लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 209-223 (1981).
2. बी.आर. आम्बेडकर एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 120-124 (1937).
3. आम्बेडकर, मि. गाँधी एण्ड द इमेन्सियेशन ऑफ द अण्टचेबिल्स, पेज सं.- 10-20 (1966).

2. डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार प्रजातंत्र का आधार मूलतत्व स्वतंत्रता है, लेकिन नियंत्रण और अवरोध के संतुलन के बिना स्वतंत्रता समानता को निगल जाती है। यदि स्वतंत्रता समानता को निगल जाती है, तो प्रजातांत्रिक स्वरूप एक आर्थिक राजनैतिक नाट्यशैली बनकर रह जाता है। राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्रता प्रजातंत्र का प्राण है, तो सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से समानता प्रजातंत्र की अनुभूति है। समानता की अनुभूति के अभाव में आर्थिक सामाजिक क्षेत्र में प्रजातंत्र का कोई अस्तित्व नहीं है।

2) समाज, राज्य, शासन एवं प्रशासन एक संकुल-

डॉ॰ आम्बेडकर का प्रजातांत्रिक स्वरूप व्यक्ति मूलक है क्योंकि राज्य का वह दास नहीं है। व्यक्ति और समाज के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राज्य एक साधन है। राज्य की तुलना में व्यक्ति अधिक प्राथमिक है। यह राज्य का कर्तव्य है कि वह ऐसी समाज व्यवस्था का निर्माण करे जिसमें व्यक्ति प्रसन्नता और सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत कर सके। भूख और प्यास की समस्या के समाधान के साथ-साथ आत्माभिमानी जीवन, समाज के सभी वर्गों को मिले।[1]

डॉ॰ आम्बेडकर ने यह स्वीकार किया है कि, भारतीय अर्थव्यवस्था में सामाजिक स्तर विकास में बाधक है। सामाजिक स्तर लोकतंत्र की प्रकृति के प्रतिकूल है, किन्तु शासन एवं प्रशासन की प्रकृति यह निर्धारित करेगी कि, वह समाज के संरचनात्मक परिवर्तन को, वर्ग-विहीन, जाति-विहीन स्थिति की ओर गतिशील करे। लोकतंत्र के अनुकूल समाज की प्रकृति का निर्माण राष्ट्रीय आवश्यकता है। दोषपूर्ण समाज रचना शासन और प्रशासन दोनों को विफल कर देती है। वह व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में बाधक होती है। यही तथ्य अलगाववाद, आतंकवाद और यथास्थितिवादी समस्याओं को उत्पन्न करता है। आर्थिक सामाजिक संरचना को राज्य शासन और प्रशासन के बीच उद्देश्यों के साथ अनुकूलन स्थापित करना होगा।[2]

---

1. दुर्गादास, इण्डिया फ्राम कर्जन एण्ड नेहरू आफ्टर कॉलिप्स, लन्दन, पेज सं.- 163-170 (1963).
2. डॉ॰ आम्बेडकर : द राइज एण्ड फाल ऑफ हिन्दू वूमैन, पेज सं.- 13-30 (1977).

3) उत्तराधिकार के नियमों में संशोधन-

डॉ. आम्बेडकर विषमता को समाज का सबसे बड़ा शत्रु मानते थे। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन नहीं चाहते थे और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के समर्थक थे। किन्तु समता की स्थापना की लक्ष्य पूर्ति के लिये उत्तराधिकार के नियमों में संशोधन किये जाने के पक्षपाती थे, जिससे धन के वितरण को न्यायपूर्ण से प्रोत्साहित किया जा सके।

4) राजकीय हस्तक्षेप और व्यक्तिगत स्वतंत्रता-

डॉ. आम्बेडकर राज्य समाजवाद के प्रवर्तक रहे हैं किन्तु उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया है उसे प्रतिबन्धित नहीं किया है। दलितों के हितों की रक्षा के विरुद्ध वे कोई अधिकार नहीं देना चाहते। दलितों के शोषण के विरुद्ध राजकीय हस्तक्षेप को वे आवश्यक मानते थे, किन्तु व्यक्तिगत गुणों के विकास में शिक्षा, अभिव्यक्ति और उद्यम करने की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अनिवार्य मानते थे।

5) जनसंख्या : साध्य एवं साधन-

डॉ. आम्बेडकर ने जनसंख्या को भार के रूप में स्वीकार नहीं किया उनके लिये जनसंख्या सक्रिय श्रम-शक्ति के रूप में उत्पादन का आधार है। जनसंख्या साध्य और साधन दोनों ही है इसलिये आर्थिक प्रगति का लक्ष्य जनसंख्या के स्तर में सुधार है और जनसंख्या का गुणात्मक नियोजन आर्थिक प्रगति के लिये आवश्यक है।

6) धन का वितरण एवं सामाजिक उपभोग स्तर-

डॉ. आम्बेडकर ने कहा है कि धन का न्यायपूर्ण वितरण अधिक जरूरी है। लाखों व्यक्ति सबेरे से शाम तक काम करते हैं और उनको भोजन भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। डॉ. आम्बेडकर ने इन्हीं बहुसंख्यक लोगों की समस्याओं को महत्वपूर्ण माना है। हमारी आर्थिक नीतियों का उद्देश्य मानव को सुखी बनाना है। समाज का सुख ही राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति है। यह सम्भव हो सकता है, यदि आप समाज के बहुसंख्यक वर्ग की आर्थिक स्थिति में सुधार होने दे। धन के अर्जन और वितरण का उद्देश्य मानवीय जीवन की परिस्थितियों को अधिक न्याय-संगत बनाता है। धन के वितरण का उद्देश्य भी मानव सुख है। यदि धन का वितरण उत्पादन के

साधनों के अनुरूप है, तो सामाजिक उपभोग स्तर तो स्वयं बढ़ने की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है। लन्दन में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर केनन के सम्पर्क में रहकर डॉ. आम्बेडकर ने 'प्रॉब्लम ऑफ रूपी' पर शोध निबन्ध लिखा, जो लन्दन से 1926 ई. में प्रकाशित हुआ। लन्दन विश्वविद्यालय ने इस निबन्ध पर डी.एस.-सी. की उपाधि प्रदान की। डॉ. आम्बेडकर ने इस निबन्ध में बताया कि, ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रुपये का सम्बन्ध पौण्ड के साथ जोड़कर भारतीयों को भारी हानि पहुंचायी है। देश में धन के असमान वितरण एवं भारी मात्रा में आय के स्रोत ब्रिटेन के हांथों में चले गये हैं। डॉ. आम्बेडकर के इस निबन्ध से "लन्दन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स" के सभी प्रोफेसर्स अत्यन्त प्रभावित हुये। ब्रिटिश म्यूजियम तथा गोल्ड स्थिम लाइब्रेरी ऑफ इकॉनोमिक्स में नोट्स एवं आलेख लिखते समय डॉ. आम्बेडकर ने भारत में धन के असमान वितरण के बढ़ते हुये स्वरूप और देश में गिरते उपभोग स्तर पर चिन्ता प्रकट की। उन्होंने 1918 ई. में एक पुस्तक "स्माल होल्डिंग्स इन इण्डिया एण्ड देयर रेमिडीज" में भूमि के असमान वितरण और उससे उपजे असंतोष को व्यक्त किया है। अर्थव्यवस्था में असमान वितरण के कारण ग्रामीण क्षेत्र में घटता हुआ उपभोग स्तर गरीबी, असमानता और सामाजिक धरातल की गिरावट को बताता है।

डॉ. आम्बेडकर का सामाजिक उपभोग स्तर बढ़ाने के लक्ष्य के सम्बन्ध में एक निश्चित मत यह था कि, जब तक सामाजिक संरचना और अंध-मनोवृत्ति में परिवर्तन नहीं होता तब तक उपभोग स्तर नहीं बदल सकता है। विश्व युद्धोत्तर समाज नवभोगवादी मूल्यों में रत होने लगा। नवभोगवादी जीवन मूल्यों ने सभ्य देशों के समाज को रूप दिया, उसी का यह परिणाम सामने आ रहा है कि, वे उन जीवन मूल्यों के प्रति संघर्ष किये हुये हैं।

7) सामाजिक न्याय की स्थापना-

डॉ. आम्बेडकर स्वतंत्रता के समान न्याय को भी आवश्यक मानते थे। न्याय की परिभाषा करते हुये वे कहते हैं कि प्रत्येक मानव के गौरव के प्रति सहज और पारस्परिक सम्मान न्याय है। चाहे वह कोई भी हो और किसी भी परिस्थितियों में हो, समाज इस प्रकार का होना चाहिये कि, सभी व्यक्ति परस्पर एक दूसरे का

सम्मान करें। मनुष्य-मनुष्य का स्वामी नहीं है। स्वयं व्यवस्था या सामाजिक प्रबन्ध भी मनुष्य पर शासन न करें। वस्तुतः सामाजिक व्यवस्था मनुष्य की सेवक होनी चाहिये मालिक नहीं। स्वतंत्रता व्यवस्था की पुत्री नहीं माता है। स्वतंत्रता न्याय के विचारों का मूलाधार है। समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता, श्रम की स्वतंत्रता व्यापार और प्रचार की स्वतंत्रता, श्रम और उद्योग के प्रतिफल को इच्छानुसार व्यय करने की स्वतत्रंता ही ध्येय है। ऐसी स्वतंत्रता चाहिये जो पूर्व, अनन्त सुलभ और शाश्वत हो। शाश्वत स्वतंत्रता ही सामाजिक न्याय का पर्याय है। शोषण सामाजिक न्याय का प्रतिरोधी है। शोषण के उन्मूलन के बिना सामाजिक न्याय पंगु है। स्वतंत्रता और समानता सामाजिक न्याय की धुरी हैं।

8) आर्थिक संकट-

डॉ. आम्बेडकर का मत है कि आर्थिक संकटों- गरीबी, न्यून उत्पादकता, छोटा उत्पादन, गुणहीन उत्पादन, बेरोजगारी, बेगारी, दुर्भिक्ष, उत्पादन तकनीक की अगतिशीलता का कारण समाज में विद्यमान जातिवाद और कुरीतियाँ हैं, ब्राह्मण और गैर-ब्राह्मणवाद, दलित और सामन्तवाद, छूत और अछूत की उपस्थिति है।

भारत में बढ़ता आर्थिक संकट इसी का परिणाम है। दलित वर्ग सम्पत्ति और भूमि के अधिकार से पृथक हो गये। जमींदारों को अपनी विशाल भूमि-सम्पत्ति के बारे में कोई जानकारी नहीं रहती है। वे ब्राह्मणों और राज-पुरोहितों, पण्डों और पुजारियों के भरोसे भूमि पर उत्पादन करते हैं। दलित वर्ग भूमि पर काम करता है, समाज का ब्राह्मण वर्ग शोषण करता है। ब्राह्मण और सामन्तों को यह जानने का अवकाश नहीं होता है कि, दलित वर्ग के लोग कैसे निम्न जीवन जी रहे हैं। अछूतों की पीड़ा और अन्याय स्थायी होते गये हैं, यही राष्ट्र का सबसे बड़ा संकट का कारण है।

डॉ. आम्बेडकर समाज को एक पूर्ण इकाई मानते थे, जो व्यक्ति के उत्थान और पतन के लिये उत्तरदायी है। राज्य समाजवाद, कल्पनावादी समाजवाद और कार्लमार्क्स के समाजवाद के बीच की कड़ी है। डॉ. आम्बेडकर इसे समाजवाद का व्यावहारिक एवं मध्य मार्ग मानते हैं। मार्क्स का समाजवाद इसका अतिवादी स्वरूप है। डॉ. आम्बेडकर का राज्य समाजवाद मार्क्स की श्रम-अधिनायकवादी नीति में

विश्वास नहीं करता है। उन्होंने श्रम को सुखद बनाने और पूँजी को सुविधाजनक बनाने का उपाय बताया। डॉ॰ आम्बेडकर न तो पूँजीपतियों का उन्मूलन करना चाहते थे, न श्रमिकों के हांथों में सरकार का हस्तान्तरण।

डॉ॰ आम्बेडकर ने श्रम संघ आन्दोलन और कृषि मज़दूरी, किसानों और भूमि प्रबन्ध की स्थिति में सुधार के माध्यम से जिस अवधारणा का विकास किया, वह राज्य समाजवाद की थी। संविधान में राज्य समाजवाद के क्रियान्वयन का प्रावधान शामिल किया गया। राज्य समाजवाद का क्रियान्वयन विविध आयामों में सुझाया गया उसके प्रारूप के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार हैं :-

1. **उद्योग-** बुनियादी उद्योगों को राज्य द्वारा संचालित किया जाये। सभी आधारभूत उद्योग राज्य स्वामित्व के अन्तर्गत होने चाहिये। राज्य द्वारा स्थापित निगम एवं संगठन ही आधारभूत उद्योगों एवं बुनियादी उद्योगों का संचालन करें।

2. **बीमा-** राज्य के अधीन ही बीमा व्यवसाय हो। उद्योग, कृषि क्षेत्र में बीमा सुविधाएं राज्य के संरक्षण में विकसित हों।

3. **सेवाओं का विस्तार-** ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में लोकसेवाओं का विकास राज्य के अधीन होना चाहिये ताकि समतापूर्ण विकास की ओर अग्रसित किया जा सके।

4. **कृषि एवं भूमि प्रबन्ध-** समस्त भूमि राज्य के अधिकार के अन्तर्गत होनी चाहिये, यदि निजी क्षेत्र में विद्यमान भूमि के लिये मुआवजा देकर भी कृषि पर राज्य का अधिकार स्थापित करना पड़े तो भी ऐसा किया जाना चाहिये। भूमि प्रबनध में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमि सीलिंग कानूनों को लागू करना वास्तविक किसानों को भूमि का अधिकार दिलाना आदि कार्य आवश्यक हैं। कृषि उत्पादन एवं निवेश को बीमा सुविधाएं दी जानी चाहिये। कृषि को राष्ट्रीय उद्योग के रूप में माना जाये।

5. **व्यावसायिक गतिशीलता-** राज्य स्वयं नये व्यवसायों एवं सेवाओं का विस्तार करे तथा श्रम-शक्ति को इस ओर आकर्षित करे। श्रम-शक्ति गाँवों से शहरों की ओर आकर्षित हो। लोग परम्परागत व्यवसायों को छोड़कर

नये कौशल स्वीकार कर सकें।

6. **जनसंख्या नियंत्रण-** डॉ. आम्बेडकर जनसंख्या नियंत्रण के पक्ष में थे। ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषकर जहाँ चिकित्सा सुविधाएं नहीं हैं, जनसंख्या का बढ़ना ज़ोखिमपूर्ण है। दलित वर्गों में जनसंख्या को बढ़ाने के प्रति हतोत्साहित किया जाना चाहिये।

7. **सामूहिक कृषि-** कृषि को निवेश क्षमता प्रदान करने की दृष्टि से सामूहिक कृषि के रूप में प्रारम्भ किया जाना चाहिये। इसके लिये आवश्यक संवैधानिक व्यवस्था की जाये। चकबन्दी एवं भू-राजस्व अधिनियम कृषि में आवश्यक संशोधन उत्पन्न करने में असफल रहे हैं। औद्योगिक क्षेत्र को द्रुतगामी विकास देने के लिये सामूहिक कृषि, निवेश एवं आदान-प्रदान सम्बन्धों में वृद्धि की जानी चाहिये।

8. **संसदीय लोकतंत्र में राज्य समाजवाद की स्थापना एवं विकास-** डॉ. आम्बेडकर का कहना था कि संसदीय लोकतंत्र के साथ राज्य समाजवाद को वैधानिक रूप देकर ही समाजवाद की स्थापना, संसदीय लोकतंत्र की सुरक्षा एवं तानाशाही का उन्मूलन आदि उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव है। समाजवाद और वैयक्तिक स्वतंत्रता दोनों की प्राप्ति साथ-साथ करनी है तो यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि संसदीय जनतंत्र तथा राज्य समाजवाद का समावेश संविधान में त्रिवेणी हो जाये।

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार राज्य समाजवाद, समाजवाद का वह स्वरूप है जिसमें न्याय, बन्धुता, समता और स्वतंत्रता है। कोई भी विचारशील मनुष्य इसमें आस्था रखता है। अर्थव्यवस्था का चरम लक्ष्य न्याय है। आर्थिक न्याय किसी भी देश या समाज की धुरी है। आर्थिक न्याय विश्लेषण मानवतावादी मूल्यों से परिपूर्ण होता है, जिसमें शोषण की दुर्गन्ध नहीं होती है। मानव व्यवहारों में समता, मानव विकास में स्वतंत्रता और विभिन्न वर्गों से मधुरता राज्य समाजवाद की सफलता है। राज्य समाजवाद का सार्थक चिन्तन सार्थक भूमिका में तभी सफल सिद्ध हो सकता है जब हम विभिन्न वर्गों, जातियों, सम्प्रदायों की कट्टरताओं को उदारता में बदल सकें। उत्पादन के स्रोतों का बँटवारा शिखर से धरातल की ओर बढ़ा सकें।

डॉ. लोहिया आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण में विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग या व्यक्ति को शोषक मानते थे, चाहे वह जाति विशेषाधिकार हो, सम्पत्ति विशेषाधिकार हो या फिर भाषा विशेषाधिकार हो। उनकी दृष्टि में समाज में विशेषाधिकार प्राप्त होने के कारण वर्गों का निर्माण होता है और वर्गभेद की दीवार को गिराये बिना देश में कोई भी आर्थिक कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता है। उन्होंने अच्छे आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण के निर्माण के लिये समाज में फैली विषमताओं को दूर करने का आह्वान किया। इसके लिये उन्होंने अनेक नीतियों एवं आन्दोलनों को चलाया। उन्होंने 'जाति नीति' के अन्तर्गत 'जाति तोड़ो आन्दोलन' चलाया और जातिवाद को खत्म करने के लिये सामूहिक सहभोज एवं अन्तर्जातीय विवाह पर बल दिया। उन्होंने 'भूमि नीति' में भूमि संग्रह की प्रवृत्ति के खिलाफ राष्ट्रीय स्तर पर भूमि वितरण और भूमि के राष्ट्रीयकरण पर विशेष बल दिया। वे एक ऐसी भू-सेना बनाना चाहते थे, जो प्रत्येक गाँव में सामूहिक रूप से भूमि का सुधार करे और उसे खेती के लिये उपयुक्त बनाये। यह भू-सेना देश के अन्न उत्पादन के सही वितरण में भी प्रभावी भूमिका निभायेगी। डॉ. लोहिया ने मूल्य नीति एवं आय नीति के अन्तर्गत क्रमशः मूल्य एवं आय पर नियंत्रण रखने की बात कही क्योंकि वस्तुओं के मूल्य पर नियंत्रण न होने पर पूँजीपति सस्ते तैयार माल को ऊँचे दाम में बेचता है, जिसे खरीदना गरीब व कमज़ोर वर्ग के लिये कष्ट दायक होता है। इससे समाज में विषमता फैलती है। यही स्थिति आय पर नियंत्रण न रखने पर होती है। एक ओर धनिक वर्ग की आय अधिक होने के कारण वे अमीर बनते जाते हैं, तो दूसरी ओर गरीब वर्ग के लोगों की आय कम होने के कारण वे गरीब ही बने रहते हैं। इसीलिये डॉ. लोहिया ने न्यूनतम आधार पर अधिकतम आय निर्धारित करने की बात कही, आय पर नियंत्रण और न्यूनतम आय बढ़ाने के लिये धनिक वर्ग के 'खर्च की सीमा' को बाँधना आवश्यक माना, व्यक्तिगत व सार्वजनिक स्थानों से बड़े अधिकारियों को दी जाने वाली सुविधाओं को घटाने पर बल दिया, विदेशी आयात पर रोक लगाकर देशी वस्तुओं के उपभोग को बढ़ावा देने पर ज़ोर दिया तथा राष्ट्रीयकरण को महत्वपूर्ण माना। वे राज्य को सर्वशक्तिशाली रूप में तो देखना चाहते थे, परन्तु संकीर्ण राष्ट्रीयता से हटकर। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पूरा-पूरा लाभ उठा पाने की

स्थिति में ही राज्य की शक्ति का समर्थन करते थे।

डॉ॰ लोहिया ने वास्तव में एक ऐसे आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण के निर्माण की बात कही है जिसमें समाज के विशेषाधिकार प्राप्त एवं शोषित वर्ग का अन्त सम्भव है, वर्ग-भेद की दीवार खत्म हो सकती है, जातिवाद जर्जर हो सकेगा, भूमिहीनों को भूमि प्राप्त हो सकेगी, जिससे उनकी हीनभावना का अन्त होगा, गरीबों को उनका हक प्राप्त होगा तथा उत्पादित अन्न का समान वितरण हो सकेगा। वस्तुओं की कीमतें नियंत्रण में होने से गरीब और अमीर दोनों सुखी रहेंगे। सुविधाओं के उपभोग पर सीमा लगाने से प्रत्येक सुविधा का उपभोग गरीब व अमीर दोनों कर सकेंगे, आय पर नियंत्रण लगाने से समुचित रूप से धन गरीब और पिछड़े वर्ग के लोगों के पास भी आ सकेगा जिससे उनके जीवन-स्तर में वृद्धि होगी। विदेशी आयात पर प्रतिबन्ध लगाने पर देश के लोगों को रोज़गार मिलेगा और उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं का उपभोग होगा, इससे उनकी आमदनी में वृद्धि होगी और देश में एक अच्छे आर्थिक सामाजिक पर्यावरण का निर्माण सम्भव हो सकेगा। परन्तु आज आवश्यकता इस बात की है कि डॉ॰ लोहिया ने जो भी उपाय बताये हैं उन्हें यथार्थ स्तर पर लागू किया जाये। देश के नीति निर्माताओं एवं आने वाली सरकारों को चाहिये कि वे आम लोगों के कल्याण के लिये, उनकी गरीबी, बेरोज़गारी, पिछड़ापन, शोषण एवं दासता को दूर करने के लिये डॉ॰ लोहिया द्वारा बतायी गयी नीतियों पर अमल करें। इसके साथ ही साथ देश के उच्च वर्ग के लोगों को भी स्वतः इस बात को सोचना होगा कि, पूरे समाज एवं देश का उत्थान करने के लिये निम्न वर्ग के लोगों का उत्थान करना बहुत जरूरी है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण को व्यक्ति और समाज के विकास के लिये उत्तरदायी माना है। उनकी दृष्टि में भोगवृत्ति, भौतिक समृद्धि की लालसा, धर्म के प्रति आस्थाएं, मिथ्या अभिमानों से जुड़ती जातिवादी संस्कृति ने आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषित किया है। देश के धार्मिक ग्रन्थों की विवेचना से कट्टर जातिवाद, वर्णभेद और छुआछूत उत्पन्न हुआ जिससे सामाजिक पर्यावरण प्रदूषित हो गया। सम्पूर्ण समाज छूत-अछूत, दलित, पिछड़े वर्गों में बँटकर बिखर गया है। अतः राष्ट्र यदि संकीर्ण सामाजिक बन्धनों से मुक्त हो जायें, ऊँच-

नीच के भेद-भाव से ऊपर उठ जायें तो विकास का उचित पर्यावरण बन सकता है। उनका निष्कर्ष था कि, राजनैतिक प्रजातंत्र की बुनियाद जब तक सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र पर खड़ी नहीं होगी, तब तक वह सफल नहीं हो सक़ता है। सामाजिक प्रजातंत्र का अर्थ है जाति-विहीन, वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन समाज की रचना तथा आर्थिक प्रजातंत्र का आशय आर्थिक उत्थान के समान अवसर उपलब्ध कराना, भूमि का समान वितरण एवं विकास के साधनों का विकेन्द्रीकरण करना। आर्थिक, सामाजिक प्रजातंत्र स्थापित करने के लिये आर्थिक, सामाजिक क्षेत्र में स्वतंत्रता, समानता और न्याय का प्राप्त होना बहुत जरूरी है। डॉ. आम्बेडकर व्यक्तिगत सम्पत्ति के समर्थक होने के बावजूद समता की स्थापना के लक्ष्य की पूर्ति के लिये उत्तराधिकार के नियमों में संशोधन करना चाहते थे जिससे धन का न्यायपूर्ण वितरण हो सके। यदि धन का वितरण उत्पादन के साधनों के अनुरूप होगा तो इससे सामाजिक उपभोग स्तर भी बढ़ेगा क्योंकि इससे सभी वंचित लोगों के पास साधन सुलभ होंगे, उन्हें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में क़िसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होगी फलस्वरूप उनके उपभोग का स्तर बढ़ेगा। परन्तु धन का वितरण उत्पादन के साधनों के अनुरूप होने के लिये तथा सामाजिक उपभोग स्तर बढ़ाने के लिये सामाजिक संरचना एवं अंधमनोवृत्ति में परिवर्तन होना बहुत जरूरी है। डॉ. आम्बेडकर गरीबी, न्यून उत्पादकता, छोटा उत्पादन, गुणहीन उत्पादन, बेरोज़गारी, बेगारी, दुर्भिक्ष तथा उत्पादन तकनीक की अगतिशीलता को आर्थिक संकट के रूप में निरूपित करते हैं। इसका कारण वे भारतीय समाज में विद्यमान जातिप्रथा और कुरीतियों, ब्राह्मण और गैर ब्राह्मणवाद, दलित और सामन्तवाद, छूत और अछूत की उपस्थिति को मानते हैं। आर्थिक संकटों से मुक्ति के लिये इन कुरीतियों से मुक्त होना आवश्यक है।

निश्चित रूप से डॉ. आम्बेडकर द्वारा बताये गयें आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले तत्वों की आलोचना की जानी चाहिये। चाहे वह जातिवाद हो, वर्ण एवं वर्गवाद हो, किसी भी प्रकार की असमानता हो, भोगवृत्ति एवं भौतिक समृद्धि की लालसा हो या फिर रूढ़िवाद एवं अंधविश्वास के कारण निम्न वर्गों का किया जाने वाला शोषण हो। इन सबके रहते हुये अच्छे आर्थिक, सामाजिक

पर्यावरण का निर्माण सम्भव नहीं है। इनसे समाज एवं देश का विकास अवरुद्ध होता है। वास्तव में हमें राजनैतिक प्रजातंत्र को मज़बूत बनाने के लिये आर्थिक, सामाजिक प्रजातंत्र रूपी नींव को मज़बूत करना आवश्यक है इसके लिये हमें अपने देश व समाज में विद्यमान अनेक कुरीतियों पर अंकुश लगाना होगा। यह अंकुश तभी लग सकता है जब समाज का हर छोटा बड़ा व्यक्ति विशेष रूप से उच्च वर्ग का व्यक्ति इनके प्रति स्वयं चिन्तन व विचार करे कि ये चुनौतियाँ किस प्रकार से हमारे समाज के पतन के लिये उत्तरदायी रही हैं और आज भी बनी हुई हैं। समाज में विद्यमान आर्थिक संकट इन्हीं की वज़ह से हैं अतः इन्हें खत्म करके ही एक स्वस्थ्य आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण का निर्माण सम्भव हो सकता है। हमें जनसमुदाय को नैतिकता, धर्म, समता, बन्धुत्व और सामाजिक न्याय की शिक्षा देनी होगी जिससे सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पर्यावरण को स्वस्थ्य बनाया जा सके तथा समाज में प्रेम और उत्साह की भावना को प्रबल बनाया जा सके।

डॉ. लोहिया प्रजातांत्रिक समाजवाद के पोषक थे। वे राज्य के व्यक्तियों की आय के अधिकतम व न्यूनतम अन्तर को सीमित करना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने गरीबों व कमज़ोर वर्ग के लोगों को भूमि वितरण का समर्थन किया, राजकीय सेवा में वेतन एवं सुविधाओं के अन्तर को खत्म करना चाहा क्योंकि यह अन्तर विषमता को बढ़ाने वाला है और समाज में व्याप्त असमान खर्च लोगों को वर्गों में बाँटने वाला है। वे सरकारी कार्यालयों में किये जाने वाले अनावश्यक शाही खर्चे के खिलाफ थे क्योंकि एक ओर देश का गरीब वर्ग दो वक्त की रोटी के लिये मुहताज है तो दूसरी ओर धन को पानी की तरह बहाया जा रहा है जो कि उचित नहीं है। उनकी दृष्टि में देश की आमदनी का 67 प्रतिशत व्यय विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग पर होता है और मात्र 33 प्रतिशत व्यय आम लोगों पर यह अन्तर खत्म किया जाना आवश्यक है। डॉ. लोहिया देश में लोगों की औसत आय की वृद्धि के पक्ष में थे क्योंकि यह सम्पन्नता का सूचक है इससे लोगों का पिछड़ापन दूर होगा। उनके राज्य समाजवाद की अवधारणा भारत में प्रचलित दशाओं- गरीबी, शोषण, अस्पृश्यता, असमानता, अन्याय, बेरोज़गारी, जाति-भेद, लिंग-भेद, वर्ग-भेद, साम्प्रदायिकता, दासता आदि से उत्पन्न हुई है। अपने समाजवाद को वे भारतीय लोगों के दुःखों की

समाप्ति के ढंग और भारतवर्ष का गौरवमयी अतीत की वापसी के रूप में देखते हैं।

डॉ॰ लोहिया ने राज्य समाजवाद को स्वीकार करके दुखी, शोषित, निर्धन लोगों के दर्द को दूर करने का प्रयास किया। यदि समाज में सभी प्रकार की विषमताओं का अन्त हो जाये और निर्बल वर्ग को उसका उचित हक प्राप्त हो जाये तो निश्चित रूप से डॉ॰ लोहिया के सपनों का भारत निर्मित होगा। ऐसे भारत में वे विकृतियाँ नहीं होगी जिनके कारण डॉ॰ लोहिया को राज्य-समाजवाद की प्रतिस्थापना करने के लिये बाध्य होना पड़ा।

डॉ॰ आम्बेडकर भी राज्य समाजवाद के पोषक थे। वे अपने राज्य समाजवाद में न तो पूँजीपतियों का उन्मूलन करना चाहते थे और न ही श्रमिकों के हांथों में सरकार का हस्तान्तरण करने के इच्छुक थे। उन्होंने सभी आधारभूत उद्योगों एवं बीमा के राष्ट्रीयकरण करने की बात कही, ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में लोकसेवाओं का विकास राज्य के अधीन होने तथा समस्त भूमि राज्य के अधिकार के अन्तर्गत होने की बात कही, भूमि प्रबन्धन में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करने की सिफारिश की और कृषि को राष्ट्रीय उद्योग के रूप में विकसित करना चाहा, लोगों को परम्परागत व्यवसायों को छोड़कर नये कौशल स्वीकार करने की हिदायद दी। वे जनसंख्या नियंत्रण के पक्ष में थे क्योंकि जनसंख्या वृद्धि को वे दरिद्रता का कारण मानते थे। वे औद्योगिक क्षेत्र को गति प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने समाजवाद और वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिये संविधान में संसदीय जनतंत्र एवं राज्य समाजवाद का समावेश करने का समर्थन किया। उनकी दृष्टि में संसदीय लोकतंत्र के साथ राज्य समाजवाद को वैधानिक रूप देकर ही समाजवाद की स्थापना, संसदीय लोकतंत्र की सुरक्षा एवं तानाशाही का उन्मूलन जैसे उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव हो सकती है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने जिस राज्य समाजवाद को स्वीकार किया है, हो सक़ता है कि उसमें समाज के सभी लोगों का कल्याण निहित हो परन्तु इसमें कुछ विरोधाभास है। उन्होंने औद्योगीकरण का समर्थन करके पूँजीपतियों के बनाये रखने एवं निजी सम्पत्ति के अधिकार में कटौती न करने की बात कही। इससे सम्भव है अमीरी-गरीबी के बीच की खाईं और बढ़े तथा समाज के निम्न वर्ग के

लोगों के हितों को हानि पहुँचे। ऐसी व्यवस्था में निम्न व कमज़ोर वर्ग के लोगों की समस्याएं घटने की अपेक्षा बढ़ने की आशंका है। डॉ॰ आम्बेडकर के द्वारा 'जनसंख्या नियंत्रण' का समर्थन करना, भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश के लिये बहुत आवश्यक है क्योंकि भारत में गरीबी का एक कारण सीमित संसाधनों के साथ असीमित जनसंख्या वृद्धि है अतः जनसंख्या नियंत्रण आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। उद्योग, बीमा एवं भूमि पर राज्य का स्वामित्व हो यह ठीक है परन्तु इससे जनकल्याण को क्षति नहीं पहुँचना चाहिये। कमज़ोर एवं गरीब वर्ग के लोगों का उत्थान करने के लिये राज्य को सम्पत्ति के अधिकार पर नियंत्रण लगाना आवश्यक है। गाँव के लोगों का आर्थिक विकास उन्हें स्थानीय स्तर पर छोटे-छोटे उद्योगों द्वारा रोज़गार उपलब्ध करवाकर किया जा सकता है जिससे समाज में व्याप्त शोषण, दासता, बेरोज़गारी, सामाजिक, आर्थिक असमानता तथा अन्याय का अन्त हो सकेगा और स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व की स्थापना हो सकेगी।

5.4. आर्थिक विकास में महिलाएं-

डॉ॰ लोहिया ने अपने 'सप्त-क्रान्ति' के सिद्धान्त में प्रथम क्रान्ति 'नर-नारी समता' का होना बतलाया। जब तक पुरुष और औरत में समानता स्थापित नहीं की जायेगी तब तक आर्थिक विकास में महिलाओं की भूमिका नगण्य रहेगी या समुचित रूप से नहीं हो सकती। अतः प्रथम आवश्यकता यह है कि समाज में नारी को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किये जायें, नारी को स्वावलम्बी बनाने में सहयोग किया जाये, उसे रोज़गार एवं अवसरों की समानता प्रदान करने के साथ-साथ सम्पत्ति के अधिकार दिये जायें जिससे आर्थिक विकास में औरतों की भागीदारी बढ़ सके।

डॉ॰ लोहिया के अनुसार नर-नारी की गैर-बराबरी भी उतना ही घर कर गयी है, जितना कि गरीब-अमीर वाली। जिस तरह से गरीब आदमी गैर-बराबरी को समझने की इच्छा प्रबल नहीं रखता, उसको बख्शीस चाहिये, बराबरी नहीं चाहिये, उसी तरह से औरत को भी गहना चाहिये, बराबरी नहीं। मैं सब औरतों के लिये यह नहीं कर रहा हूँ। साधारण तौर से ऐसा ही है और हिन्दुस्तान की औरत के लिये तो ज्यादातर लागू होता ही है। यूरोप और अमरीका की औरत चाहे गहना

इतना नहीं पसन्द करती हो, लेकिन गहने का और भी जो तत्सम रूप हो, उसको पसन्द करती है।[1] मर्द और औरत अलग-अलग है, इस पर बहस करने की जरूरत नहीं है, उसका कोई सबूत देने की भी जरूरत नहीं है, लेकिन उस अलगाव को इतना ज्यादा दिखाना, कम से कम दिन में दिखाना, सुबह जब काम करने का वक्त होता है तब या कॉलेज में, दफ्तर में या खेत में तो यह कोई बहुत ज्यादा सभ्यता नहीं है।

महिलाओं की जो स्वाभाविक गैर-बराबरी है, उसको दूर करने का उपाय बतलाते हुये डॉ॰ लोहिया ने कहा है कि, उनको कुछ ज्यादा मौका दिया जाये। यह ज्यादा मौके वाला सिद्धान्त औरतों के ऊपर भी लागू होता है- औरत, शूद्र, हरिजन, आदिवासी और मुसलमान या ईसाई जैसे धार्मिक अल्पसंख्यकों में जो छोटी जातियाँ हैं। विशेष अवसर दिये बिना ये ऊँचे उठ नहीं सकते। यह सृष्टि रहेगी तब तक थोड़ा बहुत छूट उन्हें देना पड़ेगा, क्योंकि शरीर संगठन के मामले में मर्द के मुकाबले में औरत कमज़ोर है और मालूम होता है कि कुदरती तौर पर कमज़ोर है। इसलिये उसे कुछ स्वाभाविक तौर पर ज्यादा स्थान देना ही पड़ेगा।[2] अतः नर और नारी की गैर-बराबरी को खत्म किये बिना डॉ॰ लोहिया की समझ में, दूसरी भी गैर-बराबरी खत्म करना असम्भव है और यह गैर-बराबरी खत्म तभी होगी जब कि नारी को, शायद हमेशा के लिये संगठन के मामले में ज्यादा मौका, विशेष अवसर दिया जाये। उन्होंने कहा कि समाजवादी दल कहता है कि पहले अवसर, फिर योग्यता। वास्तव में, समाजवादी दल कहता है अवसर दो और उसके साथ-साथ योग्यता हासिल करो। साथ-साथ का यह मतलब नहीं है कि, अगर योग्यता न हो तो अवसर दिया ही न जाये, अवसर तो मिलना ही चाहिये। हरिजन, आदिवासी आदि के लिये 30-40 या 50-60 वर्ष बाद विशेष अवसर की बात खत्म हो जायेगी, लेकिन औरत के लिये मुझे ऐसा लगता है, सार्वजनिक संगठन के मामले में हमेशा ही कुछ न कुछ विशेष अवसर देना ही पड़ेगा, क्योंकि वह कुदरती तौर पर बेचारी कुछ मामलों में कमज़ोर पड़ती है।[3]

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 74 (1969).
2. वही, पेज सं.- 75.
3. वही, पेज सं.- 77.

नारी को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाते हुये डॉ. लोहिया ने कहा है कि नारी को गठरी के समान नहीं बनना है, नारी को इतना शक्तिशाली होना चाहिये कि वक्त पर पुरुष को गठरी बनाकर अपने साथ ले चले।[1]

डॉ. आम्बेडकर सामाजिक दृष्टि से महिलाओं की उन्नति के पक्षधर थे। साथ ही उनका कहना था कि स्त्रियों की आर्थिक क्षेत्र में भागीदारी का विकास स्त्रियों को सामाजिक क्षेत्र में समानता दिये बिना नहीं हो सकता। स्त्रियों को आत्म निर्णय के अधिकार से वंचित कर हम राष्ट्रीय आर्थिक विकास को अवरुद्ध करते हैं। स्त्री यदि माता के रूप में बच्चों के व्यक्तित्व का निर्माण करती है तो स्वयं की रचना कौशलता से घरेलू उद्योगों को आगे बढ़ाती है। वह पति की दासी न होकर सहगामी है, वह सहकर्मिणी है जो घर के प्रबन्ध के साथ व्यवसाय का प्रबन्ध देखती है। डॉ. आम्बेडकर ने पुरुष एवं स्त्री में आर्थिक विकास को लेकर समानता स्थापित की है। शिक्षा और आत्म विकास के अवसर की दृष्टि से पुरुष एवं स्त्री में कोई भेद नहीं किया जा सकता है। इस धरातल पर डॉ. आम्बेडकर बौद्ध सम्प्रदाय से प्रभावित थे। वहाँ पुरुषों को स्त्रियों की भाँति और स्त्रियों को पुरुषों की भाँति धर्मदीक्षा, समन्वय, परिव्रर्जन और अध्ययन की स्वतंत्रता होती है। आर्थिक विकास में महिलाओं की भूमिका इस प्रकार से हो सकती है :-

1) **नारी स्वावलम्बन-** डॉ. आम्बेडकर ने नारी स्वावलम्बन का पक्ष लिया है और स्त्री के क्रय-विक्रय आदि प्रथाओं का विरोध किया है। उन्होंने इस बात का भी विरोध किया कि स्त्री गुणहीन पति की पूजा करती रहे और गुणहीन पिता उसको पालने के बदले में उसको केवल प्रताड़ना देते रहें। ऐसे सामाजिक परिवेश को समाप्त करने के लिये आर्थिक दृष्टि से नारी स्वावलम्बन आवश्यक है। डॉ. आम्बेडकर का यह मानना था कि, नारी स्वावलम्बन के विरुद्ध आर्थिक पराधीनता ही सबसे बड़ी बाधा के रूप में स्त्रियों की अवनति के लिये उत्तरदायी है। उन्होंने कहा था कि मैं किसी समाज की प्रगति इस आधार पर मापता हूँ कि उस समाज में नारी ने किस सीमा तक प्रगति की है। इस आधार पर राष्ट्र की प्रगति का स्तर डॉ. आम्बेडकर ने

---

1. डॉ. लोहिया जाति प्रथा, पेज सं.- 141 (1981).

स्त्रियों के उत्थान को उत्कृष्ट रूप में मानते हुये विकास मानदण्डों के रूप में स्वीकार किया है।[1]

2) **विकास में भागीदारी-** स्त्रियों के आर्थिक उत्थान के लिये और उनके राष्ट्रीय आर्थिक विकास में भागीदारी के लिये यह अनिवार्य माना गया है कि नारी शक्ति संगठित हो क्योंकि संगठित नारी शक्ति ही गरीबी के अभिशाप को समाप्त कर सकती है। दलित वर्गों में गरीबी का मूल कारण जल्दी विवाह, अधिक बच्चे और लड़कियों का दासी जैसे व्यवहार से पालन-पोषण करना है। वह समाज आर्थिक दृष्टि से उन्नति नहीं कर सकता जो अपनी पत्नी और पुत्री को हीन समझता है। यही कारण है कि, डॉ. आम्बेडकर ने आर्थिक उत्थान में महिलाओं के नेतृत्व का विकास किया। शान्तिबाई दाड़ी, गीताबाई गायकवाड़ तथा श्रीमती मनोबल शिवराज आदि महिलाओं को आन्दोलन में सम्मिलित करने का श्रेय डॉ. आम्बेडकर को है। दलित महिलाओं को ऊपर उठाने के लिये जरूरी है कि, उन्हें स्वच्छन्द जीवन दिया जाय, उन्हें दुराचरों से मुक्त रखा जाय और शिक्षा की अनिवार्यता रखी जाय। दलित वर्गों में स्त्री की दूषित वृत्ति को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि, महिलाएं व्यवसाय में भागीदारी निभाएं, क्योंकि दलितों की पारिवारिक अर्थव्यवस्था को दूषित वृत्ति के पुरुष नष्ट करते हैं।[2]

महिलाओं की आर्थिक क्षेत्र में भागीदारी बढ़े, इसके लिये डॉ. आम्बेडकर ने महिलाओं को आर्थिक जिम्मेदारी सौंपने की सलाह दी। उन्होंने गरीबी के लिये अधिक सन्तानोत्पत्ति करने को उत्तरदायी माना। डॉ. आम्बेडकर ने कहा है कि, आर्थिक विकास की जितनी जिम्मेदारी पुरुषों की है, उतनी ही जिम्मेदारी महिलाओं की भी है। किन्तु यह तभी सम्भव है, जब स्त्रियों को विवाह के पूर्व सलाहकार और विवाह के पश्चात पति के मित्र और सहयोगी प्रबन्धक के रूप में स्थान मिले। भारत में जब तक हिन्दू परिवारों में स्त्रियों

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, द राइज एण्ड फाल ऑफ हिन्दू वूमैन, पेज सं.- 3-28 (1977).
2. डी. डी. राउत, नारी उत्थान आन्दोलन के अग्रदूत, डॉ. आम्बेडकर, पेज सं.- 72-75 (1979).

का स्थान सलाहकार, मित्र, प्रबन्धक और सहगामी की हैसियत का रहा तब तक ग्रामीण अर्थव्यवस्था सुखकर स्वावलम्बी और शोषणविहीन रही है। किन्तु सामन्ती मानसिकता ने पुरुषों को प्रधानता दी है। ब्राह्मणवादियों ने स्त्रियों को पीछे खींचा और आधुनिक शिक्षा में महिलाओं को संरक्षण नहीं दिया। अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ के लिये शिक्षा का प्रसार किया जिससे देश में दलितों और स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आयी।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार पहली जिम्मेदारी परिवार अर्थव्यवस्था को ऊपर उठाने की है। जब तक परिवार अर्थव्यवस्था से गरीबी की छाया नहीं हटती तब तक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सोच विकसित नहीं हो सकती है। परिवार अर्थव्यवस्था के विकास के लिये, आर्थिक क्षेत्र में महिलाओं के योगदान में वृद्धि अनिवार्य है। इस योगदान को बढ़ाने के लिये स्त्रियों के मन में यह बात स्थापित करनी होगी कि, उन्हें एक उन्नत जीवन व्यतीत करना है। उनके मन में आत्मसम्मान तथा आत्म-निर्भरता का साहस आवश्यक है। यह सुधारवादी दृष्टिकोण परिवार अर्थव्यवस्था को उन्नत कर सकेगा। जब स्त्रियाँ आत्म-उन्नति और आत्म विकास के अवसर प्राप्त करेंगी तो वह परिवार की ऊर्जा और पुरुष के पराक्रम की प्रणेता बनेंगी।

3) **रोज़गार एवं अवसरों की समानता-** डॉ॰ आम्बेडकर ने भारतीय समाज में शोषण और दरिद्रता का मूल कारण बेगारी प्रथा को माना है। बेगारी प्रथा से आशय केवल दासों और गुलामों की तरह काम लेना ही नहीं था, वरन वंशानुगत रूप से जीवन निर्वाह स्तर पर काम लेना भी बेगारी का एक अंग है। बच्चों और स्त्रियों में बेगार प्रथा मानवीय एवं सामाजिक अपराध है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भारतीय संविधान में स्त्रियों एवं पुरुषों को समान स्वतंत्रता और अधिकार दिया है। रोज़गार और आर्थिक आधार पर कोई भेद न करने का उल्लेख किया है। समानता के अधिकार को उपलब्ध कराते हुये डॉ. आम्बेडकर ने बेगार प्रथा का विरोध किया है।

4) **स्त्रियों को सम्पत्ति का अधिकार-** डॉ॰ आम्बेडकर स्त्रियों के लिये सम्पत्ति के अधिकार के समर्थक थे उनका मत था कि सम्पत्ति का अधिकार दिये बिना,

स्वतंत्रता और समानता का अधिकार अर्थहीन है। संविधान में डॉ. आम्बेडकर ने स्वतंत्रता एवं समानता का अधिकार देते हुये उसे व्यापार, व्यवसाय एवं सम्पत्ति में ही समानता के अधिकार को लागू करना चाहते थे। इसके लिये डॉ. आम्बेडकर विवाह और सम्पत्ति से सम्बन्धित कानूनों में परिवर्तन लाना चाहते थे। इसको क्रियाशील करने के लिये उन्होंने 'हिन्दू कोड बिल'[1] संसद में प्रस्तुत किया और पुत्री, पत्नी तथा माँ को पारिवारिक सम्पत्ति पर अधिकार की सिफारिश की। उन्होंने स्त्रियों को गोद लिये जाने और सन्तान गोद लेने के अधिकार का समर्थन किया। 17 सितम्बर, 1951 ई. को संसद में हिन्दू कोड बिल पर चर्चा करते समय डॉ. आम्बेडकर ने कहा था कि, वर्ग-वर्ग, अलग-अलग सम्प्रदाय और जातियों के बीच असमानता को अनदेखा करके आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में कानून बनाना हमारे संविधान का उपहास है। डॉ. आम्बेडकर जिस रूप में हिन्दू कोड बिल को लागू करना चाहते थे उस रूप में उसे लागू नहीं किया जा सका।

डॉ. आम्बेडकर का मत था कि, स्त्रियों को कुआचरण, कुविचार से बचाने के लिये उन्हें आर्थिक अधिकार दिये जाने आवश्यक हैं। पद दलित वर्ग और कुमार्ग पर अग्रसर होने वाली स्त्री आर्थिक अभाव के कारण ही या आर्थिक सुरक्षा के अभाव के कारण ही कुमार्ग पर धकेली जाती है। ज़ब तक महिलाओं के भरण-पोषण और रोज़गार की पूरी सुरक्षा नहीं होती, तब तक समाज में तलाक व्याभिचार, कुआचरण की समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता है। स्त्रियों में इन दुर्गुणों का जन्म असमानता, सम्पत्ति विहीनता, गरीबी, भुखमरी, प्रताड़ना और आर्थिक दृष्टि से असहाय स्थिति के कारण ही उत्पन्न होते हैं।

डॉ. आम्बेडकर ने सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रहने के लिये स्वयं स्त्रियों को भी जिम्मेदार ठहराया है। जब तक उनके मनोबल में वृद्धि नहीं होती, वे स्वयं अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं होतीं, तब तक सम्पत्ति का

---

1. डॉ. आम्बेडकर ने हिन्दू कोडि बिल को संसद के समक्ष सर्वप्रथम 5 फरवरी, 1951 को प्रस्तुत किया था।

अधिकार अर्जित करना महिलाओं के लिये कठिन है। डॉ. आम्बेडकर के इस विचार से तत्कालीन संविधान कानून और सामाजिक चेतना प्रभावित हुई है, और महिलाओं के आर्थिक संरक्षण और सम्पत्ति के संरक्षण से सम्बन्धित अनेक कानून बनाये गये हैं। यद्यपि वे सभी डॉ. आम्बेडकर की अपेक्षाओं के अनुकूल नहीं थे। डॉ. आम्बेडकर जैसा चाहते थे कि स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अग्रणी भूमिका मिले।[1] वैसा यथार्थ में नहीं हो सका इसके लिये सम्भव है, सामाजिक और राजनीतिक चेतना उत्तरदायी है।[2]

5) **दलित वर्ग की स्त्रियों में नवजागरण-** डॉ. आम्बेडकर ने ऐसी स्त्रियों को जो दलित वर्ग की हैं, या अपने प्रतिकूल आचरणों से भटक गयी हैं, उन्हें समाज की घृणा से बचाने का प्रयास किया। वेश्यावृत्ति से वे घृणा करते थे किन्तु वेश्याओं से नहीं।

डॉ. आम्बेडकर ने बुद्ध के आदर्श को प्रस्तुत किया। भगवान बुद्ध ने "वैशाली की नगरवधू" के नाम से प्रसिद्ध सुन्दरी 'अम्रपाली' को दीक्षा दी और उसके द्वारा आयोजित भोज को स्वीकार किया। बुद्ध की आज्ञा का अनुसरण करते हुये डॉ. आम्बेडकर ने महिलाओं में नवजागरण को आवश्यक माना है। एक स्त्री बहिन के रूप में, माता के रूप में एवं पत्नी के रूप में अनुशासनप्रिय और प्रतिबद्ध जीवन की अभ्यस्त होती है। यह तो सामन्तीय मानसिकता और उसकी शोषण वृत्ति ने स्त्रियों को संत्रास देने के लिये उन्हें हीन स्थिति की ओर धकेला है। भारतीय नारी के साथ तो हिन्दू धर्म ने अन्याय किया है बिना किसी वजह के हिन्दू स्त्री ज्ञान प्राप्ति से वंचित हो जाती है। ज्ञान प्राप्ति का तो प्रत्येक व्यक्ति को जन्म-सिद्ध अधिकार है।

डॉ. आम्बेडकर का मत था कि, किसी भी देश में सद्नागरिकों का संवर्द्धन इस बात पर निर्भर करता है कि, वहाँ स्त्रियों को कितना सम्मानजनक जीवन मिला हुआ है। प्राचीन इतिहास में शुक्राचार्य, बृहस्पति, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, पातंजलि,

---

1. ऋषि हरिश्चन्द्र, मानव अधिकारों के प्रबल पक्षधर, डॉ. आम्बेडकर, पेज सं.- 113-119 (1989).
2. डॉ. आम्बेडकर का भारतीय सामाजिक संरचना का प्रारूप- एक विश्लेषण, विधायनी 6(4), पेज सं.- 76-97.

पाणिनी या सम्राट अशोक विद्वान हो या राजा, यशस्वी व्यक्ति का निर्माण पुण्यशाली पवित्र माताओं के हांथों ही हुआ है। अतः डॉ. आम्बेडकर का मत है कि, देश में सक्षम, बुद्धिमान, कौशलपूर्ण मानव शक्ति के निर्माण में माताओं का योगदान प्रमुख है। स्त्री जाति को हीनता से बचाना आवश्यक है। यदि उनमें स्वावलम्बन और आत्म विश्वास पैदा नहीं होगा, तो शिवाजी और राजा प्रताप का उद्भव नहीं हो सकता है।

डॉ. आम्बेडकर ने दलित वर्गों में भी सर्वप्रथम स्त्रियों की हीन स्थिति को सुधारने का बीड़ा उठाया। स्त्रियाँ समाज की धुरी हैं जिस पर समाज की प्रगति निर्भर है। डॉ. आम्बेडकर ने आदि पुरुष ऋषभदेव की चर्चा करते हुये यह स्पष्ट किया है कि, भोजन की समस्या का समाधान कृषि कला के माध्यम से स्त्रियों ने ही खोज़ा है। कृषि जो आज हमारे जीवन का अभिन्न अंग है, औद्योगिक विकास की ऊँचाइयाँ भी कृषि विकास के अभाव में अपूर्ण ही रहती हैं। इस विज्ञान का विकास स्त्रियों की देन है। कुटीर उद्योग, दस्तकारियाँ और कला कौशल का विकास स्त्रियों का ही प्रदेय है। नारी शक्ति ऊर्जा कौशल आदि को मिलाकर जिस सुन्दर सृष्टि का निर्माण हुआ है, उससे परे हटकर हम इस गतिशील अर्थव्यवस्था की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। डॉ. आम्बेडकर प्राचीन आर्थिक पद्धति में स्त्रियों के योगदान से प्रभावित थे, तदन्तर स्त्रियों की हीन स्थिति का कारण बाहरी आक्रमण और दास संस्कृति है, जिसने बर्बर सामन्ती युग को जन्म दिया और उसने भारतीय अर्थव्यवस्था में स्त्रियों के योगदान को भ्रमित किया। विदेशी संस्कृति के आक्रमणकारी स्वरूप ने ब्राह्मणवाद को विकृत रूप में खड़ा कर दिया। जातिगत समीकरण अपने कठोर रूप में प्रतिभाओं के दमन में लग गये। उच्च वर्ग के लोगों ने शूद्र वर्ग के प्रतिभा सम्पन्न लोगों को कुचलना शुरू किया। अपनी कुप्रवृत्तियों, धन और ऐश्वर्य की शक्ति से स्त्रियों पर अत्याचार किया, परिणामस्वरूप सृजन शक्ति का स्रोत पथभ्रष्ट हुआ। भारत की जर्ज़र अर्थव्यवस्था का मूल कारण ही स्त्रियों की उपेक्षा सिद्ध हुआ।[1]

डॉ. लोहिया आर्थिक विकास में महिलाओं की ज्यादा से ज्यादा भागीदारी के समर्थक थे। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि औरतें शारीरिक एवं प्राकृतिक

---

1. ए. बेते, द बैकवर्ड क्लासेस एण्ड द सोशल आर्डर (1981).

रूप से पुरुषों के मुकाबले कुछ कमज़ोर हैं। यह इसलिये है क्योंकि, औरतों को समानता का अधिकार प्राप्त नहीं है, उसे पुरुष प्रधान समाज में निम्न व कमज़ोर समझा जाता है। यही कारण है कि अभी तक आर्थिक विकास में महिलाओं की भूमिका गौण रही है, अतः प्रथम आवश्यकता यह है कि समाज में नारी को पुरुषों के समान आर्थिक, सामाजिक अधिकार प्रदान किये जायें। इतना ही नहीं डॉ॰ लोहिया महिलाओं को कुछ विशेष अवसर देने तथा कर्तव्य करने के पहले उन्हें अधिकार देने के हिमायती थे। उनकी दृष्टि में औरत, शूद्र, हरिजन, आदिवासी और अल्पसंख्यकों को विशेष अवसर दिया जाना चाहिये इसके बिना ये उँचे नहीं उठ सकते हैं। उन्होंने औरतों के लिये हमेशा विशेष अवसर दिये जाने की आवश्यकता बतलायी क्योंकि वह प्राकृतिक रूप से कुछ मामलों में कमज़ोर है। वास्तव में डॉ॰ लोहिया के द्वारा आर्थिक विकास में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिये उन्हें कुछ विशेष अवसर देने की सिफारिश करना तथा कर्तव्य करने के पहले उन्हें अधिकार सौंपने की बात करना उनकी दूरगामी दृष्टि का परिचायक है। क्योंकि हिन्दुस्तान में नारी की स्थिति इतनी कमज़ोर है कि उसकी आर्थिक विकास में भागीदारी बढ़ाने के लिये उसे विशेष अवसर एवं अधिकार दिये बिना कर्तव्य करने की बात करना निरर्थक कदम होगा। जब नर-नारी में समानता स्थापित हो जायेगी, महिलाओं को उनके अधिकार सौंप दिये जायेंगे तो निश्चित रूप से वे किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं रहेंगी।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भी यह स्वीकार किया है कि, सामाजिक क्षेत्र में महिलाओं को समानता दिये बिना आर्थिक विकास में महिलाओं की भागीदारी नहीं हो सकती है। उन्होंने परिवार में स्त्रियों को विवाह के पूर्व सलाहकार और विवाह के पश्चात पति के मित्र और सहयोगी प्रबन्धक के रूप में स्थान दिये जाने की आवश्यकता बतलायी। उन्होंने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को समृद्ध बनाने के लिये परिवार अर्थव्यवस्था को मज़बूत होना जरूरी समझा। परिवार अर्थव्यवस्था से गरीबी की छाया तभी मिट सकती है जब उसमें महिलायें अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करें और महिलायें ऐसा तभी कर सकती हैं, जब उन्हें अधिकार सम्पन्न बनाया जायेगा। अतः पुरुषों और महिलाओं में आर्थिक विकास को लेकर समानता स्थापित की जानी

चाहिये। शिक्षा और आत्म निर्णय का अधिकार महिलाओं को दिया जाना चाहिये। नारी को स्वावलम्बी बनाने का प्रयास होना चाहिये क्योंकि नारी स्वावलम्बन के विरुद्ध 'आर्थिक पराधीनता' ही सबसे बड़ी बाधा के रूप में स्त्रियों की अवनति के लिये उत्तरदायी है। आर्थिक विकास के क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी बढ़े इसके लिये डॉ॰ आम्बेडकर ने महिलाओं को आर्थिक जिम्मेदारी सौंपने, उन्हें अपना संगठन बनाने तथा नेतृत्व करने की सिफारिश की। दलित महिलाओं को ऊपर उठाने के लिये उन्होंने महिलाओं को स्वतंत्र जीवन जीने, दुराचारों से दूर रहने तथा शिक्षित होने की सलाह दी। उन्होंने महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार दिये जाने की सिफारिश की तथा सम्पत्ति का अधिकार दिये बिना स्वतंत्रता तथा समानता के अधिकार को अर्थहीन माना। इतना ही नहीं उन्होंने महिलाओं को खुद संघर्ष करके अपने सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया। डॉ॰ आम्बेडकर ने स्त्रियों की हीन स्थिति के लिये बाहरी आक्रमण और दास संस्कृति को जिम्मेदार ठहराया और इसे दूर करने के लिये स्त्रियों को रोज़गार एवं अवसरों की समानता देने तथा उनमें नवजागरण को आवश्यक माना। उनकी दृष्टि में स्त्रियाँ समाज की धुरी हैं, जिस पर समाज की प्रगति निर्भर है।

निश्चित रूप से डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा महिलाओं की आर्थिक विकास में भागीदारी हेतु तथा महिलाओं को सशक्त करने के लिये जो भी उपाय बताये गये हैं उनके माध्यम से इस दिशा में आवश्यक सुधार सम्भव है, आवश्यकता है उन पर अमल किये जाने की। इससे महिलाओं की आर्थिक, सामाजिक स्थिति में तो सुधार आयेगा ही, उनकी आर्थिक विकास में भागीदारी भी बढ़ेगी जिससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मज़बूत होगी।

वर्तमान संदर्भ में देश के आर्थिक उत्थान हेतु महिलाओं का आगे आना आवश्यक है, उन्हें पुरुषों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना जरूरी है, यह तभी सम्भव हो सकेगा जब महिलाओं को अधिकार सम्पन्न बनाया जायेगा, उन्हें समानता एवं स्वतंत्रता के अधिकार यथार्थ में प्रदान किये जायेंगे इतना ही नहीं उन्हें कुछ विशेष अवसर एवं अधिकार प्रदान किये जायेंगे, उन्हें स्वावलम्बी बनाने, उनकी हीन भावना को दूर करने के प्रयास किये जायेंगे तथा उनमें नवजागरण की ज्योति

जलायी जायेगी।

आज़ादी के 60 वर्ष बीत जाने के बाद आज भी भारतीय समाज में लिंग भेद खत्म नहीं हो पाया है। वरन उसका विकृत रूप देखने को मिल रहा है। यह लिंग भेद गरीब, कमज़ोर एवं अशिक्षित लोगों के साथ-साथ अमीर एवं शिक्षित लोगों में भी देखने को मिल रहा है। वर्तमान में भ्रूण हत्यायें बढ़ रही हैं, लड़की के जन्म लेते ही उसके जीवन का अन्त कर देने की घटनायें अभी भी देखने को मिलती हैं। यह एक नैतिक एवं वैधानिक अपराध है और इसका परिणाम समाज में नर-नारी असंतुलन के रूप में मानव समाज को ही भुगतना पड़ेगा। यथार्थ सत्य यह है कि, यदि लड़की का पालन-पोषण लड़के की तरह ही किया जाये, उसे शिक्षित एवं सुसंस्कृत किया जाये उसे उसके अधिकार प्रदान किये जायें तो वह किसी भी क्षेत्र में अपना अच्छा प्रदर्शन कर सकती है। अतः आज आवश्यकता यह है कि, समाज के लोग इस दिशा में जागरूक हों तथा दूसरों को जागरूक करें। केवल वैधानिक प्रावधान लिंग भेद को समाप्त करने के लिये शायद पर्याप्त नहीं है, इसलिये हम सबको अपनी मानसिकता में परिवर्तन लाना होगा और नारी भेद को खत्म करके उन्हें उनके अधिकार देना होगा।

5.5. दलित वर्ग के आर्थिक उत्थान की दिशा-

डॉ॰ लोहिया एक सुलझे हुये समाजवादी चिन्तक थे उनका मानना था कि समाजवादी समाज की स्थापना तभी सम्भव है जब दलित, शोषित, पिछड़े या कमज़ोर वर्ग के लोगों का आर्थिक उत्थान होगा। इस वर्ग का आर्थिक उत्थान तभी होगा जब आर्थिक विषमता जैसे ज़हर को समाज से दूर किया जायेगा, मूल्य वृद्धि पर रोक लगायी जायेगी, खर्च की सीमा निर्धारित की जायेगी, लोगों के नैतिक आचरण को ऊँचा उठाया जायेगा, भूमि का पुनर्वितरण एवं भूमिहीनों को अतिरिक्त भूमि दी जायेगी, भूमि को भू-सेना द्वारा खेती योग्य बनाकर, देश में छोटी मशीनों द्वारा चालित उद्योगों को प्रतिस्थापित किया जायेगा। यदि आवश्यकता के अनुरूप हमने अपनी आर्थिक नीति में परिवर्तन कर लिया तो उससे देश की लचर आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो सकेगी।

डॉ. लोहिया ने दलितों के आर्थिक उत्थान के लिये आर्थिक समानता पर जोर दिया उन्होंने सुझाव दिया कि धनी एवं गरीब व्यक्ति के मध्य व्याप्त अन्तर को कम किया जाना चाहिये। उनका यह दृढ़ मत था कि देश में सबसे कम तथा सबसे अधिक आय तथा व्यय की सीमा एक एवं दस के अनुपात के मध्य ही होनी चाहिये।[1] उन्होंने यह आँकड़े प्रस्तुत किये कि, तेईस करोड़ व्यक्ति तीन आने प्रतिदिन पर, पन्द्रह करोड़ एक रुपये प्रतिदिन पर तथा पन्द्रह हजार 35 रुपये प्रतिदिन पर जीवन निर्वाह करते हैं।[2] विडला परिवार की आय प्रतिवर्ष 25 करोड़ के आसपास है तथा प्रधानमंत्री का एक दिन का खर्च 90 हजार है। शाही भर्ती को समाप्त कर दिया जाना चाहिये।[3] यह प्रश्न पाँच करोड़ रुपये से सम्बन्धित न हो करके परिवार जाति एवं घरेलू राजनीति से सम्बन्धित है।[4] हमारे मंत्रियों एवं प्रशासकों के खर्च आश्चर्यचकित कर देने वाले हैं। इन सबकी समाप्ति की जानी चाहिये। किसी भी व्यक्ति को प्रतिमाह 15 हजार रुपये से अधिक व्यय करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिये।

डॉ. लोहिया ने कहा है कि जाति व्यवस्था ने भारतवर्ष को आध्यात्मिक रूप से पीछे धकेल दिया है।[5] इसने व्यक्ति को अपनी योग्यता से वंचित कर दिया है। प्रत्येक जाति, अधिकांशतः सम्पूर्ण समाज की कीमत पर केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि को ध्यान में रखकर कार्य करती है। जाति व्यवस्था भयंकर रूप से सामाजिक परिवर्तन के विरुद्ध है। डॉ. लोहिया के मस्तिष्क में दो विकल्प थे- एक ओर महिलाओं, हरिजनों, आदिवासियों, शूद्रों, मुस्लिमों एवं क्रिश्चियन समुदाय के व्यक्तियों की संख्या 90 प्रतिशत है तथा दूसरी ओर उच्च जाति के केवल दस प्रतिशत व्यक्ति प्रधान उद्योग तथा समस्त व्यवसायों- मिलिटरी एवं सिविल आदि को चलाते हैं। जब तक अमीर-गरीब के मध्य संतुलन की स्थापना नहीं की जायेगी तब तक न ही जाति व्यवस्था विलुप्त होगी और न ही इस देश में नवीन जीवन का संचरण होगा।[6]

---

1. राममनोहर लोहिया, द कास्ट सिस्टम, पेज सं.- 116 (1964).
2. लोकसभा में लोहिया, 5 मार्च, 1964.
3-4. राममनोहर लोहिया, 'विद आउट फॉरेन एण्ड' मैनकाइन्ड, खण्ड-11-ए, पेज सं.- 26 (1967)
5. राममनोहर लोहिया, द कास्ट सिस्टम, पेज सं.- 134 (1964).
6. वही, पेज सं.- 135.

डॉ॰ लोहिया जिस समाजवादी समाज की संरचना का स्वप्न देखते थे उसमें इस विशाल देश के गरीबों व दलितों के उत्थान हेतु उनके कुछ महत्वपूर्ण विचार निम्नांकित हैं :-

1) उत्पादन मूल्य व विक्रय मूल्य में एक आनुपातिक सम्बन्ध होना चाहिये। वह ड्योढ़े से अधिक नहीं होना चाहिये।

2) औसत आय में निरन्तर वृद्धि होती रहनी चाहिये।

3) यह देश कृषि प्रधान है। 80 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर जीवन-यापन करती है। निस्संदेह इस देश की सम्पन्नता कृषि एवं कृषि से सम्बन्धित उद्योगों के विकास से ही सम्बद्ध है। कृषि में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये बिना कृषि का विकास सम्भव नहीं है। सरकारी कृषि नीति की असफलता की डॉ॰ लोहिया ने जबरदस्त आलोचना की थी। प्रशासन पर सरकारी तंत्र बेतरह हावी होता जा रहा है। फलतः सरकारी लाभ की योजनाएं सामान्य जन को लाभान्वित नहीं कर पा रही हैं। वह पूर्ववत ही लाभ से वंचित है। अतः सरकारी तंत्र का हौवा खत्म किया जाय और लाभ की योजनाओं में प्रत्येक को सम्मिलित किया जाय। भ्रष्ट परिवेश को दूर करने के लिये डॉ॰ लोहिया आवश्यक समझते थे कि उच्च स्तर पर जीवन के उदात्त एवं नैतिक मूल्य स्थापित हों, ताकि उससे तत्कालीन वातावरण में बदलाव आये और लोकजीवन, नैतिक जीवन अपनाने की ओर आकृष्ट हो। देश का चरित्र उठता है तो देश निश्चित ही उठेगा।

इस सम्बन्ध में डॉ॰ लोहिया का यह भी सुझाव था कि, अधिकाधिक भूमि को कृषि योग्य बनाया जाये। सिंचाई की सुविधायें बढ़ाई जायें। कृषि में नवीन वैज्ञानिक शोध व्यवस्था को जन्म दिया जाये तथा आधुनिकतम तकनीक से लाभ उठाया जाये। कृषकों को प्रशिक्षण दिया जाये। ट्रैक्टर तथा अन्य कृषि सम्बन्धी सामान किसान को उधार उपलब्ध कराया जाये। उत्पादन में वृद्धि की ओर सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रयत्न हों और उससे एक सामान्य दृष्टि पैदा हो, जिसका काम कृषकों को सरकारी तंत्र की सुविधाओं से जोड़ना हो।

4) डॉ॰ लोहिया चाहते थे कि, उत्पादन के साथ-साथ उसके वितरण की सुव्यवस्था की जाये। वितरण की अव्यवस्था के कारण उत्पादित वस्तु का सभी लोग प्रयोग नहीं कर पाते है। इससे वस्तु के भाव भी स्थिर नहीं रहते हैं और कालाबाजारी की गुंजाइश भी बढ़ती है।

5) उद्योगपतियों, पुराने जमींदारों तथा सेंठ, साहूकारों ने कृषि फार्म स्थापित किये हैं, जिन पर वे दूसरों से खेती कराते हैं। उन्हें वे उत्पादन का मामूली सा अंश देते हैं। वस्तुतः यह श्रमिकों के शोषण का मध्यकालीन तथा घृणित तरीका है। कृषि का लाभ उसे ही मिले, जो कार्य करे। इसके साथ ही भूमि का वितरण भी उचित ढंग से हो। जो दूसरे धन्धों में है उन्हें कृषि कर्म से मुक्त रखा जाये।

6) डॉ॰ लोहिया विकेन्द्रीकरण के पक्षधर थे। भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल उन्होंने यह आवश्यक समझा कि विकेन्द्रीकरण को अपना लिया जाये। औद्योगिक प्रगति, उनकी दृष्टि से, केन्द्रीकरण से अवरुद्ध होती है। उससे व्यक्ति या व्यक्ति समूह को अधिक लाभ होता है और आम आदमी को उससे नुकसान उठाना पड़ जाता है।

7) डॉ॰ लोहिया ने अकाल व भुखमरी को दूर करने के लिये 'अन्न बाँटो आन्दोलन' तथा 'घिराव' इत्यादि तरीकों को अपनाने पर ज़ोर दिया था। वे तो राज्य की ओर से मुफ्त रसोईं-घर के पक्ष में थे। मुफ्त रसोई-घर में भूखे व्यक्ति जा सकते हैं। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि इन रसोई-घरों में वे नहीं जायेंगे, जो साधन सम्पन्न हैं या जिन्हें रोटियों के लिये किसी का मुँह नहीं ताकना पड़ता है। जिन लोगों का इस योजना के सम्बन्ध में यह बहम था कि इससे घरों के रसोई-घर बन्द हो जायेंगे और लोग-बाग मुफ्त के रसोई-घर की ओर बढ़ने लगेंगे, उनसे डॉ॰ लोहिया का कहना था कि चरित्र बल के उठ जाने से ऐसा कदापि नहीं होगा। उलटे मुफ्त के रसोई-घर में जाने से लोग कतरायेंगे, क्योंकि उससे उनमें आत्महीनता बढ़ेगी और वे समाज में मुफ्तखोर गिने जायेंगे और कोई व्यक्ति मुफ्तखोर कहलवाना नहीं चाहेगा।

8) डॉ. लोहिया अनाज के व्यक्तिगत व्यापार के पक्ष में नहीं थे। वे अनाज के व्यापार का समाजीकरण कर देने के पक्ष में थे। इससे अनाज के मूल्य स्थिर रहेंगे और दूसरे अनाज पर व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं रहेगा। इससे अनाज का कृतिम अकाल भी नहीं दिखलाया जा सकेगा और इससे अनाज व मूल्य नियंत्रण योजना भी सफलीभूत हो सकेगी। इससे किंसान भी अनाज का उचित मूल्य पा सकेगा।

स्पष्ट है कि डॉ. लोहिया ऐसे समाज का ढाँचा तैयार कर रहे थे, जिसमें आम आदमी सुविधा से जीवन-यापन कर सके और मालदारी का सम्मोहन न बढ़ सके। देश की सम्पत्ति सबकी सम्पत्ति है- उस पर कुछ व्यक्तियों का कब्ज़ा क्यों हो? यदि ऐसा होता है, तो इससे गरीबों का शोषण होता है। बड़ी-बड़ी मशीनें इन उद्योगपतियों के शोषण में सहभागी हैं। अतः उनका मत था कि हमारे देश के सीमित साधनों तथा देश की आवश्यकता के अनुरूप छोटी मशीनों द्वारा चालित उद्योग देश के कोने-कोने में स्थापित किये जाने चाहिये। हमारे देश में मानव शक्ति व कच्चे माल की बहुतायद है, अतः इन छोटी मशीनों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इन छोटी मशीनों वाले उद्योगों के सम्बन्ध में डॉ. लोहिया ने कहा था कि, "मैं उस जमाने का चित्र आँखों के सामने देख रहा हूँ जबकि देश के सभी गाँवों और शहरों में विद्युत चालित छोटी मशीनों का एक बहुत बड़ा जाल बुनकर लोगों को काम दिया गया है और देश की सम्पत्ति बढ़ रही है।"[1]

भारतीय समाज में घृणित व्यवसाय करने वाली छोटी-छोटी जातियाँ रही हैं। इनको 'अछूत' या 'अन्त्यज' कहा जाता रहा है। ये दरिद्र, अशिक्षित, शोषित, दलित और पिछड़े रहे हैं। महात्मा गाँधी ने इनको हरिजन कहा है। मन्दिरों, सार्वजनिक स्थानों, कुओं, सरांयों, शालाओं आदि के उपयोग से ये अछूत वंचित कर दिये गये थे। सामूहिक और सामाजिक उत्सवों में वे सम्मिलित नहीं हो सकते थे। दरिद्रता, शोषण और अशिक्षा ने उनके नैतिक मनोबल और सामाजिक स्तर को अत्यधिक गिरा दिया था। फलतः सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक नियंत्रणों और प्रतिबन्धों से अयोग्यताओं और सुविधाओं के बोझ से वे कराहने लगे थे। ये अछूत

---

1. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म, पेज सं.- 326 (1963).

हिन्दू समाज के अंग होते हुये भी उससे बहिष्कृत माने जाते थे।

डॉ. आम्बेडकर दलितों के मसीहा थे, उन्होंने जाति और धर्म से ऊपर उठकर उनको ऊपर उठाने के लिये प्रयास किया। डॉ. आम्बेडकर का मत था कि, दलितों की सबसे बड़ी अयोग्यता यही है कि, वे गरीब और परावलम्बी है। दलितों का यह वर्ग सम्पत्ति के अधिकार से वंचित है। समाज में शक्तिशाली, सम्पत्तिशाली लोगों ने वर्ण व्यवस्था को अहस्तान्तरित बना दिया और एक निम्न वर्गीय समूह का निर्माण किया जो लगातार शोषण के शिकार होते गये हैं। उन वर्गों को छोटे गन्दे और नीच कामों को करने के लिये विवश किया गया है। रोटी की समस्या व अधिकारों से वंचित होने की प्रताड़ना के कारण दलित वर्गों को मरे हुये पशुओं को उठाने, मलमूत्र उठाने, गन्दगी की सफाई करने, पशुओं की खाल निकालने और बेचने आदि कामों में लगाया गया है। सम्पत्तिशाली लोगों ने दलितों के लिये उत्कृष्ट कार्यों को वर्जित कर दिया और सदैव के लिये उन्हें इन्हीं कार्यों में लगा रहने के लिये विवश कर दिया। डॉ. आम्बेडकर का कहना है कि, दलित स्थिति किसी ईश्वरीय घटना का परिणाम नहीं है। वास्तव में यह तो सामन्तवाद की देन है।[1] यह सामन्तवादी व्यवस्था में प्रशासक राजपूत और ब्राह्मणों जिन्हें डॉ. आम्बेडकर ने शक्तिशाली वर्ग कहा है, द्वारा निर्मित घटना है। इस वर्ग का समाज की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर आधिपत्य भी है और ये रोज़गार के स्रोतों को देने के साधन दबाये हुये हैं।[2]

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार आर्थिक शोषण की परिणति ने जिसने दलित वर्ग को उत्पन्न किया है उसके प्रति स्वयं दलित वर्ग भी उत्तरदायी है, क्योंकि उन्होंने इसे ईश्वरीय घटना मान लिया है। उन्होंने कहा कि दलित वर्गों की उत्पत्ति ब्राह्मणों के सम्पत्ति के अधिकार से हुई थी। राजाओं और ठाकुरों का, साहूकारों का शोषण कर ब्राह्मणों ने बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ हासिल की हैं और सम्पत्ति वसूलने में लोगों को दासों और गुलामों की तरह रखकर सदैव के लिये एक दलित अवयव का निर्माण किया है। दलित वर्ग का प्रादुर्भाव सतत् रूप में उत्पन्न हुआ शोषण का परिणाम है।

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, हू वेयर शूद्राज, पेज सं.- 12-40 (1946).
2. बी. आर. आम्बेडकर, कांग्रेस और गाँधी ने अछूतों के लिये क्या किया, पेज सं.- 17-50 (1979).

डॉ॰ आम्बेडकर ने दलित वर्ग के उत्पन्न होने के कारणों में आर्थिक दृष्टि से अशक्त लोगों में संघर्ष शक्ति का अभाव भी माना है। दलित वर्ग में भूख और प्यास के कारण संघर्ष शक्ति का अभाव होता है, रोज़गार की कोई सुरक्षा न होने से आत्मविश्वास का अभाव सा होता है और इन समस्याओं के कारण ही एक सतत् दलित वर्ग का निर्माण हो गया है।[1]

कानूनी अधिकारों के मामलों में डॉ॰ आम्बेडकर ने संविधान में मौलिक अधिकारों की विवेचना करते समय दलितों को समानता और स्वतंत्रता का अधिकार दिलाया लेकिन वे यह अनुभव करते थे कि, संवैधानिक और कानूनी तौर पर प्रदत्त अधिकारों का वास्तविक लाभ तभी मिल सकता है, जब दलितों को सम्पत्ति, आय रोज़गार और जीवन के सुखकर साधनों के बँटवारों में समानता का अधिकार प्राप्त हो। दलितों के आर्थिक उत्थान के लिये डॉ॰ आम्बेडकर ने निम्न सुझाव दिये हैं :-

आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर-

डॉ॰ आम्बेडकर ने दलित के लिये यह अनिवार्य माना है कि वे अपने रोज़गार, धनोपार्जन और रोटी की व्यवस्था के लिये स्वावलम्बी हो जायें जब तक कि वे आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं होंगे उनकी सामाजिक और राजनीतिक दलितता समाप्त नहीं होगी। इसके लिये दलितों को अपने स्वयं के हुनर, स्वयं के उद्योग और स्वयं की उत्पादन प्रणाली को विकसित करना होगा। डॉ॰ आम्बेडकर का कहना है कि, दलितों में उत्पादन की ऊर्जा प्रचुर मात्रा में है। प्रत्येक क्षेत्र के उत्पादन में दलितों का योगदान है। सामन्तवादी युग से जिस बाजार व्यवस्था का विकास होता है, दलितों या दलित वर्ग को इस व्यवस्था में जबरन धकेला गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे उत्पादनों का उचित लाभ नहीं उठा पाये। आवश्यक है कि, दलितों में विद्यमान उत्पादन क्षमता का सही लाभ दिलाने के लिये उनमें बाजार व्यवस्था से संघर्ष की सीख दी जाये। बाजार व्यवस्था का ज्ञान कराने पर वे अपने उत्पादन का समुचित लाभ ले सकेंगे और आर्थिक दृष्टि से अधिक स्वावलम्बी बन सकेंगे।

---

1. चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, गाँधी-आम्बेडकर विवाद, पेज सं.- 4-21.

डॉ॰ आम्बेडकर का कहना था कि, ग्रामीण क्षेत्र में रोज़गार के अवसर की सीमितता के कारण दलित वर्ग पूरी तरह से गुलामी की ज़िन्दगी जी रहे हैं। इसके लिये दलित वर्ग को शहरीय क्षेत्रों में आकर रोज़गार के नये अवसरों को स्वीकार करना होगा। शहरों में शिक्षा के कारण दरिद्रता दूर होती है और सामूहिक संगठित शक्ति का निर्माण भी होता है, जिससे दलितों पर अत्याचार करना संभव नहीं होता है। शहरों में पुलिस और प्रशासन भी अधिक चुस्त होती है, इसलिये दलितों के विरोध में उठने वाले आन्दोलन पर शीघ्र नियंत्रण हो जाता है।

दलित वर्ग के उत्थान के लिये डॉ॰ आम्बेडकर ने यह अनिवार्य माना है कि वे स्कूलों में और शिक्षा संस्थानों में प्रवेश करें जिससे उनका मानसिक विकास हो। कला साहित्य और संस्कृति से भी वे अवगत हो सकें। अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने और जागरूक होने के लिये यह आवश्यक है कि दलित वर्ग में शिक्षा का विकास हो। गाँवों में श्रमिक दिन भर खेतों में काम करते हैं, और शाम को भोजन करके सो जाते हैं, उसके बच्चे पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी परम्परा को आगे बढ़ाते रहते हैं। शोषण और गरीबी के दुष्चक्र को तोड़ने के लिये इन वर्गों को कृषि क्षेत्रों को छोड़कर नये व्यवसाय को अपनाना होगा। डॉ॰ आम्बेडकर ने यह भी सुझाव दिया है कि, इन वर्गों को सिलाई, मकान निर्माण, सड़क निर्माण, कारखाना, व्यापार, दुकान और सरकारी कार्यालयों में कामकाज आदि रोज़गार के नये क्षेत्रों का चुनाव करना चाहिये, तभी वे जिस परम्परागत शोषण तंत्र में बँधे हुये हैं, उससे अपने आपको मुक्त कर सकेंगे।

डॉ॰ आम्बेडकर के मत से शिक्षा सेवा के साथ-साथ अनुसूचित जातियों के स्तर को ऊँचा उठाने के लिये यह बात आवश्यक है कि, हम यह जान लें कि अनुसूचित जातियों के आर्थिक उत्थान के कौन से साधन हैं। दलितों की आर्थिक मुक्ति तब तक नहीं होगी जब तक उनके लाभप्रद व्यवसाय प्राप्त करने के दरवाजे नहीं खोले जाते हैं। वे गुलाम बने रह सकते हैं। गुलाम नहीं तो गाँवों में भूमि मालिकों के भूमि जोतने में केवल दास होने पर किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता है। इन लाभप्रद कार्यों में से निःसंदेह रूप से महत्वपूर्ण कार्य जिस पर सरकार ध्यान दे सकती है वह है अनुसूचित जातियों के व्यक्तियों को भूमि देना।

अतः सरकार को दलित वर्ग के व्यक्तियों को भूमि देने का कार्य करना चाहिये जिससे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो।

आर्थिक उत्थान का रास्ता संघर्ष का है-

डॉ॰ आम्बेडकर का कहना था कि दलितों को अपने आर्थिक उत्थान के लिये संघर्ष का रास्ता अपनाना होगा। सर्व प्रथम उन्हें स्वयं अपने आपसे संघर्ष करना होगा। उन्हें बाल-विवाह, शराब, दहेज, विधवा-विवाह निषेध, तलाक, अधिक संतानों की उत्पत्ति और स्वयं की अपनी हीनभावना जैसी सामाजिक कुरीतियों से संघर्ष करना होगा। यह लड़ाई सामाजिक लड़ाई नहीं है। मूलतः यह आर्थिक लड़ाई है इसका समाधान उच्च वर्ग के हिन्दू नहीं करेंगे। इसका समाधान स्वयं दलितों को ही करना है। 18 अक्टूबर, 1925 ई॰ को बम्बई में दलितों की सभा को सम्बोधित करते हुये डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा था कि, तुम्हारे गले में पड़ी तुलसी की माला तुम्हें निर्धनता के बन्धन से नहीं बचा सकेगी। राम का गीत गाने से तुम्हें भूमिपतियों से कोई रियायत नहीं मिलेगी। पाण्डुरपुर की तीर्थयात्रा करने से तुम्हें गरीबी के अन्त का वचन नहीं मिलेगा। उन्होंने कहा था कि मैं आपको सलाह देता हूँ कि, जो थोड़ी राजनीतिक शक्ति आपके हांथों में आ रही है, आप उसका लाभ उठायें। यदि आप ऐसा न करेंगे तो आपके दुःखों का अन्त नहीं हो पायेगा, और दासता, जिसके विरुद्ध आप संघर्ष कर रहे हैं, आपको दोबारा दबा सकती है।

डॉ॰ आम्बेडकर का मत था कि महात्मा गाँधी का हरिजन उद्धार कार्यक्रम एक धोखा है। दलितों को अपने आर्थिक उत्थान के लिये कांग्रेस के निकट नहीं आना चाहिये। दलित वर्ग स्वतंत्र रूप से अपने अस्तित्व को मज़बूत करेंगे, तो उन्हें स्वावलम्बन प्राप्त हो सकेगा, नहीं तो कांग्रेस का महासमर उन्हें डुबा देगा। डॉ॰ आम्बेडकर ने आह्वान किया कि अधिकार याचना से नहीं मिलता है। अधिकारों के लिये संघर्ष करना होता है। उन्होंने आह्वान किया कि शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा था कि आज़ादी किसी को उपहार में नहीं मिलती है। उसके लिये संघर्ष किया जाता है। आत्म-उत्थान अन्य लोगों के आशीर्वाद से नहीं होता है, बल्कि प्रयत्नों से, संघर्ष और परिश्रम से होता है।

डॉ॰ लोहिया दलितों और कमज़ोर वर्ग के लोगों के आर्थिक उत्थान में सबसे

बड़ी बाधा आर्थिक विषमता को मानते थे, अतः वे आर्थिक विषमता नामक ज़हर को समाज से दूर किये जाने तथा आर्थिक समानता की स्थापना किये जाने पर बल देते थे। उनकी दृष्टि में जाति व्यवस्था के कारण भारत में गरीब-गरीब बने रहे और अमीर-अमीर। यह व्यवस्था भयंकर रूप से सामाजिक परिवर्तन के विरुद्ध है, अतः अमीर-गरीब के मध्य संतुलन स्थापित किये जाने की आवश्यकता है। डॉ॰ लोहिया दलितों के आर्थिक उत्थान के लिये छोटी मशीनों द्वारा चालित उद्योग स्थापित करके दलितों को रोज़गार दिये जाने के पक्ष में थे। वे उत्पादन मूल्य एवं विक्रय मूल्य में एक आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे, उनकी दृष्टि में यह अनुपात एक और डेढ़ से अधिक नहीं होना चाहिये। उन्होंने मूल्य वृद्धि पर रोक तथा खर्च की सीमा को निर्धारित किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया तथा आय और व्यय की सीमा को निर्धारित करने और गरीब व अमीर के मध्य एक और दस के अनुपात से अधिक का अन्तर नहीं होने का आह्वान किया। उन्होंने कृषि में अनुशासन एवं तकनीकी प्रयोग के द्वारा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने तथा भूमिहीनों को अतिरिक्त भूमि देने की सिफारिश की। उनकी दृष्टि में भूमि को भू-सेना द्वारा खेती योग्य बनाया जाना चाहिये, दलितों को लाभप्रद व्यवसायों में विशेष अवसर दिया जाना चाहिये, उन्हें कर्तव्य करने को कहने के पहले अधिकार प्रदान किये जाने चाहिये। डॉ॰ लोहिया ने अकाल व भुखमरी को दूर करने के लिये दलितों में अन्न बाँटो आन्दोलन चलाये जाने का समर्थन किया तथा राज्य की ओर से मुफ्त रसोई-घर बनवाये जाने का समर्थन किया। उन्होंने भ्रष्ट परिवेश को दूर करने के लिये उच्च स्तर पर जीवन के उदात्त एवं नैतिक मूल्य स्थापित किये जाने की आवश्यकता बतलायी तथा दलित व कमज़ोर वर्ग लाभान्वित हो सके, इसके लिये वितरण की समुचित व्यवस्था पर बल दिया।

निश्चित रूप से दलितों की निम्न आर्थिक स्थिति के लिये आर्थिक, सामाजिक विषमता मुख्य रूप से जिम्मेदार रही है जिसका डॉ॰ लोहिया द्वारा विरोध किया जाना स्वाभाविक था क्योंकि जब तक समाज से विषमता खत्म नहीं की जायेगी तब तक दलित एवं कमज़ोर वर्ग के लोगों का आर्थिक उत्थान सम्भव नहीं हो सकता है। भारतीय समाज में वर्ण एवं जाति व्यवस्था के कारण दलितों को स्वतंत्र रूप से

कोई कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं थी फलस्वरूप उन्हें अपने परम्परागत निम्न कोटि के कार्यों को करने के लिये बाध्य रहना पड़ा और वे विकास की प्रक्रिया में पीछे रह गये। यह सत्य है कि यदि उन्हें भी समाज में बराबरी का हक प्रारम्भ से ही मिला होता तो वे भी अपना आर्थिक विकास करके राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की समृद्धि में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते। डॉ॰ लोहिया द्वारा दलितों के आर्थिक उत्थान हेतु जो भी उपाय बताये गये हैं वे दलितों के आर्थिक उत्थान की दिशा में उपयोगी हो सकते हैं। यदि उन्हें सफलतापूर्वक लागू किया जाये तो निश्चित रूप से दलितों की आर्थिक दशा में सुधार होगा। यद्यपि आज़ादी के बाद दलितों एवं कमज़ोर लोगों को समानता व स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त हुआ है और कुछ सुधार देखने को मिल रहा है तथापि अभी भी उनकी स्थिति में बदलाव आना शेष है। अतः दलितों का आर्थिक उत्थान करने के लिये उनको यथार्थ स्तर पर आर्थिक, सामाजिक समानता व स्वतंत्रता का अधिकार दिये जाने, उनमें शिक्षा का प्रसार करने, उन्हें आत्म-निर्भर एवं स्वावलम्बी बनाने, उनकी हीनभावना को दूर करने, कृषि में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के साथ-साथ उत्पादन एवं वितरण की समुचित व्यवस्था करने, आय-व्यय की सीमा बाँधने तथा दलितों एवं कमज़ोर वर्ग के लोगों को लाभप्रद व्यवसायों में कुछ विशेष अवसर बनाये रखने की आवश्यकता है तभी दलितों के आर्थिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

डॉ॰ आम्बेडकर दलितों के आर्थिक उत्थान के लिये पूर्णरूपेण समर्पित थे। इसका कारण यह था कि, उन्होंने दलित जाति में जन्म लेकर दलितों की आर्थिक समस्याओं को स्वयं सहन किया था। दलितों को लगातार शोषण का शिकार होने के लिये उन्होंने शक्तिशाली एवं सम्पत्तिशाली लोगों द्वारा बनायी गयी अहस्तान्तरणीय वर्णव्यवस्था को जिम्मेदार माना, जिसने शूद्रों को निम्न एवं अधम बनाये रखने का कार्य किया। उन्होंने दलितों की स्थिति को किसी ईश्वरीय घटना का परिणाम नहीं माना, वरन इसे सामन्तवाद की देन माना तथा दलित वर्ग में उनकी कमज़ोर स्थिति का कारण उनमें संघर्ष शक्ति का अभाव भी माना है। उनकी दृष्टि में दलितों का आर्थिक उत्थान करने के लिये उन्हें सम्पत्ति, आय, रोज़गार और जीवन के सुखकर साधनों के बँटवारों में समानता का अधिकार दिये जाने की आवश्यकता है, उन्हें

आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर एवं स्वावलम्बी बनाये जाने की आवश्यकता है। डॉ. आम्बेडकर की दृष्टि से जब तक दलित आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बी नहीं होंगे तब तक उनकी सामाजिक और राजनीतिक दलितता खत्म नहीं होगी। इसके लिये उन्हें स्वयं के हुनर, स्वयं के उद्यम एवं स्वयं की उत्पादन प्रणाली को विकसित करना चाहिये। डॉ. आम्बेडकर ने दलितों के आर्थिक उत्थान के लिये राज्य को प्रयास करने की सिफारिश की। उन्होंने राज्य द्वारा दलितों को अतिरिक्त भूमि दिये जाने तथा उन्हें लाभप्रद व्यवसायों में विशेष अवसर दिये जाने का समर्थन किया। उन्होंने दलितों को स्वयं संघर्ष का रास्ता अपनाने की सलाह दी। उनकी दृष्टि में दलितों को सबसे पहले तो अपने आपसे संघर्ष करना होगा। उन्हें बाल-विवाह, शराब, दहेज-प्रथा, विधवा विवाह, तलाक, अधिक सन्तानोत्पत्ति और स्वयं की हीनभावना जैसी सामाजिक कुरीतियों से संघर्ष करना होगा और तत्पश्चात उन्हें अपने अधिकारों को पाने के लिये समाज व राज्य से संघर्ष करना होगा। डॉ. आम्बेडकर ने दलितों के आर्थिक उत्थान के लिये औद्योगीकरण एवं शहरीकरण का समर्थन किया तथा उन्हें शहरी क्षेत्रों में रोज़गार के अवसर ढूँढने की हिदायत दी है। उनकी दृष्टि में बड़े उद्योग स्थापित होने से दलितों को रोज़गार मिलेगा और शहरों में बसने से उनके शोषण एवं यातनाओं में कमी आयेगी। उन्होंने दलितों को स्वयं अपना आर्थिक उत्थान करने के लिये 'शिक्षित बनने' 'संगठित होने' और 'संघर्ष करने' की सलाह दी।

इसमें संदेह नहीं है कि, दलितों की कमज़ोर आर्थिक स्थिति का कारण प्राचीनकाल से भारत में विद्यमान वर्ण एवं जाति व्यवस्था रही है क्योंकि यह व्यवस्था असमानता एवं शोषण पर आधारित है। उच्च जाति के लोगों को अच्छा व्यवसाय एवं निम्न जाति के लोगों के लिये निम्न कोटि के व्यवसाय करने के लिये बाध्य करती है अतः दलितों का उत्थान करने के लिये इस भेदभावपूर्ण जाति व्यवस्था का अन्त होना बहुत जरूरी है। डॉ. आम्बेडकर द्वारा दलितों की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिये उन्हें आर्थिक, सामाजिक समानता व स्वतंत्रता के अधिकार देने के साथ-साथ उन्हें स्वावलम्बी व आत्मनिर्भर बनाने के लिये स्वयं संघर्ष का रास्ता अपनाने की सलाह देना एक सही दिशा में उचित कदम है, परन्तु

ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब दलितों में जागरूकता हो, शिक्षा हो, अतः सर्वप्रथम दलितों को शिक्षित होने की आवश्यकता है, ताकि वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो सकें। दलितों को भूमि वितरण एवं लाभप्रद व्यवसायों में विशेष अवसर देने जैसे कदम से भी उनकी स्थिति में बदलाव आने की गुंजाइश है। परन्तु डॉ॰ आम्बेडकर ने दलितों के आर्थिक उत्थान हेतु औद्योगीकरण एवं नगरीकरण का समर्थन किया है जिसका वर्तमान परिस्थितियों में पूर्णरूप से समर्थन नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि कुछ लोगों का हित औद्योगीकरण के द्वारा साध्य हो जाये लेकिन यह व्यवस्था गरीबों, निर्बलों एवं दलितों के दुःखों को बढ़ाने वाली एवं पूँजीपतियों का निर्माण करने वाली साबित हुई है अतः इससे अच्छा यह हो सकता है कि दलितों को स्थानीय स्तर पर लघु उद्योगों के माध्यम से रोज़गार उपलब्ध कराये जायें, इससे उनकी आर्थिक दशा में सुधार सम्भव हो सकेगा और उनका आर्थिक उत्थान होगा।

वास्तव में यदि हमें देश का आर्थिक उत्थान करना है तो उसमें निवास करने वाले लोगों के अन्तिम स्तर के लोगों का विकास करना होगा। यदि दलित या निचले वर्ग का व्यक्ति विकास की प्रक्रिया से हट जाता है, तो हमें देश की समृद्धि को बढ़ाने में अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा और शायद ही हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पायें। अतः कमज़ोर एवं दलित, पिछड़े एवं शोषित, गरीब एवं बेरोज़गार लोगों का आर्थिक उत्थान बहुत आवश्यक है।

5.6. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध-

किसी भी देश के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध उस देश का अन्य राष्ट्रों के साथ आर्थिक व्यवहार होता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ जो आर्थिक व्यवहार करता है उसका निर्धारण अनेक महत्वपूर्ण तत्व करते हैं। आज के इस तीव्र प्रतियोगिता और खुले अन्तर्राष्ट्रीय युग में आर्थिक सम्बन्ध राष्ट्र के प्रशासन का महत्वपूर्ण अंग बन गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की जटिलताएं द्वितीय महायुद्ध के पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष एवं विश्व बैंक की स्थापना के साथ और अधिक बढ़ गयी है। 'गैट' तथा 'अंकटाड' सम्मेलनों में जो नीतियाँ निर्धारित होती रही हैं, उन्होंने विश्व के अनेक राष्ट्रों की आर्थिक नीतियों को प्रभावित किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की ऊर्जा है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख लक्ष्य समृद्धि है। जब तक भारत समुचित रूप से आर्थिक नीति निर्धारित नहीं कर लेता, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अस्पष्टता बनी रहेगी। सदियों से विदेशी शोषण एवं पराधीनता ने भारत की आर्थिक रीढ़ तोड़ डाली है। देश गरीबी, शोषण, बीमारी, जातिवाद, अस्पृश्यता एवं भयंकर रोगों की काली छाया से घिरा हुआ है। देश के विभाजन के उपरान्त देश में भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुये जिससे अपार जन-धन की हानि हुई। विभाजन के कारण देश का आर्थिक ढाँचा चरमरा गया। पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान में साम्प्रदायिक दंगों एवं पाकिस्तानी मुसलमानों के अभद्र एवं अमानुषिक व्यवहार के कारण लाखों लोग शरणार्थियों के रूप में पाकिस्तान से भारत आये। भारत सरकार के सामने शरणार्थियों को बसाने की भयंकर समस्या उत्पन्न हो गयी।[1]

आर्थिक व्यवहार की दृष्टि से भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार पाश्चात्य देशों के साथ विशेष रूप से ब्रिटेन और राष्ट्रमण्डल देशों के साथ होता रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय और उसके बाद संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भी भारत का व्यापारिक सम्बन्ध पर्याप्त मात्रा में बढ़ा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत का 98 प्रतिशत व्यापार पश्चिमी देशों के साथ स्थापित हुआ। भारत के उद्योगों में ब्रिटिश पूँजी बहुत अधिक लगी होने के कारण हमारी विदेशी व्यापार नीति का ब्रिटेन के अनुकूल बने रहना आवश्यक था। कुछ ऐसी स्थितियाँ आयीं कि हमें वित्तीय तथा प्राविधिक सहायता हेतु संयुक्त राज्य अमेरिका पर अनिवार्य रूप से निर्भर रहना पड़ा है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के निर्वाह में राष्ट्रीय हित एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। यदि गम्भीरता से देखा जाय तो राष्ट्रीय हित आर्थिक विकास, गरीबी और असमानता का उन्मूलन ही अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों का ध्येय होता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता वरन वह उनके क्रियात्मक विचारों की परिणति है। राष्ट्रीय हितों का स्वरूप भी परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। इसलिये एक देश की अर्थनीति में भी कभी-कभी परस्पर विरोधी बातें देखने को मिलती हैं। भारतीय अर्थनीति में भी कुछ-कुछ ऐसी स्थिति

है। कई स्थानों पर आर्थिक नीति के विरोधाभास दिखायी देते हैं। इससे यह तथ्य प्रमाणित होता है कि, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्वाह में राष्ट्रहित को सर्वोपरि स्थान प्रदान किया गया है। इस सम्बन्ध में डॉ. आम्बेडकर ने कहा है कि, किसी भी देश की अर्थनीति की आधारशिला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा होती है और भारत जैसे विषमताओं से भरे देश के लिये तो यह और भी अनिवार्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के निर्वाह में भारत को निम्नलिखित प्रमुख बातों पर ध्यान देना चाहिये :-

1) **पड़ोसी राष्ट्रों से सौहार्द्र-** भारत की मुख्य भूमि चार स्पष्ट खण्डों में बटी है- विस्तृत पर्वतीय प्रदेश, सिन्धु और गंगा के मैदान, रेगिस्तानी क्षेत्र और दक्षिणी प्रायद्वीप। ये सभी तथ्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने में महत्वपूर्ण हैं।

भारत अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना में अपनी सामुदायिक सीमा की अनदेखी किसी भी मूल्य पर नहीं कर सकता है। किसी समय कहा जाता था कि, जो भूमध्य सागर पर शासन करेगा, वह विश्व में व्यापार करेगा। आज यही स्थिति हिन्द महासागर के बारे में सही प्रतीत होती है। 18वीं शताब्दी में यूरोपीय शक्तियों का भारत में सामुदायिक रास्तों से प्रवेश हुआ है। जब भारत के समुद्रों पर अंग्रेजों का शासन स्थापित हो गया था, तो भारत में ब्रिटिश व्यापार की स्थापना का रास्ता सरल हो गया था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से इन समुद्रों का महत्व है। भारत का लगभग समस्त विदेशी व्यापार इसी रास्ते से होता है। इसलिये भारत पड़ोसी राष्ट्रों से अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध रखकर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को लाभ पहुंचा सकता है।[1]

भारत का उत्तरी सीमान्त अनेक पड़ोसी देशों से मिला है। भारत का स्थलीय सीमान्त पाकिस्तान, चीन, नेपाल, भूटान, अफगानिस्तान और वर्मा के साथ मिला हुआ है। उत्तरी कश्मीर अफगानिस्तान से जुड़ा है और सोवियत संघ की सीमा से वह मात्र कुछ किलोमीटर दूर है। चीन एवं भारत

---

1. कुलदीप नायर, डिस्टेन्ट नेबर, पेज सं.- 80-100 (1972).

के मध्य हिमालय की पर्वत श्रृंखलाएं हैं। प्राचीनकाल में ये पर्वत श्रृंखलायें अजेय प्रहरी थी। वैज्ञानिक प्रगति एवं सामरिक हथियारों के आविष्कार से हमारी यह सुरक्षा समाप्त हो गयी है। पड़ोसी राष्ट्रों से सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्धों के निर्वाह में निम्नलिखित लाभ सम्भव है :-

1. भारत के लिये ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, श्रीलंका मलाया, चीन स्याम, डच, ईस्टइन्डीज, अच्छे बाज़ार बन सकते है।
2. समीपवर्ती राज्यों से सौहार्द्र पर ही इन राज्यों में व्यापारी और निवेशकों को सुरक्षा एवं व्यापार विकास के अवसर मिल सकेंगे।
3. समुद्री तथा हवाई मार्गों की सुरक्षा पर ही व्यापार की सुरक्षा सम्भव होती है।
4. पड़ोसी राष्ट्रों के सौहार्द्र पर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रति निवेशकर्ताओं और प्रवासियों में सुरक्षा का भाव बना रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध के निर्वाह में पड़ोसी राष्ट्रों के साथ हमारे विकसित सम्बन्ध ही महत्वपूर्ण होते हैं। इसके लिये भारत के पास विशाल समुद्री तट है, जो अच्छा सम्पर्क सूत्र है।

2) खाद्यान्नों की पूर्ति एवं पश्चिमी राष्ट्रों पर निर्भरता-

भारत में खाद्यान्नों की कमी के कारण हमारी निर्भरता निरन्तर बढ़ती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्वाह में खाद्यान्नों की निर्भरता को कम किया जाना आवश्यक है। डॉ. आम्बेडकर का कहना था कि विदेशी ऋणों के भार में वृद्धि होती जायेगी जो राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध है। भारत एक लम्बे समय के बाद स्वतंत्र हुआ है। स्वतंत्रता भारत के लिये बहुमूल्य निधि है। ऐसी नीति बनानी चाहिये कि हमारी स्वतंत्रता की सामर्थ्य बनी रहे। हम अपना लंगर छोड़कर किसी देश से बँधकर स्वतंत्रता और आत्म-सम्मान की निधि को तिलांजलि नहीं दे सकते हैं। अतः स्वाभिमान की यही मांग है कि, हम अपनी खाद्यान्नों की आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार करें कि हमारा प्राचीन गौरव और सम्माननीय स्थिति सुरक्षित रहे।[1]

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अण्टचेबिल्स, पेज सं.- 169-200 (1946).

3) विदेशी सहायता पर निर्भरता में कमी-

राष्ट्रीय हित समय और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील होते रहते हैं। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में गतिशीलता रहती है। विदेशी सहायता और अनुदानों के सहारे विकास को गति दी जा सकती है। किन्तु भारत का अपना राष्ट्रीय हित, राष्ट्र की एकता, अखण्डता और स्वतंत्रता की रक्षा करना है। भारत को "जियो और जीने दो" की नीति से सम्बन्धों का निर्माण करना है। देश में लोकतंत्र की जड़ें मज़बूत कर आर्थिक सामाजिक न्याय प्राप्त करना है। भारत को अपनी विभिन्न समस्याओं से निपटने और आर्थिक पुनर्निर्माण हेतु धन की बड़ी आवश्यकता है। विशाल पंचवर्षीय योजनाओं को बिना विदेशी सहायता के चलाना बहुत कठिन है। आन्तरिक साधन अपर्याप्त होने से विदेशी सहायता के हस्तान्तरण में तकनीकी और पूँजी निवेश को प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

4) विश्व में एक विकसित एवं सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में स्थान बनाना-

भारत का विश्व शान्ति की स्थापना में महत्वपूर्ण स्थान हो, वहीं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सुदृढ़ स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास हो। भारत को उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद, रंगभेद और शोषण की नीति से दूर हटकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बन्धुत्व समता और सामाजिक न्याय के सम्बन्ध स्थापित करना है। भारत ने एक लम्बे राजनीतिक सामाजिक संघर्ष के बाद अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली तो यही पर कार्य का अन्त नहीं हो जाता। उसे अनेक एशियाई और अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता हेतु मार्गदर्शन करना है। भारत को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्वाह में यदि स्वतंत्रता का हनन होगा, न्याय की हत्या होगी अथवा कहीं आक्रमण होगा तो हमें उसका तदनुरूप उत्तर देना होगा। निष्क्रियता और कायरता राष्ट्र को सुदृढ़ स्थान नहीं दिला सकती हैं। ऐसी शान्ति और अहिंसा की धारणा हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सम्मानहीन और अस्तित्वहीन बना देगी। विश्व में विकास का मार्ग इस प्रकार अग्रसर किया जाना है कि हमें समता और शक्ति का स्वरूप माना जाये।

5) **कृषि और औद्योगिक विकास में आत्मनिर्भरता-**

समानता का दूसरा नाम आत्मनिर्भरता है, स्वावलम्बन है। सुदृढ़ अर्थव्यवस्था ने कृषि, उद्योग एवं विदेशी सहायता को सुविधापूर्ण बनाया है। भारत को भी आत्मनिर्भरता पाने के लिये निरन्तर संघर्ष करना पड़ेगा। एक बार की विजय सदैव के लिये नहीं होती। भारत हजारों जातियों व उप-जातियों में बँटा हुआ राष्ट्र है और ऐसी समग्र बाधाओं को दूर करके हमें शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करना है। भारत के करोड़ों लोगों को अन्न और कल-कारखानों को कच्चा माल, ऊर्जा, परिवहन और संचार उपलब्ध कराये बिना हम आत्मनिर्भर नहीं हो सकते है। कृषि उत्पादनों एवं उत्पादनों की आवश्यकताओं के लिये हमें आत्मनिर्भर होना पड़ेगा। किसी भी राष्ट्र को आत्मनिर्भरता के लिये अल्पकालिक लाभों का त्याग करना ही होता है।

कृषि क्षेत्र में आत्मनिर्भरता का दायरा स्थानीय जरूरतों से जुड़ा होता है। डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर देश के लाखों लोगों के हांथों को मज़बूत करना चाहते थे ताकि छोटी एवं बिखरी जोतों के पास एक न्यूनतम साधन उपलब्ध हो सकें, जो उनकी बुनियादी ज़रूरतों की पूर्ति में सहायक हो सकें। उनका मानना था कि, कृषि क्षेत्र में कुछ और कठिनाइयाँ हैं जो सामाजिक प्रक्रियाओं से अधिक जुड़ी हुई है। जब तक यह क्रान्ति नहीं हो जाती है तब तक कृषि क्षेत्र में आत्मनिर्भरता नहीं आ सकती है। कृषि में आत्मनिर्भरता का क्रम तब से टूटा है जबसे वर्ण-व्यवस्था ने शूद्रों को गाँव के बाहर बसाना शुरू कर दिया। भूमि को एक परिसम्पत्ति के रूप में माना जाने लगा तथा सामन्तवादी अर्थव्यवस्था ने कृषि की आत्मनिर्भरता को समाप्त कर दिया।

औद्योगिक क्षेत्र में आत्मनिर्भरता की सार्थकता इस तथ्य में है कि कृषि और उद्योगों के बीच समन्वय स्थापित हो। औद्योगिक विकास की दौड़ से शहरीकरण बढ़ता है तो भूमि पर दबाव कम करना पड़ेगा और शहरों में नई सुविधाओं को उपलब्ध करवाना आवश्यक होगा। ग्रामीण क्षेत्र के निर्धन और रोज़गार विहीन जनसमुदाय को औद्योगिक क्षेत्र में नये अवसर दिये

जा सके तो औद्योगिक क्षेत्र की आत्मनिर्भरता बाजार आत्मनिर्भरता के साथ सामंजस्य स्थापित कर सकेगी। कृषि क्षेत्र, लघु उद्योग क्षेत्र एवं उपभोग क्षेत्र की आवश्यकताओं की पूर्ति में औद्योगिक क्षेत्र का विकास आत्मनिर्भरता का रास्ता होगा। हमारा उद्देश्य विदेशी व्यापार का विकास करना है किन्तु राष्ट्र को स्वावलम्बी बनाना औद्योगिक विकास की आत्मनिर्भरता का प्राथमिक लक्ष्य है।

एक पिछड़े और विकासशील राष्ट्र के लिये यही नीति श्रेयस्कर होगी कि हमारी विकास आवश्यकताएं स्थानीय संसाधनों पर आधारित हों। यदि हमने आत्मनिर्भरता के मार्ग का परित्याग किया तो उसका नतीज़ा विद्रोह, अराज़कता और साम्यवाद होगा।[1]

किसी भी देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को ऊर्जा प्रदान करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध आवश्यक होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध सम्बन्धित देश का अन्य राष्ट्रों के साथ किया जाने वाला आर्थिक व्यवहार होता है। भारत चूंकि सदियों से पराधीन था इसलिये उसका आर्थिक ढाँचा सुदृढ़ नहीं था। भारत का ज्यादातर विदेशी व्यापार पाश्चात्य देशों के साथ ही होता था जो कि पश्चिमी देशों के हितों को साध्य करता था। आज़ादी के बाद भारत ने एक स्वतंत्र आर्थिक नीति बनायी तथा उस नीति के आधार पर अपने हितों को साध्य करते हुये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास शुरू किया। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण तत्व राष्ट्रीयहित होता है। इस तत्व को ध्यान में रखते हुये भारत को अन्य राष्ट्रों के साथ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। भारत के पास पर्याप्त मात्रा में समुद्रतटीय क्षेत्र है, अतः वह पड़ोसी राष्ट्रों से अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर समूची अर्थव्यवस्था को लाभ पहुंचा सकता है। हमें खाद्यान्नों के मामले में पश्चिमी राष्ट्रों पर निर्भर नहीं रहना चाहिये तथा विदेशी सहायता पर निर्भरता में कमी लाने का प्रयास करना चाहिये। हमें विश्व में भारत का स्थान एक विकसित एवं सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में बनाने का प्रयास करना चाहिये। निष्क्रियता और कायरता राष्ट्र को सुदृढ़ स्थान नहीं दिला सकती

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट (हिन्दी), पेज सं.- 4-50 (1974).

हैं। हमें कृषि और औद्योगिक विकास में आत्मनिर्भरता लाने का प्रयास करना होगा।

यह सब तभी सम्भव हो सकेगा जब हम एक ऐसी आर्थिक नीति का पालन करें जिसमें कृषि और औद्योगिक क्षेत्र में नये-नये अनुसंधान करके अच्छी तकनीक का प्रयोग किया जाय जिससे कम उत्पादन लागत में बढ़िया एवं अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सके। समाज से गरीबी, शोषण, दासता, बीमारी, जाति-प्रथा, साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता एवं सामाजिक, आर्थिक असमानता जैसे भयंकर रोगों को दूर किया जाये। सभी बेरोज़गारों, विशेषकर निम्न तबके के व्यक्तियों को रोज़गार के अवसर प्रदान किये जायें क्योंकि बेरोज़गारी से निष्क्रियता और अकर्मण्यता बनी रहती है, जिससे व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र का आर्थिक उत्थान नहीं हो सकता है। यदि समुचित आर्थिक नीति को अपनाया जाये, सभी को रोज़गार मिले तथा समुन्नत उत्पादन के साधन हों तो निश्चित रूप से उत्पादन में वृद्धि होगी। इससे देश की अर्थव्यवस्था मज़बूत होगी और हम अन्य देशों के साथ आर्थिक-व्यापारिक सम्बन्ध विकसित करने में सफल होंगे। यह सम्बन्ध भारत के हितों की पुष्टि करेंगे तथा उसे विश्व स्तर पर आर्थिक दृष्टि से एक विकसित राष्ट्र के रूप में स्थापित करेंगे। विश्व का कोई भी देश जब आर्थिक रूप से शक्तिशाली होता है तो उसकी विश्व में राजनीतिक साख भी बनी रहती है तथा वह मज़बूत आर्थिक स्थिति से अपने सैन्य क्षेत्र में विस्तार व विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में प्रगति करता है जिससे उसे उसके पड़ोसी देश तथा विश्व की अन्य शक्तियाँ दबाने की कोशिश नहीं करती और उस देश के ऊपर बाह्य आक्रमण का खतरा दूर-दूर तक टला रहता है। इससे उस राष्ट्र की अखण्डता एवं सम्प्रभुता कायम रहती है। अतः राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही दृष्टिकोण से भारत को आर्थिक रूप से एक शक्तिशाली राष्ट्र बनना होगा।

षष्ठम् अध्याय

"डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर का सामाजिक चिन्तन एवं व्यावहारिक आदर्श"

1. सामाजिक कुरीतियां,
2. महिला अधिकार,
3. दलित विमुक्ति,
4. भाषावाद,
5. जाति-व्यवस्था।

षष्ठम् अध्याय

"डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर का सामाजिक चिन्तन एवं व्यावहारिक आदर्श"

6.1. सामाजिक कुरीतियाँ

भारतीय समाज में विद्यमान सामाजिक कुरीतियों के बारे में जब डॉ0 राममनोहर लोहिया विचार करते हैं, तो हमेशा खीझ, गुस्से और दुःख से भर जाते हैं। दर्शन, कला, चिन्तन, साहित्य, ज्ञान, उदारता, आस्था, विश्वास में श्रेष्ठ होते हुये भी भारतीय समाज की दुर्दशा का कारण वह, भारतीय समाज की कृतिमता मानते थे। भारतीय समाज में सब कुछ है, लेकिन सब कुछ विघटित ही नहीं असंगठित है। धर्म की ऊंचाई इतनी है कि, जिसकी थाह नहीं पर कर्म की ढिलाई इतनी है कि, वैचारिक ऊंचाई के बावजूद वह लक्ष्य भेद नहीं कर पाता। सामाजिक व्यवस्था में, जाति-पांति, उपजाति आदि में पूरा समाज इतना बंटा हुआ है कि, कहीं किसी संगठन का आभास नहीं मिलता व्यवस्था में भी दृष्टि ऐसी है कि, हर चीज का यथास्थान महत्व है, किन्तु हर व्यवस्था ठहरी हुई है। उसमें गति नहीं है।

भारत में प्रचलित वर्ण व्यवस्था पर डॉ0 लोहिया ने कुठाराघात किया। उनके अनुसार "अस्थिर वर्ण को वर्ग कहते हैं। स्थायी वर्ग वर्ण कहलाते हैं।"[1] हर सभ्यता और समाज में, वर्ग वर्ण में और वर्ण वर्ग में बदलते रहे हैं। यह परिवर्तन प्रायः न्याय और समानता की मांगों की प्रेरणा से होता है। डॉ0 लोहिया ने देश में सर्वोच्च पद पर बैठे

1. राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं.- 29 (1955).

राष्ट्रपति डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद द्वारा वाराणसी में 200 ब्राह्मणों के पांव धोने की घटना की भर्त्सना की और इसे वर्ण व्यवस्था जैसी कुरीति को कायम रखने में सहायक कहा। राष्ट्रपति होते हुये उनका प्रत्येक आचरण धर्म, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि सबसे ऊपर होना चाहिये, समान होने का होना चाहिये, न कि गैर बराबरी की नींव को सींच कर आशीर्वाद देने का कि वह खूब फले-फूले और अपनी महत्ता कायम रखे। डॉ0 लोहिया का कहना था कि महामहिम यह क्यों नही सोच पाये कि, पांव तो दलितों के भी है, आदिवासियों के भी हैं और तमाम अब्राह्मणों के भी है, क्या वे उनके भी पांव धो सकते हैं ? ब्राह्मण-अब्राह्मण के बीच खाईं क्यों ? क्यों वर्ण-व्यवस्था को सम्मान ? क्या वास्तव में हमारा प्रयत्न वर्ण-व्यवस्था से मानव जाति को, जिससे वह सदियों से जर्जरित होती जा रही है, पद-दलित हुई है और अपमानित होती जा रही है, मुक्ति दिलाने का है अथवा उसको अन्धी और गहरी दलदल में ढकेलने का है ? डॉ0 लोहिया इस घटना से निम्नलिखित निष्कर्ष निकालते हैं-

1) किसी के पैर इसलिये धोना कि वह ब्राह्मण है, वर्ण-व्यवस्था, गरीबी और उदासी को कायम करने का वादा करना है।

2) जो कुरीति ऐसे बुरे कार्यों को जन्म देती है, वह न देश की भलाई की योजना बना सकती है, न खुशी के साथ जोखिम उठा सकती है। वह हमेशा करोड़ों लोगों को नीचे दबाये रखेगी। उनको रौंदेगी।

3) जिस तरह वह आज उन्हें आध्यात्मिक समानता नहीं हासिल करने देती, उसी तरह वह उन्हें आर्थिक और सामाजिक समानता नहीं हासिल करने देगी।

4) खटमल, मच्छर, अकाल और खुले आम ब्राह्मणों के पैर धोना, ये एक-दूसरे को जिन्दा रखते हैं। यह दीमाग के एक कीड़े को और विचारों की सड़न को भी कायम रखते हैं। कारण, अलग-अलग धन्धों में लगे हुये और जुदा-जुदा वर्गों में पैदा हुये लोगों के बीच खुली बातचीत की खुशी मर जाती है।

डॉ0 लोहिया वर्णों के विरुद्ध हुये दो आन्दोलनों का अवलम्ब लेकर कहते हैं कि, "एक आन्दोलन हुआ था लगभग छब्बीस सौ वर्ष पहले। वह आलोचना और सुधार का आन्दोलन था। इसमें वर्णों में कुछ ढिलायी आयी थी और समाज में कुछ आम हरकत हुई थी। एक समय तो गौतम बुद्ध को कर्जदारों का और अपने मालिकों की अनुमति के बिना

निचले वर्ण के लोगों का भिक्खू संघ में प्रवेश बन्द करना पड़ा। वर्गों की ढिलाई के साथ राजनीतिक शक्ति और आर्थिक समृद्धि भी बढ़ी थी।"[1] इससे विकास हुआ, कारीगर बढ़े, खेती में सुधार हुआ और आमदनी में इजाफा हुआ। दूसरा आन्दोलन चार सौ वर्ष के व्यवधान के बाद वर्णों के विरुद्ध आन्दोलन से हुआ। इस आन्दोलन में वर्णों का पूर्ण खण्डन हुआ। वर्ण-व्यवस्था की आलोचना की गयी। परन्तु वास्तविक व्यवहार में ऐसा अलगाव पूरा तरह कहीं नहीं नज़र आया।

दर असल वर्ण व्यवस्था का रूढ़ होते जाना संशय को उपजाने लगा। उन्होंने इस पूर्व की सोच को बदल देना चाहा जो पुरानी थी। परन्तु उसमें बहुत कुछ ठोस तथा वैज्ञानिक आधार भी थे, लेकिन स्वीकार कराने की दृष्टि से वे सफल नहीं हो सके। डॉ0 लोहिया दमनकारी नीति के सख्त खिलाफ थे और गतिशीलता को महत्वपूर्ण मानते थे। वे सभी वर्गों और वर्णों का अन्त करना चाहते थे। उनका मत था कि, उन्हें मानव इतिहास की इस प्रेरक शक्ति को भी समझना होगा और समझकर ऐसे उपाय तलाशने होंगे जिससे दोनों का समापन सम्भव हो सके।

हिन्दुस्तान में जो वर्णों की विशेष व्यवस्था बनी, उसका आधार वर्णों के बीच एक मेल को स्थापित कर ले जाने से था, जिसे दीर्घकाल तक लोगों की स्वीकृति के कारण एक निष्क्रिय समाज के रूप में ढोना पड़ा। वस्तुतः हिन्दुस्तान की वर्ण व्यवस्था ने इतने बेजोड़ ढंग से बड़े पैमाने पर एकता कायम करने की कोशिश की थी कि, नस्ल, धर्म, भाषा, रंग और रूप उसे भयभीत नहीं कर सके। इन्सानों के बीच मेल बिठाने का यह जो अपूर्व नाटक हिन्दुस्तान की सीमाओं के भीतर हुआ, संभवतया उसी में हिन्दुस्तान की सहिष्णुता और अपने आपमें संतुष्ट रहने तथा साम्राज्यवाद से बचने की भावना का रहस्य भी छिपा है।

डॉ0 लोहिया सम्पूर्ण मानव इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालते हुये इस नतीजें पर पहुंचते हैं कि, अब तक का विश्व इतिहास वर्गों और वर्णों के मध्य परस्पर बदलाव का, वर्गों के जकड़कर वर्ण बनने और वर्णों के ढीले पड़कर वर्ग बनने का इतिहास है।[2]

वर्ण-व्यवस्था से ही भारत में अनेक जातियों का जन्म हुआ। जाति-व्यवस्था को डॉ0 लोहिया समता का पातक मानते थे और जितनी भी निष्क्रियता देश में है उसका मुख्य

---

1. राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं.- 30 (1955).
2. वही, पेज सं.- 38.

कारण जाति व्यवस्था को ही मानते थे। आज के भारतीय समाज में जाति अनेक प्रकार की प्रताड़नाओं का कारण बनी है। इतनी भयंकर जकड़बन्दी जाति की है कि व्यक्ति का आत्मसम्मान, उसकी स्वतंत्रता, सब कुछ नष्ट हो जाते हैं। जाति प्रथा ने जिस आत्मीयता तथा सौहार्द को खो दिया है, उसे मानव समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये डॉ0 लोहिया ने दो सुझाव प्रस्तुत किये थे- सहभोज एवं अन्तर्जातीय विवाह डॉ0 लोहिया ने कहा था कि, "जिस दिन प्रशासन और फौज में भर्ती के लिये अन्य बातों के साथ-साथ, शूद्र और द्विज के बीच विवाह को मान्यता और सहभोज के लिये इन्कार करने पर अयोग्यता मानी जायेगी, उस दिन जाति पर सही मायने में हमला शुरू होगा। वह दिन अभी आना शेष है।"[1]

जाति प्रथा ने समाज में ऐसे कोढ़ को जन्म दिया कि व्यक्ति, व्यक्ति के स्पर्श को पापमूलक अवधारणा से सम्बद्ध करके चलने लगा। छुआछूत या अस्पृश्यता की बीमारी ने समाज की रही सही गतिशीलता को चेतना शून्य कर दिया। डॉ0 लोहिया ने कहा था कि, "अगर हरिजनों को मन्दिर में जाने से रोका जाता है, तो और कोई भी नहीं जा सकेगा।"[2]

उन्होंने इस समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान के साथ जोड़कर नये सामाजिक दर्शन को स्वीकृत प्रदान करायी। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि, "इनके पुराने संस्कार, परम्परा, परिपाटियों को बदलकर, आदतों को बदलकर नई आदतें और नये संस्कार इनमें आयें, उनको नया मौका मिले। इसके अलावा और कोई रास्ता नहीं रह गया है।"[3]

डॉ0 लोहिया का कहना था कि, जब तक अस्पृश्यता की समस्या यह देश नहीं सुलझा लेता, तब तक विश्व पंचायत में इसको सम्माननीय स्थान नहीं मिल सकता। वे चाहते थे कि, हरिजन उठें और संघर्ष से उठें तथा सम्मान की उनमें तड़प हो। वे साधिकार हौसले से अपनी दखल कायम करें।

विश्व स्तर पर डॉ0 लोहिया हर प्रकार के भेदभाव की समाप्ति के लिये एक ऐसी जमात खड़ी करना चाहते थे, जो जीने के समानाधिकार की संस्थापना कर सके। किसी का इसलिये अपमान हो कि, वह बहुत छोटा है, या उसका रंग काला है, अथवा वह निर्धन है, यह उन्हें कतई नहीं पसन्द था। वे कहते थे कि, "मेरी राय में जो नीग्रो औरते मैंने देखी

---

1. राममनोहर लोहिया, जाति प्रथा, पेज सं.- 4 (1981).
2. वही, पेज सं.- 24.
3. वही, पेज सं.- 113.

है, उनके शरीर के गठन को देखकर उन्हें दुनिया में कहीं भी किसी भी खूबसूरत औरतों की पंक्ति में खड़ा किया जा सकता है।"[1] गोरे रंग को सौन्दर्य का प्रतीक मानने के पीछे कारण था, उनका 350 वर्ष का संसार पर राज्य कर पाना। यदि गोरे के स्थान पर कालों ने संसार पर राज्य किया होता, तो निस्संदेह सौन्दर्य का प्रतीक गोरा नहीं काला रंग होता।[2]

डॉ0 लोहिया भारतीय समाज के स्त्री पुरुष सम्बन्धों को लेकर भी बहुत दुखी थे। वह समझ नहीं पाते थे कि, भारतीय दीमाग एक साथ दो विरोधी विचारों की विसंगति में कैसे जीता है। एक ओर तो वह नारी को लक्ष्मी देवी, जाने क्या-क्या कहता है और दूसरी ओर उसका जीवन नारकीय बनाता है। विचार और कर्म में भेद क्यों आ जाता है, यह विपरीत स्थिति क्यों पैदा होती है ? इस पर भी डॉ0 लोहिया की अलग सोचने की शैली है। वह भारत के पुरुष प्रधान समाज के कटु आलोचक थे। उसे वह देश की उन्नति में बांधक मानते थे। वह मानते थे कि, जब तक भारत में स्त्रियों को समानता का अधिकार नहीं मिलेगा तब तक देश का स्वस्थ्य विकास हो ही नहीं सकता।

डॉ0 लोहिया को बराबर यह अनुभव होता रहा कि भारत की इतनी सुदृढ़ आत्मा की अन्तरात्मा में कहीं बहुत बड़ी कमजोरी थी, जिसके कारण वह जाति प्रथा और नारी प्रताइना आदि पर कुठाराघात नहीं कर सका। अपने चिन्तन कर्म और आचरण में संतुलन न पैदा करने के कारण ही वह इन विषमताओं का समाधान निकालने में असमर्थ रहा। शायद इन्हीं बुनियादी कमजोरियों को न हटा पाने के कारण पूरा भारतीय समाज अन्तर्विरोधों में जीता है। अन्तरात्मा की इन्हीं कमजोरियों के कारण उसका पूरा चरित्र ऐसा बन गया है कि न तो वह समाज के भीतर अन्याय का मुकाबला कर पाता है और न ही बाहर के आक्रमणों का खुलकर सामना करता है। अपनी हर पराजय के लिये वह बाहर की कमजोरियों को लांछित करता है, पर वास्तविकता यह है कि, एक सामान्य भारतीय ने अपने अन्दर की वास्तविक कमजोरी को पहचाना ही नहीं। यह एक विडम्बना है कि, भारतीय समाज ने इस सत्य को कभी जानने की कोशिश ही नहीं की कि, पिछले 5,000 वर्षों में वह क्यों लगातार पराजित होता रहा है। यदि एक बार भी वह कोशिश करता तो पाता कि उसके निरन्तर पराजित होने का कारण शत्रु का बलवान होना नहीं है, वरन उसके

---

1. राममनोहर लोहिया, सात क्रान्तियाँ, पेज सं.- 25 (1966).
2. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 229 (1963).

अन्तर्मन में पनपता द्वैत है, जिसके तहत वह स्वयं समाज के भीतर अनेक प्रकार के अन्याय करता है और उसे सहता है। उसका मन ही ऐसा नहीं कहता है कि, वह बाहर के अन्यायी का खुलकर सामना कर सके।

भारत ही ऐसा समाज है जहां भीख मांगना भी गौरव की बात मानी जाती है। जहां श्रम न करना जीवन का मूल्य बन जाता है। भारत का ही एक ऐसा समाज है, जहां धर्म से लोगों में धूर्तता आती है। डॉ0 लोहिया भारत की उच्च दार्शनिक विरासत पर गर्व करते हुये भी इन विसंगतियों से क्षुब्ध थे। वह भारतीय समाज में एक ऐसी सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्ति लाना चाहते थे, जिससे ये विसंगतियां दूर की जा सके और दुनिया के सामने भारत की ऐसी छवि बने जो उसकी सांस्कृतिक और दार्शनिक विरासत के अनुकूल उदात्त सर्व-समभाव जागृत करने में समर्थ हो सके।

डॉ0 लोहिया परिवर्तन को लाने के लिये एक चौमुखी अभियान चलाना चाहते थे। भारत के इस नये समाज को समता के मूल लक्ष्य से जोड़ना चाहते थे। इस लक्ष्य की स्थापना से ही वह भारतीय समाज की समस्त विसंगतियों को मिटाना चाहते थे। ये विसंगतियाँ साधारण नहीं हैं। इन्होंने पूरे भारतीय समाज को जकड़ रखा है। ये विसंगतियां वह धब्बे हैं, जो चाहे धर्म के क्षेत्र में हों, सामाजिक रूढ़ियों में हों या आर्थिक शोषण में हों, या फिर जातियों की विषमताओं के कारण हों, या राजनैतिक नासमझी के कारण हों, यह सब इसलिये हैं क्योंकि, समाज में भयंकर गैर बराबरी है। जब तक भारतीय समाज को एक समग्र इकाई के रूप में नहीं देखा जायेगा, तब तक इस समाज का समग्र उत्थान सम्भव नहीं होगा।

भारतीय समाज में अगड़ा वर्ग है, पिछड़ा वर्ग है, सर्वहारा वर्ग है और नितान्त आदिम स्थितियों में जीने वाला वर्ग है। इनको इस प्रकार शिक्षित किया जाये कि यह अपने बालिग मत का सही और विवेक के अनुसार इस्तेमाल कर सकें। यह तभी सम्भव है जब पूरे समाज में आर्थिक स्तर पर समता स्थापित करने का प्रयास हो।

डॉ0 आम्बेडकर के सामाजिक चिन्तन में एक ओर वर्णवाद, जातिप्रथा, अस्पृश्यता, असमानता और अन्याय के प्रति विद्रोह मिलता है, तो दूसरी ओर समाज की पुनर्रचना के लिये सकारात्मक तत्व भी सन्निहित है। उनके सामाजिक विचार हिन्दू समाज में फैली सामाजिक कुरीतियों का निषेध करते हैं, तो कुछ सृजनात्मक पक्षों का समर्थन भी करते हैं,

ताकि नवीन व्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सके।

सामाजिक चिन्तन में डॉ0 आम्बेडकर ने सर्वप्रथम वर्ण-व्यवस्था और उससे उत्पन्न विषमताओं एवं बुराइयों का विरोध किया। यह व्यवस्था भले ही गुण-कर्म, श्रम विभाजन, मानव स्वभाव आदि पर आधारित कही गयी हो, लेकिन उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि "मेरे लिये यह चातुर्वर्ण्य जिसमें पुराने नाम जारी रखे गये है, घिनौनी वस्तु है, जिससे मेरा पूरा व्यक्तित्व विद्रोह करता है, यह चातुर्वर्ण्य समाजिक संगठन प्रणाली के रूप में अव्यावहारिक, घातक और अत्यन्त असफल रहा है।"[1] डॉ0 आम्बेडकर ने गीता के उस कथन को स्वीकार नहीं किया, जिसमें यह कहा गया था कि, "चातुर्वर्ण्यमया सृष्टं गुणकर्म विभाशः।" अर्थात, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभाग पूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है।[2] इसी को वर्ण व्यवस्था का मूलाधार माना गया है, जिसका उन्होंने सशक्त खण्डन किया।

वर्णव्यवस्था का मूलाधार सांख्य दर्शन का त्रिगुण सिद्धान्त है। प्रत्येक व्यक्ति में तीन गुणों- सत्व, रज्स और तम्स का सम्मिश्रण होता है। इन्हीं के कारण व्यक्ति का स्वभाव संचालित होता है। इन गुणों में स्वाभाविक स्पर्धा एवं परिवर्तनशीलता होती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक इनके आधार पर व्यक्ति में गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं। कभी एक गुण का बाहुल्य है, तो कभी दूसरे का। इसलिये डॉ0 आम्बेडकर ने यह कहा है कि गुणों की स्पर्धा एवं परिवर्तनशीलता की स्थिति में व्यक्ति का स्वभाव स्थायी किस प्रकार रह पायेगा। यदि व्यक्ति की स्थिति बदलती रहती है तो मनुष्यों को स्थायी वर्णों में बांटना उनकी प्रकृति के विरुद्ध होगा। यह कैसे सम्भव होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवहार में जीवन-पर्यन्त एक सा बना रहे। अतः डॉ0 आम्बेडकर की दृष्टि में सांख्यदर्शन अथवा गीता यह सिद्ध नहीं कर सकती है कि, परिवर्तनशील प्रकृति से निर्मित आदमी सदैव ब्राह्मण या क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र ही बना रहेगा। इसी कारण उन्होंने चातुर्वर्ण्य को अप्राकृतिक और अव्यावहारिक बतलाया।[3]

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्गमय, खण्ड- 1, पेज सं.- 81.
2. श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय-4, श्लोक- 13.
3. बी. आर. आम्बेडकर, बुद्ध एण्ड द फ्यूचर ऑफ हिज रिलीज़न, पैरा-।। (1950).

डॉ0 आम्बेडकर ने यह भी नहीं माना कि, वर्ण व्यवस्था का आधार श्रम-विभाजन है, क्योंकि, इसमें न केवल कृतिम श्रम विभाजन मिलता है, अपितु श्रमिकों का भी स्थायी विभाजन हो जाता है। इसके अन्तर्गत श्रम तथा व्यवसाय के अनुसार हिन्दुओं में भेदभाव, ऊंच-नीच की भावनाएं पैदा हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त डॉ0 आम्बेडकर ने कहा है कि वर्ण-व्यवस्था में श्रम-विभाजन व्यक्ति की स्वेच्छा एवं स्वाभाविक गुणों पर आधारित नहीं है। श्रम विभाजन का, व्यक्ति की क्षमता तथा योग्यता देखे बिना कोई मूल्य नहीं है। साथ ही, वर्ण-व्यावस्था में व्यवसाय का निर्धारण कर्म एवं क्षमता के आधार पर नहीं होता, बल्कि जन्म के आधार पर होता है, जो व्यावसायिक तथा औद्योगिक प्रगति और कार्यकुशलता के लिये हानिकारक है।[1] डॉ0 आम्बेडकर ने वर्ण-व्यवस्था का खण्डन करते हुये यह कहा है कि, वर्ण व्यवस्था में श्रम विभाजन व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं पसन्द पर आधारित नहीं है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति की भावनाओं एवं प्राथमिकताओं के लिये कोई स्थान नहीं है। इसका मूलाधार व्यक्ति की योग्यता नहीं है, बल्कि उसके पूर्व जन्म के कर्म माने गये हैं। यह जन्म पर आधारित है और अपने पूर्वजों के धन्धों के अनुसरण पर ही बल देती है। अतः उस श्रम विभाजन और उसके अन्तर्गत निर्धारित कार्यों के करने में कोई क्षमता और कुशलता नहीं आ सकती है, जिसमें न मनुष्य का मन लगता है और न ही उसकी बुद्धि ही चाहती है।[2]

डॉ0 आम्बेडकर के अनुसार वर्ण-व्यवस्था आर्थिक संस्था के रूप में भी असफल रही है। उसने व्यक्ति की स्वेच्छा, कार्यकुशलता और व्यावसायिक स्वतंत्रता का हनन किया है। उन्होंने यह भी नहीं माना कि, वर्ण-व्यवस्था जाति की पवित्रता एवं स्वच्छता अथवा उच्च वर्गों की रक्त शुद्धता को बनाये रखने का एक ढंग है। डॉ0 आम्बेडकर का कहना था कि, संसार में कोई भी शुद्ध जाति नहीं है सभी जातियों की उत्पत्ति विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से हुई है। भारत में मुश्किल से ऐसी कोई जाति या वर्ण मिलेगा जिसमें विदेशी रक्त का अंश न हो।[3]

डॉ0 आम्बेडकर ने स्पष्टतः कहा है कि वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन एवं सामाजिक न्याय के लिये कोई स्थान नहीं है। वर्ण-व्यवस्था ने ही जातिवाद को जन्म दिया जो

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 19-20 (1937).
2. वही, पेज सं.- 20-21.
3. वही, पेज सं.- 21-22.

सामाजिक एकता एवं सुदृढ़ता के विपरीत पड़ता है।[1] वर्ण-व्यवस्था में आधुनिक भारतीय समाज के लिये कोई नवीन संदेश नहीं है। वह निरर्थक एवं हानिकारक सिद्ध हो चुकी है। अच्छे सामाजिक सम्बन्धों की जड़ें इसमें नहीं है। इस वर्ण व्यवस्था ने चार वर्णों के लोगों के बीच एक स्तरीय, उतार-चढ़ाव की असमानता प्रतिष्ठित कर रखी है, जिसके अनुसार, ब्राह्मण सबसे उच्च, उससे नीचे क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य तथा निम्नतम स्तर पर शूद्र है। इसके अन्तर्गत यदि ऊपर की ओर जाओ तो सम्मान, आदर है ओर नीचे की ओर देखो तो घृणा, अनादर है।[2] डॉ0 आम्बेडकर के अनुसार, वर्ण व्यवस्था अथवा जाति प्रथा ने जन चेतना को नष्ट कर दिया है। उसने सार्वजनिक धर्मार्थ की भावना को भी नष्ट कर दिया है। जाति प्रथा के कारण किसी भी विषय पर सार्वजनिक सहमति का होना असम्भव हो गया है।[3]

जाति व्यवस्था के उन्मूलन के सम्बन्ध में समाज सुधारकों, विद्वानों और राजनीतिज्ञों द्वारा बताये गये उपायों के बारे में डॉ0 आम्बेडकर ने कहा है कि, ये सब तरीके (जातियों की संख्या कम करना, अन्तर्जातीय भोज, अन्तर्जातीय विवाह आदि) अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुये। इसका कारण हिन्दुओं के दैवीय एवं पवित्र विश्वास तथा धारणाएं हैं, जो उन्हें उप-जातियों को तोड़ने, अन्तर्जातीय भोज एवं अन्तर्जातीय विवाह करने से रोकती हैं। वर्ण-व्यवस्था को अकाट्य, ईश्वरीय, पवित्र या दैवीय मानना जाति प्रथा की निरन्तरता का मूलाधार है। इसलिये डॉ0 आम्बेडकर ने स्पष्टतः कहा है कि, "धामिक शास्त्रों के प्रति पवित्रता की भावना नष्ट की जाये, क्योंकि हिन्दुओं के कर्म एवं व्यवहार उनकी धार्मिक धारणाओं के ही परिणाम हैं। शास्त्र मनुष्य को अमुक व्यवहार करने के लिये बाध्य करते हैं। हिन्दू अपने व्यवहार को उस समय तक नहीं बदल सकते, जब तक शास्त्रों के प्रति पवित्रता के भाव का अन्त नहीं किया जायेगा, क्योंकि उनका व्यवहार उनके धार्मिक ग्रन्थों पर ही आधारित है।"[4] उन्होंने कहा कि "प्रत्येक पुरुष और स्त्री को शास्त्रों के बंधन से मुक्त कराइये, शास्त्रों द्वारा प्रतिष्ठापित हानिकर धारणाओं से उनके मस्तिष्क का पिण्ड छुड़ाइये, फिर देखिये, वह आपके कहे बिना अपने आप अन्तर्जातीय खान-पान तथा अन्तर्जातीय

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, परिशिष्ट-2, पेज सं.- 21 (1937).
2. बी. आर. आम्बेडकर, हू वेयर द शूद्राज, पेज सं.- 8 (1947).
3. बाबा साहब आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-I, पेज सं.- 77.
4. बी. आर. आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 59 (1937).

विवाह का आयोजन करेगा/करेगी।"[1]

हिन्दू धर्म की एक अन्य अप्रतिम विशेषता आश्रम धर्म है। वर्ण धर्म का सिद्धान्त सामाजिक संगठन का सिद्धान्त है जबकि आश्रम धर्म का सिद्धान्त समाज में व्यक्ति के जीवन को नियमित करने का सिद्धान्त है। आश्रम धर्म का सिद्धान्त व्यक्ति के जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास चार स्तरों में विभक्त करता है और प्रत्येक स्तर से सम्बन्धित व्यक्ति के कर्तव्यों, अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों का निर्धारण करता है। हिन्दू ऐसा विश्वास करते हैं कि, व्यक्ति की मुक्ति और समाज के कल्याण के लिये वर्ण धर्म की भांति आश्रम धर्म भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है।[2]

डॉ0 आम्बेडकर के अनुसार जीवन को चार समान स्तरों में विभक्त कर प्रत्येक स्तर से सम्बन्धित कर्तव्य व दायित्व को विहित करने की यह आश्रम योजना बाह्य दृष्टि से भले ही श्रेष्ठ व बहुत अच्छी लगती हो किन्तु इसमें कई दोष है।"[3]

अनिवार्य ब्रह्चर्य बहुत आकर्षक लगता है क्योंकि, इसमें बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा का बोध होता है, परन्तु यह सार्वभौमिक नहीं है। जिन्हें यह अधिकार था, वे सम्पूर्ण समाज के मुश्किल से एक दसाई भाग थे। समाज के शेष 90 प्रतिशत भाग को शिक्षा प्राप्त करने के अवसर से वंचित कर देना बुद्धिमानी नहीं वरन चालाकी है। वस्तुतः डॉ0 आम्बेडकर के अनुसार आश्रम धर्म एक ऐसा विधान था, जो मात्र शासक वर्ग को शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था करता था। यह जन सामान्य के लिये भेदभावपूर्ण विधान था। इसी प्रकार स्वास्थ्य एवं आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखे बिना व्यक्ति के लिये विवाह अनिवार्य कर देने से व्यक्ति और समाज का तब तक अहित ही होता है, जब तक कि, समाज प्रत्येक व्यक्ति को जीविका प्रदान करने की प्रत्याभूति प्रदान नहीं करता।

जब व्यक्ति सांसारिक सुखों का पूर्णतया भोग कर लेता है और आगे उसका भोग करने के योग्य नहीं रह जाता, तब तक यह कहना कि उसने स्वेच्छा से सांसारिक सुखों का परित्याग कर वानप्रस्थ एवं सन्यास ले लिया है, कोई अर्थ नहीं रखता। स्पष्टतः घर और परिवार का इस प्रकार परित्याग दुःखी मानवता की सेवा के लिये नहीं किया जाता, बल्कि

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-1, पेज सं.- 92.
2. वही, खण्ड- 4. पेज सं.- 256-259.
3. वही, पेंज सं.- 260-261.

मुक्ति एवं शान्तिपूर्ण मृत्यु को प्राप्त करने हेतु व्रत व तप के उद्देश्य से किया जाता है। विवाह को अनिवार्य बनाने के उपरान्त व्यक्ति के लिये इस बात का प्रावधान करना कि, अन्तिम क्षणों में वह अपनी पत्नी का परित्याग कर मुक्ति प्राप्त करे यह अपराध नहीं तो निर्दयता अवश्य है।

वृद्ध एवं अशक्त व्यक्तियों की सेवा करने के स्थान पर आश्रम विधान के तहत उन्हें जंगल में बिना किसी देखभाल के मरने के लिये इस प्रकार छोड़ देना कि, उनकी मृत्यु पर कोई आंसू बहाने वाला भी न मिले मूर्खता की हद है।[1]

डॉ0 आम्बेडकर के अनुसार इस व्यवस्था को मर्यादित करने के पीछे मनु का उद्देश्य बौद्ध धर्म के प्रचार को रोकना था। बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों द्वारा होता था। एक अविवाहित व्यक्ति के लिये भिक्षु अथवा भिक्षुणी बनना सरल होता है। विवाह को अनिवार्य कर मनु इसे रोकना चाहते थे।

अस्पृश्यता हिन्दू समाज की एक घृणित कुरीति है। डॉ0 आम्बेडकर ने अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का एक रोग निरूपित किया है, उनका कहना है कि, यह कोई मानसिक बीमारी नहीं है, जिससे मैं पीड़ित हूं और न ही यह बात पीड़ा या एक मानसिक गांठ है। प्रत्येक हिन्दू यह विश्वास करता है कि अस्पृश्यता का व्यवहार उचित है। डॉ0 आम्बेडकर के अनुसार अस्पृश्यता के मूल में अपवित्रता की धारणा है। पवित्र और अपवित्र का भेद यूँ तो विश्व के प्रायः सभी समाजों में कमोवेश सभी युगों में देखने को मिलता है।, परन्तु ऐसी अपवित्रता जिसका सम्बन्ध अस्पृश्यता से है, केवल हिन्दू समाज में ही पायी जाती है।[2]

डॉ0 आम्बेडकर ने कहा है कि यह कहना कि, आर्यों ने अछूतों, जो भिन्न प्रजाति के थे, को जीतकर अपना दास बनाया तथा उन्हें अस्पृश्य करार कर अपनी बस्ती से दूर बसाया, पूर्णतः गलत है। यह कहना कि भंगी या मोची का कार्य करना ही अछूतपन का कारण है, गलत है। यदि ऐसा होता तो विश्व के अन्य समाजों में भी जो लोग इन कार्यों को करते थे, अछूत समझे जाते, परन्तु अस्पृश्यता केवल भारतीय समाज में ही देखने को मिलती है। अतः यह कहना कि, निम्न व गन्दे कार्य करना ही अस्पृश्यता की उत्पत्ति का कारण है सही नहीं है। उन्होंने कहा कि, कृषि पर आधारित ग्राम समाज व्यवस्था के पूर्व

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-4, पेज सं.- 261.
2. बी. आर. आम्बेडकर, द अण्टचेबिल्स (1948).

समाज का स्वरूप घुमन्तू था। चारागाह की तलाश में पशुओं को लेकर मनुष्य इधर से उधर भटकता फिरता था। कबीलाई जीवन में शिकार और स्त्रियों को लेकर कबीले आपस में एक दूसरे से लड़ते रहते थे। जब कोई कबीला किसी दूसरे कबीले से युद्ध में पूरी तौर पर परास्त हो जाता था, तो उसके बचे हुये लोगों में जो पकड़ लिये जाते थे, उन्हें विजयी कबीला अपना दास बना लेता था, और जो पकड़े जाने से बच जाते थे, वे जान बचाने के लिये इधर-उधर छितर जाते थे।

जो कबीले स्थायी रूप से बस गये थे, उन्हें घुमन्तू कबीलों द्वारा अनाज, पशु तथा स्त्रियों को लूटने का निरन्तर भय बना रहता था। दूसरी ओर छितरे हुये लोगों के लिये आजीविका की समस्या थी। परिणामस्वरूप इन कृषक कबीलों ने छितरे हुये लोगों को गांव की चौकीदारी के लिये नियुक्त किया और उन्हें मुख्य बस्ती से पृथक गांव की सीमा पर बसाया। चौकीदारी व सेवा कार्यों के बदले उन्होंने छितरे हुये लोगों के लिये भोजन वस्त्र तथा अन्य आवश्यक वस्तुयें उपलब्ध करायी। डॉ0 आम्बेडकर के अनुसार ये छितरे लोग ही आगे चलकर अछूत या अस्पृश्य कहलाये।

आरम्भ में वर्ण-व्यवस्था बहुत लचीली थी। व्यवसाय अनिवार्य रूप से पैतृक नहीं था। वर्णों के बीच शादी-विवाह पर कठोर प्रतिबन्ध नहीं थे, बुद्ध के समतावादी उपदेशों से प्रभावित होकर शूद्रों और छितरे हुये लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इससे ब्राह्मण पुरोहिताई को बहुत धक्का लगा परिणामस्वरूप ब्राह्मणों के मन में बौद्धों के प्रति घृणा पैदा हो गयी और वे उनके शत्रु बन गये। मनु ने मानव धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) की रचना की तथा शूद्रों एवं अन्त्यजों को सामाजिक एवं राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया। वर्ण-सम्मिश्रण को बचाने की दृष्टि से उन्होंने कन्याओं के लिये रजस्वला होने से पूर्व विवाह का विधान किया तथा शूद्रों एवं चाण्डालों सहित उन्हें भी शिक्षा एवं आत्म-विकास के अवसरों से वंचित कर दिया।

जिन बौद्धों ने वर्ण धर्मस्वीकार नहीं किया। उन्हें अन्त्यज या अछूत घोषित किया और उन्हें सामाजिक शैक्षणिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक अधिकारों से पूर्णतया वंचित कर दिया। परिणामस्वरूप समाज में अछूतों की स्थिति दासों से भी बदतर हो गयी।

भारत में 26 जनवरी, 1950 से लागू राष्ट्रीय संविधान के द्वारा अस्पृश्यता का निषेध कर दिया गया है। सन् 1955 ई. में अस्पृश्यता अपराध अधिनियम पारित हुआ। इस

कानून के द्वारा अस्पृश्यता को अपराध घोषित किया गया और इसके लिये दण्ड का प्रावधान किया गया।

डॉ0 आम्बेडकर हिन्दू समाज में नारी की गिरी हुई स्थिति से बहुत चिन्तित थे। उनका नारी वर्ग की प्रगति में अटूट विश्वास था। वे स्त्री-पुरुष दोनों को समान मानते थे और चाहते थे कि स्त्रियों को हिन्दू समाज में पुरुषों के बराबर अधिकार मिलें। उनका मत था कि भारतीय नारी को स्वच्छ रहना चाहिये, पढ़ना चाहिये, अपने बच्चों को शिक्षा देनी चाहिये। हीनता की भावना से ऊपर उठना चाहिये और शादी कम उम्र में नहीं करनी चाहिये।[1] उनका विचार था कि, स्त्री वर्ग भी अपना संगठन बनाये और अपने अधिकारों की रक्षा करे। एकत्रित होकर देश की समस्याओं को सुलझाने में योगदान दे। सामाजिक बुराइयों को दूर करने में भी महिला वर्ग अधिक सहायता कर सकता है। किसी समाज की प्रगति स्त्री वर्ग की प्रगति से ही नापी जा सकती ह।[2] डॉ0 आम्बेडकर नारी जाति की दुदर्शा से बहुत चिन्तित थे उनकी मान्यता थी कि नारी जाति को यथोचित सम्मान दिये बिना हिन्दू समाज का कल्याण सम्भव नहीं है। वह न केवल पुरुषों में ही साहस, ईमानदारी तथा कर्तव्यनिष्ठा बढ़ाने के इच्छुक थे बल्कि स्त्री वर्ग को भी साहसी बनाना चाहते थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि, मनुष्य तथा स्त्रियां अपने मन को शुद्ध एवं सुसंस्कृत बनाये, अपने अन्दर आत्मसम्मान की भावनायें जागृत करें। समाज की प्रगति एवं अवनति में स्त्रियों की भी समान जिम्मेदारी है। महिलायें समाज की उन्नति में अपना योगदान दे सकें इसके लिये उन्हें अधिकार प्रदान किये जाने चाहिये।

डॉ0 आम्बेडकर ने महिलाओं को सशक्त बनाने के लिये स्वतंत्रता के बाद भारतीय संसद में 'हिन्दू कोड बिल' को प्रस्तुत किया था। यद्यपि यह बिल उनके मंत्रिमण्डल में रहते हुये संसद में पास नहीं हो सका तथापि बाद में अलग-अलग कानूनों के रूप में इसे संसद ने पास कर दिया और महिलाओं को सशक्त बनाया जा सका।

इस प्रकार डॉ0 आम्बेडकर भारतीय हिन्दू समाज में विद्यमान सामाजिक कुरीतियों के सर्वथा खिलाफ थे वे एक ऐसे समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें शोषण, गरीबी, अत्याचार, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक असमानता, वर्ण, एवं आश्रम

---

1. डब्लू. एन. कुबेर, डॉ. आम्बेडकर : ए क्रिटिकल स्टडी, पेज सं.- 290-291 (1979).
2. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 350 (1981).

व्यवस्था जाति व्यवस्था, साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता, नर-नारी असमानता, बेरोजगारी जैसी विकृतियां, जो समाज को पतन की ओर ले जाती हैं, न हों। इस समाज में व्यक्तियों को सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक समानता व स्वतंत्रता के अधिकार प्राप्त हों ताकि वह भयमुक्त वातावरण में स्वाभिमान एवं सम्मान के साथ रह सकें। डॉ0 आम्बेडकर ने हिन्दू समाज में आमूल-चूल परिवर्तन करना चाहा था ताकि रूढ़ान्धता की निष्क्रियता, जिससे यह समाज निरन्तर परांङ्.मुख होता जा रहा है और परस्पर स्नेह को खोता जा रहा है, की खाईं को पाटा जा सके और उसे सक्रिय बनाये रखने में सफलता मिल सके। वे तर्काधृत जीवन-दर्शन के पक्षपाती थे और उसी के आधार पर समाज की स्थापना करना चाहते थे।

डॉ0 लोहिया भारतीय समाज में विद्यमान कुरीतियों के सर्वथा खिलाफ थे। उनकी दृष्टि में भारतीय समाज में सब कुछ है, परन्तु सब कुछ विघटित होने के साथ-साथ असंगठित है। उन्होंने भेदभाव पर आधारित वर्णव्यवस्था पर कठोर प्रहार किया। भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद द्वारा वाराणसी में दो सौ ब्राह्मणों के पैर धोने की घटना की भर्त्सना की तथा इसे वर्ण व्यवस्था जैसी कुरीति को कायम रखने में सहायक कहा। उनका तर्क था कि पैर तो शूद्रों के भी है फिर ब्राह्मण-शूद्र के पैरों में फर्क क्यों ? डॉ0 लोहिया की दृष्टि में राष्ट्रपति जैसे सर्वोच्च संवैधानिक पद पर होते हुये उनका प्रत्येक आचरण धर्म, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि सबसे ऊपर होना चाहिये, न कि गैर बराबरी की नींव को सींचकर आशीर्वाद देने का होना चाहिये। डॉ0 लोहिया दमनकारी नीति के सख्त खिलाफ थे और गतिशीलता को महत्वपूर्ण मानते थे। वे सभी वर्गों एवं वर्णों का अन्त करना चाहते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में अब तक का विश्व इतिहास वर्गों और वर्णों के मध्य परस्पर बदलाव का, वर्गों के जकड़कर वर्ण बनने और वर्णों के ढीले पड़कर वर्ग बनने का इतिहास है। वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न जाति प्रथा को डॉ0 लोहिया समानता का अन्त करने वाला मानते थे तथा जितनी भी निष्क्रियता देश में है उसका मुख्य कारण जातिप्रथा को ही मानते थे। उनकी दृष्टि में भारतीय समाज में जाति की जकड़बन्दी के कारण व्यक्ति का आत्म-सम्मान और उसकी स्वतंत्रता सब कुछ नष्ट हो गयी है। जाति प्रथा को समाप्त करने के लिये उन्होंने अन्तर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह की आवश्यकता पर बल दिया।

डॉ0 लोहिया की दृष्टि में जाति प्रथा ने समाज में छुआछूत या अस्पृश्यता नामक कोढ़ को जन्म दिया है, जिससे व्यक्ति, व्यक्ति के स्पर्श को पापमूलक अवधारंणा से सम्बद्ध

करके चलने लगा। इस कुरीति ने समाज की रही सही गतिशीलता को चेतना शून्य कर दिया। छुआछूत भारतीय समाज में एक कलंक है इसे दूर करके ही हम आगे बढ़ सकते हैं। अस्पृश्यता की समस्या भारतीय समाज से तभी दूर होगी जब भारतीयों में पुराने संस्कार, परम्परा, परिपाटियों और आदतों को बदलकर नई आदतों और नये संस्कारों जो भेदभाव रहित हों को अपनाया जायेगा। अस्पृश्यता की समस्या को सुलझाये बिना विश्व पंचायत में भारत को सम्माननीय स्थान नहीं मिल सकता है। डॉ0 लोहिया भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष के बीच विद्यमान असमानता से भी चिन्तित थे। उनकी दृष्टि में जब तक भारत में स्त्रियों को समानता का अधिकार नहीं मिलेगा तब तक देश का स्वस्थ्य विकास हो ही नहीं सकता है। भारत ही एक ऐसा समाज है जहां भीख मांगना भी गौरव की बात मानी जाती है, जहां श्रम न करना जीवन मूल्य बन जाता है और जहां धर्म से लोगों में धूर्तता आती है। डॉ0 लोहिया इन विसंगतियों के सख्त खिलाफ थे क्योंकि ये विसंगतियाँ वे धब्बे हैं जो चाहे धर्म के क्षेत्र में हों, सामाजिक रूढ़ियों में हों, आर्थिक शोषण में हों, जातियों की विषमताओं के कारण हों या फिर राजनैतिक ना समझी के कारण हों। यह सब इसलिये हैं क्योंकि समाज में भयंकर असमानता है। जब तक भारतीय समाज को एक समग्र ईकाई के रूप में नहीं देखा जायेगा तब तक इस समाज का समग्र उत्थान सम्भव नहीं है।

सामाजिक कुरीतियाँ चाहे जिस समाज में हों वह उस समाज के पतन का कारण बनती हैं। डॉ0 लोहिया ने भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही विद्यमान वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, अस्पृश्यता, नारी भेद, शोषण, दासता, गरीबी, अन्ध-विश्वास, रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता तथा विश्व स्तर पर व्याप्त रंगभेद के खिलाफ जो आवाज बुलन्द की है, वह इसलिये ताकि विश्व पटल एवं भारतीय समाज से सभी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों का अन्त हो सके और एक ऐसे समाज का निर्माण सम्भव हो सके जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वाभिमान एवं सम्मान के साथ जी सके। सामाजिक कुरीतियों को समाज से दूर करने के लिये राज्य द्वारा किये गये उपायों के अतिरिक्त जनमानस में चेतना एवं जागरूकता उत्पन्न होना जरूरी है। उच्च वर्ग के लोगों में यह धारणा बननी चाहिये कि समाज के सभी मनुष्य समान हैं निम्न वर्ग के लोगों को भी सम्मान के साथ जीने का हक है, शोषण, गरीबी, अत्याचार किसी भी समाज के पतन के लिये उत्तरदायी होते हैं, अतः समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिये उन्हें आगे आना चाहिये। साथ ही निम्न वर्ग के लोगों को भी शिक्षित

एवं जागरूक होकर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिये संगठित होकर संघर्ष करना चाहिये, उन्हें अपनी हीन भावना को दूर करना चाहिये, बुरी प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिये, रूढ़िवादिता एवं अन्ध-विश्वास को खत्म करने का प्रयास करना चाहिये और देश व समाज के प्रति सकारात्मक सोच विकसित करना चाहिये।

डॉ0 आम्बेडकर स्वयं अछूत जाति में पैदा हुये और उन्हें भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों का स्वयं शिकार होना पड़ा इसलिये उन्होंने समाज में विद्यमान सामाजिक कुरीतियों का विरोध जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक किया। उन्होंने भी वर्ण-व्यवस्था और उससे उत्पन्न विषमताओं एवं बुराइयों का विरोध किया। उनकी दृष्टि में सांख्य दर्शन अथवा गीता जो कि वर्ण-व्यवस्था को गुण और कर्म पर आधारित मानते हैं यह सिद्ध नहीं कर सकते कि, परिवर्तनशील प्रकृति से निर्मित मनुष्य सदैव ब्राह्मण या क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र ही बना रहेगा। क्योंकि एक व्यक्ति में अलग-अलग समय में अलग-अलग गुणों (सत्व, रज्स एवं तम्स) का बाहुल्य हो सकता है इसलिये एक व्यक्ति को एक ही वर्ण में बना रहने के लिये बाध्य किया जाना उसकी स्वतंत्रता का हनन है। अतः चतुवर्ण अप्राकृतिक एवं अव्यावहारिक है। इसमें श्रम-विभाजन व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं पसन्द पर आधारित नहीं है। इसमें न केवल कृतिम श्रम विभाजन मिलता है वरन श्रमिकों का भी स्थायी श्रम-विभाजन हो जाता है। डॉ0 आम्बेडकर ने वर्ण-व्यवस्था को आर्थिक संस्था के रूप में असफल माना है क्योंकि इसके कारण व्यक्ति की कार्य करने की स्वेच्छा, कार्यकुशलता और व्यावसायिक स्वतंत्रता का हनन हो गया है जिससे उसका आर्थिक उत्थान नहीं हो सका है। डॉ. आम्बेडकर ने हिन्दू धर्म की आश्रम व्यवस्था को भी ठीक नहीं माना क्योंकि इसमें कई दोष हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत यह व्यवस्था उन्हीं लोगों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार देती है जो उच्च वर्ण के है शेष 90 प्रतिशत जनता जो शूद्र वर्ण की थी को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा गया था। यह व्यवस्था एक ऐसे समय मनुष्यों के लिये वानप्रस्थी एवं सन्यासी होने का प्रावधान करती है जब उन्हें परिवार के सहारे की सख्त जरूरत होती है अतः ऐसी निर्दयी व्यवस्था जो भेदभाव पर आधारित है को डॉ. आम्बेडकर ने स्वीकार नहीं किया।

डॉ0 आम्बेडकर ने जाति प्रथा को सामाजिक एकता एवं सुदृढ़ता के विपरीत माना। उनकी दृष्टि में वर्ण-व्यवस्था को अकाट्य, ईश्वरीय, पवित्र या दैवीय मानना जाति प्रथा की

निरन्तरता का मूलाधार है। जातिप्रथा ने जन चेतना को नष्ट कर दिया है। समाज में समानता स्थापित करने के लिये भेदभाव पर आधारित जाति प्रथा का अन्त करना आवश्यक है। डॉ॰ आम्बेडकर इस कुरीति का अन्त सहभोज या अन्तर्जातीय विवाह या जातियों की संख्या कम करने से सम्भव नहीं मानते। उन्होंने जाति-व्यवस्था को खत्म करने के लिये धार्मिक शास्त्रों के प्रति पवित्रता की भावना को नष्ट करना आवश्यक माना क्योंकि उनकी दृष्टि में हिन्दू अपने व्यवहार को उस समय तक नहीं बदल सकते जब तक शास्त्रों के प्रति पवित्रता के भाव का अन्त नहीं किया जायेगा। डॉ॰ आम्बेडकर ने अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का एक रोग निरूपित किया क्योंकि इसके कारण भारत में निम्न वर्ग के अनेक लोग शोषित, प्रताड़ित एवं यातनाओं को सहते हुये जीवन-यापन करने को बाध्य है। इसके कारण गरीबी, बेरोजगारी, पिछड़ापन, भुखमरी, बीमारी जैसी समस्याएं पैदा हुई हैं। 'अस्पृश्यता' भारत का वर्षों तक विदेशी ताकतों के हांथों गुलाम बना रहने का एक कारण थी क्योंकि यदि अछूतों को हथियार रखने का अधिकार दिया गया होता तो भारत के सभी लोगों में एकता होती और संगठित शक्ति होने के कारण शायद भारत कभी गुलाम नहीं होता। अतः अस्पृश्यता नामक ज़हर को समाप्त किया जाना भारतीय समाज के उत्थान के लिये अत्यन्त आवश्यक है। डॉ॰ आम्बेडकर भारतीय समाज में नर-नारी असमानता एवं महिलाओं की गिरी हुई स्थिति के खिलाफ थे। उन्होंने नर-नारी में समानता स्थापित करने के लिये महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार सौंपने, उन्हें स्वावलम्बी एवं आत्म निर्भर बनाने, उन्हें शिक्षित करने, उनकी हीन भावना को दूर करने की बात पर जोर दिया जिससे देश के सामाजिक आर्थिक विकास में उनकी भागीदारी बढ़ सके। डॉ॰ आम्बेडकर की दृष्टि में किसी समाज की प्रगति स्त्री वर्ग की प्रगति से ही नापी जा सकती है।

भारतीय हिन्दू समाज में जितनी भी सामाजिक कुरीतियां विद्यमान रही हैं उनमें से कुछ कुरीतियां जैसे बाल विवाह, दहेज प्रथा, विधवा विवाह, सती प्रथा, अन्ध-विश्वास, रूढ़िवादिता तथा नारी की निम्न स्थिति आदि सभी वर्णों एवं जातियों को एक समान रूप से जकड़े हुये थी। इनसे वर्तमान समय में समाज छुटकारा प्राप्त करते हुये दिख रहा है। परन्तु कुछ कुरीतियां जैसे वर्ण-व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, जाति व्यवस्था, अस्पृश्यता, दासता आदि ऐसी है जो भेदभाव पर आधारित है। इनमें से आश्रम व्यवस्था तो लुप्त प्राय हो चुकी

है लेकिन अन्य सामाजिक कुरीतियों का पूरी तरह से अन्त अभी तक नहीं हो सका है इनसे समाज में उच्च वर्ण व जाति का व्यक्ति तो लाभान्वित होता है किन्तु निम्न जाति का व्यक्ति शोषित एवं प्रताड़ित होता है। जाति-व्यवस्था में यद्यपि मामूली परिवर्तन देखने को मिल रहा है तथापि आज भी यह भारतीय समाज को अपनी गिरफ्त में कैद किये हुये है। शहरों में तो नहीं, परन्तु गांवों में अभी भी अस्पृश्यता की घटनायें देखने को मिल सकती हैं। वर्तमान समय में परम्परागत दासता तो कम परन्तु उसका दूसरा रूप देखने को मिलता है। भारत में जनसंख्या वृद्धि के कारण बेरोजगारी की समस्या बढ़ी है लोग जीवित रहने के लिये कम मजदूरी पर काम करने के लिये बाध्य हैं इतना ही नहीं होटल एवं रेस्त्रां में नाबालिग बालकों को काम करते हुये देखा जा सकता है जो कि भारतीय संविधान का खुलेआम उल्लंघन है यह भी दासता का बदला हुआ रूप है। वास्तव में यदि भारतीय समाज का उत्थान करना है तो हमारा सबसे बड़ा दायित्व यह है कि, हम सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये दृढ़-संकल्प करके एक संघर्षात्मक आन्दोलन छेंड़ दें। जब इन्हें समाप्त करने में हमें पूर्ण सफलता मिल जायेगी तो निश्चित रूप से एक ऐसे समाज की स्थापना सम्भव हो सकेगी जिसमें किसी भी प्रकार की असमानता, अत्याचार, शोषण, गरीबी, दासता, बेरोजगारी, वर्णभेद, जाति भेद, लिंग भेद, अन्ध-विश्वास, रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता आदि विकृतियां नहीं होंगी। इससे समाज में एकता एवं भाईचारे का सूत्रपात होगा और देश व समाज के उत्थान के साथ-साथ राष्ट्र की एकता व अखण्डता कायम रह सकेगी।

6.2. महिला अधिकार-

डॉ. लोहिया ने भारत में नारी की स्थिति पर गहन चिन्तन व मनन किया तथा उसके उत्थान हेतु सुझाव दिये। डॉ. लोहिया का कहना है कि, सात क्रान्तियों में एक क्रान्ति नर-नारी में समता स्थापित करना है। नर-नारी के भेद को खत्म किये बिना दूसरी अन्य असमानताओं को खत्म करना असम्भव है। डॉ. लोहिया का मानना है कि, भारत में केवल चातुर्वर्ण ही नहीं है वरन एक पांचवां वर्ण नारी का भी है, जो हजारों वर्षों से शोषित और उत्पीड़ित होती आ रही है। 'मार्क्स गांधी एण्ड सोसियलिज्म' नामक ग्रन्थ में डॉ. लोहिया ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि, "संसार में जितने भी प्रकार के अन्याय इस पृथ्वी को विषाक्त कर रहे हैं, उनमें से सबसे बड़ा अन्याय नर और नारी के भेद का है। संसार की विशाल मानवता किसी न किसी रूप में नारी की स्वतंत्रता में बाधक रही है। पूरा विश्व किसी न

किसी रूप में समानता का इच्छुक तो है, परन्तु आधी से ज्यादा मानवता नारी की स्वतंत्रता के प्रति उदासीन है। आज भी स्त्रियों को सामूहिक जीवन में पुरुषों के बराबर भाग लेने का अधिकार नहीं है।" उन्होंने कहा है कि, 'संसार की गरीबी के खिलाफ चाहे जितनी लड़ाइयां लड़ी जायें, वह उस समय तक सफलता नहीं प्राप्त कर सकतीं जब तक कि समाज में नारी को उसका मौलिक अधिकार नहीं दिया जायेगा।' इसीलिये डॉ॰ लोहिया ने नारी भेद और जाति भेद को सबसे ज्यादा खतरनाक बताया। डॉ॰ लोहिया के शब्दों में-

"समाजवादी आन्दोलन में यदि स्त्रियां भाग नहीं लेती है, या उनको भाग लेने का अवसर नहीं दिया जाता है, तो यह सारा आन्दोलन बिना वधू के विवाह-उत्सव जैसा लगेगा।"[1]

पुरुष ने स्त्री से दो विरोधी चीजों की आशा की है- प्रथम उसे तीव्र बुद्धिमान तथा सुन्दर होना चाहिये और द्वितीय उसे पूर्ण रूप से उसकी होना चाहिये। लेकिन कोई भी स्त्री/पुरुष तीव्र बुद्धि का तब तक नहीं हो सकता जब तक कि वह स्वतंत्र न हो। कोई भी स्त्री/पुरुष तब तक एक दूसरे के पूर्णरूपेण नहीं हो सकते जब तक कि वे एक वृक्ष अथवा खान जैसी आध्यात्मिक स्थिति में न पहुंच जायें।[2] डॉ0 लोहिया ने इन शब्दों को सदैव दोहराया है कि, "मैं आधा पुरुष और आधा स्त्री हूँ।" वास्तव में सबसे गरीब एवं सबसे निम्न स्तर के व्यक्तियों के साथ स्त्रियां निःसंदेह मानवता की सबसे अधिक शोषित वर्ग में रही हैं। डॉ0 लोहिया ने 'मार्क्स गांधी एण्ड सोशियलिज्म' के प्राक्कथन में लिखा है कि, "भूमि को ग्रसित करने वाले समस्त अन्यायों में से वे अन्याय जो लिंग भेद से पैदा होते हैं, तलशिला की भांति हैं। अधिकतर मानवता एक अथवा दूसरी असमानता का शिकार है, लेकिन इसका आधा भाग और अधिक नीचे है। रूस तथा अमरीका, जो यह दावा करते हैं कि, उन्होंने लिंगों के मध्य समानता प्राप्त कर ली है, में भी सामूहिक जीवन में स्त्रियों की भागीदारी सीमित है।"[3]

भारतीय समाज रूढ़िवादी है। यहां प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण में न करके उसके पूर्व के इतिहास को देखकर किया जाता है। इस व्यवस्था के

---

1. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म, पेज सं.- 350 (1963).
2. वही, पेज सं.- 31-32.
3. वही, पेज सं.- 32-33.

परिणामस्वरूप समाज के सोचने का ढंग बिगड़ गया है। इसी बात को घटित होते हम स्त्रियों को समाज में निम्न स्थान के क्रम में देखते हैं। नारी का वैदिककाल में एवं उसके पूर्व भी बहुत ही सम्माननीय स्थान था। इसीलिये कहा जाता था कि-

यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवताः

यत्रैतास्तु न पूज्यते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।

(अर्थात जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवता प्रसन्न रहते हैं, और जहां ऐसा नहीं होता वहां सब क्रियाएं व्यर्थ जाती हैं।)

एक युग वह था जब नारी की पूजा होती थी और दूसरा युग अब है, जब उन्हें प्रताड़ित किया जाता है। आज उन्हें पीटा जाता है। डॉ॰ लोहिया ने कहा था कि, लोग मुझसे पूछते हैं कि, अपने देश में स्त्रियों को क्यों पीटा जाता है। यह सचमुच एक दयनीय अवस्था है। लेकिन इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है, जिससे मनुष्य इतना निम्न स्तर को प्राप्त हो जाता है। वह मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि, "दफ्तरों में अफसरों की झिड़कियां खाते रहने के बाद जब मर्द घर जाता है, तो अपनी सारी झुंझलाहट पत्नी पर उतारता है।"[1] इस मनोवैज्ञानिकता के आधार पर भारतीय समाज में नारी के स्वाभिमान की रक्षा करना और भी कठिन हो जाता है। डॉ॰ लोहिया ने आधुनिक भारत की नारियों की अवस्था के बारे में कहा है कि-

"सम्पूर्ण भारत कष्टों में रहता है, इसमें तीन पुरुष और ग्यारह में आठ स्त्रियां हमारे देश में भूखे रहते हैं। हमारी परम्परा ऐसी है कि स्त्रियां अन्त में खाती हैं, जब सबों को खिला लेती है। सम्पन्न परिवारों में कोई तकलीफ नहीं है, किन्तु निर्धन परिवारों की स्त्रियों को अधिक कष्ट सहना पड़ता है। साधारणतः वैसे भी चीजें कम रहती हैं, अगर अतिथि आ गये, तो परिवार की स्त्री को बचा-खुचा-खाकर रहना पड़ता है, या भूखे ही रह जाना पड़ता है।"[2]

इतनी असमानताओं के बीच डॉ॰ लोहिया समानता लाना चाहते थे। उनका कहना था कि जब तक यह घोर असमानता का साम्राज्य अपने देश में व्याप्त है तब तक देश की प्रगति एक दिव्य स्वप्न है। चूंकि डॉ॰ लोहिया एक पत्नी व्रत के समर्थक थे इसलिये वह

---

1. डॉ॰ लोहिया का भाषण 21 जून, 1963, इन्दौर।
2. विजय कान्त दीक्षित एवं अन्य, लोहिया : बहुआयामी व्यक्तित्व, पेज सं॰-10 (1948).

बहुपत्नीवाद के कट्टर विरोधी थे। डॉ॰ लोहिया यह भी कहते थे कि, वह समाज बहुत ही गन्दा समाज है, जिसमें पुरुष को एक और चार पत्नियां रखने का अधिकार दिया जाता है, किन्तु स्त्री से कहा जाता है कि, एक पति के प्रति अपनी समर्पित निष्ठा बनाये रखे। यदि पुरुष के स्वेच्छाचारी होने पर उसके चरित्र में कोई दोष नहीं आता है तो फिर यदि एक स्त्री स्वेच्छाचारिणी है, तो उसे दोषी ठहराने का क्या औचित्य है ? स्त्रियों के दो ही बड़े अपराध होते हैं-

1) स्त्री का अपने स्वेच्छाचारिणी होने को छिपाना या झूंठ बोलना या वायदा खिलाफी करना।

2) बलात्कार, किसी पुरुष के साथ जबरदस्ती करना।

स्त्री के स्वेच्छाचारिणी होने में दोष नहीं है। एक स्त्री के शारीरिक सम्बन्ध किन्हीं दो से हो सकते हैं, लेकिन इस तथ्य को छिपाकर अपने को सच्चरित्र बनाने का ढोंग करना बुरा है। छिपाना बुरा है साथ ही किसी को बलपूर्वक मज़बूर करना (बलात्कार) भी बुरा है। डॉ॰ लोहिया स्त्री-पुरुष के यौनि आचार में इन्हीं विसंगतियों को अपराध मानते थे। उन्होंने पूरे समाज के सामने दो विकल्प रखा- या तो औरत को बनाओ परतंत्र, तब मोह छोड़ दो औरत को कोई बढ़िया बनाने का या फिर बनाओ उसको स्वतंत्र तब वह बढ़िया होगी जैसे मर्द बढ़िया होता है।

डॉ॰ लोहिया का मानना है कि, शरीर संरचना के मामले में मर्द के मुकाबले औरत कमज़ोर है और मालूम होता है, वह प्राकृतिक रूप से कमज़ोर है इसलिये उसे कुछ स्वाभाविक तौर पर ज्यादा स्थान देना ही पड़ेगा इसलिये पुरुषों को चाहिये कि, वह स्त्रियों को विशेष अवसर देकर आगे बढ़ायें। यह कहना कि, योग्यता की परख पर ही अवसर दिया जा सकता है, बिल्कुल गलत है, क्योंकि, योग्यता का भाव समान कार्यों में ही संभव है। आज के संदर्भों में यह आदर्श लागू नहीं किया जा सकता, आज के संदर्भ में तो पहले अवसर दीजिये तभी योग्यता की परख होगी। सतीप्रथा या जौहर आदि प्रथायें गलत हैं। स्त्री को पुरुष की तरह ही पूरा जीवन जीने का अवसर देना चाहिये। यदि वह अपने पति के प्रति विशेष रूप से प्रतिबद्ध है, तो उसे अपने पति के अधूरे काम को पूरा करना चाहिये। डॉ॰ लोहिया ने प्रश्न किया कि किसको पसन्द करोगे, ऐसी औरत पसन्द करोगे जो आपके प्रति अपना प्रेम अपनी भक्ति अपना आदर आपके मरने के बाद आपके शरीर के साथ या

शरीर के बिना जल कर दिखाये या ऐसी औरत पसन्द करोगे जो आपके साथ-साथ या आगे पीछे देश की रक्षा करते हुये खुद अलग से मरे। डॉ॰ लोहिया ऐसी नारी के प्रति आदर रखते थे, जो अपने प्रेम और अपनी भक्ति को अपनी समाप्ति की हद तक न ले जाकर उसे सार्थक जीवन का अंश बनाये ताकि उसे नष्ट न होना पड़े। उसे चाहिये कि, वह अपने भीतर एक ऐसा साहस और एक ऐसा उत्कर्ष पैदा करे कि, पति के मरने के बाद भी उसकी संकल्पित आकांक्षाओं को पूर्ण करने करने के लिये आगे बढ़ सके। 'नारी को गठरी के समान नहीं बनाना है, बल्कि नारी को इतना स्वयं काबिल होना चाहिये कि वक्त पड़ने पर पुरुष को गठरी बनाकर अपने साथ ले सके।[1]

डॉ॰ आम्बेडकर के समय एवं इसके पूर्व महात्मा बुद्ध पर इस प्रकार के आरोप लगाये गये थे कि, महात्माबुद्ध की शिक्षाओं के कारण भारतीय समाज में नारी की स्थिति निरन्तर गिरती गयी। डॉ॰ आम्बेडकर ने भारतीय समाज में नारी जाति की स्थिति पर गहराई से विचार किया और तटस्थ व्यक्ति की हैसियत से महात्मा बुद्ध पर लगाये गये आरोपों का सूक्ष्म अध्ययन व मनन किया। इसके बाद उन्होंने महिलाओं को अधिकार सम्पन्न बनाने के लिये अथक प्रयास किये। उन्होंने **"The Rise and fall of Hindu woman"** नाम से एक लेख कलकत्ता से प्रकाशित होने वाली 'महाबोधि पत्रिका' में मार्च 1951 ई॰ में छपवाया। बाद में यह लेख एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ।

डॉ॰ आम्बेडकर का विचार था कि, जब समाज में नारी को स्वतंत्रता थी और उसे पुरुषों के समान अपना विकास करने के अवसर प्राप्त थे तब भारतीय समाज प्रगति पर था, परन्तु जैसे ही नारी के अधिकारों का हनन हुआ वैसे ही समाज की प्रगति में रुकावट आयी।

प्राचीन मनीषी चिंतक मनु के समय के पहले तक भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति अच्छी थी। स्त्रियों को वेदों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। उन्हें गुरुकुलों में प्रवेश मिलता था। स्त्रियां न केवल वेद मंत्रों का उच्चारण करती थीं बल्कि वेदों की विभिन्न शाखाओं के अध्ययन में पारंगत भी थीं। स्त्रियां शिक्षक थीं एवं कन्याओं को पढ़ाती थीं। विशेष रूप से धर्म दर्शन एवं आध्यात्म के ज्ञान में स्त्रियां बहुत निपुण थीं। प्राचीनकाल में देश के बौद्धिक एवं सामाजिक जीवन में महिलाओं की स्थिति बहुत अच्छी थी। स्त्रियां भी

1. डॉ॰ लोहिया जाति प्रथा, पेज सं॰- 141 (1981).

पुरुषों की भांति उपनयन संस्कार की अधिकारिणी थीं और सामान्यतया ब्रह्मचर्य की समाप्ति के पश्चात ही उनका विवाह होता था। महात्माबुद्ध ने समाज में नारी की स्थिति को उठाने के लिये बहुत प्रयास किया। उन्होंने नारी व पुरुष में भेद नहीं किया। पुरुषों की ही भांति बुद्ध ने स्त्रियों को धर्म की दीक्षा, सन्यास अथवा परिव्रजत्व की अनुमति प्रदान कर नारी को पुरुषों के समान धार्मिक अधिकार प्रदान किया है। धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये उन्होंने भिक्षु संघों की भांति भिक्षुणी संघों की भी स्थापना की।[1]

बुद्ध का कहना था कि, इस बात का कोई आधार नहीं है कि पुत्र जन्म से पुत्री से अधिक योग्य होता है। कन्या पुत्र से अधिक बुद्धिमान और गुणी हो सकती है। इसलिये कन्या के जन्म पर माता-पिता को दुखी नहीं होना चाहिये। महात्मा बुद्ध स्त्री को सृष्टि की सर्वोच्च कृति मानते थे क्योंकि, वही बोधि-सत्व एवं विश्व सम्राटों को जन्म देती है। बुद्ध के अनुसार, नारी उन सात रत्नों में से एक है जो व्यक्ति को चक्रवर्ती बनाते हैं। उन्होंने कहा था कि जो व्यक्ति, परिवार या समाज स्त्री को स्वतंत्रता एवं अधिकार प्रदान नहीं करता उसका विनाश हो जाता है।[2]

स्पष्ट है कि, प्राचीनकाल में एक समय ऐसा था जबकि भारतीय समाज में स्त्रियों का बहुत आदर किया जाता था। उन्हें शिक्षा, आत्म-विकास, विवाह, तलाक एवं सम्पत्ति सम्बन्धी आवश्यक अधिकार भी प्राप्त थे किन्तु बाद में उनकी दशा बहुत खराब हो गयी। वे पुरुषों की जीवन संगिनी नहीं वरन उनकी दासी बन गयी।

अतः प्रश्न है ऐसा क्यों हुआ/नारी के पतन के लिये उत्तरदायी कौन है ?

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार भारतीय समाज में नारी के पतन के लिये प्राचीन भारतीय मनीषी 'मनु' उत्तरदायी हैं। मनु ने वर्गीय हित एवं स्वार्थ से प्रेरित होकर मानव धर्मशास्त्र के रूप में एक ऐसे सामाजिक विधान की रचना की जो समाज में स्त्रियों के पतन का कारण बना-

मनुस्मृति के अनुसार स्त्रियां निम्न होती हैं, उनमें अशुद्ध इच्छाओं, कुविचार, बेवफाई तथा कुआचरण का वास होता है।[3] पुरुष को आकर्षित कर अपने वश में करना स्त्री

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, द राइज एण्ड फाल ऑफ हिन्दू वूमेन, 1977.
2. डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर राइटिंग्स एण्ड स्पीच खण्ड-3.
3. मनु : मनुस्मृति, अध्याय- 9, श्लोक- 17.

का स्वभाव है, इसलिये स्त्रियों के सम्पर्क में पुरुष कभी भी सुरक्षित नहीं रहता।[1] स्त्री केवल मूर्ख को ही नहीं अपितु विद्वान को भी जला सकती है और उसे इच्छाओं का दास बना सकती है।[2] स्त्री पुरुष के सौन्दर्य अथवा आयु का विचार नहीं करती, वह स्वयं को सुंन्दर अथवा कुरूप व्यक्ति को भी समर्पित कर सकती है।[3] स्त्री पर चाहे कितनी ही चौकसी क्यों न रखी जाये वह अपने पति के प्रति बेवफा हो सकती है।[4] 'स्त्री को बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति वृद्धावस्था में अथवा पति की मृत्यु के बाद पुत्र के अधीन रहना चाहिये। स्त्री को कभी-भी स्वतंत्र या आत्म-निर्भर नहीं रहना चाहिये।[5]

मनु ने न केवल स्त्री की स्वतंत्रता का अपहरण करके उसको पुरुष के अधीन बना दिया, बल्कि उसको आत्मनिर्णय के अधिकार से भी वंचित कर दिया। मनु ने उपनयन एवं शिक्षा के अधिकार से नारी को वंचित करते हुये नारी समाज को बहुत बड़ा आघात पहुंचाया। उन्होंने विवाह को नारी का प्रमुख संस्कार और पति की सेवा ही उसका सबसे बड़ा धर्म बताया। मनु का कहना है कि, पत्नी के लिये किसी प्रकार की पूजा उपवास या व्रत रखने की आवश्यकता नहीं है। पति की सेवा और उसकी आज्ञा का पालन करना ही पत्नी का सबसे बड़ा धर्म है, इससे उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[6]

मनु का कहना था कि, जो पिता अपनी कन्या का विवाह उसके रजस्वला होने के पूर्व नहीं करता वह पाप का भागी होता है। मनु के इस नियम का दुष्परिणाम यह हुआ कि, समाज में स्त्रियों का विवाह अल्पायु में होने लगा। ऐसा होने से अपने जीवन साथी के चुनाव में स्त्रियों की भूमिका नगण्य हो गयी। मनु ने नारी एवं शूद्र को न केवल शैक्षिक बल्कि आर्थिक अधिकार से भी वंचित किया। मनु के अनुसार स्त्री, शूद्र और दास के पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती। जो कुछ भी उसके पास है वह उसके स्वामी का है।[7]

---

1. मनु : मनुस्मृति, अध्याय- 2, श्लोक- 213.
2. मनु : मनुस्मृति, अध्याय- 2, श्लोक- 24.
3. मनु : मनुस्मृति, अध्याय- 9, श्लोक- 14.
4. मनु : मनुस्मृति, अध्याय- 9, श्लोक- 15.
5. मनु : मनुस्मृति, अध्याय- 9, श्लोक- 3. एवं अध्याय- 5, श्लोक- 148.
6. मनु : मनुस्मृति, अध्याय- 5, श्लोक- 155.
7. मनु : मनुस्मृति, अध्याय- 9, श्लोक- 416.

नारी के लिये इस प्रकार के प्रतिबन्धों का प्रावधान करके मनु ने न केवल उसे घर की चाहार दीवारी में बन्द कर दिया बल्कि उसके सामाजिक दायित्व को बहुत ही सीमित कर दिया। परिणामस्वरूप समाज की प्रगति में नारी का योगदान न के बराबर हो गया और समाज की प्रगति रुक गयी।

मनु ने नारी विरोधी कानून क्यों बनाये ?

डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार, यद्यपि नारी के पतन के लिये प्रयत्क्ष रूप से मनु ही उत्तरदायी हैं परन्तु नारी की अवनति का अतीत मनु से कहीं अधिक पुराना है। भारत में नारी का पतन ब्राह्मणवाद के उत्थान से शुरू होता है और ब्राह्मणवाद ही नारी की अवनति के लिये उत्तरदायी है। मनु तो ब्राह्मणवाद की उपज थे जिन्होंने प्रचलित सामाजिक धारणा को कानून का स्वरूप प्रदान किया स्त्री की स्वतंत्रता और ब्राह्मणवाद में जन्मजात अन्तर्द्वन्द रहे हैं।

डॉ. आम्बेडकर का मानना है कि, नारी एवं शूद्र आर्य समाज के दो ऐसे वर्ग थे जो बौद्ध धर्म की ओर सरलता से आकर्षित हुये, जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म के सम्मुख ये वर्ग सबसे बड़ी चुनौती साबित हुये। इसलिये इन वर्गों को शिक्षा, आत्म विकास तथा अन्य सामाजिक अधिकारों से वंचित कर बौद्धिक एवं सामाजिक दृष्टि से दास बनाना ब्राह्मणों के लिये आवश्यक था। मनु द्वारा स्त्रियों पर अनेक अयोग्यतायें थोपने का यही कारण है। क्योंकि, मनु जानते थे कि, बौद्ध धर्म के आक्रमण से ब्राह्मणवाद की यदि रक्षा करनी है तो स्त्रियों पर प्रतिबन्ध लगाने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

अतः अब आवश्यकता है नारी के उत्थान की- डॉ. अम्बेडकर का कहना था कि, नारी की प्रगति के बिना, नारी के उत्थान के बिना समाज की प्रगति संभव नहीं है। उन्होंने कहा था कि, 'मैं किसी समाज की प्रगति इस आधार पर मापता हूं कि उस समाज में नारी ने किस सीमा तक प्रगति की है।''[1]

डॉ. आम्बेडकर चाहते थे कि, अब स्त्री वर्ग सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों के सुधार में पीछे न रहें।

19, 20 मार्च 1927 ई. को महाराष्ट्र के कोलाबा जिले के महाड़ गांव के चौबदार तालाब सत्याग्रह में भाग लेने हेतु डॉ. आम्बेडकर ने पुरुषों के साथ दलित महिलाओं का भी

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन (1981).

आह्वान किया। उनका कहना था कि, "तुम्हारी कोख से जन्म लेना आज पाप समझा जाता है। तुम हमारी मां और बहने हो, हमें अगर हीन समझा जाता है, तो क्या तुम्हें बुरा नहीं लगता। समाज में तुम्हें जो कष्ट भोगने पड़ रहे हैं, उन्हें तुम स्वयं भी अच्छी तरह जानती हो। अतः तुम्हें स्पष्टतः यह तय करना है कि, इस सत्याग्रह में भाग लेना है या नहीं, क्योंकि संघर्ष के बिना कुछ नहीं मिल सकता है।"[1]

महाड़ सत्याग्रह की ही तरह नासिक के कालाराम मन्दिर तथा पूना, कानपुर, लखनऊ एवं मद्रास आदि स्थानों पर हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश हेतु आन्दोलनों में डॉ. आम्बेडकर के आह्वान पर पुरुषों के साथ महिलाओं ने भी बढ़-चढ़कर भाग लिया। भूमिहीन कृषकों में कृषि योग्य भूमि आवंटित किये जाने हेतु डॉ. आम्बेडकर द्वारा संचालित आन्दोलनों में भी दलित महिलाओं ने पुरुषों के साथ भारी संख्या में भाग लिया।

डॉ. आम्बेडकर ने नारी की समृद्धि में आस्था प्रकट करते हुये उन्हें सलाह दी कि-

1) साफ या स्वच्छता से रहना सीखो,

2) बुराइयों से दूर रहो,

3) अपने बच्चों को शिक्षित बनाओ,

4) बच्चों के अन्दर से हीन भावनाओं को निकालो,

5) उनमें महान आदर्शों का संचार करो,

6) उनके मस्तिष्कों में यह बात जमा दो कि उन्हें महान बनना है और उनके लिये सर्वोच्च प्रगति का मार्ग खुला है, एवं

7) शादी विवाह करने में शीघ्रता मत करो।[2]

विवाह एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। माता पिता को इस उत्तरदायित्व को अपने बच्चों पर बचपन में शीघ्र ही नहीं थोपना चाहिये। बच्चों को पहले इस योग्य बनाया जाये कि, वे इन कार्यों को पूरा करने में पूर्ण समर्थ हों। हिन्दू समाज में, बाल-विवाह प्रथा से अनेक बुराइयों का प्रादुर्भाव हुआ है। यहां तक कि मुस्लिम समाज भी बाल विवाह की बुराइयों से मुक्त नहीं है। हिन्दू-मुस्लिम समाज में प्रचलित बाल-विवाह प्रथा से अनावश्यक आबादी में भी बढ़ोत्तरी हुई है, जो आज देश के समक्ष एक विकराल समस्या के रूप में

---

1. डी. डी. राउत, नारी उत्थान आन्दोलन के अग्रगण्य दूत, डॉ. आम्बेडकर (1979).
2. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-350 (1981).

विद्यमान है। डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि, "माता-पिता का यह महान कर्तव्य है कि, वे अपने बच्चों को अपने से अधिक शिक्षित होने का अवसर दें इसके अतिरिक्त प्रत्येक लड़की जो विवाह करती है, उसे अपने पति के साथ-साथ चलना चाहिये और अपने पति का कभी भी दास बनना स्वीकार नहीं करना चाहिये।

परम्परागत भारतीय समाज में नारी अनेक निर्योग्यताओं से ग्रस्त थी। उसे शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। वह वयस्क होते हुये भी अपनी इच्छानुसार अपनी जाति या सम्प्रदाय से बाहर के किसी व्यक्ति से विवाह नहीं कर सकती थी। पुरुष तो एक से अधिक विवाह कर सकता था। वह अपनी पत्नी अथवा पत्नियों को त्याग भी सकता था। उन पर अत्याचार कर सकता था, किन्तु पत्नी अपने पति को त्याग नहीं सकती थी और न ही पुनर्विवाह कर सकती थी। कोई स्त्री न तो किसी की दत्तक संतान बन सकती थी और न ही किसी को गोद ले सकती थी। स्त्री को अपने पिता, पति अथवा पुत्र की सम्पत्ति पर कोई अधिकार भी नहीं था। तात्पर्य यह है कि, नारी पूर्णतया असहाय, अबला और पराधीन थी।

समाज में नारी को पुरुष के समान स्वतंत्रता एवं अधिकार दिलाने के लिये डॉ॰ आम्बेडकर ने अमूल्य योगदान दिया। डॉ0 आम्बेडकर के नेतृत्व में बने भारतीय संविधान (अनु0 14, 15) में लिंग के आधार पर पुरुष एवं स्त्री के बीच सामाजिक भेदभाव को समाप्त कर दिया गया है। (संविधान के अनु॰ 23 के माध्यम से बच्चों व स्त्रियों की बिक्री तथा उनसे बेगार लेने पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया। संविधान द्वारा नारी को स्वतंत्रता व समानता का अधिकार प्रदान किये जाने से सिद्धान्तः नारी की सामाजिक स्थिति में सुधार तो अवश्य आया किन्तु स्वतंत्रता और समानता की संवैधानिक प्रत्याभूति मात्र से सदियों से उपेक्षित नारी को परम्परागत दासता से क्या मुक्ति मिल जायेगी ? इस सम्बन्ध में डॉ॰ आम्बेडकर का सोचना था कि, विवाह और सम्पत्ति पर अधिकार सम्बन्धी प्रचलित कानूनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये बिना नारी की मुक्ति सम्भव नहीं है। अपनी इस सोच को वास्तविकता में बदलने के लिये तथा नारी को यथार्थतः अधिकार सम्पन्न बनाने के लिये उन्होंने 39 पृष्ठों की एक व्यापक सामाजिक विधान की रूपरेखा 'नवम्बर 1950 ई॰ में एक विधेयक के रूप में बनायी जिसे 'हिन्दू कोड विल' के नाम से जाना जाता है।

हिन्दू कोड बिल में कन्या के विवाह की निर्धारित तत्कालीन न्यूनतम आयु में वृद्धि,

एक विवाह का अनिवार्य किया जाना, अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता, स्त्रियों को पुरुषों के समान तलाक का अधिकार, तलाकशुदा स्त्री को अपने पति से भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार, विधवा पुनर्विवाह को मान्यता, स्त्री को पुत्री, पत्नी एवं माँ के रूप में पारिवारिक सम्पत्ति पर अधिकार, स्त्री को गोद लिये जाने एवं गोद लेने के अधिकार आदि का प्रावधान था।

कानून मंत्री के रूप में हिन्दू कोड बिल को डॉ॰ आम्बेडकर ने संसद के समक्ष सर्वप्रथम 5 फरवरी 1951 ई॰ को प्रस्तुत किया, लेकिन बिल पर चर्चा पूरी नहीं हो सकी। 17 सितम्बर 1951 ई॰ को यह बिल संसद में पुनः प्रस्तुत किया गया। संसद और संसद के बाहर रूढ़िवादी तत्वों के विरोध के कारण हिन्दू कोड बिल मूल रूप में पारित नहीं हो सका और उसे स्थगित करना पड़ा। डॉ॰ आम्बेडकर ने 27 सितम्बर 1951 को कानून मंत्री पद से त्याग-पत्र दे दिया। आगे चलकर हिन्दू कोड बिल के प्रावधानों को अलग-अलग अधिनियमों के रूप में संसद ने पारित कर दिया।

डॉ॰ लोहिया महिला अधिकारों के पूर्ण समर्थक थे, इसीलिये उन्होंने सात क्रान्तियों में से एक क्रान्ति नर-नारी में समता स्थापित करना माना। उनकी दृष्टि में नर-नारी के भेद को खत्म किये बिना दूसरी असमानताओं को खत्म करना असम्भव है। उन्होंने माना कि, भारतीय समाज रूढ़िवादी है, परिणामतः उसके सोचने का ढंग बदल गया है। एक समय वह था जब नारी की पूजा होती थी और एक समय अब है जब उसे प्रताड़ित किया जाता है। जब तक यह घोर असमानता का साम्राज्य अपने देश में व्याप्त है, तब तक देश की प्रगति एक दिव्य स्वप्न है। डॉ॰ लोहिया एक विवाह के समर्थक और बहु-विवाह के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने 'झूंठ बोलने' और 'किसी पुरुष के साथ जबरदस्ती करने' को महिलाओं के सबसे बड़े अपराध माने हैं। वे शरीर संरचना एवं प्राकृतिक रूप से स्त्री को कमज़ोर मानते थे इसलिये उसके उत्थान हेतु उसे कुछ विशेष अवसर दिये जाने के इच्छुक थे। उनकी दृष्टि में महिलाओं को पहले अवसर देना पड़ेगा और तब बाद में उनकी योग्यता देखना होगा। उन्होंने सतीप्रथा या जौहर प्रथा को गलत कहा और स्त्रियों को पुरुषों की तरह ही पूरा जीवन जीने का अवसर दिये जाने का समर्थन किया। डॉ0 लोहिया का निष्कर्ष था कि, नारी को गठरी के समान नहीं बनाना है, बल्कि नारी को इतना स्वयं काबिल होना चाहिये कि वक्त पड़ने पर पुरुष को गठरी बनाकर अपने साथ ले सके।

वास्तव में नारी का उत्थान करने के लिये नारी अधिकारों का समर्थन किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। नारी समाज का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है, नारी के बिना पुरुष और पुरुष के बिना नारी का अस्तित्व असम्भव है। दूसरे शब्दों में ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं फिर इनमें एक ऊँचा और दूसरा निम्न कैसे हो सकता है ? परन्तु दुर्भाग्य से लिंग भेद समाज में देखने को मिलता है। भारत में लिंग भेद या महिलाओं की दुर्बल स्थिति के लिये यहाँ का रूढ़िवादी समाज एवं वर्षों से स्थापित विदेशियों का शासन जिम्मेदार रहा है। अब जबकि यह सत्य दुनिया के सामने आ चुका है कि महिलाओं का उत्थान किये बिना पूरे समाज का उत्थान सम्भव नहीं है, तो महिलाओं को पुरुषों के समान सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक अधिकार सौंपना अत्यधिक आवश्यक है इतना ही नहीं चूंकि महिलाओं की स्थिति पुरुषों की तुलना में पिछड़ी हुई है इसलिये उसे आगे बढ़ाने के लिये कुछ विशेष अवसर भी दिये जाने की आवश्यकता है। महिलाओं को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार सौंपकर उसे स्वावलम्बी एवं आत्म-निर्भर बनाया जाना चाहिये तथा उसकी हीन व दुर्बल स्थिति को दूर करने के लिये उसे शिक्षित व सुसंस्कृत बनाया जाना चाहिये। लिंग भेद को समाप्त करने के लिये यह उपाय तभी कारगर होंगे जब पुरुष प्रधान समाज में उच्च एवं निम्न वर्ग के सभी लोगों के सोचने के ढंग में परिवर्तन आये। आज लोगों को अपनी मानसिकता में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। उन्हें यह बात अपने दिमाग में बैठानी होगी कि महिलाएं किसी भी दृष्टि से कमज़ोर नहीं है यदि उन्हें उनके अधिकार प्रदान कर दिये जायें तो नारी वह सब कुछ कर सकती है जो पुरुष कर सकता है। इसका जीता जागता उदाहरण है भारतीय मूल की अमेरिकी अंतरिक्ष यात्री 'सुनीता विलियम्स', जिन्होंने सबसे अधिक 6 महीने से ऊपर अंतरिक्ष में रहने का रिकार्ड कायम किया है। अतः हमें महिलाओं को उसके अधिकार सौंपकर उसके उत्थान का प्रयास करना होगा जिससे पूरे देश व समाज का उत्थान हो सके।

डॉ. आम्बेडकर भी महिलाओं का उत्थान चाहते थे और उनको अधिकार सम्पन्न बनाना चाहते थे। उनकी दृष्टि में जब भारतीय समाज में नारी को स्वतंत्रता थी और उसे पुरुषों के समान अपना विकास करने के अवसर प्राप्त थे तब भारतीय समाज प्रगति पर था। परन्तु जैसे ही नारी के अधिकारों का हनन हुआ वैसे ही समाज की प्रगति में रुकावट आयी। डॉ. आम्बेडकर ने यह माना है कि महात्माबुद्ध ने समाज में नारी की स्थिति को

उठाने के लिये अनेक प्रयास किये जबकि प्राचीन मनीषी 'मनु' ने मानव धर्मशास्त्र के रूप में सामाजिक विधान की रचना की जो महिलाओं के पतन का कारण बनी। भारत में नारी का पतन ब्राह्मणवाद के उत्थान से शुरू होता है और ब्राह्मणवाद ही नारी की अवनति के लिये उत्तरदायी है। डॉ॰ आम्बेडकर की दृष्टि में नारी की प्रगति के बिना या नारी के उत्थान के बिना समाज की प्रगति सम्भव नहीं है। उन्होंने महिलाओं को अपने अधिकार प्राप्त करने के लिये स्वयं संघर्ष का रास्ता अपनाने की सलाह दी तथा नारी की समृद्धि में आस्था प्रकट करते हुये उन्हें अच्छाइयों को अपनाने तथा बुराइयों से दूर रहने की सलाह दी। उन्हें खुद शिक्षित होने तथा अपने बच्चों को शिक्षित करने के लिये कहा। उन्होंने लड़कियों का विवाह जल्दी न करने की सीख दी क्योंकि बाल-विवाह से अनेक बुराइयों का प्रादुर्भाव होता है। उन्होंने नारी को विवाह के बाद अपने पति का दास नहीं बनने की सिफारिश की। डॉ॰ आम्बेडकर ने भारतीय संविधान तथा 'हिन्दू कोड बिल' के माध्यम से नारी को सशक्त बनाने का प्रयास किया। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत अनुच्छेद 14 एवं 15 में लिंग के आधार पर पुरुष एवं स्त्री के बीच सामाजिक भेदभाव को समाप्त कर दिया गया है तथा अनुच्छेद 23 में बच्चों एवं स्त्रियों की बिक्री व उनसे बेगार लेनें पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। हिन्दू कोड बिल में लड़की के विवाह की तत्कालीन आयु में वृद्धि करना, एक विवाह का अनिवार्य किया जाना, अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता, स्त्रियों को तलाक का अधिकार, विधवा पुनर्विवाह को मान्यता, स्त्री को पुत्री, पत्नी व मां के रूप में पारिवारिक सम्पत्ति पर अधिकार आदि का प्रावधान किया गया था। वर्तमान में यह संविधान का अंग बन चुके हैं।

डॉ॰ आम्बेडकर के द्वारा नारी के उत्थान का समर्थन करना ठीक है क्योंकि समाज में व्याप्त किसी भी प्रकार का विभेद उसके उत्थान में बाधक सिद्ध होता है। परन्तु उन्होंने नारी के पतन के लिये प्राचीन मनीषी एवं चिंतक 'मनु' को उत्तरदायी ठहराया है जिसे स्वीकार करना कठिन है क्योंकि किसी भी समय में कोई एक व्यक्ति अकेले नारी के पतन के लिये जिम्मेदार नहीं हो सकता। वास्तव में भारत में नारी के पतन के लिये यहां का अंध-विश्वासी, रूढ़िवादी समाज और विदेशी शासन जिम्मेदार रहा है। इसी कारणवश नारी की अवनति हुई। भारत में स्थापित विदेशी शासन ने यह कभी नहीं चाहा कि यहां नारी को अधिकार प्रदान करके सशक्त एवं जागरूक किया जाये। उसने सिर्फ यहां की औरतों का

शोषण किया जिससे नारी की स्थिति अत्यन्त दुर्बल होती गयी। वैसे डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा महिलाओं के उत्थान हेतु किये गये प्रयास इस दिशा में उपयोगी साबित हुये हैं और स्वतंत्रता के पूर्व भारत में विद्यमान महिलाओं की स्थिति की तुलना में वर्तमान में काफी परिवर्तन देखा जा सकता है। महिलाओं को समानता का अधिकार दिये जाने से भारत में कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें महिलाओं की भागीदारी न हो, यद्यपि अभी भी पुरुषों का प्रतिशत अधिक है जिसमें धीरे-धीरे सुधार आने की सम्भावना है। महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार दिये जाने से वे आत्म-निर्भर व स्वावलम्बी बन सकीं हैं। परन्तु अभी भी दूरस्थ इलाकों में महिलाओं की दशा दयनीय है, वहाँ महिलाओं में शिक्षा एवं जागरूकता की आवश्यकता है जिसका प्रबन्ध सरकार द्वारा किया जाना चाहिये। हिन्दू समाज में एक विवाह का अनिवार्य किया जाना एवं लड़की के विवाह की न्यूनतम आयु 18 वर्ष निर्धारित किये जाने से भी महिलाओं की स्थिति में सुधार आया है, उनके शोषण में कमी आयी है परन्तु महिलाओं की स्थिति में अभी बहुत सुधार होना शेष है जिसके लिये नारी को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होकर संघर्ष करना होगा। बुद्धिजीवियों को चाहिये कि नारी वर्ग के कल्याण के लिये भारत के दुर्गम इलाकों में जहां नारी की स्थिति अभी भी दयनीय है वहां शिक्षा का प्रसार करें व नारी को उनके अधिकारों से अवगत करवायें जिससे उनका उत्थान सम्भव हो सके। साथ ही साथ ऐसे लोग जो अभी भी परम्परागत विचारधारा से ग्रस्त हैं जिनके लिये नारी निम्न, कमज़ोर, अबला व असहाय है, उन्हें अपनी सोच में परिवर्तन लाना होगा और देश व दुनिया में उपलब्ध महिलाओं के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में दिये जा रहे योगदान से भरे उदाहरणों से सीख लेनी होगी। तभी नारी को अधिकार सम्पन्न बनाया जा सकेगा और देश की प्रगति हो सकेगी।

6.3. 'दलित विमुक्ति'-

डॉ॰ लोहिया में जन्म से ही दीन-दुखियों, दलितों, पीड़ितों, अपाहिजों आदि के प्रति करुणा संकुल सहानुभूति थी।[1] वे सिद्धान्तनिष्ठ राजनीति के कट्टर पक्षधर थे। अन्याय, शोषण, गुलामी आदि के प्रति उनका स्वर आक्रोशित था। इसी कारण उन्होंने अनेकानेक बार अपमान सहे, यातनाएं भोगी, परन्तु उन्होंने अपने सिद्धान्तों को नहीं त्यागा। वे सदैव कर्तव्यनिष्ठ रहे। उनको इसीलिये रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'भाग्यवाद के विरोधी',

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 29 (1963).

निश्छल आदर्शवादी कहा है और उनके व्यक्तित्व को आजीवन विस्फोटक माना।[1] समान असंगति, चौखम्भा योजना, वाणी की स्वतंत्रता और कर्म नियंत्रण अन्तर्राष्ट्रीय जाति प्रथा, विश्व-समाजवाद का नवदर्शन इत्यादि सिद्धान्त उनके अप्रतिम कृतित्वमूलक सिद्धान्तों के जीवन्त उद्धरण हैं। 'इतिहास-चक्र' उनके अभिनव चिन्तन का प्रमाण है। वे सुलझे हुये मस्तिष्क के थे। स्वतंत्रता, समानता और एकता की त्रिशक्ति के समन्वय के पक्षधर थे। आइंस्टीन ने इसीलिये से उनके बारे में कहा था कि, वे स्वतंत्र मस्तिष्क वाले इन्सान हैं।[2] डॉ॰ लोहिया उर्वरा शक्ति के मानक थे। वे परिवर्तन चाहते थे। इसी से उनका व्यक्तित्व विस्फोटक प्रतीत हुआ था। उनकी निम्नलिखित बातों से यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है-

1) डॉ॰ लोहिया क्रान्तिकारी संगठन बनाना चाहते थे।[3] उसमें उलट-पुलट होंगी, इसी से विकास का मार्ग प्रशस्त होगा।

2) वे चाहते थे, पहले लोगों का मन तो हिले, उनमें विश्वास तो जागे कि अन्दर से भी राज्य बदला जा सकता है।[4]

3) वे नैतिकता के जोर पर क्रान्तिकारी गतिविधियों की बातें करते थे और मानते थे कि, यह पथ अलग है। यह पथ है, समभाव का, बराबरी का, यह पथ है मातृभाषा का, यह पथ है पिछड़े समूहों और गरीब इलाकों के लिये विशेष अवसर का, यह पथ है शान्ति और विश्व-व्यवस्था का।[5]

पद-दलित वर्ग तथा निम्न जाति के प्रति डॉ0 लोहिया में एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पीड़ा थी। वे उनमें 'अधिकार बोध' को जगाना चाहते थे और जगाना चाहते थे स्वाभिमान को। उनका तर्क था कि, उनके लिये फिलहाल कर्तव्य की बात गौण है। वे अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करें, उसी से उनका पिछड़ापन दूर होगा और वे सुसंस्कृत भी इसी से होंगे। वे अपने अधिकारों का प्रयोग करना जाने। न केवल उच्च पदों पर आसीन हो जायें, बल्कि पदाधिकार का बोध उनमें स्वाभिमान की चेतना को जगा सके, यह निहायत जरूरी है।

---

1. 'धर्मयुग', 24 मार्च, 1968, पेज सं.- 10.
2. J.R. Harris Wofford, Lohia and An erica meet, p. 66.
3. डॉ॰ लोहिया, सरकार से सहयोग और समाजवादी एकता, पेज सं.- 15.
4. डॉ॰ लोहिया, समदृष्टि, पेज सं.-18 (1966).
5. वही, पेज सं.- 1.

डॉ. लोहिया देख रहे थे कि, सर्वहारा वर्ग में से कोई ऐसा नहीं है, जिसके पास तीन गुण हों- न उनके पास **'जातीय स्वाभिमान'** है, न **'अर्थ सम्पन्नता'** है और न **'आंग्लभाषा का अवबोध'** है। हिन्दुस्तान में यदि किसी व्यक्ति को गौरव से रहना है, तो उसके लिये इन तीन गुणों की बहुत जरूरत है। बूर्जुआ वर्ग का इन तीनों गुणों पर एकाधिकार है। इसी आधार पर वर्गों का अस्तित्व बना हुआ है और बराबर बना रहेगा। यही कारण है कि, पूंजीपति का शोषण-चक्र बराबर घूमता रहेगा। वे चाहते थे कि, समाज के विभिन्न तबकों के बीच सम्माननीय संबंध बने और वे एक-दूसरे के लिये कार्य करें। वे एक दूसरे के महत्व को समझें।

डॉ. लोहिया की समाजवाद में अटूट आस्था थी। केवल अर्थ सम्पन्नता अथवा आर्थिक स्वावलम्बन से समाजवाद का सपना सच होता हुआ वे नहीं मानते थे। समाजवाद की संस्थापना में अर्थ भी एक आधार है। न्यूनतम तथा अधिकतम आमदनी में बहुत ज्यादा फर्क है। यह फर्क दूर हो और सब अर्थ की दृष्टि से इतने सम्पन्न हों कि आराम से जी सकें। सम्पत्ति पर विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग यह कभी नहीं चाहेगा कि वह अपने इस अधिकार को खो दे। वह बदलती परिस्थितियों में इतना जरूर करेगा कि कतिपय दूसरे उपाय काम में लाये ताकि उसको प्राप्त विशेषाधिकारों पर आंच न आये, अपितु वे अन्दर ही अन्दर सुदृढ़ हो जाये। उसकी इस चालाकी का डॉ. लोहिया ने अनेक बार पर्दाफाश किया और अर्थतन्त्र से समतावादी समाज की संस्थापना के बारे में समझाया। आर्थिक समता से उनका यह अर्थ कभी नहीं था कि सबको अर्थ बराबर बांट दिया जाये या सबका वेतन समान कर दिया जाये। उससे उनका अर्थ था कि अर्थ के कारण समाज में जो विषमता व्याप्त है, वह घटे और अनिवार्य अर्थ सबको मिले जिससे अर्थाभाव दलितों के मार्ग में नहीं आये और वे आर्थिक विपन्नता का अनुभव नहीं करें।

डॉ. लोहिया के अनुसार, "जब मैं शूद्रों के उठाने की बात कहता हूँ तो आप ऐसा न समझें कि यह द्विजों का केवल फर्ज है और स्वार्थ नहीं। मैंने बनियाइनों और ब्राह्मणों की दुनिया को देखा है और उसे इज्जत करना भी सीखा है। लेकिन धोबिन, भंगिनों की दुनिया को मुझ जैसा आवारा भी न देख सका मुझे ऐसा लगता है कि, इसमें और उन्हीं की तरह आदिवासियों में एक सहज आनन्द और स्वच्छन्दता की शक्ति है, जो द्विजों में प्रायः लोप हो चुकी है। अगर जाति-पांति की दीवारें न हों, तो जाने कितने द्विज लड़कों का ध्यान धोबिनों

और भंगिनों की तरफ खिचे जो उनके और देश के लिये कल्याणकारी हो और इस दृष्टि से "जब आप इस वृत्ति को अपना लेंगे तो यह कभी नहीं कहेंगे कि शूद्रों का उत्थान केवल शूद्रों से हो सकता है। शूद्र और द्विज दोनों मुर्दा पड़े हैं। शूद्रों को द्विज उठायेंगे और द्विजों को शूद्र। हो सकता है कि इस सिद्धान्त को कारगर करने में हजारों कठिनाइयों का सामना करना पड़े, लेकिन इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं।"[1]

दलितों की मुक्ति के लिये डॉ. आम्बेडकर पूर्णतया समर्पित थे। परम्परागत दासता से मुक्त होकर दलित सामाजिक विकास में अन्य लोगों के साथ समान रूप से भागीदार बने यह डॉ. आम्बेडकर के चिन्तन एवं कार्य का प्रमुख लक्ष्य था। इस लक्ष्य की पूर्ति तब तक संभव नहीं थी, जब तक कि, दलितों की परम्परात्मक निर्योग्यताओं को समाप्त कर उनकी विविध समस्याओं का निराकरण नहीं किया जाता।

डॉ. आम्बेडकर का दलितों की निर्योग्यताओं को समाज एवं शासन के सम्मुख रखना तथा उनके हितों के लिये किये जाने वाले संघर्ष का नेतृत्व करने के लिये आगे आना स्वाभाविक था उनका कहना था कि, यदि बाल-गंगाधर तिलक ब्राह्मण की जगह अछूत जाति में पैदा हुये होते तो वे यह नहीं कहते कि, स्वतंत्रता मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है, और मैं उसे लेकर रहूँगा। वे यह कहते कि, अस्पृश्यता उन्मूलन मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है, और मैं इसका उन्मूलन करके रहूंगा।[2]

डॉ. आम्बेडकर ने दलितों को सलाह देते हुये कहा है कि, अपने आन्दोलन का ध्येय अन्याय, जुल्म, झूंठी परम्पराओं और विशिष्ट अधिकार का निर्मूलन कर लोगों को गुलामी से मुक्त करना है। अपने निरन्तर, अखण्ड आन्दोलन की वजह से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ी है। मृत जानवरों का मांस भक्षण मत करो, फिर हम क्या खायें यह पूछने वाले लोगों से मैं कहना चाहता हूं कि, परिस्थिति में सुधार लाने के लिये पतिव्रता वेश्या के जीवन को नहीं अपनाती। सम्मान के साथ जीना सीखो। उच्च महत्वाकांक्षा मन में रखो। जो संघर्ष करते हैं, उन्हें ही फल मिलता है। नैराश्य का युग समाप्त हो गया है। नये युग का प्रारम्भ हो गया है। तुम्हारे राजनीति और कानून बनाने की सत्ता में हिस्सा ले सकने की वजह से आज

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 336-337 (1963).
3. हरिश्चन्द्र ऋषि, मानव अधिकारों के प्रबल पक्षधर, डॉ. आम्बेडकर, पेज सं.- 113, (1989).

तुम्हारे लिये सब कुछ सम्भव है।[1] उन्होंने कहा कि, दलित कांग्रेस के निकट नहीं आयें वरन अपना पृथक अस्तित्व एवं संगठन रखे, अन्यथा कीचड़ की भांति उन्हें कांग्रेस रूपी सागर समा लेगा। जहां तक उनका स्वयं का प्रश्न है, उनका कहना था कि, मैं एक पत्थर हूं। मुझे पचाना कांग्रेस के लिये सम्भव नहीं है। डॉ. आम्बेडकर ने दलितों को सावधान किया कि, बालिग मताधिकार ने सत्ता जनता के हांथों में सौंप दी है। यदि दलित और पिछड़े वर्ग के लोग एक हो जायें तो वे राजनैतिक शक्ति पर कब्जा कर सकते हैं।[2]

उन्होंने दलितों से कहा कि इस जगत में ईश्वर हो या न हो, इसका विचार करने की तुम्हें कोई जरूरत नहीं है। इतनी बात सही है कि, विश्व में जो कुछ घटित होता है, वह मनुष्य ही निर्माण करता है। तुम्हारा उद्धार करने के लिये कोई भी नहीं आयेगा। अगर तुम अपने मन में ठान लोगे तो तुम्हारा उद्धार तुम ही करने में सक्षम होगे। इसके आगे तुम्हारा भविष्य सिर्फ राजनीति में है, अन्य किसी में नहीं। तुम्हारी देह पर पहले जैसे फटे पुराने कपड़े हैं। अधपकी रोटी के टुकड़ों पर तुम्हारी उपजीविका चल रही है। ढोर-डांगर से भी अस्वच्छ तुम्हारा आज तक का रहन-सहन है। मुर्गियों की तरह तुम संक्रामक रोग की बलि बनते हो। तुम्हारे किये हुये उपवासों से तुम्हारी भुखमरी नहीं टल सकी है। तुम्हारा उद्धार का अब एक ही मार्ग है और वह है राजनीति, कानून बनाने की शक्ति।[3]

दलित समस्या एवं उसके निराकरण के सम्बन्ध में डॉ0 आम्बेडकर की निम्नलिखित चार स्थापनाएं थीं-

1) सामाजिक यथार्थ के रूप में दलित समस्या के अस्तित्व की स्वीकारोक्ति।

2) दलितों की निर्योग्यता एवं उनकी हीन स्थिति कोई आकस्मिक या ईश्वरीय घटना नहीं है। यह सामाजिक ऐतिहासिक कारणों की देन है। यह ब्राह्मणों की सोची-समझी साजिश का परिणाम है।

3) अस्पृश्यता सहित दलितों की विभिन्न निर्योग्यताओं का उन्मूलन सम्भव है। यद्यपि जाति-भेद और छुआ-छूत को समाप्त करने का प्रयास प्रायः सभी युगों में हुआ है, परन्तु सफलता नहीं मिली। डॉ. आम्बेडकर ने इसके दो मुख्य कारण बताये- एक

---

1. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-225, (1981)
2. बी. आर. आम्बेडकर, बुद्धा एण्ड द फ्यूचर ऑफ हिज रिलीज़न, पेज सं.- 82 (1980).
3. धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.-225-226, (1981)

तो लोगों का शास्त्रों में विश्वास और दूसरा, समाज का श्रेणीबद्ध असमानता के सिद्धान्त का गठन। हिन्दू समाज में श्रेणी-बद्ध असमानता के नियम के तहत सबसे निम्न जाति को छोड़कर प्रत्येक जाति अपने से ऊपर की जातियों के साथ समानता की बात तो करती है, किन्तु जब अपने से नीचे की जातियों को समानता देने की बात आती है, तो मुकर जाती है। इसलिये जब तक हिन्दू समाज में जाति भेद बना हुआ है, छुआछूत का उन्मूलन अथवा दलित समस्या का निराकरण सम्भव नहीं है।

4) डॉ0 आम्बेडकर ने दलित समस्या के उन्मूलन के उपाय बताये हैं जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं-

क) डॉ0 आम्बेडकर के अनुसार जब तक दलित सवर्णों के साथ एक ही गाँव में रहेंगे तब तक वे भेदभाव, अत्याचार और शोषण के शिकार होते रहेंगे। इसलिये दलितों के पृथक गांव बनाने के लिये सरकार को भूमि आवंटित करनी चाहिये। जिससे कि मिश्रित जनसंख्या वाले गांवों में रहने वाले दलित इन गांवों में आकर स्थायी रूप से बस सकें।[1] आगे चलकर डॉ॰ आम्बेडकर ने दलितों को शहरी क्षेत्रों में स्थायी रूप से बसने की सलाह दी। शहरों में छुआछूत और भेदभाव की गुंजाइश कम होती है। लोगों की पुलिस और प्रशासन तक पहुंच आसान होती है।

ख) दलितों को गंदे व अपवित्रकारी कार्यों जैसे मरे हुये मवेशियों को उठाना, उनकी खाल निकालना, मल-मूत्र उठाना, सफाई करना, दाई का कार्य करना, गंदे कपड़ों की सफाई करना, जो परम्परात्मक रूप से उन पर थोपे गये थे, का परित्याग करना चाहिये। दलितों को अपनी आजीविका मौलिक व्यवसायों (दफ्तर, कारखाना, व्यापार, दूकान तथा भवन या सड़क निर्माण आदि कार्य) से कमानी चाहिये।

ग) दलितों को एक राजनैतिक इकाई के रूप में संगठित होना चाहिये और उन्हें राजनैतिक शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। डॉ॰ आम्बेडकर ने 18 अक्टूबर, 1925 ई॰ को बम्बई में दलितों की एक सभा को सम्बोधित करते हुये कहा था कि, "तुम्हारे गले में पड़ी हुई तुलसी की माला तुम्हें सूदखोरों के चुंगुल

---

1. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, हू वेयर द शूद्राज (1947).

से नहीं बचा पायेगी। राम का गीत गाने से तुम्हें भूपतियों से कोई रियायत नहीं मिलेगी। पण्ढरपुर की तीर्थयात्रा करने से तुम्हें महीने के अन्त में बेतन नहीं मिलेगा। समाज के चूंकि अधिसंख्य लोग जीवन की इन निरर्थक रहस्यमयी बातों, रहस्यवाद तथा अंध-विश्वासों में आस्था रखते हैं, इसलिये चालाक और स्वार्थी लोगों को समाज विरोधी क्रियाओं को करने के ढेर सारे अवसर प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये मैं आपको सलाह देता हूं कि जो थोड़ी बहुत राजनैतिक शक्ति आपके हांथों में आ रही है, आप उसका लाभ उठायें।"[1] उन्होंने दलितों को आगाह किया कि यदि आप ऐसा नहीं करते तो आपके दुखों का अन्त नहीं हो पायेगा और दासता जिसके विरुद्ध आप संघर्ष कर रहे हैं आपको दोबारा दबा सकती है।

दलितों को राजनैतिक शक्ति उन्हें अपनी एकता व संगठन से हासिल करनी होगी न कि, यह उन्हें दूसरों की अनुकम्पा या दूसरों के संरक्षण से प्राप्त हो पायेगी। डॉ. आम्बेडकर की दृष्टि में स्वतंत्र भारत में राजनैतिक शक्ति ही एक मात्र ऐसा साधन है, जिसे दलित प्राप्त कर सकते हैं बशर्ते कि वे सही रणनीति अपनायें। राजनैतिक शक्ति हासिल करने के पश्चात वे अपना उद्धार स्वयं कर सकते हैं। जब तक राजनैतिक शक्ति दलितों के हांथों में नहीं आ जाती तब तक वे अपनी समस्याएं सुलझाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे।

घ) दलितों को राज्य सत्ता पर अधिकार, संवैधानिक दायरे के अन्दर लोकतांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा।

ड.) मात्र सहानुभूति, प्रेम एवं उपदेशवश दलितों का सामाजिक आर्थिक शोषण बन्द नहीं होगा, उन्हें समानता का हक नहीं मिलेगा। अतः दलितों को स्वप्रयास करना एवं स्वनिर्भर होना होगा। इसके लिये डॉ0 आम्बेडकर ने नारा दिया कि दलितों, "शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो।"

च) दलितों को संघर्ष के साथ-साथ समझौता एवं सौदेबाजी की रणनीति अपनानी चाहिये।

---

1. डॉ. डी. आर. जाटव, डॉ. आम्बेडकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पेज सं.- 154 (1988).

छ) भौतिक विमुक्ति के साथ-साथ दलितों को आध्यात्मिक मुक्ति के लिये बुद्ध के मार्ग (धम्म दीक्षा) का अनुसरण करना चाहिये।

डॉ॰ आम्बेडकर सवर्णों के हृदय परिवर्तन और सामाजिक सुधार सम्बन्धी गांधी जी के हरिजनोद्धार कार्यक्रम पर भरोसा नहीं करते थे और न ही दलितों की मुक्ति के लिये वे लम्बे समय तक इन्तजार करने के पक्ष में थे। उनकी मान्यता थी कि स्वतंत्रता एवं समानता सम्बन्धी सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार याचना से नहीं संघर्ष से प्राप्त होते हैं।[1] इसलिये डॉ॰ आम्बेडकर ने अपने अधिकार के लिये दूसरों पर आश्रित होने के बजाय संघर्ष करना अधिक उपयुक्त समझा।

19-20 मार्च 1927 ई॰ को डॉ॰ आम्बेडकर ने कोलाबा जिले के महाड़ के चौबदार तालाब से पानी लेने के लिये, दलितों के एक सत्याग्रह का नेतृत्व किया। 25 दिसम्बर 1927 ई॰ को डॉ॰ आम्बेडकर ने ब्राह्मणों के विशेषाधिकार, जात-पांत की जननी एवं दलितों की दासता की प्रतीक मनुस्मृति को जलाया। सार्वजनिक मन्दिरों में अन्य हिन्दुओं के समान अस्पृश्यों को प्रवेश का अधिकार प्रदान किये जाने की मांग को लेकर डॉ॰ आम्बेडकर ने अमरावती में अम्बा देवी मन्दिर प्रवेश (1927 ई॰), ठाकुर द्वारा मन्दिर प्रवेश (1927 ई॰), बम्बई में गणपति प्रांगण प्रवेश तथा नासिक में कालाराम मन्दिर प्रवेश (अप्रैल 1930 ई॰) के लिये दलितों को संगठित किया। दलितों की समस्याओं को प्रकाश में लाने के उद्देश्य से डॉ॰ आम्बेडकर ने कोल्हापुर के छत्रपति शाहू महाराज की सहायता से मराठी पाक्षिक 'मूकनायक' (1920 ई॰) का प्रकाशन किया। दलितों में अपने हितों की रक्षा के लिये चेतना जागृत करने के उद्देश्य से डॉ॰ आम्बेडकर ने सन् 1927 ई॰ में 'बहिष्कृत भारत' नामक पाक्षिक के प्रकाशन में सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

विदेश से अपना अध्ययन समाप्त करने के बाद डॉ॰ आम्बेडकर ने बम्बई में अप्रैल 1923 ई॰ में 'अन्त्यज संघ' की स्थापना की। दलित एवं पिछड़े वर्गों के लोगों के सामाजिक एवं शैक्षिक विकास सम्बन्धी कार्यों को आगे बढ़ाने के उद्देश्य से 20 जुलाई, 1924 ई॰ को 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की गयी थी। डॉ॰ आम्बेडकर को इस सभा की प्रबन्ध समिति का प्रधान बनाया गया।

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं॰-82, (1981)

समस्त दलितों को एक मंच पर लाने और उन्हें राष्ट्रीय जनसंख्या में एक पृथक तत्व के रूप में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक अधिकार दिलाने के उद्देश्य से डॉ॰ आम्बेडकर ने 'ऑल इण्डिया शिड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन' की स्थापना की। दलितों के सम्मान व हितों की रक्षा की दृष्टि से डॉ॰ आम्बेडकर ने दलित युवकों का एक ऐच्छिक संगठन 'समता सैनिक दल' का गठन किया। इस संगठन का उद्देश्य सामाजिक असमानता एवं अन्य सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष करना था। आगे चलकर डॉ॰ आम्बेडकर ने 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' को बन्द कर दिया और उसकी जगह 'डिस्प्रेस्ड क्लास एजूकेशन सोसायटी' (1928 ई.) की स्थापना की।

अछूतों के विकास में डॉ॰ आम्बेडकर अशिक्षा को बहुत बड़ी बाधा मानते थे। इसलिये दलितों के उत्थान सम्बन्धी कार्यक्रमों में वे शिक्षा के प्रसार को बहुत महत्व देते थे। दलितों में शिक्षा के विकास के उद्देश्य से उन्होंने 'पीपुल्स एजूकेशन सोसायटी' नामक संस्था बनायी। इस संस्था के तत्वाधान में डॉ॰ आम्बेडकर ने बम्बई में 28 जून, 1946 ई॰ को सिद्धार्थ कॉलेज तथा औरंगाबाद में 1 सितम्बर, 1951 ई॰ को मिलिन्द कॉलेज की स्थापना की। इन संस्थाओं ने दलितों में शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया।[1]

दलितों एवं श्रमिकों को राजनैतिक शक्ति के रूप में संगठित करने के उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुये डॉ॰ आम्बेडकर ने 'इण्डिपेण्डेन्ट लेबर पार्टी' (1936 ई.) का गठन किया। आगे चलकर उनके निर्देशों पर दलितों विशेष रूप से आम्बेडकरवादियों ने 'भारतीय रिपब्लिकन पार्टी' के झण्डे तले अपना राजनीतिक मोर्चा संभाला।

डॉ॰ लोहिया के हृदय में जन्म से ही दीन-दुखियों, दलितों, पीड़ितों एवं अपाहिजों के प्रति करुणा एवं सहानुभूति थी। उन्होंने सदैव शोषण, अन्याय और गुलामी का विरोध किया। वे निम्न जाति के लोगों में अधिकार बोध को जगाना चाहते थे और जगाना चाहते थे स्वाभिमान को। उनकी दृष्टि में दलितों के लिये कर्तव्य की बात गौण है, वे अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करें उसी से उनका पिछड़ापन दूर होगा। उन्होंने दलितों की विमुक्ति हेतु उन्हें कुछ विशेष अवसर दिये जाने की आवश्यकता बतलायी और उनकी विमुक्ति हेतु दलितों के पास तीन गुणों- जातीय स्वाभिमान, अर्थसम्पन्नता और आंग्लभाषा का अवबोध का होना जरूरी माना। जातीय स्वाभिमान के लिये डॉ॰ लोहिया ने जाति प्रथा के नाश की

---

1. आर॰ जी॰ सिंह, भारतीय दलितों की समस्याएं और उनका समाधान, पेज सं.- 83.

बात कही। इसके लिये उन्होंने अन्तर्जातीय सहभोज एवं अन्तर्जातीय विवाह पर जोर दिया जिससे अस्पृश्यता का अन्त हो सके और सभी लोग भेदभाव मुक्त वातावरण में रह सकें। दलितों की अर्थ सम्पन्नता के लिये डॉ॰ लोहिया ने समाजवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया और अनेक कार्यक्रमों व नीतियों का समर्थन किया। उन्होंने न्यूनतम एवं अधिकतम आय में अन्तर खत्म करने के लिये कहा, सम्पत्ति पर विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का अन्त करना चाहा, खर्च की सीमा को निर्धारित करना चाहा और विलासितापूर्ण खर्च पर रोक लगाने का समर्थन किया। वे दलितों एवं कमजोर वर्ग के लोगों को अतिरिक्त भूमि वितरित किये जाने के पक्ष में थे। डॉ॰ लोहिया लघु और कुटीर उद्योगों के माध्यम से स्थानीय स्तर पर दलितों को रोज़गार देने के पक्ष में थे जिससे वे अपना समुचित उत्थान कर सकें। आंग्लभाषा के अवबोध के अन्तर्गत वे अंग्रेजी भाषा को पूर्णतः हटाने के पक्ष में तथा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने के इच्छुक थे।

वास्तव में दलित वर्ग समाज का वह वर्ग है जो सदियों से शोषित, कुत्सित और प्रताड़ित रहा है, उसे उच्च वर्ग की दासता, गुलामी और अत्याचार का शिकार होना पड़ा है। भारतीय समाज में दलितों की संख्या का प्रतिशत उच्च वर्ग से कहीं अधिक रहा है और ऐसी स्थिति में भारत की आधे से अधिक जनता को अकर्मण्य बनाकर बैठा दिया जाना भारत के पतन का द्योतक है। भारत के उत्थान के लिये दलितों का उत्थान किया जाना तथा उन्हें सामाजिक, आर्थिक पराधीनता से मुक्ति दिलाना अत्यन्त आवश्यक है। दलितों की विमुक्ति के लिये आज भी उन्हें कुछ विशेष अवसर दिये जाने की आवश्यकता है क्योंकि उनकी पूर्ण विमुक्ति सम्भव नहीं हो सकी है। दलितों के लिये कर्तव्य की बात करना कुछ क्षेत्रों में अभी भी गौण है और उन्हें अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करने की आवश्यकता है। दलितों की विमुक्ति के लिये संवैधानिक प्रावधानों के साथ-साथ समाज में चेतना और जागरूकता आने की जरूरत है, इसी से जातिभेद की दीवारे टूट सकती हैं, अस्पृश्तया का पूर्णतः अन्त सम्भव हो सकेगा, शोषण, दासता, अत्याचार, गरीबी, बेरोजगारी में कमी आ सकेगी। स्थानीय स्तर पर लघु एवं कुटीर उद्योग स्थापित किये जाने से दलितों को रोज़गार के साधन मिल सकेंगे। आय-व्यय की सीमा निर्धारित करने से आर्थिक असमानता खत्म हो सकेगी। उत्पादन के वितरण की समुचित व्यवस्था होने से दलितों का जीवन स्तर उच्च हो सकेगा। यद्यपि वर्तमान समय में दलितों की स्थिति में काफी परिवर्तन आया है परन्तु उनकी

पूर्ण विमुक्ति सम्भव नहीं हो सकी है। इसके लिये जनचेतना के साथ-साथ प्रशासनिक मशीनरी का चुस्त-दुरुस्त तथा भ्रष्टचार से मुक्त होना आवश्यक है। जिससे वे इस दिशा में सही कदम उठायें और लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकें।

डॉ. आम्बेडकर दलितों की विमुक्ति के लिये पूर्णरूपेण समर्पित थे। उनकी दृष्टि में दलितों की मुक्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक उनकी परम्परात्मक निर्योग्यताओं को समाप्त कर उनकी विविध समस्याओं का निराकरण नहीं किया जायेगा। उन्होंने दलितों की हीन व दुर्बल स्थिति के लिये सामाजिक, ऐतिहासिक कारणों को जिम्मेदार माना। उनकी दृष्टि में अस्पृश्यता सहित दलितों की विभिन्न निर्योग्यताओं को समाप्त करने के लिये समाज से जातिभेद को समाप्त करना आवश्यक है। जब तक जाति प्रथा रहेगी तब तक दलितों की पूर्ण विमुक्ति सम्भव नहीं है। इसे खत्म करने के लिये अन्तर्जातीय विवाह के साथ-साथ प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्रों के बन्धन से मुक्त किया जाना चाहिये तथा उनके दीमाग को साफ किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त डॉ. आम्बेडकर ने दलितों को निम्न कोटि के गंदे व अपवित्रकारी एवं घृणित कार्य न करने और अपनी जीविका लौकिक व्यवसायों जैसे दफ्तर, कारखाना, व्यापार, कृषि आदि से कमाने की सलाह दी। उन्होंने दलितों को मांस, मदिरा आदि का सेवन न करने, स्वच्छता व सफाई के साथ रहने और राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित होकर संवैधानिक दायरे के अन्दर रहकर लोकतांत्रिक प्रक्रिया के द्वारा राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने की सलाह दी। डॉ. आम्बेडकर ने दलितों की समस्याओं को दूर करने और शोषण से मुक्ति के लिये उन्हें पृथक गांव बनाने हेतु सरकार को भूमि आवंटित करने की सिफारिश की तथा दलितों को स्थायी रूप से शहरों में बसने की सलाह दी। उन्होंने दलितों को स्वप्रयास द्वारा आत्म-निर्भर बनने के लिये कहा। उनकी दृष्टि में दलितों को स्वयं अपना उद्धार करना होगा इसके लिये उन्होंने दलितों को 'शिक्षित बनो', 'संगठित हो' और 'संघर्ष करो' का मंत्र दिया। दलितों के विकास में वे अशिक्षा को बहुत बड़ी बाधा मानते थे इसलिये उन्होंने दलितों के उत्थान सम्बन्धी कार्यक्रमों में शिक्षा के प्रसार को महत्व दिया। उन्होंने दलितों की आध्यात्मिक विमुक्ति के लिये उन्हें महात्मा बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करने के लिये कहा। बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करने के लिये 'धम्म दीक्षा' लेने की सलाह दी। इस प्रकार डॉ. आम्बेडकर ने दलितों की भौतिक विमुक्ति के साथ-साथ आध्यात्मिक विमुक्ति को भी आवश्यक माना।

निःसंदेह डॉ॰ आम्बेडकर स्वयं दलित जाति में जन्म लेने के कारण दलितों की समस्याओं से पूर्णतः परिचित थे। इसीलिये वे दलितों का उद्धार करने के लिये पूरी तरह समर्पित थे, जो कि स्वाभाविक है। यह भी सही है कि, भारत में जाति व्यवस्था के कारण ही अस्पृश्यता नामक जहर पैदा हुआ और दलित वर्ग के लोग निम्न से निम्नतर स्थिति में रहने के लिये बाध्य हुये। उनका सामाजिक और आर्थिक विकास अवरुद्ध हो गया अतः दलितों की विमुक्ति के लिये तथा पूरे समाज के उत्थान के लिये भेदभाव पर आधारित जाति प्रथा का अन्त किया जाना आवश्यक है। इसके साथ-साथ समाज से सभी प्रकार का शोषण, गरीबी, दसता, अत्याचार, आर्थिक असमानता आदि को भी दूर किया जाना जरूरी है। डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा दलितों को स्वयं की जीवन शैली में बदलाव लाने के लिये दिये गये निर्देशों या सलाह से उनकी स्थिति में परिवर्तन आना सम्भव है और वर्तमान समय में यह परिवर्तन देखा भी जा सकता है। उनके द्वारा दलितों को दी गयी सलाह कि 'शिक्षित हो, संगठित हो और अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करो' को भी स्वीकार किया जा सकता है परन्तु उन्होंने दलितों की विमुक्ति के लिये औद्योगीकरण एवं नगरीकरण का समर्थन किया है जिसे उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इसमें अमीर गरीब के मध्य की खाईं गहरी होती है और अमीर-अमीर व दलित निरन्तर गरीब बनते जाते हैं। इसके स्थान पर यदि दलितों को स्थानीय स्तर पर लघु एवं कुटीर उद्योगों के माध्यम से रोज़गार प्रदान किये जायें तो वह अधिक अच्छी स्थिति में रहकर अपना विकास कर सकेंगे। वर्तमान समय में शहरों में निम्न वर्ग के लोगों का जीवन नारकीय बन चुका है, इतना ही नहीं बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों में क़ाम करना उनके लिये एक दूसरे प्रकार के शोषण व दासता का सामना करना होगा। अतः दलितों को स्थानीय स्तर पर समुचित रोजगार देना उनकी आर्थिक विमुक्ति का एक बेहतर विकल्प होगा। दलितों की विमुक्ति में वैधानिक कानूनों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। स्वतंत्रता के बाद दलितों के उत्थान हेतु किये गये संवैधानिक प्रावधानों जैसे अस्पृश्यता का अन्त, सामाजिक, आर्थिक न्याय की स्थापना आदि के कारण ही वर्तमान समय में दलितों की स्थिति में काफी परिवर्तन देखा जा सकता है। दलितों को राजनैतिक समानता का अधिकार मिलने के कारण ही उनकी राजनैतिक नेतृत्व की क्षमता में वृद्धि हुई है। आज आवश्यकता इस बात की है कि , दलितों को यथार्थ स्तर पर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय प्रदान किया जाये जिससे समतामूलक समाज की स्थापना सम्भव हो सके।

6.4. भाषावाद-

डॉ॰ लोहिया का हिन्दी प्रेम अटूट था। उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने पर बहुत जोर दिया था। यद्यपि भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्र भाषा या राजभाषा का दर्जा पाने हेतु एक निश्चित समय पर व्यवस्था बहुत पहले ही कर दी गयी थी, परन्तु डॉ॰ लोहिया उस व्यवस्था के प्रति संदिग्ध थे। उन्हें नहीं लगता था कि, एक निश्चित समय पर हिन्दी को राजभाषा का दर्जा मिल सकेगा। उनकी मान्यता थी कि, लोकभाषा के बिना लोकतंत्र अधूरा ही नहीं अपितु पंगु भी है। 'अंग्रेजी हटाओ' आन्दोलन उन्होंने इसीलिये शुरू किया था। उनका कहना था कि, "अंग्रेजी का सार्वजनिक इस्तेमाल फौरन बन्द हो जाना चाहिये। विधायिकाओं, सरकारी दफ्तरों, अदालतों, दैनिक समाचार-पत्रों और नाम पतों में अंग्रेजी का इस्तेमाल नहीं होना चाहिये और अंग्रेजी की आवश्यक पढ़ाई बन्द होनी चाहिये।"[1] डॉ॰ लोहिया ने दक्षिण भारतीय भाषाओं का कभी विरोध नहीं किया था। वे समझते थे, भाषा का माध्यम एकता, सभ्यता, संस्कृति, समानता और चरित्र के निर्माण में अत्यधिक सहयोग करता है। उनका विरोध अंग्रेजी के सार्वजनिक क्षेत्र में प्रयोग पर था। दक्षिण में हिन्दी का विरोध इस निर्णय की कार्यान्विति के विलम्ब का प्रतिफल है, जिसके द्वारा लगातार हिन्दी की उपेक्षा की जाती रही और सत्ता पक्ष अपने राजनीतिक स्वार्थ की टोह लेता रहा।

डॉ॰ लोहिया ने अपने दल की नीति में हिन्दी को प्राथमिकता दी, तो पं॰ नेहरू ने दक्षिण भाषाओं की राजनीति शुरू करवा दी ठीक अंग्रेजी सरकार की 'बांटो व राज्य करो' नीति के समान। पं॰ नेहरू के तत्कालीन, विशेषकर चुनाव भाषणों का अध्ययन मनन करें तो इस बात की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं रहेगा कि उन्होंने उत्तर व दक्षिण को भाषाई राजनीति का शिकार बनाकर अपने दल के लिये 'वोट' समेटने की नीति को सर्वाधिक महत्व दिया। हिन्दी को विवादास्पद स्थिति में लाने के लिये डॉ॰ लोहिया ने पं॰ नेहरू पर सीधे आक्रमण किये थे और कहा था कि नेहरू स्वयं विदेशी संस्कृति तथा भाषा से इतने प्रभावित हैं कि, उनका देशी संस्कृति तथा भाषा प्रेम राजनीतिक दिखावा मात्र है क्योंकि हिन्दी से करोड़ों 'वोट' जुड़े हैं और दक्षिण से उन्हें सुरक्षा मिली हुई है। वोट की राजनीति ने निस्संदेह नेहरू की धवल तथा तेजोनिष्ठ छवि को मैला करना शुरू कर दिया था।

---

1. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, 'भाषा', पेज सं.- 75-76.

अन्ततः सत्ता नेहरू की कमजोरी सिद्ध होकर ही रही और उनके प्रति अभिव्यक्त संदिग्धताओं ने समय आने पर सही का निशान लगा दिया।

अंग्रेजी भाषा के सार्वजनिक प्रयोग के खिलाफ 1946 ई॰ से लेकर हमेशा डॉ॰ लोहिया ने नफरत प्रदर्शित की थी। अब यह सवाल उन्होंने राजकीय स्तर पर लिया। मामूली आदमी के जीवन से इस सवाल का जो सम्बन्ध था, जनतंत्र और समाजवाद, बराबरी और विकास, इससे यह प्रश्न जिस तरह जुड़ा हुआ था, इसका रहस्य बताकर उन्होंने अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन खड़ा किया। "अंग्रेजी जबान अब हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन से खत्म हो जानी चाहिये। इसमें देर करना न केवल भाषा के मसले को उलझा देना और बिगाड़ देना होगा, बल्कि देश के दूसरे मसलों को भी बिगाड़ देना होगा, क्योंकि भाषा से देश के सभी उसूलों का सम्बन्ध है। किस जबान में सरकारी काम चलता है, इससे समाजवाद, प्रजातंत्र तो छोड़ ही दो, ईमानदारी और बेवफाई का सवाल भी जुड़ा हुआ है। अगर सरकारी और सार्वजनिक काम ऐसी भाषा में चलाया जाये जिसे देश के करोड़ों आदमी न समझ सकें तो क्या होगा।"[1]

डॉ॰ लोहिया ने अंग्रेजी के खैरख्वाहों को दो टूक उत्तर देते हुये कहा था कि, अंग्रेजी के हटाये बिना समाजवाद, जनतंत्र और ईमानदारी के पहले कदम भी असम्भव है। 40 करोड़ हिन्दुस्तानियों के लिये तीस लाख लोगों की अंग्रेजी एक गुप्त विद्या है, जैसे टोना-टोटका या भूत झाड़ने के मंत्र इत्यादि। गुप्त विद्याओं से किसी देश का नाश हुआ करता है। उसके विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। डॉ॰ लोहिया के अनुसार अंग्रेजी को बनाये रखने से देश को अपार क्षति उठानी पड़ रही है। जैसे-

1) प्रशासनिक अव्यवस्था, भ्रष्टाचार, अक्षमता तथा भेदभाव।
2) शिक्षा के क्षेत्र में शोध व प्रज्ञामूलक प्रगति का अवरुद्ध हो जाना और पिछड़ापन, आत्महीनता आदि के लिये अवसर प्रदान कराना। वस्तुतया वह दासता का प्रतीक है।
3) देश की आर्थिक स्थिति का प्रगति रथ चरमरा जाना और आर्थिक क्रान्ति को दूर ढकेल देना।
4) राष्ट्रीय स्वाभिमान एवं चरित्र को ठेस पहुंचनी तथा देश की सुरक्षा को खतरे

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 328 (1963).

बढ़ना।

5) देश की व्यवस्था, उसका चिन्तन, उसका व्यवहार व उसका विकास लगभग अवरुद्ध और विशेष कारणों से पतनोन्मुख भी होने लगता है।

6) लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिये यह अभिशाप है। भारत जैसे अर्द्ध विकसित राष्ट्र के लिये इस अभिशाप से ग्रस्त हो जाने का मतलब है कि उसको पेचीदा स्थिति में डाल देना।

7) संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के विकास में यह बहुत बड़ी अड़चन है। इससे अन्याय, शोषण और अत्याचार को बल व संरक्षण मिलता है और शासन तथा जनता सम्पृक्त होते जाते हैं। साहित्य का विकास किसी देश की प्रगति का सूचक होता है। उस पर अन्य व बाहरी भाषा को राज्याश्रय देकर खड़ा रखने का मतलब है कि देश की भाषा व साहित्य की उपेक्षा का षड़यंत्र किया जा रहा है। यह समझा जा रहा है कि अंग्रेजी भाषा प्रगत्युन्मुख है और हिन्दी अथवा उन पर भाषाएं प्रतिक्रियावादी हैं। कैसी प्रतिकूल बात है कि, कानून तथा संविधान अंग्रेजी में है, जिसे आम जनता से कोई सरोकार नहीं है। राजनीतिक जागृति एवं न्याय उनके लिये विदेशी जैसा हो गया है। आम जनता का भाग्य विदेशी भाषा से जुड़ा है, जिसे वह नहीं समझती है। मजदूर और किसान न्यायिक मांग नहीं कर सकते। उनकी तो जड़ ही काट डाली है। वह जमीन ही कहां है, जिस पर वह खुद ब खुद रह सकें। अंग्रेजी ने यहां के दीमाग और पेट दोनों को लात मारी है। डॉ. लोहिया की दृष्टि में दीमाग और पेट एक सिक्के के दो पहलू थे। उनके जुदा हो जाने के बाद देश प्रगत्युन्मुख हो तो कैसे ?

डॉ. लोहिया देशी भाषाओं के प्रति विशेष चिन्तित थे। उनको प्रतिष्ठा मिले बिना देश की समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं था। उनकी अवधारणा थी कि भारतीय भाषाओं को पाखण्डवाद ने घेर लिया है और वे अपने विकास के प्रति सचेष्ट नहीं रही है। वह उनमें विस्तार देखना चाहते थे। वे कहते थे कि, "मैं अपनी, तेलगू व हिन्दी और उर्दू में, यह झूंठी शुचिता, झूंठा चरित्र, झूंठी सफाई, झूंठी सच्चाई, इन सब चीजों को जगह नहीं देता। हिन्दी का आकार प्रकार, पेट और मन, तेलगू का पेट और मन इतना लम्बा-चौड़ा बड़ा विशाल व्यक्त होना चाहिये कि,

उसके अन्दर पतिव्रता और पत्नीव्रता तथा दिलफेकी और ऐयाशी व इश्कबाजी सबको जगह रहना चाहिये। भाषा एक माध्यम है। भाषा कोई ऐसा माध्यम नहीं है कि, किसी एक ही चीज का उसको माध्यम बनाकर उसे सिकोड़ डाले। उसके अन्दर से जो सच और झूंठ है, सच्चे दिल से और झूंठे दिल से जो चीज है, वह अपनी भाषा के माध्यम से अलग निकल पड़े।"[1]

निम्नलिखित ऐसे प्रस्तावों पर भी डॉ. लोहिया ने सहमति प्रकट करते हुये यह कोशिश की कि, किसी तरह से देश विदेशी और वह भी आक्रान्ता की भाषा की कैद से आजाद हो जाये-

1) केन्द्र में द्विभाषा नीति- यानी तट देश के लिये अंग्रेजी भाषा तथा मध्य देश के लिये हिन्दी का प्रयोग करना।

2) बंगला, मलयालम, तेलगू आदि से कोई एक भाषा पर सहमति हो जाये तो हिन्दी शासन की भाषा से अलग रह सकती है।

3) एक विकल्प यह भी रखा गया कि केन्द्र में माध्यम भाषा हिन्दी तो रहे, परन्तु जनसंख्या के हिसाब से प्रत्येक राज्य के लिये संख्या निश्चित कर दी जाये।

उपरोक्त विभिन्न विकल्पों के लिये डॉ. लोहिया तैयार थे। यद्यपि उनको इससे तकलीफ हो रही थी, क्योंकि इससे देश में क्षेत्रीयता को बढ़ावा मिलेगा और इससे देश की अखण्डता का सम्यक विकास सम्भव नहीं हो सकेगा। परन्तु वे अंग्रेजी को हटाना सबसे जरूरी मानते थे।

डॉ0 लोहिया ने हिन्दी को संस्कृत बनाने वालों की उसी तरह से आलोचना की थी, जिस तरह से उसे अरबी-फारसी से जोड़ने की साजिश थी। वे हिन्दी को उसके प्रकृत्त रूप में रखना चाहते थे। उन्होंने कहा था कि "हिन्दी, पाली, और संस्कृत की औलाद है, लेकिन वह अपभ्रंश पाली, जो जनता में टूट-टाट गयी अपभ्रंश में तो फारसी के भी शब्द आ जाते हैं, अरबी के भी आ जाते हैं।"[2] उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि वे अंग्रेजी के प्रति नफरत की भावना नहीं रखते हैं। उनके

---

1. डॉ. लोहिया, समलक्ष्य समबोध, पेज सं.- 23.
2. डॉ. लोहिया, हिन्दू और मुसलमान, पेज सं.- 7 (1963).

मन में किसी भाषा के प्रति दुराव नहीं था। वे अपने देश की, बड़े तथा बहुभाषी देश की, भाषाई समस्या का समाधान खोज रहे थे। अंग्रेजी का निष्कासन इसलिये जरूरी मानते थे कि व्यक्ति अपनी मातृभाषा तथा राष्ट्रभाषा (जिसे देश के बहुसंख्यक लोग प्रयोग में लाते हैं) के द्वारा अपना सम्यक् व समुचित विकास कर सकता है। जो बानगी, जो शक्ति और जो सुविधा अपनी भाषा के माध्यम से व्यक्ति को उपलब्ध है, वह अन्य भाषा से कदापि सम्भव नहीं है, चाहे वह व्यक्ति उस भाषा में कितना ही विद्वान क्यों न हो। बात अपनी है, अपने देश की, अपनी संस्कृति व सभ्यता की, समस्या और समाधान की और अभिव्यक्ति की सशक्तता की, इसलिये उसे अपनी ही भाषा के माध्यम से हल किया जाना चाहिये। कदाचित् यही नैसर्गिक एवं श्रेष्ठ उपाय है। वे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की चर्चा व पक्ष लेते हुये उन्हें सावधान भी करते रहते थे कि, "राज्य की भाषाओं और हिन्दी का समर्थन करते हुये इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि दीमाग भाषा से जकड़ न जाये। बहुत से लोग, खासकर मध्यम वर्ग समझते हैं कि, एक भाषा से प्रेम करने का अर्थ है, दूसरी भाषा को नष्ट करना। यह बड़ा ही विवेकहीन और आत्मनाशी विचार है।"[1] इससे भाषा का न केवल विकास रुक जाता है, वरन प्रतिक्रियावादी तत्वों को प्रोत्साहन भी मिलता है।

भाषा किसी राष्ट्र की एकता संगठन व पहचान की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह राज्य या सरकार का मानव समाज से सच्चा एवं सीधा सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम होती है। भारत जैसे विशाल व बहुल राष्ट्र में जहां अनेक भाषाएं व बोलियां बोली जाती हैं, राजभाषा का महत्व सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से बढ़ जाता है।

डॉ. आम्बेडकर ने भारतीय समाज की वास्तविक स्थितियों का अध्ययन किया, जिनके आधार पर उन्होंने भारतीय संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों का भाषा की दृष्टि से विश्लेषण किया-

1) एक राज्य एक भाषा का सिद्धान्त राष्ट्रीय एकता व प्रशासनिक सहूलियत की दृष्टि से श्रेयस्कर सिद्धान्त है इस दृष्टि से सम्पूर्ण राष्ट्र की एक राष्ट्र

1. डॉ. लोहिया, समाजवादी पोथी, पेज सं.- 44.

भाषा हो जो कि हिन्दी हो यह अधिक स्पष्ट रूप से हिन्दुस्तानी होनी चाहिये। हिन्दुस्तानी भाषा से डॉ. आम्बेडकर का आशय सामान्य बोलचाल की हिन्दी से है जो न संस्कृतनिष्ठ है और न ही अरबी या फारसी से भरी। जब तक हिन्दी सरकारी एवं कचहरी के काम-काज के लायक तथा संघ लोकसेवा आयोग की परीक्षाओं में सामान्य माध्यम के रूप में स्वीकार किये जाने योग्य नहीं बन जाती है तब तक हिन्दी के साथ अंग्रेजी का प्रयोग सह-राष्ट्र-भाषा के रूप में जारी रखा जा सकता है।

डॉ. आम्बेडकर का कहना है कि, एक भाषा लोगों को संयुक्त करती है। दो भाषाएं उन्हें विभक्त करती है। भारतीय चूंकि परस्पर संयुक्त होना चाहते हैं और एक सामान्य संस्कृति विकसित करना चाहते हैं इसलिये यह सभी भारतीयों का अनिवार्य कर्तव्य है कि, वे हिन्दी को अपनी भाषा के रूप में स्वीकार करें। यदि कोई भारतीय एक भाषा के नियम को स्वीकार नहीं करता तो उसे अपने को भारतीय कहने का कोई अधिकार नहीं है।[1]

2) राज्यों का सीमांकन जनसंख्या तथा आर्थिक संसाधनों को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिये। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार राज्य छोटे हों तथा जनसंख्या, क्षेत्रफल एवं आर्थिक संसाधनों की दृष्टि से लगभग समान हों। ऐसा होने से राज्य के भीतर प्रशासन आसान और प्रभावकारी होगा। राज्य का आर्थिक विकास तेजी से होगा तथा राष्ट्रीय स्तर पर किसी राज्य का किसी अन्य राज्य पर राजनैतिक व आर्थिक वर्चस्व स्थापित नहीं हो पायेगा।

3) डॉ. आम्बेडकर की दृष्टि में राज्यों का सीमांकन भाषा, जाति, धर्म अथवा संस्कृति के आधार पर नहीं होना चाहिये।

प्रारम्भ में डॉ. आम्बेडकर भाषायी राज्यों के गठन के पूर्णतया विरुद्ध थे। उनका कहना था कि, "एक राज एक भाषा' के सिद्धान्त को 'एक भाषा एक राज' के सिद्धान्त के साथ गड्ड-मड्ड नहीं करना चाहिये।"[2] उनकी दृष्टि में सामाजिक सांस्कृतिक आधारों पर राज्यों के गठन से देश में विघटन को

---

1. आर. जी. सिंह, राजभाषा : सामाजिक एवं संवैधानिक प्रासंगिकता, पेज सं.- 22.
2. मधुलिमये, डॉ. आम्बेडकर : एक चिन्तन, पेज सं.- 77 (1991).

बढ़ावा मिलेगा। भाषावाद, जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद अन्ततः पृथक राष्ट्रवाद को जन्म देंगे जिससे देश टुकड़ों में बँट जावेगा।

परन्तु आगे चलकर डॉ. आम्बेडकर के विचारों में परिवर्तन आया और उन्होंने भाषा के आधार पर राज्यों के गठन को स्वीकार कर लिया किन्तु उनका मानना था कि, यह कार्य विवेक के आधार पर किया जाना चाहिये न कि भावना के वशीभूत होकर अथवा आन्दोलन के दबाव में आकार या राजनैतिक लाभ उठाने की दृष्टि से। उन्होंने कहा कि भाषायी राज्यों का गठन तो हो किन्तु सभी राज्यों की राजभाषा या सरकारी काम-काज की भाषा हिन्दी ही हो। डॉ. आम्बेडकर ने कहा था कि, "यदि भारत में भी बहुभाषा का नियम अपनाया गया तो अनेक झगड़े उत्पन्न हो जायेंगे। बहुभाषी राज्य सदा अस्थिर व्यवस्था में रहता है तथा एक भाषा पर आधारित राज्य कहीं अधिक दृढ़ होता है।"[1]

डॉ. आम्बेडकर ने मुख्य रूप से दो कारण प्रस्तुत किये, जो यह बताते हैं कि, 'एक राज्य एक भाषा' आवश्यक है।

1) प्रजातंत्र में, सद्भावना का होना अति-आवश्यक है तभी लोकतंत्र स्थायी एवं प्रभावकारी होगा। एक भाषा-भाषी राज्य संगठित व स्थायी होता है।

2) एक राज्य एक भाषा जातीय एवं सांस्कृतिक विवादों का अन्त करने के लिये उत्तम उपाय है।[2]

डॉ. आम्बेडकर कहते हैं कि, "एक भाषी राज्य हमेशा प्रभावी और बलशाली होता है। किन्तु प्रादेशिक भाषा दफ्तरी भाषा न बने। हिन्दी राष्ट्र भाषा शुरू होने तक अंग्रेजी रहे। बड़े एक भाषी राज्य न रखे जाये। उनके छोटे राज्य बनाये जायें, जिससे केन्द्रीय सत्ता को खतरा नहीं पैदा होगा। राज्य कारोबार की दृष्टि से वे सुविधाजनक होंगे। महाराष्ट्र के चार राज्य बनाये जायें- महाराष्ट्र (बम्बई) नगर राज्य, पश्चिमी महाराष्ट्र, पूर्वी महाराष्ट्र और दक्षिणी महाराष्ट्र मध्य प्रदेश के दो, बिहार के दो और उत्तर प्रदेश के तीन राज्य बनाये जायें। इस तरह किया जाये तो अल्पसंख्यकों को ज्यादा प्रतिनिधित्व मिलेगा। कार्यक्षमता, हर विभाग की जरूरते,

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, थॉट्स ऑन लिंग्विस्टिक स्टेट्स, पेज सं.- 11 (1955).
2. वही, पेज सं.- 11.

उस विभाग की जनता की भावनाएं, इस दृष्टि से ये छोटे राज्य सुविधाजनक होंगे। कांग्रेस संसदीय पक्ष में इस विवादित मुद्दे पर कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो या न हो, प्रत्येक पक्ष को 78 वोट मिले। जब दूसरी बार मतदान हुआ तब हिन्दी के पक्ष में 78 और हिन्दी के विपक्ष में 77 मतदान हुआ। हिन्दी के पक्ष में केवल एक मत ज्यादा हो जाने से वह राष्ट्रभाषा स्वीकृत की गयी।"[1]

कोई भी राज्य अपनी स्वयं की राष्ट्रीयता के साथ एक भाषा के ही आधार पर जो वहां की क्षेत्रीय और राजकीय भाषा भी हो, आसानी से तरक्की कर सकता है। किसी भी राज्य की अस्मिता और स्वतंत्र अस्मिता की राह में बहुत बारीक अन्तर है।[2] इस दीवार को पाटा नहीं गया तो भारत आधुनिक देश बनने से वंचित हो जायेगा। हम लोग मध्यकालीन भारत के युग में प्रवेश कर जायेंगे। जैसे उस युग के राज्य परस्पर प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष में उलझे रहते थे।

किसी भी देश की संस्कृति भाषा से ही सुरक्षित रहती है। यदि भारत देश को एकता के सूत्र में बांधे रखना है और मिली-जुली संस्कृति का निर्माण करना है तो सभी को हिन्दी भाषा स्वीकार करनी होगी। जो इस फार्मूले को नहीं स्वीकार करता है, वह भारतीय नहीं हो सकता, वह मराठी, गुजराती, तमिल हो सकता है। केवल भौगोलिक नजरिये से वह भारतीय हो सकता है किन्तु वास्तविक दृष्टि से वह भारतीय नहीं है। उन्होंने कहा था कि, यदि मेरा सुझाव मान्य नहीं होगा तो भारत, नहीं रहेगा। यह विभिन्न राष्ट्रीयता का फण्ड रहेगा जो अपने स्वार्थों के लिये एक दूसरे के विरुद्ध संघर्षरत रहेंगे।

प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषाओं के रूप में स्वीकार न किये जाने सम्बन्धी डॉ॰ आम्बेडकर की सोच निम्नलिखित बातों पर आधारित थी-

1) इससे प्रशासनिक कार्यों के सम्पादन में कठिनाई आयेगी और राज्यों पर अनावश्यक प्रशासनिक व्यय बढ़ेगा। उदाहरण के लिये तमिल भाषी राज्य को मराठी, गुजराती, उड़िया, बंगाली, हिन्दी, तेलगू, उर्दू व कन्नड़ भाषी राज्यों तथा केन्द्र के साथ पत्र-व्यवहार करने में काफी कठिनाई होगी।

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं. 466 (1981).
2. डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर, राइटिंग एण्ड स्पीच, खण्ड-।, पेज सं.- 147.

विभिन्न भाषाओं के पत्रों के अनुवाद एवं टंकण पर अनावश्यक व्यय करना होगा।

2) इससे कानून व न्याय प्रक्रिया के सम्पादन में कठिनाई आयेगी। कानूनों का राष्ट्रीय व प्रादेशिक भाषाओं में अनुवाद का कार्य कठिन व व्यय साध्य होगा। प्रादेशिक न्यायालयों तथा उच्च न्यायालयों में ऐसे प्रकरणों पर विचार करना कठिन होगा। एक राज्य से दूसरे राज्य में न्यायाधीशों के तबादले तथा उच्चतम न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उनके द्वारा न्यायिक कार्यों के सुचारु रूप से सम्पादन में बाधा उपस्थित होगी। क्षेत्रीय, प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर मुकदमों की पैरवी करने में वकीलों को भाषा सम्बन्धी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

3) प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषा बनाये जाने से संघ लोकसेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षाओं में अलग-अलग माध्यमों का सवाल उत्पन्न होगा। इससे मूल्यांकन में एकरूपता न होगी और विश्वसनीयता संदिग्ध हो जायेगी। माध्यम का विकल्प न दिये जाने की अवस्था में गरीब व निम्न तबकों की क्षेत्रीय प्रतिभाओं, जिन्हें अंग्रेजी व हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान नहीं हो, को भारतीय सेवाओं में चयनित हो पाने के अवसर से वंचित होना पड़ेगा।

4) प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषायें बनाने से देश में अलग-अलग भाषायी राज्य बनेंगे। इससे देश की एकता को खतरा पहुंचेगा। अलग-अलग राज्यों की अलग-अलग राजभाषाएं अन्ततोगत्वा अलग-अलग राष्ट्रीयता को जन्म देंगी और देश परस्पर लड़ने वाले राष्ट्रों के संघ में बदल जायेगा। दूसरे शब्दों में प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषाओं के रूप में स्वीकार करने का अर्थ संयुक्त भारत के विचार की मौत की घंटी बजाना होगा।[1]

इस प्रकार सभी व्यक्तियों में समता, सभी राष्ट्रीय इकाइयों की एकता, एक राज्य एक भाषा, बिना किसी जाति, रंग और धार्मिक भेदभाव के डॉ॰ आम्बेडकर के भाषाई राज्यों का एक प्रमुख उद्देश्य है।

---

1. मधुलिमये, डॉ॰ आम्बेडकर : एक चिन्तन, पेज सं.- 79 (1991).

डॉ॰ लोहिया 'हिन्दी' भाषा के प्रति गहरी आस्था रखते थे और उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का जोरदार समर्थन किया तथा 'अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन' के माध्यम से अंग्रेजी भाषा का प्रखर और मुखर विरोध किया था। उनका यह विरोध अंग्रेजी के सार्वजनिक क्षेत्र जैसे विधायिकाओं, सरकारी दफ्तरों, अदालतों तथा दैनिक समाचार-पत्रों आदि में प्रयोग पर था। उन्होंने दक्षिण भारतीय भाषाओं का कभी विरोध नहीं किया क्योंकि ये भाषाएं एकता, सभ्यता, संस्कृति, समानता और चरित्र के निर्माण में बहुत ही सहायक हैं। डॉ॰ लोहिया हिन्दी को इसलिये प्रतिस्थापित करना चाहते थे क्योंकि वह करोड़ों लोगों की भाषा थी और इस भाषा को लोग आसानी से समझते थे। उनकी दृष्टि में अंग्रेजी को हटाये बिना समाजवाद, जनंतंत्र और ईमानदारी के पहले कदम भी असम्भव हैं। अंग्रेजी को बनाये रखने से देश को अपार क्षति उठानी पड़ रही है। इसके प्रयोग से प्रशासनिक अव्यवस्था व्याप्त है, शोध व प्रज्ञामूलक प्रगति अवरुद्ध है, आर्थिक प्रगति रुकी हुई है, राष्ट्रीय स्वाभिमान को ठेस पहुंच रही है तथा संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के विकास में यह बहुत बड़ी बाधा बनी हुई है। अंग्रेजी भाषा ने देश के लोगों के दीमाग और पेट दोनों पर लात मारी है, दीमाग व पेट एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इनके पृथक हो जाने पर देश की प्रगति सम्भव नहीं है। डॉ॰ लोहिया अंग्रेजी को हटाने के लिये कहीं-कहीं भारत की क्षेत्रीय भाषाओं का समर्थन करते नज़र आते हैं, परन्तु साथ ही वह यह चेतावनी भी देते हैं कि, इससे देश की अखण्डता को खतरा एवं क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा मिल सकता है। वे अंग्रेजी को हर कीमत पर हटाकर हिन्दी को उसके प्रकृत रूप में प्रतिस्थापित करना चाहते थे।

इसमें संदेह नहीं है कि, हिन्दुस्तान के लोगों के लिये हिन्दी को बढ़ावा देना अनिवार्य है क्योंकि यह बहुसंख्यकों की भाषा है, यहां का जन-जन इसे समझ सकता है, आत्मसात कर सकता है तथा हिन्दी भाषा में लिपिबध्य नियमों, कानूनों व अन्य सामग्री को पढ़कर अमल में ला सकता है। जबकि अंग्रेजी भाषा पराधीनता, शोषण, दासता, अत्याचार ओर साम्राज्यवाद की प्रतीक है। इसे गिने चुने उच्च वर्ग के लोग ही प्रयोग करते हैं। यह भाषा भारत के आम लोगों के हितों की सुरक्षा नहीं कर सकती है। साथ ही देश की अन्य क्षेत्रीय भाषाएं भी राष्ट्र की एकता व

अखण्डता को सुनिश्चित नहीं कर सकतीं हैं। अतः डॉ0 लोहिया द्वारा भारत में समाजवादी जनतंत्र की स्थापना तथा देश की एकता व अखण्डता को बनाये रखने के लिये हिन्दी के प्रति प्रेम व उसे राष्ट्रभाषा बनाये जाने का समर्थन करना ठीक ही है। अब जबकि भारत की आजादी के 60 वर्ष पूरे हो चुके हैं तो भी यहां सार्वजनिक स्थलों एवं व्यक्तिगत रूप में अंग्रेजी का प्रयोग बढ़ता ही जा रहा है तथा हिन्दी मात्र 'सहभाषा' बन गयी प्रतीत होती है। लोगों में अंग्रेजी के प्रति आकर्षण तीव्र हुआ है और क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग को बढ़ावा मिला है। यद्यपि अंग्रेजी व अन्य भाषाओं का प्रयोग बुरा नहीं है परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हम पहले हिन्दुस्तानी हैं और बाद में उसके किसी क्षेत्र के निवासी हैं, हमारी राष्ट्र भाषा हिन्दी है अतः हिन्दुस्तान में हिन्दी भाषा को सशक्त बनाये जाने की आवश्यकता है। यही हमारा सच्चा राष्ट्रप्रेम होगा और उन वीर सपूतों को सच्ची श्रद्धांजलि भी होगी जिन्होंने हिन्दुस्तान की आजादी के लिये हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि दे दी थी।

डॉ. आम्बेडकर भी 'एक राज्य एक भाषा' का सिद्धान्त राष्ट्रीय एकता एवं प्रशासनिक सहूलियत की दृष्टि से अच्छा मानते थे और 'हिन्दी' को पूरे राष्ट्र की भाषा बनाये जाने के विरोधी नहीं थे। उनकी दृष्टि में जब तक हिन्दी सामान्य माध्यम के रूप में स्वीकार किये जाने योग्य नहीं बन जाती तब तक अंग्रेजी का प्रयोग सह राष्ट्रभाषा के रूप में जारी रखा जा सकता है। प्रारम्भ में डॉ. आम्बेडकर राज्यों का सीमांकन केवल जनसंख्या तथा आर्थिक संसाधनों को ध्यान में रखकर किये जाने के इच्छुक थे तथा भाषा, जाति, धर्म अथवा संस्कृति के आधार पर राज्यों का गठन किये जाने के पक्ष में नहीं थे परन्तु बाद में उन्होंने भाषा के आधार पर राज्यों के गठन को स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में भाषायी राज्यों का गठन तो हो परन्तु सभी राज्यों की राजभाषा या सरकारी काम-काज की भाषा हिन्दी ही हो क्योंकि बहुभाषा होने से राज्य सदैव अस्थिर होंगे, लोकतंत्र को खतरा होगा तथा जातीय व सांस्कृतिक विवाद पनपेंगे। अतः इन समस्याओं को दूर रखने के लिये 'एक राज्य एक भाषा' का होना आवश्यक है। कोई भी राज्य अपनी स्वयं की राष्ट्रीयता के साथ एक भाषा के ही आधार पर जो वहां की क्षेत्रीय और राजकीय भाषा भी हो, आसानी से प्रगति कर सकता है। डॉ. आम्बेडकर प्रादेशिक भाषाओं

को राजभाषाओं के रूप में स्वीकार करने पर अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां भी महसूस कर रहे थे उनकी दृष्टि से इससे प्रशासनिक कार्यों के सम्पादन में कठिनाई आयेगी, कानून व न्याय प्रक्रिया के सम्पादन में कठिनाई आयेगी, संघ लोकसेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षाओं में अलग-अलग माध्यमों का सवाल उत्पन्न होगा और इससे देश की एकता को खतरा पहुंचेगा अतः पूरे देश की एक ही राष्ट्रभाषा हिन्दी का डॉ॰ आम्बेडकर ने समर्थन किया।

वास्तव में डॉ॰ आम्बेडकर के भाषाई विचार समय समय पर बदलते रहे हैं, परन्तु उन्होंने अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण राष्ट्र की एक भाषा 'हिन्दी' का समर्थन किया है। उनका 'एक राज्य एक भाषा' का विचार ठीक है क्योंकि एक भाषा देश की एकता को कायम रखती है जबकि दो या अधिक भाषाएं देश के विभाजन को बढ़ावा देती हैं या देश की एकता को खतरा पैदा कर सकती हैं। अतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने से भारत में लोकतांत्रिक प्रणाली मजबूत हो सकेगी, हमारी संस्कृति सुरक्षित रह सकेगी, देश के लोग विकास के रास्ते पर आगे चल सकेंगे, जिससे पूरे देश की समृद्धि होगी, कानून, न्याय एवं प्रशासनिक कार्यों में कठिनाई नहीं आ सकेगी तथा राष्ट्र की एकता व अखण्डता कायम रह सकेगी। डॉ॰ आम्बेडकर के भाषा के आधार पर राज्यों के गठन सम्बन्धी विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इससे पृथकतावाद को बढ़ावा मिलेगा और भारत की सम्प्रभुता को खतरा हो सकता है। यद्यपि प्रारम्भ में डॉ॰ आम्बेडकर ने खुद भाषा के आधार पर राज्यों के गठन को अस्वीकार कर दिया था लेकिन बाद में उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया जिसे हम वर्तमान परिस्थितियों में कतई नहीं स्वीकार कर सकते क्योंकि यह भारत की एकता व अखण्डता के लिये ठीक नहीं होगा। आज आवश्यकता यह है कि, हिन्दी के प्रयोग को सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत स्तर पर अधिक से अधिक बढ़ावा दिया जाये, इतना ही नहीं चूंकि हिन्दी हमारी पहचान है इसलिये इसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बनाया जाना चाहिये। इसके लिये भारतीय नेतृत्व को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर 'हिन्दी' के प्रति जन चेतना तैयार करके आन्दोलनात्मक प्रयास करना चाहिये।

6.5. जाति व्यवस्था-

भारत में 'जाति-व्यवस्था' का विश्लेषण करते हुये डॉ. लोहिया ने जातियों को एक आकांक्षाहीन और जड़ वर्ग माना है। यह जातियां हजारों वर्षों से विकृत धर्मान्धता के आधार पर अन्धी यथास्थितिवादी परम्परा और वंश, कुल की श्रेष्ठता और हीनता के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभक्त हैं। यही श्रेणियां ऊंची-नीची, मध्यम, अन्त्यज के रूप में जातियां बन गयी हैं। भारत की सारी वर्ग चेतना जाति बनकर जाति-चेतना बन जाती है। सिद्धान्ततः इन जातियों को फिर वर्ग में बदल जाना चाहिये, किन्तु नितान्त उपेक्षित होने पर भी जाति वर्ग के रूप में बदल ही नहीं पाती। जब किसी भी देश और जाति के कुछ सक्रिय वर्गों को निष्क्रिय बनाकर मुख्य धारा से वंचित कर दिया जाता है, तो वह देश या वर्ग अछूत के समान हो जाता है। यह अछूतपन ही धीरे-धीरे जाति का रूप ले लेता है।

"Wheel of History" में डॉ. लोहिया ने मानव नियति और प्रगति का विश्लेषण करते हुये लिखा है कि-

"जब किसी भी समाज के आन्तरिक संघर्ष, असहनीय और अवसर के अभाव में रहते-रहते जड़ हो जाते हैं, तब जाति व्यवस्था की ओर वह समाज अग्रसर होता है। इसलिये कभी-कभी जातिगत उपलब्धियों को गौरवशाली नहीं मानना चाहिये और न ही उन आधारों पर जातियों के विनाश के कार्यक्रम को ढीला करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि, मैं वर्ग उन्मूलन का विरोधी हूं पर मैं स्पष्ट देख रहा हूं कि वर्ग उन्मूलन की प्रक्रिया में किस तरह वर्ग जातियों का रूप लेता जा रहा है। मानव इतिहास अपनी आन्तरिक प्रक्रिया में वर्ग से जाति और जाति से वर्ग के रूप में बदलता रहा है। वर्ग जब स्थिर हो जाता है, तो जाति का रूप ले लेता है और जाति की जकड़बन्दी जब ढीली होती है तब वर्ग का रूप ले लेती है।"

डॉ. लोहिया का यह दृढ़ मत था कि, भारतीय जाति-व्यवस्था केवल वर्णाश्रम धर्म से नहीं बनी है। उसके पीछे ऐतिहासिक गति की वक्रता भी है। इसलिये केवल वर्ग उन्मूलन का नारा देने से जाति वर्ग में नहीं बदलेगी। इसके लिये जरूरी है कि, भारतीय समाज की संरचना में इन अन्तर्विरोधों का विश्लेषण किया जाये और वर्ग

उन्मूलन के पहले जातिगत सामाजिक जकड़बन्दियों को तोड़ा जाये। इन जकड़बन्दियों के टूटने की प्रक्रिया में ही जाति टूटकर वर्ग का रूप लेगी, और जब जाति टूटकर वर्ग बनने की प्रक्रिया में होगी तब परिवर्तन के नये बीजों को जन्म भी देगी। डॉ. लोहिया के अनुसार, जाति ने इस देश को बौद्धिक अयोग्यता के मरुस्थल में बदल दिया है। जाति व्यवस्था ने अवसर प्राप्ति में बाधा डाली है। अवसर प्राप्ति में बाधा से योग्यता संकुचित हो गयी है। संकुचित योग्यता आगे के अवसर प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करती है।[1]

जातिवाद की व्याख्या करते हुये डॉ. लोहिया ने कहा है कि, जाति प्रथा हर उस समाज में विकसित हो सकती है, जिसमें राजनैतिक पार्टी, व्यवस्थापक वर्ग और पेशेवर वर्ग सबके सब सुदृढ़ पूर्व निश्चित होते हैं और अपनी श्रेष्ठता के बल पर शेष जनता को उनकी अपनी श्रेणियों से निकलकर आगे आने पर रोक लगा देते हैं। भारत में जातिप्रथा के शिखर पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपनी श्रेष्ठता स्थापित करके सुदृढ़ हैं। ब्राह्मण का ज्ञान पर एकाधिपत्य, क्षत्रिय का व्यवस्था पर आधिपत्य तथा वैश्य का अर्थ और व्यापार पर आधिपत्य प्राप्त है। इन तीनों ने मिलकर शेष जनता को अपनी श्रेणी से निकालकर आगे बढ़ने के सभी अवसर बन्द कर दिये हैं। ऐसा करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य भी अपने ही बनाये कटघरे में बन्द हो जाते हैं। भारतीय समाज में जाति व्यवस्था जब से बनी है तब से आज तक टूटी ही नहीं है। धर्म के नाम पर निरन्तर अधिक से अधिकतर जकड़बन्दी में सिकुड़ती ही चली गयी है। डॉ. लोहिया ने कहा है कि, "किसी भी स्थिति में भारत की जनसंख्या में उच्च जाति के व्यक्ति 1/5 से अधिक नहीं हैं। परन्तु, वे अपने को देश के 4/5 नेतृत्व की स्थिति में रखे हुये हैं।"[2]

भारतीय समाज में 'जातीय विषमता' को बढ़ाने में जन्मना रूढ़िवादिता का हांथ सबसे ज्यादा रहा है। जन्म से ही बँध जाने के कारण समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा राष्ट्र की मुख्य धारा से कभी जुड़ ही नहीं पाया। वह सदैव उदासीन या तटस्थ दर्शक के रूप में किनारे खड़ा कर दिया गया। जाति व्यवस्था की इतनी

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म, पेज सं.- 33 (1963).
2. डॉ. राममनोहर लोहिया, द कास्ट सिस्टम, पेज सं.- 97-98 (1964).

गहरी जकड़बन्दी थी कि निम्न जातियों को सामाजिक स्तर पर निरन्तर अपमानित ही होना पड़ा। देश के आर्थिक और धार्मिक अधिकारों से उन्हें वंचित रखा गया। ऐसी स्थिति में उनकी राजनैतिक भागीदारी किसी भी स्तर पर सम्भव हो ही नहीं सकी। आर्थिक परतंत्रता के दो परिणाम निकले। पहला यह कि आध्यात्मिक स्तर पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन हुआ। दूसरा परिणाम यह हुआ कि सामाजिक स्तर पर बहिष्कार और घेरेबन्दी ने उन्हें संकुचित बना दिया। वह धीरे-धीरे एक विचित्र प्रकार के निराशावादी नियति हीन भावों के शिकार हो गये। इन हीनताओं के कारण उनका सार्वजनिक जीवन भी कुछ नहीं रहा। डॉ॰ लोहिया का मत है कि, लगभग एक हजार वर्ष की भारत की गुलामी का कारण केवल यह जाति प्रथा है। भारतवर्ष की आक्रमण की ग्रहणशीलता तथा आन्तरिक झगड़ों के कारण इसका बार-बार झुकने के पीछे जाति व्यवस्था मुख्य कारक के रूप में रही है।[1] जिस देश की 90 प्रतिशत जनता अकर्मण्य बनाकर बैठा दी जाती है, उस देश की रक्षा कोई नहीं कर सकता। स्वयं ईश्वर चाहे तो भी नहीं, क्योंकि ईश्वर को भी किसी न किसी को निमित्त बनाना पड़ता है।

जाति-पांति का जहर और हिन्दुस्तान की सामाजिक आर्थिक हालत के परस्पर सम्बन्धों का विवेचन करते हुये डॉ॰ लोहिया ने कहा है कि, "बनिया ब्राह्मण गठबन्धन हिन्दुस्तान के इतिहास की धुरी है। देश की जेब का मालिक बनिया, मन का ब्राह्मण। दोनों ने देश को कब कितने फायदे और स्थिरता दी है। इसका मुझे लेखा-जोखा नहीं करना है। अब यदि देश को बल मिलना है, उसके सभी 40 करोड़ को, तो पेट और मन के इस एकाधिपत्य का नाश करके ही। एक दूसरे के स्थायी और गिरोही लाभ को पेट के मालिक और मन के मालिक कैसे छोड़ सकते हैं। साथ-साथ फलते-फूलते हैं। एक बात मैं साफ कर दूं। मुझे सेंठ-मिसरानी और सेठानी-महराज सम्बन्ध से कोई तिरस्कार नहीं। मैं केवल उनका विस्तार चाहता हूं। ब्राह्मण-भंगी, सेठानी-चमार, अहीरिन-पासी, कहारिन-ब्राह्मण, धोबिन-सेंठ जैसे सम्बन्ध बहुतायत में हों। मैं जानता हूं कि इस सपने के साकार होने में बहुत देर है। मैं यह भी जानता हूं कि, इस सपने को साकार करने की क्रिया से ही

---

1. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, द गिल्टीमैन ऑफ इण्डियाज पार्टीशन, पेज सं.- 81 (1978).

हिन्दुस्तान बलवान हो सकता है।"[1]

डॉ. लोहिया ने जाति-प्रथा के विरुद्ध पूरा राजनीतिक अभियान प्रारम्भ किया। उन्होंने 'जाति तोड़ो आन्दोलन' शुरू किया। उनकी दृष्टि में जातियों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उन्नत कर दिया जाये तो जाति पर निर्भर वर्ग निर्मूल हो सकते हैं। उससे एक सर्वथा नवीन तथा सशक्त समाज की नींव पड़ सकती है। वे वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे। उन्होंने लिखा है कि, "आर्थिक गैर-बराबरी और जाति-पांति जुड़वां राक्षस हैं और अगर एक से लड़ना है, तो दूसरे से भी लड़ना जरूरी है।"[2] उनकी दृष्टि में "ब्राह्मण संस्कृति तथा ब्राह्मणवाद, सामन्तवाद और पूंजीवाद का पोषक तथा जनक है।"[3] डॉ0 लोहिया योग्यता-अयोग्यता पर विचार किये बिना ही चाहते थे कि, पिछड़ी या अनुसूचित जाति को राज्य में उच्च पद दिये जायें तथा राजनीति में उन्हें नेतृत्व का मौका दिया जाये, क्योंकि जाति अवसर योग्यता को अवरुद्ध करती है और अवरुद्ध अवसर, योग्यता को अवरुद्ध करता है, अवरुद्ध योग्यता पुनः अवसर को अवरुद्ध करती है।[4] फलतः यह चक्र निरन्तर चलता रहता है और जाति, व्यक्ति व समाज दोनों के विकास को अवरुद्ध कर देती है। उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि, वह जाति व्यवस्था में केवल सुधार नहीं चाहते वह इसका विनाश चाहते हैं। इस विनाश के लिये वह एक सामाजिक उथल-पुथल तथा एक क्रान्ति लाना चाहते थे ताकि देश की 90 प्रतिशत जनता जिसमें हरिजन, शूद्र, भंगी, पिछड़े वर्ग के लोग, मुसलमान और औरतें शामिल हैं, वह देश की राजनीति में अधिकाधिक रूप से खुलकर भाग ले सकें।

जाति प्रथा के चलते रहने से चार बड़े दोष समाज में आते हैं-

1) जाति-प्रथा से आपस में सामाजिक आत्मीयता समाप्त हो जाती है।

2) समाज की इकाइयां ही विभक्त हो जाती हैं।

3) सामाजिक आदान-प्रदान समाप्त हो जाता है।

---

1. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 337 (1963).
2. डॉ. राममनोहर लोहिया, जाति प्रथा, पेज सं.- 18 (1981).
3. डॉ. लोहिया के 10 सितम्बन, 1957 को श्री चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु को लिखे गये पत्र से।
4. डॉ. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म, पेज सं.- 33 (1963).

4) राष्ट्र की गति अवरुद्ध हो जाती है।

डॉ॰ लोहिया के जाति तोड़ो आन्दोलन का लक्ष्य मात्र सम्मेलन में भाषण देना नहीं था और न ही केवल प्रस्ताव पारित करना था। उनका मूल उद्देश्य था कि, सम्मेलनों में अन्तर्जातीय सहभोज हो, अन्तर्जातीय विवाह हो और ऐसे सामूहिक 'उत्सव सम्मेलन' एवं 'सहकार' हों कि नये समाज के नये संस्कारों में आदान-प्रदान हो। इतना ही नहीं जब तक अन्तर्जातीय विवाह को नौकरियों के स्तर पर वरीयता नहीं दी जायेगी तब तक इस देश में जाति-प्रथा को नष्ट नहीं किया जा सकेगा।

डॉ॰ लोहिया ने कहा है कि, "जाति प्रथा पर हजारों वर्षों से लगातार हमले होते रहे हैं लेकिन कामयाब नहीं हुये। इसलिये संन्देह होता है कि यह प्रथा अब अनन्त है। अभी तक जाति प्रथा पर केवल डेढ़मुखी हमले हुये- एक धार्मिक और आधा सामाजिक। अब रोटी के साथ-साथ बेटी वाले मोर्चे पर, चाहे मौखिक ही सही हमला हो, इसलिये सामाजिक हमला भी सम्पूर्ण हो। तीसरा हमला, राजकीय बालिगमत और विशेष अवसर के सिद्धान्त के रूप में और चौथा हमला, आर्थिक मज़दूरी बढ़ाने, अलाभकर जीत से लगान खत्म करने, ज़मीन बँटवारे इत्यादि के रूप में। चौतरफा हमला होने के कारण थोड़ी आशा जमीं है और जाति प्रथा शायद अबकी बार खत्म हो।"[1]

भारतीय समाज की जाति व्यवस्था, सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से एक जटिल समस्या है। व्यावहारिक रूप से यह व्यवस्था एक ऐसी संस्था है, जो सभी सम्बन्धित लोगों को भारी कठिनाइयों में डाले हुये है। इसे राष्ट्रीय समस्या की संज्ञा भी प्रदान की जा सकती है क्योंकि, "जब तक भारत में जाति व्यवस्था रहेगी, हिन्दू लोग अन्य जाति वालों के साथ मुश्किल से शादी विवाह या कोई सम्बन्ध रखने को तैयार होंगे और यदि जातिवाद में विश्वास करने वाले हिन्दू समस्त संसार में फैल जायें, तो भारतीय जाति व्यवस्था एक संसार व्यापी समस्या बन सकती है।"[2] सैद्धान्तिक दृष्टि से अनेक विद्वानों ने जाति व्यवस्था पर विचार किया है।

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 97-98 (1969).
2. एस. बी. केतकर, 'कास्ट', पेज सं.- 04.

डॉ. आम्बेडकर ने अमरीका में रहते हुये 9 मई 1916 ई0 को डॉ. ए.ए. गोल्डन विजर द्वारा आयोजित नेतृत्व विज्ञान विषयक गोष्ठी में 'भारत में जातियों की उत्पत्ति और विकास' शीर्षक से एक शोध-पत्र पढ़ा। इस शोध-पत्र में उन्होंने अपनी वय (अवस्था) की तुलना में आश्चर्यजनक परिपक्वता तथा आकलन शक्ति दिखाई। उनका कहना था कि- "यह कहना कि व्यक्ति ही समाज को बनाते हैं, बहुत सतही कथन है। वर्गों के मिलने से समाज बनता है। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में कुछ अति-शयोक्ति हो सकती है, लेकिन यह सच है कि, समाज के भीतर वर्ग होते हैं। उन वर्गों के आधार अलग-अलग हो सकते हैं। आधार आर्थिक, बौद्धिक या सामाजिक हो सकते हैं, किन्तु व्यक्ति हमेशा समूह का सदस्य होता है। यह सार्वकालिक सत्य है और प्राचीन हिन्दू समाज इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता और हम जानते हैं कि, वह अपवाद नहीं था। अगर हम इस बात को ध्यान में रखेंगे तो जाति के उद्दगम के विषय में हमारे अध्ययन में काफी मदद मिलेगी। तब हमें इतना ही निश्चित करना होगा कि, किस वर्ग ने सबसे पहले अपने को जाति के रूप में स्थापित किया क्योंकि वर्ग और जाति निकटवर्ती संकल्पनाएं हैं और कालान्तर में ही दोनों अलग-अलग होती हैं। बन्द या जमा हुआ वर्ग ही जाति है।"[1]

डॉ. आम्बेडकर का कहना था कि, जब समूह के बाहर विवाहों के स्थान पर समूह के अन्दर असगोत्र विवाह की प्रणाली चलने लगती है, तो वर्ग जाति में परिणत होता है। वैवाहिक इकाई में स्त्री-पुरुषों की संख्यामूलक असमानता को दूर करने का प्रयास ही जाति का मूल है। हिन्दू समाज ने संख्यामूलक असमानता को दूर करने के लिये चार रास्ते अपनाये-

1) सती प्रथा अर्थात मृत पति की चिता पर जीवित पत्नी को जलाना।
2) वैधव्य के कड़े नियम जिनके अनुसार विधवा स्त्री को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी।
3) बाल-विवाह।
4) सन्यास।[2]

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीच, खण्ड- 1, पेज सं.- 15..
2. वही, पेज सं.- 13.

डॉ॰ आम्बेडकर इस बात को नहीं मानते थे कि विधि-व्यवस्था के प्रणेता मनु ने जाति प्रणाली का निर्माण किया। उनका कहना था कि कोई एक व्यक्ति चाहे वह कितना ही शक्तिशाली होता जाति व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकता था। यह बात कल्पना से परे है कि, मनु ने जाति का कानून बनाया। वह यह कर ही नहीं सकता था। जाति मनु से पहले अस्तित्व में थी।[1] मनु ने जाति के विद्यमान नियमों को सिर्फ संहिता बद्ध किया और उन्हें धार्मिक एवं दार्शनिक आधार प्रदान किया।

डॉ॰ आम्बेडकर ने पश्चिमी विद्वानों के जाति व्यवस्था से सम्बन्धित सिद्धान्तों का विवेचन किया परन्तु वह उनके स्पष्टीकरणों से संतुष्ट नहीं हुये। उनका कहना था कि, भारतीय समाज अन्य समाजों की तरह वर्गों में विभाजित था। उनमें सामाजिक अभिसरण होता था फिर इतिहास की किसी अवस्था में पुरोहित वर्गों ने अपने को समाज से अलग कर लिया और एक बन्द नीति अपनाकर अपनी अलग जाति बना ली। वैश्य और शूद्र इन दो वर्गों ने एक स्थिर रूप नहीं लिया था। इन दो वर्गों से ही आज की विविध जातियों का जन्म हुआ। जब तक समाज का मूल घटक वर्ग था तब तक एक वर्ग से दूसरे वर्ग में आवागमन का मार्ग खुला था। कालान्तर में यह व्यवस्था नष्ट हुई और इन उप विभागों में से बन्द इकाइयां बनी जिन्हें जाति का नाम दिया गया। क्या इन इकाइयों को अपने दरवाजे बन्द करने और अपने वर्ग के भीतर विवाह करने के लिये बाध्य किया गया था या इन्होंने खुद अपने दरवाजे बन्द कर लिये ? इस पर डॉ॰ आम्बेडकर ने कहा है कि कुछ ने अपने दरवाजे खुद बन्द कर लिये और बाकियों के दरवाजे बन्द कर दिये गये।[2]

डॉ॰ आम्बेडकर की प्रस्थापना है कि पुरोहित वर्गों अर्थात ब्राह्मणों ने सबसे पहले अपने को बन्द सामाजिक इकाई बनाया और अपने वर्ग में शादियां करने लगे। उन्होंने ही यह प्रक्रिया शुरू की। इतिहासकार आर्नल्ड टॉयन्बी ने जिसे 'अनुकरण की प्रक्रिया' कहा है और डॉ॰ आम्बेडकर ने जिसे 'अनुकरण का संक्रमण' कहा है उसके अनुसार अन्य वर्गों में विभेदीकरण और स्तरीकरण की अनिष्टकारी प्रक्रिया चली जिससे उन्होंने अपने को बन्द कर लिया तथा दूसरों के लिये अपने दरवाजे

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीच, खण्ड- 1, पेज सं.- 16.
2. वही, पेज सं.- 18.

बन्द कर दिये।[1]

जाति प्रणाली में ऐसी कड़ी व्यवस्था की गयी थी कि जाति के भीतर जाने की बंदिश के साथ जाति से बाहर जाने की भी बंदिश थी। एक व्यक्ति की जाति का कुछ मतलब ही नहीं होता था। जाति शब्द हमेशा बहुवचनवाची होता था।[2] जाति नियमों को तोड़ने का साहस करने वाले गुनाहगार के लिये कोई दया जाति व्यवस्था में नहीं थी। जिन्हें जाति से बाहर फेंक दिया जाता था, उनके लिये अपनी अलग जाति बनाने के अलावा कोई चारा नहीं था। जाति का तर्कशास्त्र इतना कठोर था कि बहिष्कृत होने पर नये-नये समूह लगातार बनते गये। इस क्रूर नियम ने सामाजिक समूहों को असंख्य जातियों में बदल दिया।

सन् 1916 ई0 में डॉ॰ आम्बेडकर की यही केन्द्रीय प्रस्थापना थी। बाद में उन्होंने महसूस किया कि अनुकरण का सिद्धान्त जाति जैसे जटिल प्रश्न को स्पष्ट करने में पर्याप्त नहीं है। उन्होंने बल, छल, तथा दार्शनिक एवं धार्मिक पाबन्दियों को भी अपने विश्लेषण में समाविष्ट किया।

डॉ॰ आम्बेडकर ने जाति उन्मूलन का जोरदार समर्थन करते हुये कहा है कि- "हिन्दू अपनी मानवतावादी भावनाओं के लिये प्रसिद्ध हैं और प्राणी जीवन के प्रति उनकी आस्था तो अद्‌भुत है। कुछ लोग तो विषैले साँपों को भी नहीं मानते। हिन्दुओं में साधुओं और हट्टे-कट्टे भिखारियों की बडी फौज है और वे समझते हैं कि, इन्हें भोजन वस्त्र देकर तथा इनको मौजमस्ती के लिये दान देकर वे पुण्य कमाते हैं। हिन्दू दर्शन सर्वव्यापी आत्मा का सिद्धान्त सिखाता है और गीता उपदेश देती है कि, ब्राह्मण तथा चाण्डाल में भेद न करो।

प्रश्न उठता है कि जिन हिन्दुओं में उदारता और मानवतावाद की इतनी अच्छी परम्परा है और जिनका इतना अच्छा दर्शन है वे मनुष्यों के प्रति इतना अनुचित तथा निर्दयतापूर्ण व्यवहार क्यों करते हैं। हिन्दू समाज जाति व्यवस्था की इस्पाती चौखट में बंधा हुआ है जिसमें एक जाति सामाजिक प्रतिष्ठा में दूसरी से नीचे है और प्रत्येक जाति में अपने स्थान के अनुपात में विशेषाधिकार, निषेध और

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीच, खण्ड- 1, पेज सं.- 18.
2. वही, पेज सं.- 20.

असमर्थताएं हैं। इस प्रणाली ने निहित स्वार्थों को जन्म दिया है जो प्रणालीजन्य असमानताओं को बनाये रखने पर निर्भर है।"[1]

डॉ॰ आम्बेडकर जाति-प्रथा को असमानता, अन्याय और अत्याचार का हेतु मानते थे। दिसम्बर 1935 ई॰ में डॉ॰ आम्बेडकर को जाति-पांति तोड़क मण्डल, लाहौर में अध्यक्षीय भाषण देना था जो सवर्ण हिन्दू वर्ग के न चाहने के कारण नहीं दिया जा सका। जाति-पांति तोड़क मण्डल ने डॉ॰ आम्बेडकर से आग्रह किया था कि वे अपने अध्यक्षीय भाषण के कुछ अंशों को निकाल दें, परन्तु वे इसके लिये तैयार नहीं हुये थे। उन्होंने जवाब में लिखा था कि हिन्दू के रूप में यह उनका अन्तिम भाषण है। डॉ॰ आम्बेडकर ने इस भाषण में जातिप्रथा पर करारी चोट की थी। बाद में इस भाषण को 'एनीहिलेशन ऑफ कास्ट' (जाति भेद का उच्छेद) शीर्षक से प्रकाशित कराया गया इसमें उन्होंने लिखा था कि-

1) जाति-पांति के कारण हिन्दू बर्बाद हुये।

2) जाति व्यवस्था के आधार पर हिन्दू समाज का पुनर्संगठन नहीं हो सकता। क्योंकि यह व्यवस्था टपकते हुये बर्तन की भांति है अथवा ऐसे व्यक्ति की भांति जिसकी नाक बह रही हो।

3) यह व्यक्ति-गुणों की उपेक्षा करती है, जन्म से व्यक्ति की जाति का निर्धारण करती है।

4) वर्ण-व्यवस्था के कारण बहुत से व्यक्तियों को शिक्षा से वंचित रंहना पड़ेगा। अवर्ण अपमानित किये जायेंगे। वे शस्त्र-धारण के अधिकारी भी न रहेंगे।

5) बेहतर हो कि, हिन्दू समाज का पुनर्संगठन स्वतंत्रता, समानता और भातृत्व भावना के आधार पर किया जाये।

6) शास्त्रों को ईश्वरकृत न माना जाये ताकि हिन्दू जाति या समाज में शास्त्रों के ईश्वरीय प्रभाव का नाटक समाप्त हो।

7) जाति प्रथा द्वारा मज़दूरों को एक के ऊपर दूसरे को, क्रमशः विभाजित

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, सोर्स मैटेरियल ऑन बाबा साहब आम्बेडकर एण्ड द मूवमेन्ट ऑफ अण्टचेबिल्स, खण्ड-1, पेज सं.- 14-15 (1982).

किया जाता है।

8) इसमें श्रमिकों का बँटवारा होता है श्रम का नहीं।

9) जाति प्रथा से उन हिन्दुओं का दबदबा बराबर बना रहेगा जो पहले से विशेषाधिकार प्राप्त थे। परिणामतः अवर्ण कमज़ोर और शोषित बने रहेंगे।

10) आर्थिक क्षेत्र में जाति प्रथा से नुकसान ही होता है।

11) प्रत्येक जाति अपने में सीमित रह जाने से न तो उससे एक समाज उभर पाया और न वास्तविक अर्थ में एक राष्ट्र।

12) हिन्दुओं की अहर्निश पराजय का कारण भी जाति प्रथा है। डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, अगर हमें शस्त्र धारण के अधिकार से वंचित न किया गया होता, तो यह देश कभी अपनी आजादी न खोता और कोई भी हमलावर इस पर विजय हासिल करने में कामयाब न होता।[1]

13) हिन्दू समाज मात्र जातियों का समूह है।

14) जाति भेद ने हिन्दू वंश को नष्ट कर दिया है।

15) इससे रक्त की पवित्रता की बात भी सम्भव नहीं है क्योंकि कदाचित ही कोई जाति मिलावट का परिणाम न हो।

डॉ॰ आम्बेडकर ने सवाल किया कि, क्या पिछली दो शताब्दियों में अत्यन्त दलित वर्गों के प्रति हिन्दू समाज के रवैये में कोई परिवर्तन हुआ है ? उन्होंने पेशवाओं के शासन में हरिजनों के प्रति किये गये व्यवहार और टाइम्स ऑफ इण्डिया के 4 जनवरी 1928 के अंक में प्रकाशित लेख के अनुसार इन्दौर रियासत में उनके साथ किये गये व्यवहार की तुलना की। उन्होंने कहा कि- "पेशवा शासनकाल में अस्पृश्यों को उस सड़क पर नहीं चलने दिया जाता था जिस पर सवर्ण हिन्दू आते-जाते थे ताकि उसके साये से सवर्ण हिन्दू भ्रष्ट न हो जायें। अस्पृश्यों को अपनी पहचान के लिये काला डोरा कलाई या गले में बांधना पड़ता था ताकि, सवर्ण हिन्दू उन्हें गलती से छूकर भ्रष्ट न हों। पेशवाओं की राजधानी पूना में अस्पृश्यों को कमर में झाड़ू बांधकर चलना पड़ता था ताकि, जिस जमीन पर वे चलें वह झाड़ू से साफ होती रहे और सवर्ण हिन्दू उस पर चलकर भ्रष्ट न हो। पूना में अस्पृश्यों को

---

1. दस स्पोक आम्बेडकर, खण्ड- 2, पेज सं.- 53-54.

गले में मिट्टी का बर्तन थूकने के लिये बाँधकर निकलना पड़ता था ताकि उनके थूंक से अपवित्र जमीन पर पैर रखकर सवर्ण हिन्दू अपवित्र न हो।"[1]

बाल विवाह निषेध और विधवा विवाह की अनुमति जैसे छोटे मोटे सुधार करना काफी नहीं हैं। बुनियादी सुधार आवश्यक हैं जो जाति व्यवस्था को खत्म करें।[2] इस समस्या का समाधान डॉ. आम्बेडकर निम्न लिखित प्रकार से करना चाहते थे-

1) यह मत कि जातिवाद का अन्त करने से पूर्व उपजातियों को नष्ट करना चाहिये डॉ. आम्बेडकर को स्वीकार नहीं था उनके अनुसार, भारतवर्ष में सभी छोटी-छोटी जातियों में मौलिक भिन्नता है, जिनके कारण उन्हें बड़ी-बड़ी जातियों में स्थान मिलना कठिन है। तार्किक दृष्टि से यह मान भी लिया जाये कि छोटी-छोटी जातियों का नष्ट होना सम्भव है और वे बड़ी-बड़ी जातियों में मिल सकती हैं, तो क्या प्रावधान है कि बाद में जातिवाद समाप्त हो ही जायेगा ? अतः छोटी-छोटी जातियों को पहले समाप्त करने का सुझाव न तो व्यावहारिक है और न प्रभावशील है। यह विधि सरलता से दोषपूर्ण सिद्ध हो सकती है।[3]

2) अन्तर्जातीय भोज व्यवस्था को भी डॉ. आम्बेडकर दोषपूर्ण एवं अपर्याप्त मानते थे। हिन्दू समाज़ में अनेक ऐसी जातियां है, जो आपस में खान-पान करती है, लेकिन उनका जातिवाद नष्ट नहीं हुआ। जातीय चेतना उनके व्यवहार एवं रहन-सहन में अब भी मिलती है। इसके द्वारा हिन्दू समाज में वह एकता नहीं आ सकती, जिसकी आज हमें आवश्यकता है।[4]

3) जातिवाद का अन्त करने के लिये अन्तर्जातीय विवाह के सुझाव से डॉ. आम्बेडकर पूर्णतः सहमत थे। उनका कहना था कि रक्त सम्बन्ध से ही स्वाभाविक एकता की भावना अधिक बलवती हो सकती है। जब तक

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीच, खण्ड- 1, पेज सं.- 39.
2. वही, पेज सं.- 42.
3. बी. आर. आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 56-57 (1937).
4. वही, पेज सं.- 57.

विभिन्न जातियों में पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित नहीं होंगे, तब तक पूर्ण एकता एवं सामंजस्य का होना असंभव है। रक्त सम्बन्धों के द्वारा ही पृथकता, घृणा, ऊँच-नीच, आदि की भावनाओं का अन्त हो सकता है। हिन्दू समाज जातिवाद के कारण अनेक सामाजिक इकाइयों में विभक्त है। अन्तर्जातीय विवाहों के द्वारा ही एक मौलिक सामान्य एकता आ सकती है। इस दृष्टि से अन्तर्जातीय विवाहों का होना अत्यन्त आवश्यक है।[1]

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार चातुर्वर्ण्य और जाति प्रथा ने भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या को स्थायी रूप से अपाहिज बना दिया है। "दुनिया के दूसरे देशों में क्रान्तियां हुई हैं। मेरे मन को यह सवाल बराबर परेशान करता रहा है कि हिन्दुस्तान में इस तरह की क्रान्तियां क्यों नहीं हुईं। इसका मैं एक ही जवाब दे सकता हूँ कि चातुर्वर्ण्य के कारण हिन्दू समाज की छोटी जातियां कोई भी सीधी कार्यवाही करने के लिये बिल्कुल अशक्त हो गयी हैं। वे शस्त्र नहीं उठा सकतीं और शस्त्र उठाये बिना कोई विद्रोह नहीं कर सकतीं।" उन्हें शिक्षा से वंचित रखा गया, उच्च संस्कृति से वंचित रखा गया उन्हें ज्ञान के नये प्रकाश में हिस्सा नहीं दिया गया और गुलाम बनाकर रखा गया। जाति प्रथा के घातक प्रभाव के कारण भारत को अन्धकार पराजय और अधोगति का शिकार बनना पड़ा।

जाति प्रथा से लड़ने के लिये चारो तरफ से प्रहार करना होगा। जाति ईंट की दीवारों जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं है यह एक विचार है एक मनः स्थिति है। इस मनःस्थिति की नींव शास्त्रों की पवित्रता में है। वास्तविक उपाय यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्रों के बन्धन से मुक्त किया जाये, उनकी पवित्रता को नष्ट किया जाये, लोगों के दीमाग को साफ किया जाये। तभी वे जाति-पांति का भेदभाव बन्द करेंगे। डॉ॰ आम्बेडकर को विश्वास था कि, इसका सही उपाय है, अन्तर्जातीय विवाह करना। जब जाति का धार्मिक आधार समाप्त हो जायेगा तो इसके लिये रास्ता खुल जायेगा। रक्त के मिश्रण से ही अपनेपन की भावना पैदा होगी और जब तक

---

1. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 57 (1937).

यह अपनत्व की, बन्धुत्व की भावना पैदा नहीं होगी तब तक जाति प्रथा द्वारा पैदा की गयी अलगाव की भावना समाप्त नहीं होगी।[1] यदि नवीन समाज की स्थापना करनी है तो शास्त्रों के प्रति दैवीय एवं पवित्रता की आस्था का अन्त करना ही होगा।

डॉ. लोहिया भारत में विद्यमान जाति प्रथा के सर्वथा विरुद्ध थे, उन्होंने भारत की जातियों को एक आकांक्षाहीन और जड़ वर्ग माना है। उनकी दृष्टि में भारतीय जाति-व्यवस्था केवल वर्णाश्रम धर्म से नहीं बनी है, वरन इसके पीछे ऐतिहासिक वक्रता भी है, जिसमें वर्ग से जाति और जाति से वर्ग के रूप में परिवर्तन होता रहा है। उन्होंने वर्ग उन्मूलन के पहले जातिगत सामाजिक जकड़बन्दियों को तोड़ना आवश्यक माना क्योंकि जाति व्यवस्था ने इस देश को बौद्धिक अयोग्यता के मरुस्थल में बदल दिया है। शिखर पर विद्यमान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नामक जातियां शूद्र जाति को प्रतिबन्धित करके अपने ही बनाये कटघरे में बन्द हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था जब से बनी है, तब से अभी तक टूटी ही नहीं वरन धर्म के नाम पर निरन्तर अधिक से अधिकतर जकड़बन्दी में सिकुड़ती ही चली गयी। डॉ. लोहिया भारत में जातीय भेदभाव को बढ़ाने में जन्मना रूढ़िवादिता का सबसे बड़ा हांथ मानते थे। इसके ही कारण निम्न जातियों को सामाजिक स्तर पर निरन्तर अपमानित होना पड़ा। देश के आर्थिक और धार्मिक अधिकारों से उन्हें वंचित रखा गया। ऐसी स्थिति में उनकी राजनैतिक भागीदारी किसी भी स्तर पर सम्भव नहीं हो सकी। डॉ. लोहिया का मानना था कि, हिन्दुस्तान की लगभग एक हजार वर्ष तक गुलामी का कारण केवल यह जाति-प्रथा ही थी क्योंकि देश की 90 प्रतिशत जनता को हथियार छूने का अधिकार न दिया जाकर उन्हें अकर्मण्य बनाकर बैठा दिया गया था। उन्होंने जाति प्रथा का नाश करने के लिये पूरा राजनीतिक अभियान शुरू करके 'जाति तोड़ो आन्दोलन' चलाया। उनकी दृष्टि से जातियों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उन्नत कर दिया जाये तो जाति पर निर्भर वर्ग निर्मूल हो सकते है। इसके विनाश के लिये डॉ.

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीच, खण्ड-1, पेज सं.- 67.

लोहिया ने 'अन्तर्जातीय सहभोज', 'अन्तर्जातीय विवाह' और ऐसे सामूहिक उत्सव सम्मेलन' एवं 'सहकार' पर बल दिया जिससे नये समाज के नये संस्कारों में आदान-प्रदान हो। यहां तक कि उन्होंने अन्तर्जातीय विवाहों को नौकरियों में प्राथमिकता दिये जाने की सिफारिश की जिससे जाति प्रथा को खत्म किया जा सके।

निश्चित रूप से भारत में समाजवादी लोकतांत्रित व्यवस्था को यथार्थ में स्थापित करने के लिये और उसमें निवास करने वाले लोगों में किसी भी प्रकार की दासता, शोषण, अत्याचार, अस्पृश्यता, सामाजिक, आर्थिक असमानता तथा बरोजगारी को खत्म करने के लिये जातिभेद व वर्गभेद दोनों का उन्मूलन होना आवश्यक है। डॉ॰ लोहिया ने जाति और वर्ग को एक दूसरे का परिवर्तित रूप माना है जो कि ठीक है क्योंकि आज तक के मानव इतिहास से यह सिद्ध है कि जब वर्ग स्थिर हो जाता है तो वह जाति का रूप ले लेता है और जब जाति की पकड़ ढीली पड़ने लगती है तो वह वर्ग का रूप ले लेती है अतः व्यक्ति और समाज के उत्थान के लिये जाति और वर्ग दोनों का विलोप होना आवश्यक है। भारत में जाति-व्यवस्था को अधिक बढ़ावा रूढ़िवाद एवं अन्ध-विश्वास ने दिया है अतः सर्वप्रथम समाज में शिक्षा और जागरूकता आना चाहिये जिससे रूढ़िवाद, अन्ध-विश्वास और परम्परागत दृष्टिकोण का पूर्णतः अन्त हो सके। साथ ही लोगों को अपनी सोच में परिवर्तन लाना होगा। आज जबकि विश्व के अन्य देश विकास की होड़ में सबसे आगे हैं तो भारत जैसे विशाल देश का सामाजिक, आर्थिक उत्थान न होना यहां जाति प्रथा जैसी व्यवस्था के विद्यमान होने के ही कारण है। आज भी सार्वजनिक स्तर पर कम किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर अधिक मात्रा में लोगों में जातिभेद की दीवारें खड़ी हैं। भारत के दूर-दराज इलाकों में अभी भी छुआछूत व जाति-भेद देखा जा सकता है, वहाँ अछूतों के निवास स्थल एवं पानी के स्रोत बस्ती से अलग होते हैं जबकि यह संवैधानिक अपराध है। अतः व्यक्ति और समाज के उत्थान के लिये जाति प्रथा को खत्म किया जाना आवश्यक है। इसके लिये उच्च जाति एवं वर्ग के लोगों को अपनी मानसिकता बदलनी होगी। इस दिशा में डॉ॰ लोहिया द्वारा सुझाया गया उपाय अन्तर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह तभी उपयोगी हो सकता है

जब लोगों के दीमाग की खिड़कियाँ खुले और वह यह समझें कि सभी मानव एक हैं सभी को प्रकृति ने बनाया है फिर मानव-मानव में फर्क क्यों ? यदि समाज़ के लोगों में चेतना नहीं आती तो सरकार को अन्तर्जातीय विवाह करने वालों को नौकरियों में प्राथमिकता देनी चाहिये। यह एक कारगर उपाय होगा और इससे निश्चित रूप से जाति-भेद की दीवारें टूटेंगी।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भारत में जाति-व्यवस्था को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से एक जटिल समस्या के रूप में निरूपित किया है। उनकी दृष्टि में भी वर्ग और जाति दोनों समीपवर्ती संकल्पनाएं हैं और कालान्तर में ही दोनों अलग-अलग होती हैं, बन्द या जमा हुआ वर्ग ही जाति है। उन्होंने जाति-प्रथा के अस्तित्व को प्राचीन मनीषी एवं चिन्तक मनु के पहले से माना। उनकी दृष्टि में जाति प्रणाली में ऐसी कठोर व्यवस्था की गयी थी कि जाति के भीतर जाने के प्रतिबन्ध के साथ-साथ बाहर जाने पर भी प्रतिबन्ध था। जाति के इस कठोर तर्कशास्त्र ने जाति से बहिष्कृत होने वाले व्यक्तियों को नये-नये समूह बनाने के लिये विवश किया। इन सामाजिक समूहों से असंख्य जातियों का निर्माण हुआ। डॉ॰ आम्बेडकर यह मानते थे कि, हिन्दू समाज जाति व्यवस्था के चौखट में बंधा हुआ है, जिसमें एक जाति सामाजिक प्रतिष्ठा में दूसरी जाति से निम्न है, और प्रत्येक जाति में अपने स्थान के अनुपात में विशेषाधिकार, निषेध और समर्थताएं है। उन्होंने जाति प्रथा को असमानता, अन्याय और अत्याचार का हेतु माना। उनकी दृष्टि में जाति-पांति के कारण हिन्दू बर्बाद हुये और हिन्दू वंश नष्ट हो गया। जाति के आधार पर हिन्दू समाज का पुनर्गठन सम्भव नहीं है। जाति व्यवस्था ने शूद्रों को शिक्षा एवं आर्थिक अधिकारों से वंचित रखा। भारत की बराबर पराजय का कारण जाति-व्यवस्था ही थी। डॉ॰ आम्बेडकर ने हिन्दुस्तान से जाति प्रथा खत्म करने का समर्थन किया। वे जातिवाद का अन्त करने के पहले उपजातियों को नष्ट करने के सुझाव को उचित नहीं मानते थे। वे अन्तर्जातीय भोज व्यवस्था को भी इसके लिये अपर्याप्त मानते थे परन्तु डॉ॰ आम्बेडकर जाति-प्रथा का अन्त करने के लिये अन्तर्जातीय विवाह के सुझाव से पूर्णतः सहमत थे। उनकी दृष्टि में जब तक विभिन्न जातियों में पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित नहीं होंगे, तब तक पूर्ण एकता एवं सामंजस्य का होना असम्भव है। रक्त

सम्बन्धों के द्वारा ही पृथकता, घृणा, ऊँच-नीच आदि भावनाओं का अन्त हो सकता है। डॉ. आम्बेडकर ने जाति प्रथा से लड़ने के लिये चारो ओर से प्रहार करने पर जोर दिया। उनकी दृष्टि में वास्तविक उपाय यह है कि, प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्रों के बन्धन से मुक्त किया जाये, उनकी पवित्रता को नष्ट किया जाये तभी वे जाति-पांति का भेदभाव बन्द करेंगे और भारत से जाति भेद खत्म हो सकेगा।

निःसंदेह भारत में जाति-व्यवस्था के कारण ही अनेक समस्याओं, असमानताओं एवं कुरीतियों का जन्म हुआ है। जाति-भेद से अस्पृश्यता नामक ज़हर ने समाज को विषाक्त करके छुआछूत पैदा कर दी। इसके ही कारण निम्न जाति के लोगों का शोषण और उन पर अमानवीय अत्याचार किये गये। जाति-भेद ने निम्न जातियों को गरीब व बेकार बने रहने के लिये बाध्य किया, शूद्र वर्ण के लोग शिक्षा प्राप्ति से वंचित रहे जिससे उनका जीवन अन्धकारमय हो गया। जाति प्रथा की वजह से निम्न जातियों की स्वतंत्रता एवं समानता का अपहरण हो गया और उन्हें दास व पराधीन बनाये रखा गया। इन सबके होते हुये भारत पतन की ओर गया और वर्षों तक गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहा। डॉ. आम्बेडकर का यह विचार कि 'जाति व्यवस्था ने हिन्दू समाज को पतन की ओर ढकेला' गलत नहीं है क्योंकि यदि भारतीय समाज में जाति भेद न होता तो निश्चित रूप से आज हिन्दुस्तान विकसित देशों की जमात में सबसे ऊपर होता और आज भी भारत सोने की चिड़िया कहा जाता। भारत के उत्थान के लिये असमानता, अन्याय, अत्याचार, व शोषण पर आधारित जाति व्यवस्था का अन्त होना ही चाहिये। इसके अन्त के लिये डॉ. आम्बेडकर ने जो उपाय बताये हैं उन्हें यदि अमल में लाया जाये तो वे उपयोगी साबित हो सकते हैं। जब लोगों में से रूढ़िवाद, अन्ध-विश्वास और परम्परागत विचार खत्म होंगे, उनका शास्त्रों के उन विचारों के प्रति मोह भंग होगा जो जाति-भेद को बढ़ावा देते हैं तो वे अन्तर्जातीय विवाह करने में और अन्य जातियों के साथ रक्त सम्बन्ध स्थापित करने में नहीं हिचकिचायेंगे और जब एक जाति का दूसरी जातियों से पारिवारिक सम्बन्ध बनेंगे तो निश्चित रूप से पारिवारिक सौहार्द्र स्थापित होगा और जाति की जड़ें कमज़ोर होंगी। इससे समाज से जाति भेद द्वारा उत्पन्न समस्याओं का समाधान होगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में संविधान के द्वारा सभी को स्वतंत्रता एवं समानता का अधिकार प्रदान किये जाने तथा अस्पृश्यता एवं शोषण का अन्त किये जाने के बाद वर्तमान समय में स्थिति यह है कि भारत के विकसित क्षेत्रों में जाति की जड़ें कमज़ोर तो हुई हैं परन्तु पूर्णरूप से नहीं। अभी भी जातीय संज्ञा की मानसिकता लोगों के दीमाग में बनी हुई है जिसे पूर्णतः खत्म होना आवश्यक है। दूसरी ओर ऐसे क्षेत्र जो इस मामले में काफी संवेदनशील है, विशेष रूप से भारत के दूर-दराज क्षेत्रों में जाति-भेद की जड़ें अभी भी गहराई से जमी हुई हैं। यद्यपि यहां पर भी जाति व्यवस्था का वह रूप नहीं रह गया है जो आजादी के पूर्व था इसमें परिवर्तन आया है परन्तु उतना नहीं जितना आज के वर्तमान संदर्भ में आवश्यक है। अतः ऐसे क्षेत्रों में वैधानिक कानूनों को कड़ाई से लागू करने, प्रशासनिक तंत्र को सक्रिय करने और वहां शिक्षा के प्रसार व जागरूकता की आवश्यकता है जिससे वहां के लोगों में से रूढ़िवादी प्रवृत्ति का अन्त हो सके और जाति-भेद पर कुठाराघात किया जा सके। यदि ऐसा सम्भव हो सकेगा तो निश्चित रूप से एक स्वस्थ्य और विकसित भारत का निर्माण सम्भव हो सकेगा।

सप्तम् अध्याय

"मानववादी दृष्टिकोण"

1. मानववाद : एक अवधारणा,
2. प्रकृति, मनुष्य और समाज,
3. राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में मानववाद,
4. विश्व राज्यवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद।

सप्तम् अध्याय
"मानववादी दृष्टिकोण"

7.1. मानववाद : एक अवधारणा-

मानववाद एक मानव केन्द्रित विचार है जो मनुष्य के अन्तिम स्वरूप से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों को जन्म देता है और जो कुछ भी मनुष्य है, उसकी सीमाओं को लांघे बिना, वह इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास करता है। मानववाद का विचार निरन्तर गतिशील है जो सभी मानव प्राणियों की खुशहाली के लिये नवीन क्षेत्रों और मूल्यों का सृजन करता है। दूसरे शब्दों में मानववाद वह सिद्धान्त, दृष्टिकोण या जीवन-पद्धति है जिसमें मनुष्य की गरिमा (Dignity) और मूल्य (Value) को सबसे अधिक महत्व दिया जाता है और यह माना जाता है कि मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि या विवेक (Reason) का प्रयोग करके आत्म-साक्षात्कार (Self-Realization) करने में समर्थ है। यह दृष्टिकोण जाति (Race) धर्म (Religion) या राष्ट्र (Nation) की सीमाओं को तोड़कर मनुष्य मात्र को विवेकशील और सहृदय प्राणी मानता है उसे अपने आपमें साध्य (End-in-itself) स्वीकार करते हुये मनुष्य के अस्तित्व या गौरव को ही सृष्टि के सबसे मूल्यवान तत्व के रूप में मान्यता देता है।

मानववादी तत्व पाश्चात्य दर्शन के अनेक सम्प्रदायों तथा युगों में देखने को मिलते हैं। प्रोटेगोरस, इरास्मस मोर, बुकनन और हर्डर में मानववादी प्रवृत्तियाँ

विद्यमान थीं।[1] तुर्गों तथा कोन्दर्से की भावना थी कि, विज्ञान की प्रगति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों की मुक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। विज्ञान ने मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता में वृद्धि कर दी है और उसे अन्ध-विश्वासों तथा बे-सिर-पैर के पारलौकिक भयों से मुक्त कर दिया है। हचीसन, शैफ्ट्सबरी तथा बैंथम आदि दार्शनिक उग्रवादी विचारकों के तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण महत्वपूर्ण हैं। इन दर्शनिक उग्रवादियों ने नैतिक समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाया था। मार्क्स ने व्यक्तिवादियों के मुक्तिवादी सिद्धान्तों को पूंजीवादी कल्पना मानकर उसका खण्डन किया। भारतीय चिन्तक एम.एन. राय ने मार्क्स के इस रवैये को दुर्भाग्यपूर्ण बताया और कहा कि, इससे प्रकट होता है कि मार्क्स को नैतिक आदर्शों के ऐतिहासिक विकास का समुचित ज्ञान नहीं आया। आधुनिक सभ्यता जिस नैतिक तथा सांस्कृतिक संकट से गुज़र रही है उसको देखते हुये मानववादी मूल्यों का पुनः प्रतिपादन करना अत्यन्त आवश्यक है। आनुभविक पद्धति के उद्देश्य से सहज, शुद्ध, नैतिक बुद्धि की धारणा ध्वस्त हो गयी है। परिणामस्वरूप मानव जाति एक नैतिक उलझन में फँस गयी है। नैतिक मूल्यों की वस्तु परकता का ह्रास हो चुका है। ऐसे युगं का स्वाभाविक विश्व दर्शन व्यवहारवादी है।

मैनहाइम, सोरोकिन, टैगोर, अरविन्द आदि दर्शनिक तथा कवियों ने आध्यात्मिक अनुभूति को सर्वोच्च मूल की वस्तु माना है। परन्तु डॉ. लोहिया व डॉ. आम्बेडकर को भौतिकवाद में पूर्ण आस्था थी, इसलिये वे इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो सकते थे। वे आचार नीति को तत्वशास्त्रीय निरपेक्षतावाद पर नहीं बल्कि विश्लेषणात्मक तथा विवादपूर्ण बुद्धि पर आधारित करना चाहते थे। उनका मानना था कि, मनुष्य में बौद्धिकता किसी दैवीय सत्ता ने निरोपित नहीं की है, वह तो जैविक विकास की उपज है, और मानववादी आचार नीति का आधार मनुष्य की

---

1. लौथ्रोप स्टोडार्ड ने कहा है कि पुनर्जागरण काल का मानवतावाद असफल रहा क्योंकि वह अल्पसंख्यक लोगों तक ही सीमित था इसलिये उसके पास जनता को प्रोत्साहित करने का कोई व्यावहारिक तरीका नहीं था किन्तु वैज्ञानिक मानववाद का सम्बन्ध बहुसंख्यकों से है और जनता को आधुनिक विज्ञान का निहितार्थ समझाया जा सकता है।

यही सहज बौद्धिकता है। मानव जाति संकट के युग से गुजर रही है। इस समय मनुष्य की मूल समस्या यह है कि समग्रवादी राज्य के अतिक्रमण से व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा किस प्रकार की जाय। अब पूंजीपतियों और श्रमिकों के पारस्परिक संघर्ष की आर्थिक समस्या केन्द्रीय प्रश्न नहीं है, यद्यपि उसको भी हल करना है और दलित मानवता के हितों की दृष्टि से हल करना है।

दो शब्द हैं- एक मानववाद (Humanism) एवं दूसरा मानवतावाद (Humanitarianism)। दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित होते हुये भी अलग-अलग अर्थ प्रकट करते हैं। मानववाद स्वयं में एक दर्शन है, सम्पूर्ण दार्शनिक तंत्र है, जबकि मानवतावाद मात्र भावनाओं की एक अभिव्यक्ति है। मानवतावाद में अनेक ऐसे विचार, जैसे ईश्वर में आस्था, अति-प्रकृतिवाद, दैविक, कृपा, आवागमन, स्वर्गनरक तथा मोक्ष में विश्वास सम्मिलित है, जिन्हें मानववाद तनिक भी प्रासंगिक नहीं समझता।

मानववाद पूर्णतः मानव केन्द्रित तंत्र है जो मनुष्य को ही सर्वोपरि मानता है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्णायक है। वह अपने ही प्रयासों तथा स्थितियों से समायोजन करके उभर सकता है, अतः मानववाद मानवतावाद से भिन्न, एक दर्शन है जो एक निश्चित विश्व दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। मानववाद का मूल उद्देश्य मानव स्थिति का विश्लेषण करना और सम्बन्धित समस्याओं का समाधान खोजना है, लेकिन मानवतावाद समयानुकूल विपत्ति की घड़ी में पीड़ित नर-नारियों के प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन तथा सहायता करने की मनोवृत्ति एवं कार्यविधि है मानवतावाद कोई निश्चित दार्शनिक तंत्र नहीं है।

डॉ॰ राममनोहर लोहिया के उदात्त मानवीय जीवन पक्ष ने उन्हें पद-दलित, पीड़ित एवं शोषित जनता का प्रिय नेता तथा सशक्त प्रवक्ता बना दिया। उनमें पद-लोलुपता और सम्पत्ति के प्रति मोह नहीं था। उनका जीवन नेता, मित्र, पथ-प्रदर्शक तीनों का अद्भुत सम्मिश्रण था। उनके व्यक्तित्व में ठोसपन, विचार में परिपक्वता और आचरण में करुणा, प्रेम, निष्ठा एवं ईमानदारी अभिव्यक्त होती थी। लेकिन साथ ही, वह विद्रोही, नास्तिक तथा क्रान्तिकारी भी थे। उनमें छलकपट, दोगलापन और झूंठ नहीं था। अपनी सरल एवं सीधी भाषा में उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त

किया, सच्चाई से ओत-प्रोत आचरण और कार्यों को अहिंसात्मक रूप से सम्पन्न किया। मूलतः डॉ. लोहिया सामाजिक चिन्तक, राजनीतिक विचारक तथा भविष्यदृष्टा थे। व्यापक दृष्टिकोण, दूरदर्शिता, शान्ति और सन्तुलन उनके समाजवादी दर्शन की विशेषताएं थी। वह जनतांत्रिक मानववादी विचारक थे, जिन्होंने सदैव मानव कल्याण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

डॉ. लोहिया ने सर्वत्र अन्यायों तथा विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने हिन्दू वर्ण-व्यवस्था और हिन्दू धर्म तथा विभिन्न मज़हबों की अनेक मान्यताओं को नहीं माना। इसीलिये उन्हें ध्वंसक, मूर्तिभंजक आदि कहा गया। लेकिन उनका समाजवादी दर्शन परम्परावाद, जातिवाद, ईश्वरवाद, वर्णवाद, साम्प्रदायिकता, रंगभेद, अस्पृश्यता, दरिद्रता आदि का ध्वंसक होते हुये भी रचनात्मक और अहिंसक है। उनके दर्शन और पद्धति में सृजनात्मक पक्ष अन्तर्निहित हैं, जिसके कारण डॉ. लोहिया ने भारतीय एवं विश्व-चिन्तनधारा को व्यापक रूप से समृद्ध बनाया। वह जीवन में सुखवादी तथा अतिवादी नहीं थे। उन्होंने मानवीय भावना, संस्कृतिं एवं सम्पन्नता को वैभव और सम्पत्ति की दृष्टि से नहीं देखा। वह मानववादी मूल्यों जैसे स्वतंत्रता, स्वतंत्र-चिन्तन, विचार अभिव्यक्ति, समता, परस्पर सहयोग, सद्भाव, ईमानदारी और नैतिक गुणों को मानव जीवन में अधिक महत्त्व देते थे। वह विश्व के पद-दलित, दरिद्र एवं शोषित लोगों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक मुक्ति के निष्ठावान समर्थक थे। उनके चिन्तन में जाति, धर्म, जन्म, रंग एवं राष्ट्र की संकुचित सीमाएं नहीं थीं। यही कारण है कि डॉ. लोहिया राष्ट्रवाद की सीमाओं को लांघकर अन्तर्राष्ट्रवाद के पोषक बन गये, जो उनकी मानववादी अन्तर्दृष्टि का परिचायक है।

राष्ट्रीय जीवन को समृद्ध बनाने के लिये डॉ. लोहिया ने वर्णवाद, जातिवाद, नर-नारी असमानता, अस्पृश्यता, रंग-भेद नीति तथा अन्य ऐसी ही अनेक सामाजिक कुरीतियों और आर्थिक कट्टरताओं पर प्रभावशाली प्रहार किये। साथ ही उन्होंने आर्थिक समता और राजनीतिक स्वतंत्रता के लिये सशक्त आन्दोलन किये।

आधुनिक विज्ञान और जनतांत्रिक मानववाद की भावनाओं से ओत-प्रोत डॉ. लोहिया का समाजवादी दृष्टिकोण, सत्य को तिरोहित करने वाले अर्थहीन धार्मिक

आडम्बरों और दमनकारी सामाजिक विषमताओं के प्रति विद्रोह और क्रान्ति के भाव उत्पन्न करता है। लोकतांत्रिक होकर, अपने प्रति समस्त विरोधों तथा आलोचनाओं को सहन करते हुये, पुरातनपंथी, सामंतवादी और धर्मान्धता के प्रति उन्होंने अपना क्रोध व घृणा व्यक्त की, ताकि दलित एवं पिछड़े, कमज़ोर वर्गों को सामाजिक एवं आर्थिक मुक्ति मिले। डॉ0 लोहिया ने, ईश्वर की सृष्टि को न मानते हुये, अपने सुख-दुखों की चिन्ता न कर, मानव प्राणियों के मुख पर मुस्कान लाने तथा उनकी निरीह आँखों के अश्रुओं को पोंछने का अदम्य साहस और सेवा का भाव, सीमित विनय, सद्भाव एवं सम्मान के साथ प्रदर्शित किया।

डॉ. आम्बेडकर ने तत्कालीन भारतीय सामाजिक स्थिति का गहन अध्ययन किया और यह पाया कि, अधिकांश मानव प्राणी पीड़ा और दुःख में जी रहे हैं। पीड़ित मनुष्य को उन्होंने स्वयं देखा और उस स्थिति की यातनाओं को भी भोगा। उनके मूल प्रेरणा-स्रोत महाकारुणिक बुद्ध, सन्त कबीर तथा महात्मा फूले जैसे महान समाज सुधारक एवं क्रान्तिकारी थे। डॉ. आम्बेडकर के जीवन और दर्शन पर इनका गहरा तथा स्थायी प्रभाव पड़ा। फलतः उनके अनुरूप ही वे हिन्दू समाज में प्रचलित छुआछूत, जातिवाद, वर्णवाद, अन्ध-विश्वासों एवं हानिकारक रूढ़ियों तथा परम्पराओं के घोर विरोधी बन गये। डॉ. आम्बेडकर ने जीवन और जगत के प्रति केवल अनुभवपरक, तर्कपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही स्वीकार किया। उनके विचारों की अभिव्यक्ति में जो सामान्य कड़ी मिलती है उसे 'सामाजिक मानववाद' की कड़ी कहा जा सकता है सामाजिक मानववाद को जनतांत्रिक मानववाद भी कहते हैं।

सामाजिक मानववाद की आधारशिलाएं, स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व, मनुष्य, समाज, प्रकृति, विज्ञान, नैतिकता और धर्म है। डॉ. आम्बेडकर का मानववाद मानव उद्देश्यों की पूर्ति के लिये पूर्णतः कटिबद्ध है। उनका दर्शन प्रेम एवं सहानुभूति, ज्ञान एवं विज्ञान तथा समाज एवं मानव सेवा से प्रेरित है। उनके मानववाद में अन्ध-विश्वास, मूर्ति पूजा, साम्प्रदायिकता, झूंठ, रहस्यवाद, ईश्वरवाद, अति-प्रकृतिवाद, बर्बरता, अत्याचार आदि के लिये कोई स्थान नहीं है। मानववाद का सीधा एवं स्पष्ट उद्देश्य है कि, मानव-मानव के बीच शुभ सम्बन्ध स्थापित किये जायें, ताकि

मानव प्राणी शान्तिपूर्वक रह सकें और सुख-समृद्धि की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते रहें।

डॉ॰ आम्बेडकर का 'सामाजिक मानववाद' वह दार्शनिक विचारधारा है, जिसमें मनुष्य की सामाजिक स्थिति और उसकी समस्याओं के विवेचन को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इस विचारधारा का केन्द्र-बिन्दु ईश्वर या अन्य कोई दैवी-शक्ति न होकर, स्वयं दलित-पीड़ित मनुष्य है, इसमें मानव हित सर्वोपरि है, और यह कर्माधारित विधि पर आश्रित है। विद्यमान समाज में मनुष्य की प्रतिष्ठा, समान अधिकारों की सुरक्षा व्यक्ति के रूप में उसके मूल्य, जनसामान्य का मंगल-कल्याण, विचार-स्वातंत्र्य, न्यायपूर्ण व्यवस्था, बन्धुत्व पर आधारित सम्यक सम्बन्ध, मनुष्य का चहुमुखी विकास और मनुष्य के हित में सामाजिक जीवन की परिस्थितियों के नये निर्माण के लिये विचार की अभिव्यक्ति तथा सतत् आन्दोलनात्मक सक्रियता डॉ॰ आम्बेडकर के सामाजिक मानववाद की प्रमुख विशेषताएं हैं। वह सभी प्रकार के प्रगतिशील तथा वैज्ञानिक विचारों के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ दर्शन है, जिसने स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व, शिक्षा, संगठन और संघर्ष के नारे बुलन्द किये और लोगों की अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुरूप स्वतंत्र रूप से विकसित करने के अधिकार पर बल दिया। डॉ॰ आम्बेडकर का मानववाद शूद्र-अछूत, दलित-निर्बल, गरीब-दरिद्र तथा पीड़ित-असहांय की सामाजिक मुक्ति का सजग आन्दोलन है जो इस बात पर बल देता है कि मनुष्य एक-दूसरे के न्यायसंगत हितों का सम्मान एवं सम्पूर्ति करने के लिये कर्तव्यबद्ध रहें।

मानववाद मानव केन्द्रित विचार है। यह वह सिद्धान्त, दृष्टिकोण या जीवन पद्धति है जिसमें मनुष्य की गरिमा और मूल्य को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। मानववाद जाति, धर्म या राष्ट्र की सीमाओं को तोड़कर मनुष्य मात्र को विवेकशील और सहृदय प्राणी मानता है, उसे अपने आपमें साध्य स्वीकार करते हुये मनुष्य के अस्तित्व या गौरव को ही सृष्टि के सबसे मूल्यवान तत्व के रूप में मान्यता देता है। मानववाद और मानवतावाद दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हुये भिन्न अर्थ रखते हैं। मानववाद स्वयं में एक दर्शन है जो मनुष्य को ही सर्वोपरि मानता है जबकि मानवतावाद मात्र भावनाओं की एक अभिव्यक्ति है। इसमें ईश्वर में आस्था, अति-

प्रकृतिवाद, दैविक कृपा, आवागमन, स्वर्ग-नरक तथा मोक्ष में विश्वास जैसे विचार सम्मिलित हैं जिन्हें मानववाद प्रासंगिक नहीं मानता। उसकी दृष्टि में मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्णायक है। डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर मानवादी विचारक थे जिन्हें भौतिकवाद में पूर्ण आस्था थी।

डॉ. लोहिया जनतांत्रिक मानवादी थे, जिन्होंने सदैव मानव-कल्याण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। वे मानववादी मूल्यों जैसे- स्वतंत्रता, स्वतंत्र चिन्तन, विचार अभिव्यक्ति, समता, परस्पर सहयोग, सद्भाव, ईमानदारी और नैतिक गुणों को मानव जीवन में अधिक महत्व देते थे। वे राष्ट्रवाद की सीमाओं को लांघकर अन्तर्राष्ट्रवाद के पोषक थे क्योंकि उनके चिन्तन में जाति, धर्म, जन्म, रंग, लिंग एवं राष्ट्र की संकुचित सीमाएं नहीं थी। यह उनकी मानववादी दृष्टि का परिचायक है।

डॉ. आम्बेडकर के विचारों में जिस सामाजिक मानववाद की झलक देखने को मिलती है उसे जनतांत्रिक मानववाद भी कहते हैं। स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व, मनुष्य, समाज, प्रकृति, विज्ञान, नैतिकता और धर्म सामाजिक मानववाद के आधार हैं। डॉ. आम्बेडकर का सामाजिक मानववाद वह दार्शनिक विचारधारा है जिसमें मनुष्य की सामाजिक स्थिति और उसकी समस्याओं के विवेचन को अधिक महत्व दिया गया है। इस विचारधारा का केन्द्र बिन्दु ईश्वर या अन्य कोई दैवी शक्ति न होकर, स्वयं दलित, पीड़ित, शोषित मनुष्य है। डॉ. आम्बेडकर का मानववाद शूद्र, अछूत, दलित, निर्बल, गरीब-दरिद्र तथा पीड़ित असहाय की सामाजिक मुक्ति का सजग आन्दोलन है।

निःसंदेह डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर दोनों मानवादी विचारक थे। दोनों ने जनतांत्रिक या सामाजिक मानववाद की प्रतिस्थापना की। दोनों का मानववाद दलित, पिछड़े, निर्बल, शोषित, पीड़ित, कुत्सित मनुष्य की मुक्ति के लिये समर्पित था। दोनों भारत में विद्यमान कुरीतियों, अन्ध-विश्वास, रूढ़िवाद आदि जो मनुष्य की गरीबी, पिछड़ेपन, शोषण के लिये उत्तरदायी थे, के विरोधी थे। वे मनुष्य को उसकी स्वतंत्रता, समानता और सम्मान को वापस लौटाना चाहते थे। अन्ततः दोनों का सम्पूर्ण चिन्तन मनुष्य मात्र के उत्थान के लिये केन्द्रित था। मनुष्य चाहे वह विश्व के जिस हिस्से का निवासी हो, उनकी दृष्टि में सभी मनुष्य समान थे। सभी मनुष्यों

के प्रति उनमें सहानुभूति और निष्ठा थी।

7.2. प्रकृति, मनुष्य और समाज-

डॉ. लोहिया यद्यपि किसी धर्म में विश्वास नहीं करते थे, परन्तु बहुत व्यापक संदर्भ में धर्माचरण के माध्यम से धर्म को समझने की कोशिश करते थे। किसी प्रकार के नितान्त अमूर्त मूल्यों में उनका विश्वास नहीं था लेकिन उन मूल्यों के आधार पर, आचरण पर, उनकी दृष्टि अवश्य रहती थी। इस दृष्टि के पीछे वह मनुष्य की आकांक्षाओं और उसके प्रयासों के प्रबल समर्थक थे। भगवान न मानते हुये भी जिस आशा के साथ वह पूरी मानवता को एक नितान्त अविभाज्य रूप से अनुभव करते थे, वह अपने आपमें उस ईश्वरत्व का बोध कराता है जो सृष्टि (प्रकृति) के कण-कण में व्याप्त होने के बावजूद भी अपने को अव्यक्त रखता है। गहराई से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य मात्र ही डॉ. लोहिया के लिये 'ईश्वर' स्वरूप था और मानववाद ही उनका धर्म था।

जहाँ डॉ. लोहिया तप और तकलीफ की बात करते हैं, संतोष और तुष्टि की बात करते हैं, वहीं बार-बार सावधान करते हैं कि यह सारे भाव एकतरफा नहीं होने चाहिये। वस्तु और पदार्थ का सत्य और आत्मसत्य में एक संवाद निरन्तर चलते रहना चाहिये, जिससे सगुण-निर्गुण सापेक्ष हो और निर्गुण सगुण-सापेक्ष हो। निर्गुण और सगुण के बीच में मन एक सेतु की तरह काम करे और दोनों को निरन्तर आत्मिक और आध्यात्मिक प्रकाश से प्रज्ज्वलित करता रहे।[1] डॉ. लोहिया का यह विश्वास था कि, मनुष्य न तो केवल पदार्थ जीवी है और न ही नितान्त अध्यात्मजीवी। वह पदार्थ की आध्यात्मिकता और अध्यात्म की वस्तुपरकता दोनों को जाँचता, परखता, अनुभव करता और भोगता हुआ जीवन को अभिव्यक्ति देता है। मन के साथ-साथ डॉ. लोहिया स्वप्न की भी बात करते हैं और बार-बार आग्रह करते हैं कि वह व्यक्ति या देश या राष्ट्र मुर्दा हो जाता है, जिसमें नये-नये सपनों को रचने की क्षमता नहीं होती। इससे भी ज्यादा मुर्दा तब होता है, जब इन सपनों को आकांक्षाओं में परिवर्तित करना छोड़ देता है। यदि मनुष्य के पास मन हो, यथार्थ और अध्यात्म के संवाद को पहचानने की क्षमता हो, और इस क्षमता के

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, साधारण निर्गुण और ठोस सगुण (1969).

आधार पर नये सपनों को रचने की योग्यता हो तो वह एक अनुरागमय, रसमय और आनन्दमय जीवन जी सकता है। आनन्द और रस को प्राप्त करने की इच्छा होना ही इस बात का प्रमाण होगा कि, वह सृजनात्मक जीवन जीना चाहता है। इसी के साथ उसकी सृजनशीलता एक मूर्ख और पागल की सनक या बहक न बनने पाये, इसके लिये वह मन को हमेशा उस पक्षी के समान उड़ान भरने वाला बनाना चाहते थे, जो आकाश में स्वच्छन्द उड़ सके किन्तु उसकी दृष्टि पृथ्वी पर निरन्तर लगी रहे।

हमारे दर्शन में आनन्द को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किन्तु आनन्द और भोग में एक अन्तर किया गया है। इसीलिये डॉ. लोहिया आधुनिक भोगवादी संस्कृति के कटु आलोचक थे। उनका ध्येय था कि मनुष्य के सम्भव समता के लक्ष्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब भोग की इच्छा पर अंकुश लगाने की प्रवृत्ति जागृत हो। यह अंकुश कोई बाहर से नहीं लगायेगा। इसे स्वयं मनुष्य की अन्तरात्मा से निःसृत होना चाहिये। यही कारण है कि एक ओर वह गाँधी जी के अस्तेय और अपरिग्रह के सिद्धान्त को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे, तो उसी के साथ वह कठोर ब्रह्मचर्य और योनि प्रतिबन्धन के खिलाफ थे। आर्थिक समता के प्रबल समर्थक होते हुये भी डॉ. लोहिया के हृदय में मनुष्य की जो छवि थी वह केवल भोगवादी नहीं थी। वह अर्थ की जड़ता में मनुष्य को फँसाना नहीं चाहते थे। मनुष्य को हर दृष्टि से स्वावलम्बी और सम्पूर्ण देखना चाहते थे। स्वावलम्बी इस अर्थ में कि वह अपनी भूख-प्यास के लिये, घर-द्वार के लिये, रोजी-रोटी के लिये कम से कम आश्रित हो।

डॉ. लोहिया यह कहते हैं कि, धर्म की उन्हें जरूरत नहीं पड़ी और स्त्रियों के स्नेह या प्यार से वे सदा वंचित रहे। लेकिन डॉ. लोहिया का भावुक मन जब भगवान की चर्चा करता है तो राम के रामत्व को राम से बड़ा सिद्ध करता है तथा कृष्ण के कृष्णत्व को कृष्ण से बड़ा बनाकर प्रस्तुत करता है। भले ही डॉ. लोहिया ने कभी किसी ईश्वर के सामने सिर न झुकाया हो, लेकिन राम, कृष्ण और शिव पर जब वह लिखने बैठते हैं तो उनके अन्तःस्थल की आस्तिकता और उनकी दृष्टि की व्यापकता दोनों ही स्पष्ट रूप से हमारे सामने प्रस्तुत होती है। उनकी भारत माता

से प्रार्थना है- "हे भारत माता, मुझे शिव जैसी विशालता, राम जैसी मर्यादा और कृष्ण जैसा मुक्त मन दो।"[1] उनकी उस उच्चतम आस्तिकता का परिचय सहज ही मिल जाता है जिसे वह लाख छिपाना चाहे लेकिन छिप नहीं सकती।

डॉ॰ लोहिया 'मनुष्य' के व्यक्तित्व के प्रति विशेष आस्था रखते थे। जिस समाजवाद की कल्पना उनके मन को आन्दोलित करती थी, वह व्यक्ति की प्रतिष्ठा से शुरू होती है और विश्व समाजवाद में इसका प्रतिफलन होता है। व्यक्ति, साधन, व्यक्ति के मौलिक अधिकार, व्यक्ति की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके आने, जाने, सोचने समझने में पूर्ण स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो, यही उनके विचार का केन्द्र-बिन्दु है। उन्होंने जितनी भी लड़ाइयां लड़ी और जितने भी आन्दोलन कराये उनके मूल में इन्हीं मौलिक आज़ादियों की लड़ाई रही है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा करते हुये उन्होंने पाँच बातों पर विशेष बल दिया है-

1) व्यक्ति के अस्तित्व के प्रति आदर।

2) व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन में ऐसा समीकरण प्रस्तुत करना जिससे व्यक्ति की मूल चेतना पर कोई दबाव, कोई रुकावट, या कोई बाधा न पड़े।

3) व्यक्ति और प्रकृति के सम्बन्ध में उन्होंने सांस्कृतिक और शारीरिक सीमाओं और आकांक्षाओं में ऐसा अनुपातात्मक सम्बन्ध कायम करने की चेष्टा की है जिससे जैविक मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य स्वतंत्रता का अनुभव कर सके।

4) व्यक्ति को मनस्वी के रूप में स्वीकार करके, मन के स्तर पर सोचने, विचारने और बोलने की पूरी आजादी के वह समर्थक थे, किन्तु कर्म को मर्यादित करने के लिये केवल आत्म अनुशासन तक का बन्धन स्वीकार करते हैं।

5) व्यक्ति की इस स्वतंत्रता को निर्भीक और सशक्त बनाने के लिये वह मनुष्य की आर्थिक स्वतंत्रता को भी अनुशासित करने के पक्ष में थे। यानी वह मानते थे कि कोई भी ऐसा उद्योग या प्रयास नहीं किया जाना चाहिये

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 279 (1969).

जिसमें मशीन, व्यवस्था या प्रशासन, व्यक्ति के स्वाभिमान पर आक्षेप करे।

यही कारण है कि, व्यक्ति की निष्ठा के लिये वह यह आवश्यक समझते थे कि इसकी क्षमताएं ऐसी संगठित और पूर्ण हों कि कहीं भी ऐसा न लगे कि पूरे मनुष्य का अस्तित्व एक मशीन में बदलता जा रहा है या पूरे मनुष्य का व्यक्तित्व कहीं भी अपमानित या उपेक्षित हो रहा है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वह पाँच और चीजों पर बल देते हैं-

1) विकेन्द्रीकृत समाज जिसमें व्यक्ति की वैयक्तिक और सामूहिक भागीदारी हो।

2) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता का आदर्श, और सम्भव समानता की ओर निरन्तर गतिशील होना।

3) रंग-भेद, जाति-भेद और योनि-भेदों से आदमी में अलगाव पैदा करने की प्रवृत्ति को समाप्त करना।

4) बालिग मताधिकार की प्रतिष्ठा और मानव मातृ के व्यक्तित्व की पावनता की रक्षा करना।

5) व्यक्ति को उसकी अपनी सम्पूर्ण जातीय स्मृति के साथ जीने का अधिकार देना।

डॉ॰ लोहिया ने इसी व्यक्ति निष्ठा के आधार पर सभ्यता और इतिहास और संस्कृति का विशद् विवेचन किया है। वैयक्तिक स्वतंत्रता की चर्चा करते हुये उन्होंने सप्त क्रान्तियों के सम्बन्ध में कहा है कि- "हर व्यक्ति को अपने जीवन को अपने मन के मुताबिक चलाने का अधिकार है जीवन के ऐसे कुछ दायरे होने चाहिये कि जिनमें राज्य का या सरकार का, संगठन का या गिरोह का दखल न हो। जिस तरह हमारे जीवन की बेदखलियाँ हो जाती हैं, उसी तरह सरकार और राजनीतिक पार्टियां हमारे जीवन को भी बेदखल कर डालती हैं।"[1] वैयक्तिक स्वतंत्रता के विषय में वह कर्तव्य और अधिकार की चर्चा करते हुये अधिकार के महत्व को किसी भी तरह कोई भी क्षति नहीं पहुंचाना चाहते। उनका स्पष्ट मत है कि कर्तव्य की भावना

---

1. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, सप्तक्रान्तियाँ (1966).

कभी आ नहीं सकती जब तक अधिकार की भावना नहीं आयेगी। चेतना को उदात्त करने के लिये अधिकार और स्वतंत्रता मिलने पर जोर देना चाहिये। अधिकार और स्वतंत्रता मिलने पर मनुष्य की चेतना उदात्त होती है, और उसमें स्वाभिमान जागृत होता है। वह अपने को महत्वपूर्ण समझने लगता है और महान कार्यों को सम्पादित करने के लिये वह अपने में एक स्फूर्ति का अनुभव करने लगता है। डॉ. लोहिया पाँच प्रकार की स्वतंत्रता व्यक्ति के लिये आवश्यक समझते हैं :-

1) व्यक्तिगत स्वतंत्रता जिसमें श्रम की स्वतंत्रता, आराम करने की स्वतंत्रता, विरोध करने की स्वतंत्रता और स्वप्न रचने की स्वतंत्रता सम्मिलित है। डॉ. लोहिया ने लिखा है कि स्वतंत्रता का आभास अधिकाधिक समता के स्थापन में मिलता है और समता के चार प्रमुख पथ है- (क) वैधानिक (ख) आर्थिक (ग) राजनीतिक और (घ) आध्यात्मिक।[1]

2) डॉ. लोहिया व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ-साथ उसकी 'आध्यात्मिक स्वतंत्रता' को एक महत्वपूर्ण अंग मानते थे। उनका कहना था कि, व्यक्ति की निष्ठा इस आध्यात्मिक स्वतंत्रता से ही बनती है। यानी मनुष्य को यदि सारी सुख-सुविधाएं दे दी जायें और उसके अन्तर्मन की स्वतंत्रता पर रोक लगा दी जाय तो ये सारी सुविधाएं अर्थहीन हो जायेंगी। इसलिये मनुष्य को यह अधिकार होना चाहिये कि वह अपने मन के संसार में स्वच्छन्द रूप से रमण कर सके।

3) व्यक्ति स्वातंत्र्य और आस्था के विषय में डॉ. लोहिया ने टैगोर के उस गति की प्रायः चर्चा की है, जिसमें व्यक्ति एकला चलो रे की प्रेरणा से अनुप्राणित होता है। उनका कहना है कि अपनी आस्था के अनुकूल अकेले चलने की छूट हर व्यक्ति को मिलनी चाहिये।

4) उन्होंने मौलिक अधिकारों के संदर्भ में 'अन्याय के विरुद्ध निरन्तर लड़ते रहने की स्वतंत्रता' को अक्षुण्ण बताया है। उन्होंने यह कहा है कि अन्याय का विरोध करने में मनुष्य को केवल अपनी आत्मा की आवाज़ को मानना ही सार्थक होगा।

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म (1963).

5) डॉ. लोहिया व्यक्ति की 'बौद्धिक स्वतंत्रता' पर भी विशेष बल देते थे क्योंकि वह यह मानते थे कि मनुष्य केवल पेट पर जीने वाला जीव नहीं है। वह केवल अन्नमय कोश वाला प्राणी नहीं है। वह अपनी परम उपलब्धि परमार्थ में पाता है। उसका परम लक्ष्य ज्ञानमय कोश होता है। इसलिये उसके दैनिक जीवन में पठप-पाठन, बहस, वाद-विवाद आदि की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये।

इस तरह हम डॉ. लोहिया के व्यक्तित्व में व्याप्त मानवीय आस्था और उसके विश्वासों के प्रति अटूट आस्था के दर्शन करते हैं। इतना ही नहीं डॉ. लोहिया व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि दोनों को एक साथ जीवित रखना चाहते थे। न तो वह चाहते थे कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को काट-छांटकर एक नगण्य रूप दिया जाय, न ही वह यह चाहते थे कि व्यक्ति का अहंकार नष्ट किया जाय। विश्व चेतना में भी वह व्यक्ति की ईकाई, गाँव की ईकाई और राष्ट्र की ईकाई को एक साथ क्रम में गुंथा हुआ देखना चाहते थे। कोई भी ऐसा तंत्र चाहे वह राष्ट्रीय स्तर का हो या विश्व का उसे वह मनुष्य और मानवता, स्वतंत्रता और स्वाभाविकता के रूप में प्रगट करना चाहते थे। मनुष्य का सामूहिक व्यक्तित्व और उसके वैयक्तिक व्यक्तित्व में वह कोई द्वन्द नहीं देखते थे। इसके विपरीत समाज को वह व्यक्ति उदात्त चेतना का प्रतिफलन मानते थे। इसलिये वह समाज और व्यक्ति के रिश्ते को एक-दूसरे का पूरक मानते थे। असली और सही समाज जीवन्त एवं कर्मनिष्ठ व्यक्तियों का सृजनशील स्वरूप होता है। यदि किसी समाज में सृजनशील व्यक्तियों का बाहुल्य होगा तो निश्चय ही ऐसे बहुआयामी व्यक्तियों के समाज का स्वरूप भी सृजनशील होगा।

डॉ. लोहिया के लिये सारी विश्व की मानवता में भेद नहीं था। वह समूची मानव जाति को एक वृहद सामूहिक समाज का विकसित रूप मानते थे। समष्टि उनके लिये एक अविभाज्य इकाई का रूप था। गोरे-काले, गरीब-अमीर में आज की बंटी हुई दुनिया से वह दुखी थे। वह बार-बार इस बात पर बल देते थे कि समूची मानव जाति को इस विषमता को दूर करने के लिये क्रियाशील होना चाहिये। मनुष्य और मनुष्य में भेद चाहे वह रंग के आधार पर हो, जाति के आधार पर हो

या योनि के आधार पर हो अथवा आर्थिक आधार पर हो, वह मानव मात्र का अपमान है। यह सारे अपमान इतिहास की वक्रगति के कारण घटित हुये हैं। आज हम ऐसे दौर से गुज़र रहे हैं जब यह सम्भव है कि विश्व स्तर पर मनुष्य एकजुट होकर इन समस्त भेदों को दूर करने का प्रयास करें। डॉ॰ लोहिया का यह विश्वास था कि यह सारी बुराइयाँ तभी दूर होंगी जब इनका निराकरण विश्व स्तर पर किया जायेगा। स्थानीय जीवन में तो यह प्रयास करते ही रहने चाहिये पर इनको एक व्यापक विश्वस्तरीय आन्दोलन द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

अपनी इसी अवधारणा के आधार पर उन्होंने 'सप्त क्रान्तियों' का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुये कहा है कि यह 'सातों क्रान्तियाँ' पूरे विश्व में कहीं न कहीं हर क्षण लड़ी जा रही हैं।[1] यदि कहीं रंग-नीति के खिलाफ संघर्ष चल रहा है, तो कहीं दूसरे देश में योनि भेद के खिलाफ, किसी तीसरे देश में आर्थिक विषमता के खिलाफ, तो कहीं चौथे देश में हथियारों के खिलाफ। कहने का अभिप्राय यह है कि पूरे विश्व में अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग लोगों द्वारा इन अन्यायों के खिलाफ जो संघर्ष चल रहा है यदि उसको एक सूत्र में बाँध दिया जाय तो यह नया परिप्रेक्ष्य आने से ही आन्दोलन का स्वरूप भी दूसरा हो जायेगा। उन्होंने इसी एकता को स्थापित करने के लिये तथा संघर्ष को ठीक दिशा देने के लिये और विश्व के स्तर पर समता मूलक समाज की स्थापना के लिये विश्व सरकार और विश्व संसद की कल्पना की थी। उनका यह मत था कि यदि यह आन्दोलन किसी एक विश्व मंच से संचालित हो और इन अन्यायों के खिलाफ विश्व संसद में आवाज उठाई जाय तो इसके आधार पर एक नई दुनिया की सृष्टि सम्भव है।

अपने समस्त भेद-भावों को व्यक्त करते हुये डॉ॰ लोहिया ने पूरे विश्व का आह्वान प्रेम, अहिंसा, सौहार्द्र और भाईचारे के आधार पर एकजुट होने के लिये किया। उनका कहना था कि भय, संत्रास, अविश्वास और आतंक के आधार पर आजकल दुनिया में बहुत अन्याय हुये हैं। अब इतिहास बोध का यह तकाज़ा है कि इन मानवीय आधारों पर मनुष्य की नियति का निर्माण किया जाय।

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं॰ 11 (1969).

सभी युगों में विद्वानों के मन में यह प्रश्न उठता रहा है कि "संसार की रचना किसने की ?" इसका स्पष्ट उत्तर यही मिला कि संसार की सृष्टि ईश्वर ने की है। ईश्वर में विश्वास करने वाले विद्वानों का कहना है कि, "ईश्वर सर्वज्ञानी, सर्वशक्तिमान एवं सर्वव्यापी है।" डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, भगवान बुद्ध ने कई सौ वर्ष पूर्व बताया था कि, कोई ईश्वर आदि नहीं है। ईश्वर में विश्वास करना निरर्थक है। यहां तक कि उसकी सत्ता के विषय में वाद-विवाद करना भी व्यर्थ है। ईश्वर में विश्वास करने से अन्ध-विश्वास उत्पन्न होते हैं और पण्डा पुजारियों को शोषण का अवसर मिलता है। इन बातों से मनुष्य की सम्यक् दृष्टि नष्ट हो जाती है।[1] महात्मा बुद्ध ने बहुत पहले यह संदेश दिया था कि, "बौद्ध धर्म यह मानता है कि संसार की रचना नहीं हुई, इसका विकास हुआ है।"[2]

बौद्ध मत के अनुसार प्रत्येक घटना का कारण होता है। कुछ भी बिना कारण के घटित नहीं होता। सब वस्तुओं का कारण से सम्बन्ध होता है इसको दर्शन की भाषा में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहते हैं।[3] यह सिद्धान्त मानता है कि कार्य-कारण का स्थानान्तरण होता रहता है। कार्य कारण हो सकता है और कारण कार्य हो सकता है। यह संसार प्राकृतिक नियमों से ही चलता है। अतः प्राकृतिक नियमों में तो विश्वास है परन्तु इच्छा स्वातंत्र्य की अवहेलना नहीं की गयी है। किसी घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है यह कारण प्रकृति का फल है अथवा मनुष्य उसका कारण है। बौद्ध दर्शन में व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिये उचित स्थान है। यदि समय, प्रकृति, ईश्वर आदि ही सब कुछ है तो मनुष्य की सत्ता का कोई महत्व नहीं है।[4]

डॉ॰ आम्बेडकर स्वीकार करते थे कि, इच्छा स्वातंत्र्य आवश्यक है। इच्छा स्वातंत्र्य के बिना किसी व्यक्ति को उसके शुभ या अशुभ कार्यों के लिये हम उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते। बौद्ध दर्शन मनुष्य को प्रकृति के हांथ में खिलौना नहीं

---

1. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, द बुद्धा एण्ड हिज धम्मा, पेज सं॰- 251-255 (1956).
2. वही, पेज सं॰- 251.
3. पी॰ एल॰ नरासू, द एसेन्स ऑफ बुद्धिज़्म, पेज सं॰- 187 (1948).
4. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, द बुद्धा एण्ड हिज धम्मा, पेज सं॰- 249 (1956).

मानता है और न उसमें अति-प्राकृतिक विश्वासों को ही माना जाता है।[1] भगवान बुद्ध ने मानव स्वातंत्र्य के ऊपर इसलिये बल दिया है कि-

क) मनुष्य बुद्धिवाद के मार्ग पर जा सके,

ख) मनुष्य सत्य की खोज सरलता से कर सके और

ग) मनुष्य अन्ध-विश्वास की भावना से पृथक हो सके।[2]

इस तरह डॉ॰ आम्बेडकर का मानववाद मूलतः प्रकृतिवाद, भौतिकवाद तथा निरीश्वरवाद पर विश्वास करता है। जगत की अन्तिम सत्ता ईश्वर आदि न होकर प्रकृति है जिसे प्रत्यक्षतः निरीक्षित किया जा सकता है। बुद्ध का अनुयायी होने के कारण डॉ॰ आम्बेडकर ने संसार के परिवर्तनशील स्वरूप को स्वीकार किया। समस्त अस्तित्व, प्राकृतिक मानवीय निरन्तर परिवर्तनीय है। कुछ भी नित्य अथवा सनातन नहीं है।[3] प्रकृति कोई दैवीय शक्ति नहीं है, अपितु सभी निर्जीव एवं सजीव प्राणियों की महान समष्टि है। मनुष्य भी इसी प्रकृति का अंग है। डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार प्रकृति स्वचालित है, उसके अपने नियम कार्य करते हैं और ईश्वर एवं अलौकिक शक्तियों की प्राक्कल्पना पूर्णतः मिथ्या है। उसने अपनी ज्ञान मीमांसा के अनुसार किसी अलौकिक शक्ति को नहीं माना। उनका मत था कि ईश्वर को किसी ने नहीं देखा है और न ही उसे तर्क बुद्धि से प्रमाणित किया जा सकता है। प्रकृतिवाद में विश्वास करने के कारण बौद्ध धर्म एवं दर्शन की व्याख्या करते समय डॉ॰ आम्बडेकर ने सृष्टिवाद, आत्मा की अमरता और आवागमन के सिद्धान्तों का खण्डन किया।

ईश्वर के अतिरिक्त शरीर रहित आत्मा के अस्तित्व तथा उसकी अमरता के सिद्धान्त का भी डॉ॰ आम्बेडकर ने खण्डन किया है। भारतीय दर्शन में आत्मा को अज़र-अमर कहा गया है। वह नित्य है और कर्मानुसार जन्म-जन्मान्तर घूमती रहती है। डॉ॰ आम्बेडकर बुद्ध के अनित्यवाद में अटूट आस्था रखते थे। फलतः उन्होंने शरीर रहित अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा को नहीं माना। डॉ॰ आम्बेडकर

---

1. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, द बुद्धा एण्ड हिज धम्मा, पेज सं॰- 249 (1956).
2. वही, पेज सं॰- 250.
3. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं॰- 79 (1937).

के अनुसार समस्त जगत निरन्तर गतिशील है तथा क्षण-क्षण में परिवर्तित हो रहा है। ऐसी स्थिति में नित्य आत्मा के अस्तित्व को मानना न्यायसंगत नहीं है और ईश्वर तथा आत्मा जैसी अज़र-अमर अभौतिक सत्ताओं को तर्क बुद्धि और वैज्ञानिक विधि द्वारा कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता। वह शंकर अद्वैत के इस विचार को भी नहीं मानते थे कि ब्रह्म या आत्मा, सभी प्राणियों में समान रूप में विद्यमान है। स्पष्टतः डॉ. आम्बेडकर ने ईश्वर, नित्य, आत्मा तथा आवागमन के सिद्धान्तों का सशक्त रूप में खण्डन किया। इस तरह उनका दर्शन उन समस्त प्रत्ययों का खण्डन करता है, जिन्हें सृष्टिवाद, ब्रह्मवाद, नित्यवाद, अवतारवाद, अलौकिकवाद, परानुभववाद, ईश्वरवाद आदि कहते हैं, क्योंकि ये विचार उनके मानववाद से मेल नहीं खाते और न ही उनका कोई बौद्धिक आधार है।

डॉ. आम्बेडकर ने जब एक ओर ईश्वर, अमर आत्मा, आवागमन, नरक-स्वर्ग, दैवी शक्ति आदि का खण्डन किया तो दूसरी ओर मनुष्य को ही अपनी नीति मीमांसा का केन्द्र बिन्दु बनाया। स्पष्टतः डॉ. आम्बेडकर की मूल्य मीमांसा 'मानव केन्द्रित' है। ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर एवं आदमी के बीच सम्बन्ध को सर्वोपरि मानते हैं। वे आत्मा के मोक्ष को अधिक महत्व देते हैं ताकि जगत के दुःखों से उसे छुटकारा मिल जाये। इसके विपरीत डॉ. आम्बेडकर मनुष्य के अध्ययन को ही अपने दर्शन का मूल उद्देश्य मानते थे। उनके मतानुसार प्रकृति, जगत, समाज, आदि तथा अन्य विषयों का अध्ययन अन्ततः मनुष्य के ही अध्ययन का साधन है। वस्तुतः मनुष्य की उत्पत्ति, उसके विकास, स्वभाव एवं कल्याण तथा जगत में उसके स्थान को जानने के लिये ही सभी विषयों का अध्ययन किया जाता है। अपनी पुस्तक- 'रॉनाडे, गाँधी एण्ड जिन्ना' में डॉ. आम्बेडकर ने मनुष्य के महत्वपूर्ण स्थान और कर्तव्यों का गम्भीर विश्लेषण किया है। मनुष्य को प्रमुख स्थान देने के कारण ही डॉ. आम्बेडकर के विचार को 'मानववादी दर्शन' कहना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है।

उपेक्षित मानवता और सामान्य यथार्थ मनुष्य से सम्बन्धित दर्शन में उनकी अभिरुचि थी। उनके अनुसार 'प्रत्येक मनुष्य के पास अपना जीवन-दर्शन होना चाहिये जिससे हर एक के पास कोई मानदण्ड हो जाये ताकि मानव आचरण की

माप तौल की जा सके, और दर्शन एक मानदण्ड के अतिरिक्त कुछ और नहीं है।[1] उन्होंने कहा कि जीवित रहने के विभिन्न स्तर होते हैं लेकिन सभी समान रूप से सम्माननीय नहीं है। व्यक्ति एवं समाज के लिये, केवल जीवित रहने और सम्मान से रहने में बहुत अन्तर है। अधिकारों के लिये संघर्ष करना और आत्म-सम्मान के साथ रहना एक प्रकार का जीवन-स्तर है। संघर्ष में पराजित होकर, कैदी जैसा जीवन बिताना एक-दूसरे प्रकार का स्तर है।[2] डॉ॰ आम्बेडकर पहले प्रकार के जीवन-स्तर को पसन्द करते थे। प्रत्येक युग में दो प्रकार के लोग होते हैं :- <u>एक</u> वे जो नैतिक एवं सदाचारी होते हैं और <u>द्वितीय</u> वे जो अनैतिक एवं पतित होते हैं। अनैतिक तथा पतित लोगों की दो श्रेणियाँ होती हैं- एक उन पतित लोगों की जिनके अपने कोई आदर्श नहीं होते और दूसरा उन पतित लोगों की जिनके अपने कुछ निश्चित आदर्श होते हैं। जिन लोगों के कोई आदर्श नहीं होते, उनको यह अनुमान नहीं हो पाता कि वे पतनावस्था में है या नहीं। फलतः वे सदैव पतनावस्था में ही जीवन-यापन करते रहते हैं। जिन लोगों के निश्चित आदर्श होते हैं उन्हें यह ज्ञात रहता है कि वे प्रगति पर है अथवा अवनति पर और यह प्रयास करते हैं कि निर्धारित नैतिक मानदण्डों तथा आदर्शों के अनुकूल उनका आचरण नहीं है, जिनको उन्होंने समाज-कल्याण के लिये स्वीकार किया था। नैतिक आदर्श मनुष्य को अवसर प्रदान करते हैं कि वह समाज में रहने वाले व्यक्तियों के आचरण का मूल्यांकन करके तदनुसार व्यवस्था करें।[3]

समाज शब्द के तीन विभिन्न निम्नलिखित अर्थ हो सकते हैं-

1) सामाजिक सम्बन्धों का एक काल्पनिक विचार
2) व्यक्तियों की एकता का यथार्थवादी रूप, और
3) इन दोनों के मध्य तीसरा दृष्टिकोण है- ऐसा समाज, जिसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं जैसे- मानव-समाज, सभ्य-समाज, आदि।[4]

---

1. धनंजय कीर, डॉ॰ बाबा साहब आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पेज सं.- 455 (1981).
2. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 55 (1937).
3. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, द बुद्धा एण्ड हिज धम्मा, पेज सं.- 122-123 (1956).
4. एल॰ वॉन॰ मिसेज, सोशलिज़्म, पेज सं.- 128 (1953).

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, समाज मानव शरीर (Organism) के समान नहीं है। यह एक ऐसा संगठन है जो मानव स्वभाव तथा प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर है। इस व्यवस्था में कुछ ऐसी आवश्यक बातें अथवा तत्व होते हैं जिनसे यह वास्तविक समाज का रूप धारण कर लेता है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि, ''मनुष्यों के शारीरिक रूप से पास-पास रहने से समाज का निर्माण नहीं होता है और न कोई व्यक्ति उनसे पृथक या अधिक दूर रहने पर समाज का सदस्य रह पाता। आदतों और रीति-रिवाजों, विचारों तथा विश्वासों में समानता भी मनुष्य को समाज में संगठित करने की सच्ची कसौटी नहीं है। बहुत सी बातें एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से चली जाती है। इसी भाँति आदतें तथा रीति-रिवाज, विश्वास तथा विचार, एक समुदाय से दूसरे समुदाय में जा सकते हैं और इस प्रकार दोनों में समानता का भाव प्रतीत हो सकता है।''[1]

समाज तो एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सभी लोग आपस में इस प्रकार मिलते हैं कि अनुभव, विचार, भावना तथा अन्य मूल्य सामान्य बन जायें।[2] डॉ॰ आम्बेडकर कहते हैं कि केवल वे ही लोग वास्तविक समाज का निर्माण करते हैं जो सभी वस्तुओं को सामान्य सम्पत्ति समझते हैं। आचार-विचारों में समानता पाना सामान्य सम्पत्ति के विचार से बिल्कुल भिन्न हैं और वह मार्ग जिसके द्वारा सब लोग यह अनुभव करें कि सब वस्तुएं तथा मूल्य सामान्य हैं केवल आदान-प्रदान है। यही कारण है कि लोग यह मानते हैं कि समाज आदान-प्रदान के द्वारा ही आगे बढ़ता है।[3]

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, ''वास्तविक समाज के लिये सामान्य क्रियाओं की आवश्यकता है ताकि सब लोगों में सामान्य भावनाओं का उदय हो... विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों को सामान्य क्रियाओं में हिस्सेदार बनाना आवश्यक है क्योंकि वे सबकी सफलता को अपनी सफलता अनुभव करेंगे और सबकी असफलता को अपनी असफलता समझेंगे। यही भावना मुख्य है जो सब व्यक्तियों को एक सूत्र में

---

1. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 26 (1937).
2. जॉन डीवे, रिकन्स्ट्रक्शन इन फिलॉसफी, पेज सं.- 161 (1952).
3. बी॰ आर॰ आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 27 (1937).

बाँध सकती है।''[1]

अच्छी सामाज व्यवस्था के तत्व, हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था अथवा जाति-व्यवस्था में नहीं मिलते। ''जाति-व्यवस्था सामान्य क्रियाओं को रोकती है और सामान्य क्रियाओं की अनुपस्थिति में हिन्दू समाज एक संगठित समाज न बन सका और न सदस्यों में अपनत्व की भावना ही आ सकी।''[2] समाज का वास्तविक आधार एकत्व की भावना तथा सामान्य क्रिया है और इन्हीं आधारों पर समाज की दृढ़ता तथा शक्ति निर्भर होती है।

इस प्रकार डॉ. आम्बेडकर उस समाज में आस्था रखते हैं जिसमें सब लोग भाईचारे की भावना से ओत-प्रोत हों और सबके हित की बातों पर बल दिया जाता हो। ऐसे समाज को हम आध्यात्मिक सम्पूर्णता कह सकते हैं जिसमें छोटी-छोटी और आध्यात्मिक इकाइयाँ भी हो सकती हैं, अन्य शब्दों में, ऐसे समाज में किसी भी व्यक्ति तथा वर्ग की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। किसी वर्ग विशेष की उपेक्षा करना, सामाजिक दृष्टि से हानिकारक है क्योंकि समाज में अज्ञान तथा अन्याय, भिन्नता तथा द्वेष की भावनाएं बढ़ती हैं। अतः सबका ध्यान रखना सामान्य हित की जड़ें दृढ़ करना है।

डॉ. लोहिया अपने आपको ईश्वरवादी नहीं मानते थे, परन्तु भगवान न मानते हुये भी वे जिस आशा के साथ पूरी मानवता को एक नितान्त अविभाज्य रूप से अनुभव करते थे वह अपने आपमें उस ईश्वरत्व का बोध कराता है, जो प्रकृति के कण-कण में व्याप्त होने के बावजूद भी अपने को अव्यक्त रखता है। उनकी दृष्टि में मनुष्य न तो केवल पदार्थजीवी है और न ही नितान्त अध्यात्मजीवी है। मनुष्य पदार्थ की अध्यात्मिकता और अध्यात्म की वस्तुपरकता दोनों को जांचता, परखता, अनुभव करता और भोगता हुआ जीवन को अभिव्यक्ति देता है। इस तरह डॉ. लोहिया ने मनुष्य के भौतिकवादी स्वरूप में आस्था प्रकट करने के साथ-साथ उसके आध्यात्मिक पक्ष को भी स्वीकार किया है।

---

1. बी. आर. आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 27 (1937).
2. वही, पेज सं.- 27-28.

डॉ॰ आम्बेडकर ने ईश्वर के स्थान पर प्रकृति की सत्ता को स्वीकार कियां है। उनका मानववाद मूलतः प्रकृतिवाद, भौतिकवाद तथा निरीश्वरवाद पर विश्वास करता है। जगत की अन्तिम सत्ता ईश्वर आदि न होकर प्रकृति है जिसे प्रत्यक्षतः निरीक्षित किया जा सकता है। उन्होंने विश्व के परिवर्तनशील स्वरूप को स्वीकार किया। यहाँ तक कि उन्होंने शरीर रहित अभौतिक द्रव्य के रूप में आत्मा के अस्तित्व तथा उसकी अमरता को भी नहीं माना क्योंकि उन्हें महात्मा बुद्ध के क्षणिकवाद एवं अनात्मवाद में विश्वास था जिसके अनुसार समस्त जगत निरन्तर गतिशील हैं तथा क्षण-क्षण में परिवर्तित हो रहा है। ईश्वर और आत्मा जैसी अज़र-अमर अभौतिक सत्ताओं को तर्क बुद्धि और वैज्ञानिक आधार पर कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

डॉ॰ लोहिया मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण आस्था प्रकट करते हैं। उन्होंने व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में कोई दबाव या रुकावट स्वीकार नहीं की है। व्यक्ति और प्रकृति के सम्बन्ध में उन्होंने सांस्कृतिक और शारीरिक सीमाओं, एवं आकांक्षाओं में ऐसा अनुपातात्मक सम्बन्ध कायम करने की चेष्टा की है जिससे जैविक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य स्वतंत्रता का अनुभव कर सके। मन के स्तर पर वे व्यक्ति की सोचने, विचारने और बोलने की पूरी आजादी के समर्थक थे परन्तु कर्म को मर्यादित करने के लिये उन्होंने केवल आत्म अनुशासन को स्वीकार किया। वे मनुष्य की आर्थिक स्वतंत्रता को अनुशासित किये जाने के पक्ष में थे क्योंकि वे मनुष्य के स्वाभिमान पर आक्षेप नहीं चाहते थे। उन्होंने वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार के महत्व को कोई क्षति नहीं पहुंचाना चाहा। वैयक्तिक स्वतंत्रता के साथ-साथ व्यक्ति के लिये आध्यात्मिक स्वतंत्रता, अन्याय के विरुद्ध निरन्तर लड़ते रहने की स्वतंत्रता तथा बौद्धिक स्वतंत्रता को आवश्यक माना।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भी मनुष्य को ही अपने चिन्तन का केन्द्र बिन्दु बनाया। उनकी दृष्टि में प्रकृति, जगत, समाज तथा अन्य विषयों का अध्ययन अन्ततः मनुष्य के ही अध्ययन का साधन है। उन्होंने मानव की प्रतिष्ठा पर अत्यधिक जोर दिया। वे मनुष्य की वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं सामाजिक, आर्थिक समानता व स्वतंत्रता के

समर्थक थे। वे मनुष्य के अन्य अधिकारों के साथ सम्पत्ति के अधिकार को भी सुरक्षित करना चाहते थे। उनका प्रयास था कि, मनुष्य को अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करते हुये नैतिक एवं सदाचारी रहते हुये आत्म-सम्मान के साथ जीना चाहिये।

डॉ. लोहिया व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि दोनों को एक साथ जीवित रखना चाहते थे। मनुष्य के सामूहिक व्यक्तित्व और उसके वैयक्तिक व्यक्तित्व में वह कोई द्वन्द्व नहीं देखते थे। वह समाज को व्यक्ति उदात्त चेतना का प्रतिफलन मानते थे, इसीलिये वे समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध को एक-दूसरे का पूरक मानते थे। वे समूची मानव जाति को एक वृहद सामूहिक समाज का विकसित रूप मानते थे। उनकी दृष्टि में मनुष्य और मनुष्य में भेद चाहे वह रंग के आधार पर हो, जाति के आधार पर हो, योनि के आधार पर हो या फिर आर्थिक, सामाजिक आधार पर हो वह मानव मात्र का अपमान है। उन्होंने समाज से विभेदों की समाप्ति के लिये सात क्रान्तियों की कल्पना की थी और पूरे विश्व का आह्वान किया कि समस्त विभेदों को समाप्त करके प्रेम, अहिंसा, सौहार्द्र और भाईचारे के आधार पर एकजुट हो जाये।

डॉ. आम्बेडकर 'समाज' को मानव शरीर की भांति नहीं मानते वरन उसे एक ऐसा संगठन मानते हैं जो मानव स्वभाव तथा प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर हो। उनकी दृष्टि में समाज एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सभी लोग आपस में इस प्रकार मिलते हैं कि अनुभव, विचार, भावना तथा अन्य मूल्य सामान्य बन जायें। वास्तविक समाज वही होगा जब उसमें रहने वाले सभी लोग सबकी सफलता को अपनी सफलता और सबकी असफलता को अपनी असफलता अनुभव करेंगे। डॉ. आम्बेडकर की दृष्टि में अच्छी समाज व्यवस्था के तत्व हिन्दू-समाज की वर्ण एवं जाति व्यवस्था में नहीं मिलते हैं। समाज का वास्तविक आधार एकत्व की भावना तथा सामान्य क्रिया है और इन्हीं आधारों पर समाज की दृढ़ता तथा शक्ति निर्भर होती है। डॉ. आम्बेडकर उस समाज में आस्था रखते हैं जिसमें सब लोग भाईचारे की भावना से ओत-प्रोत हों और सबके हित की बातों पर बल दिया जाता हो।

इस प्रकार डॉ. लोहिया जहाँ अपने आपको नास्तिक मानते थे वहाँ उन्होंने जब राम, कृष्ण और शिव की व्याख्या की है तब उनके अन्तःस्थल की आस्तिकता प्रकट हो जाती है। साथ ही उन्होंने मनुष्य के भौतिकवादी स्वरूप में भी श्रद्धा प्रकट की है, अतः डॉ. लोहिया मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण आस्था रखते हुये न तो उसे केवल पदार्थजीवी मानते थे और न ही अध्यात्मजीवी वरन वे इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के पक्ष में थे। डॉ. लोहिया मनुष्य मात्र का उत्थान हर सम्भव चाहते थे इसीलिये उन्होंने मनुष्य के व्यक्तित्व एवं सामाजिक अधिकारों का समर्थन किया तथा सम्पत्ति के अधिकार को अनुशासित करना चाहा क्योंकि इससे ही समाजवादी व्यवस्था का लक्ष्य प्राप्त हो सकेगा। वे व्यक्ति व समाज को एक-दूसरे का पूरक मानते थे। इतना ही नहीं वे समाज को व्यक्ति का प्रतिफलन मानते थे। इन दोनों में वे कोई द्वन्द्व नहीं देखते थे। वास्तव में ऐसा मनुष्य व समाज दोनों की प्रगति के लिये आवश्यक है क्योंकि व्यक्ति के लिये समाज का उतना ही महत्व है जितना कि समाज के लिये व्यक्ति का।

डॉ. आम्बेडकर ने मनुष्य को अपने चिन्तन का केन्द्र बिन्दु तो बनाया लेकिन उन्होंने ईश्वर की सत्ता को बिल्कुल अस्वीकार करके केवल प्रकृति या पदार्थ को स्वीकार किया जो उचित नहीं लग रहा क्योंकि ईश्वर की सत्ता अस्वीकार कर देने से नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न समाप्त हो जाता है। जब मनुष्य के पास नैतिक आदर्श नहीं होंगे तो स्वाभाविक रूप से वह पतन के रास्ते पर जा सकता है अतः मनुष्य में नैतिक आदर्श बनाये रखने के लिये ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया जाना आवश्यक है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि समाज में अन्ध-विश्वास, रूढ़िवाद या आडम्बरपूर्ण व्यवहार व्याप्त हो वरन इन कुरीतियों से मुक्त व्यवहार हो जिससे मनुष्य की गरिमा सुरक्षित रहे। डॉ. आम्बेडकर का मानववाद मनुष्य की प्रतिष्ठा के लिये पूर्ण समर्पित था परन्तु उनके द्वारा मनुष्य की सम्पत्ति को सुरक्षित किये जाने सम्बन्धी अधिकार का समर्थन सही नहीं लग रहा क्योंकि ऐसी व्यवस्था में अमीर-अमीर होंगे और गरीब-गरीब अतः यह व्यवस्था समाज में मानव का उत्थान करने में असफल सिद्ध होगी। डॉ. आम्बेडकर समाज को मनुष्य के उत्थान के लिये साधन के रूप में देखते हैं और समाज के लिये हर ऐसे कार्य को करने का

निषेध करना चाहते हैं जिसके द्वारा मनुष्य के सम्मान और प्रतिष्ठा को क्षति पहुंचती हो। परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि कभी ऐसी स्थिति भी आ सकती है जब सार्वजनिक हित के लिये व्यक्ति को अपने कुछ हितों को त्यागना पड़ता है।

7.3. राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में मानववाद-

डॉ॰ लोहिया एक मौलिक राजनीतिक चिंतक, एक सफल समाजवादी, एक प्रबुद्ध अर्थशास्त्री और इन सबसे ऊपर वे एक महान मानववादी इन्सान थे। उनके चिन्तन का आधार उपेक्षित, पीड़ित, शोषित और गरीब इन्सान था। वे वर्ग-भेद, रंग-भेद, जाति-भेद आदि को समाज में से हटा देना चाहते थे। वे इनको असाध्य रोग मानते थे, जिनका इलाज सम्भव नहीं है। उनकी दृष्टि में इन्सान कहीं का भी हो, वह इंसान है। इंसान को न धर्म कैद कर सकता है और न वर्ग। वह हवा की तरह स्वतंत्र जन्मा है। वह सूर्य की तरह स्वयं प्रकाशित है। उसे कैद करने वाली विचारधारा अमानवीय है, वह मानव धर्म के प्रतिकूल है।

लोकतंत्र, विकेन्द्रीकरण, समानता, अहिंसा तथा समाजवाद के आधार पर डॉ॰ लोहिया ने विश्वमानवता, संस्कृति, सभ्यता तथा व्यवस्था की बात की है। यथार्थतः उनकी पहुंच जनतंत्रात्मक मानववादी दृष्टिकोण की थी। उनकी मान्यता थी कि, लोकभाषा के बिना लोकतंत्र अधूरा ही नहीं अपितु पंगु भी है। अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन उन्होंने इसीलिये शुरू किया था। उनका कहना था कि, "अंग्रेजी का सार्वजनिक इस्तेमाल फौरन बन्द हो जाना चाहिये। विधायिकाओं, सरकारी दफ्तरों, अदालतों, दैनिक समाचार-पत्रों और नाम-पतों में अंग्रेजी का इस्तेमाल नहीं होना चाहिये और अंग्रेजी की लाज़िमी पढ़ाई बन्द होनी चाहिये।"[1] वे राजतंत्र के तत्वों को लोकतांत्रिक व्यवस्था में सिर उठाता हुआ अनुभव कर रहे थे। इसी कारण वे राजनीति में नवीन दिशाएं शोध कर सामने ला रहे थे। वे यह जानते थे कि देश की भूखी-नंगी गरीब जनता के लिये लोकतंत्र के क्या मायने हो सकते हैं। डॉ॰ लोहिया का विचार था कि, जब तक समाज की पुरातनपंथी व्यवस्थाओं को समूल नष्ट नहीं किया जाता तब तक हमारे देश में शुद्ध राजनीतिक जीवन की

---

1. डॉ॰ राममनोहर लोहिया, 'भाषा', पेज सं.- 75-76.

कल्पना नहीं की जा सकती है। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के लिये उन्होंने चौखम्भा योजना प्रस्तुत की। भारत में विद्यमान संघात्मक व्यवस्था को वे देश की अपूर्ण व्यवस्था मानते थे। उनके अनुसार सर्वोच्च शक्ति केन्द्र व राज्य में ही निहित न होकर अन्य छोटी-छोटी इकाइयों में विकेन्द्रित होनी चाहिये। केन्द्र, राज्य, मण्डल व ग्राम नामक इकाइयाँ एक-दूसरे की सहयोगी हों न कि एक-दूसरे को प्रभावित करने वाली। ऐसी व्यवस्था में नागरिक स्वतंत्रतापूर्वक देश को एकसूत्र में बाँधे रहेंगे, देश के विकास को गति दे सकेंगे तथा अपना हाँथ बँटा सकेंगे। डॉ॰ लोहिया को महात्मा गाँधी की 'अहिंसा' में विश्वास था तथा वे समाज में समता स्थापित करना चाहते थे इसीलिये उन्होंने 'सप्तक्रान्तियाँ' बतलाईं। उनका चिन्तन व्यवहारवादी था। वे पारस्परिक सम्बन्धों की ऊष्मा को तरजीह देते थे। वे सम्बन्धों के मध्य समता की तलाश कर रहे थे। यही कारण था कि भारत-पाक विभाजन के समय उन्होंने महासंघ का विचार रखा। वे युद्ध में से भी एक रास्ता निकाल रहे थे। जब द्वितीय विश्व-युद्ध चल रहा था, तब वे इस निर्णय पर पहुंचे थे कि 'धुरी सत्ता' व मित्र राष्टों की इस लड़ाई में भारत को निरपेक्ष रहना चाहिये, यही उसके हित्त में है। डॉ॰ लाहिया तटस्थता को भारत के संदर्भ में स्पष्ट करते हैं कि चीन की प्रभुसत्ता तिब्बत पर स्वीकार करने की जरूरत नहीं थी।[1] डॉ॰ लोहिया कतई नहीं चाहते थे कि दक्षिण एशिया में चीन को सुदृढ़ करने वाला रुख अपनाया जाये, क्योंकि उससे संतुलन बिगड़ने के खतरे हैं। डॉ॰ लोहिया ने समाजवाद का गहन अध्ययन किया था और उसकी कार्यान्विति का अनुभव किया था। समाजवाद समग्र जीवन-चिन्तन में आमूलचूल परिवर्तन का पक्षधर है। फलतः वह भी क्रान्तिकारी परिवर्तन का हामी स्वर है। डॉ॰ लोहिया भी समाजवाद के माध्यम से जीवन के विभिन्न पक्षों में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते थे। यद्यपि वे अपने दौर में सामाजिक विषमताओं के जाल को उलट देना चाहते थे, तथापि वे आर्थिक, सांस्कृतिक, भाषिक आदि सभी में क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अपरिहार्यता को सर्वाधिक महत्व देते थे और स्वस्थ्य तथा वर्गहीन समाज की संस्थापना पर जोर देते थे।

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया', पेज सं.- 223 (2003).

डॉ. लोहिया का अटूट विश्वास वर्ग-विहीन, जाति-विहीन, धर्म-विहीन, भेदभाव रहित और गुट-विहीन लोकतांत्रिक व्यवस्था में था। वे मानव को सर्वोपरि महत्व देते थे। उनकी राजनीति अशिक्षितों, अभागों, पिछड़े हुये, सताये हुये लोगों आदि के लिये थी। वे उनके लिये जिये और उनके लिये ही मरे। उनकी राजनीति का साफ मतलब था, कि जिनके हक मारे गये हैं, वे उन्हें मिले, जिनका शोषण हो रहा है, वे शोषण मुक्त हों और जो अर्थ के कारण पिछड़े हुये हैं, उन्हें उससे मुक्त कराया जाये तथा नव-जीवनीय मूल्यों के प्रति उनमें आस्था पैदा की जाये। घोर निराशा, अनास्था, अनस्तित्वहीनता और भ्रष्टता के चंगुल में फँसी करोड़ों-करोड़ जनता को मार्ग दिखाने वाले राजनीतिक गुरु स्वयं जब उसके शिकार हो चुके हैं तब उनसे क्या आशा की जा सकती है ? डॉ. लोहिया राजनीतिज्ञों के लिये आचार संहिता चाहते थे, ताकि राजनीति में भ्रष्टता को आने से रोका जा सके।

सामाजिक मानववाद के तहत डॉ. लोहिया ने वर्णवाद, जाति-भेद, अस्पृश्यता, नारीभेद जैसी सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति और दलितों के उत्थान हेतु प्रयास किया। आजादी के बाद से वर्ण-भेद ज्यादा मज़बूत हुआ है और उसमें सत्ता तथा राजनीतिक-दलों की शह से आपराधिक तत्व सक्रिय हो उठे हैं। वस्तुतया यह मिला-जुला प्रयास होना चाहिये कि मानवी सम्बन्धों में सिर्फ कुछ पैदाइशी समूह ही सीमित नहीं किये जा सके।[1] "अस्थिर वर्ण को वर्ग कहते हैं। स्थायी वर्ग वर्ण कहलाते हैं।"[2] इस तरह हर सभ्यता और समाज में वर्ग वर्ण में और वर्ण वर्ग में बदलते रहे हैं। यह परिवर्तन प्रायः न्याय और समानता की मांगों की प्रेरणा से होता है। डॉ. लोहिया हिन्दुस्तान में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था के खिलाफ थे क्योंकि यह मानव-मानव में असमानता स्थापित करती है। वर्णों से ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति हुई है। डॉ. लोहिया ने सन्तों की लम्बी परम्परा की दुहाई देते हुये जिस रूप में जाति प्रथा पर आक्रामक हुये थे, उस रूप में परम्परा का कोई चिन्तक अथवा समाजसेवक आक्रामक नहीं हुआ था। उनका प्रयत्न यह रहा है कि निम्न जाति की समझी जाने वाली कौम को वे आत्म-निर्भरता की ओर ले जायें तथा उसके साथ उनमें आत्म-

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया', पेज सं.- 276 (2003).
2. डॉ. राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं.- 29 (1955).

सम्मान की भावना जागृत करें, क्योंकि स्व-चेतना ही उन्हें जाति के बंधनों से मुक्त कर सकेगी। जाति-प्रथा ने जिस आत्मीयता तथा सौहार्द्र को खो दिया है, उसे मानव-समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये उन्होंने दो सुझाव प्रस्तुत किये थे- (1) सहभोज और (2) अन्तर्जातीय विवाह। डॉ. लोहिया ने कहा था कि, "जिस दिन प्रशासन और फौज में भर्ती के लिये, और बातों के साथ-साथ, शूद्र और द्विज के बीच विवाह को मान्यता और सहभोज के लिये इन्कार करने पर अयोग्यता मानी जायेगी, उस दिन जाति पर सही मायने में हमला शुरू होगा। वह दिन अभी आना है।"[1]

कुंठा तथा वर्जना जन्य जाति-प्रथा ने समाज में अस्पृश्यता नामक ऐसे कोढ़ को जन्म दिया जिसके कारण व्यक्ति, व्यक्ति के स्पर्श को पापमूलक अवधारणा से सम्बद्ध कर चलने लगा। छुआछूत की बीमारी ने समाज की रही-सही गतिशीलता को चेतना शून्य कर दिया। मनुष्य का मनुष्य के प्रति दृष्टिकोण की अभिशापमूलक चेतना की निष्क्रियता ने डॉ. लोहिया को पैनी भाषा में बोलने व आन्दोलन चलाने के लिये मज़बूर कर दिया था। उसके लिये कानून बनवाया- अस्पृश्यता अपराध कानून। मन्दिरों में सभी का प्रवेश होना चाहिये। उन्होंने कहा था कि, "अगर हरिजनों को मन्दिर में जाने से रोका जाता है तो और कोई भी नहीं जा सकेगा।"[2] जब तक अस्पृश्यता की समस्या यह देश नहीं सुलझा लेता, तब तक विश्व-पंचायत में इसको सम्माननीय स्थान नहीं मिल सकता। डॉ. लोहिया विश्व स्तर पर हर प्रकार के भेद की समाप्ति के लिये एक ऐसी जमात खड़ी करना चाहते थे, जो जीने के समानाधिकार की संस्थापना कर सकें। किसी का इसलिये अपमान हो कि वह बहुत छोटा है या उसका रंग काला है, अथवा वह निर्धन है, यह उन्हें कतई पसन्द नहीं था। न उनकी दृष्टि में शरीर व त्वचा सुन्दरता का मापदण्ड ही था। वे कहते थे कि, "मेरी राय में जो नीग्रो औरतें मैंने देखी हैं, उनके शरीर के गठन को देखकर उन्हें दुनिया में कहीं भी किसी भी खूबसूरत औरतों की पंक्ति में खड़ा किया जा सकता है।"[3]

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, जाति प्रथा, पेज सं.- 04 (1981).
2. वही, पेज सं.- 04.
3. डॉ. राममनोहर लोहिया, सात क्रान्तियाँ, पेज सं.- 25 (1966).

नारी भेद भी समाज की कटु बुराई है। डॉ. लोहिया के अनुसार वर्ण और योनि के ये दो कटघरे, एक दूसरे से जुड़े हुये हैं और एक दूसरे को जिन्दा रखते हैं।[1] उन्होंने विशेष रूप से इस बात पर जोर दिया कि वर्ण तथा योनि के कटघरों को तोड़ने का कार्य अत्यन्त पवित्र है। उनको यह ख्याल रखना है कि आघात तथा पीड़ा पहुंचाये बिना इस पुण्य कार्य को अंजाम तक पहुंचायें। ये रिश्ते अत्यन्त नाज़ुक हैं। इसी प्रकार दलित वर्ग तथा निम्न जाति के प्रति डॉ. लोहिया में एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पीड़ा थी वे उनमें 'अधिकार बोध' को जगाना चाहते थे और जगाना चाहते थे स्वाभिमान को। उनका तर्क था कि उनके लिये फिलहाल कर्तव्य की बात गौण है। वे अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करें उसी से उनका पिछड़ापन दूर होगा और वे सुसंस्कृत भी इसी से होंगे।

डॉ. लोहिया मूलतः अर्थशास्त्री थे और उनका दृष्टिकोण समाजवादी था। समाजवाद का आधार प्रधानतः अर्थ है। वे अर्थ के द्वारा, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास का प्रयत्न करते हैं। मार्क्स ने भी आर्थिक तत्व को समाज का निर्णायक तत्व इसीलिये कहा था। डॉ. लोहिया अर्थतत्वों के अतिरिक्त अन्य तत्वों को भी स्वीकारते हुये अर्थतंत्र को सर्वाधिक महत्व देते दीखते हैं। वे 'ग़रीबी मिटाओ', 'दाम बाँधों', 'खर्च की सीमा', 'खाद्यान्न का बँटवारा' प्रभृति आन्दोलन के प्रणेता भी थे। उन्होंने भूमि के पुनर्वितरण की चर्चा भी इसी संदर्भ में उठाई थी। उनकी सात क्रान्तियों का लक्ष्य पूंजीपति तथा मज़दूरों के बीच पैदा हुई असमानता दूर करना था। वे लघु मशीनों के पक्ष में भी इसलिये थे क्योंकि भारी मशीनों से समाज में असमानता की खाईं और चौंड़ी होती है तथा समाज यातनागृह में बदलने लगता है। वे किसानों के पक्षधर थे और उसी से देश का विकास सम्भव मानते थे।[2]

डॉ. लोहिया उन समाजवादियों में से थे, जिन्होंने समाजवाद का राष्ट्रीयकरण कर उसे अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार ढाला था। समाजवाद के जरिये वे अपने देश की ज्वलन्त समस्याओं का समाधान करना चाहते थे तथा उसे समुन्नत बनाना चाहते थे। समाजवाद को भारतीय संस्कृति से जोड़कर अहिंसात्मक रूप से

---

1. ओंकार शरद, लोहिया के विचार, पेज सं.- 128 (1969).
2. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया', पेज सं.- 314 (2003).

मौजूदा समाज को बदलना चाहते थे। उन्हें गाँधी जी के हथकरघों पर उतना ही विश्वास नहीं था, जितना कि बड़ी-बड़ी मशीनों पर। वे मध्यम रास्ते की तलाश में थे। भारत एक गरीब मुल्क है। पिछड़ा हुआ मुल्क है। अधिकांश जनता भूख से मर रही है। आबादी अधिक है, परन्तु उस आबादी के लिये काम नहीं है। कुटीर उद्योग धन्धों पर ब्रिटानिया सरकार ने कुठाराघात किया ही है, लिहाज़ा भारत एक बदनसीब देश है, जिसके पास 'मैन पॉवर' होते हुये भी अपनी समस्याओं का कोई इलाज नहीं है। डॉ. लोहिया का आर्थिक चिन्तन समयोचित था उनका सम्पूर्ण आर्थिक चिन्तन गरीब व अमीर की खाईं के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है। उन्होंने अमीरी-गरीबी के अन्तर को समग्र विषमताओं का मूल मानते हुये सत्सम्बद्ध में आठ आधारभूत आर्थिक सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं- (1) वर्ग उन्मूलन (2) मूल्य नीति (3) अन्न नीति (4) भूमि का पुनर्वितरण (5) आर्थिक विकेन्द्रीकरण (6) अन्नसेना व भू-सेना (7) समाजीकरण और (8) व्यय की सीमा।[1]

स्पष्ट है कि डॉ. लोहिया का आर्थिक चिन्तन भी राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन की भांति मानववादी धरातल पर आधारित है। उनके समाजवाद में व्यक्ति व समाज दोनों की समन्वित चेष्टाएं उभारने का यत्न किया गया है, जिसमें सम्पत्ति पर न समाज का ही अधिकार रह पाता है और न व्यक्ति का क्योंकि दोनों का एकाधिकार समाज के लिये कष्टदायक कभी-भी सिद्ध हो सकता है। वह जनतांत्रिक प्रक्रिया में भूखे व विलासी दोनों अति-स्थितियों को एक सामान्य धरातल देना चाहते थे। वे गांधीवादी चिन्तन व मार्क्सवादी चिन्तन के मध्य एक रास्ता निकालते हैं, जो न पूंजीवादी है और न एकदम समाजीकृत है। डॉ. लोहिया मानव को मानव बनाये रखने के पक्ष में भोग और योग के मध्यम मार्ग की अनुमति देना चाहते थे और समाज तथा व्यक्ति में अन्दरूनी समझ बनाये रखना चाहते थे।

डॉ. भीमराव आम्बेडकर समग्र मानव जाति के अस्तित्व के संघर्ष-समर्पित राजनेता थे। वे उत्कृष्ट समाजसेवी और जीवन मूल्यों के प्रवक्ता थे वे उन सन्तों में से थे जिन्होंने सच्चाई के लिये अपने जीवन की परवाह नहीं की थी। वे उपेक्षित, शोषित और कमज़ोर वर्ग के मसीहा थे। वे सम्मान, न्याय, आजादी और हक के

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, 'अवधूत लोहिया', पेज सं.- 346 (2003).

लिये अन्त तक घोर संघर्ष करते रहे और कष्ट से कष्टतर तकलीफों को प्रसन्नता से झेलते रहे परन्तु झुके नहीं तथा न घबराकर उन्होंने समझौता ही किया। उन्होंने अन्ध-विश्वास, जाति-भेद, असमानता, श्रमिक, किसान आदि के शोषण के विरुद्ध संघर्ष करते हुये यह स्थापना की कि, मानव का मानव के प्रति विश्वास और आदर होना सामूहिक जीवन की पहली शर्त है। इस सम्बन्ध में वह बुद्ध और ईसा से अधिक प्रभावित थे। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार जनता शक्तिशाली हो और अन्याय, अधर्म, तानाशाही, आतंक और अराजकतावादी तत्वों को जड़मूल से उखाड़ फेकने में सामर्थ्यवान हो। उनकी दृष्टि में हर एक वह अछूत है, जिसे समाज का अहंकारी व अधिकार सम्पन्न वर्ग अपनी बराबरी का नहीं मानता। तभी तो उन्होंने राजगोपालचार्य के राजनीतिक कारनामों पर खुली टिप्पणी की थी।[1] डॉ. आम्बेडकर की निरन्तर यही सोच रही है कि अछूत, दलित, मज़दूर और आम आदमी कैसे सुखी हो पायेगा? वह सबसे अधिक मेहनत करता है, वह सबसे अधिक निष्ठावान और ईमानदार है फिर भी उच्च वर्ग, अमीर, पूंजीपति वर्ग और शासक जमात उसका भरसक शोषण करती है। उसे अपमानित करती है और उसके साथ अमानवीय व्यवहार करती है। लेकिन वह अभागा उनका विरोध नहीं कर सकता क्योंकि उसके पास दो वक्त के लिये भरपेट भोजन नहीं है, रहने के लिये आवास नहीं है और पहनने के लिये वस्त्र नहीं है- वह कोल्हू का बैल है। वह जिन्दगी की आम जरूरतों के लिये अहर्निश कठोर प्रयास करता है फिर भी उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिल पाती है। ऐसा उसके साथ ब्रिटिश हुकूमत में ही नहीं हो रहा था वरन देश की आज़ादी के बाद आज भी वह शोषण की परम्परागत अमानवीय चक्की में पिस रहा है।

डॉ. आम्बेडकर लोकतांत्रिक प्रणाली के समर्थक इसलिये थे क्योंकि इंसमें दलितों के हित एवं अधिकार अधिक सुरक्षित रह सकते हैं। यह प्रणाली व्यक्ति को विकास के लिये आवश्यक स्वतंत्रता एवं अधिकार प्रदान करती है। शक्ति का विकेन्द्रीकरण लोकतंत्र की आत्मा है परन्तु डॉ. आम्बेडकर को यह पद्धति बहुत बेकार लगी और उन्होंने कहा था कि, "ग्राम पंचायतों का महत्व कुछ भी रहा हो,

---

1. डॉ. आम्बेडकर, गाँधी और अछूतों की आज़ादी, पेज सं.- 60-61 (1966).

परन्तु यह अब भारत के सार्वजनिक जीवन के लिये विनाशकारी तथा घातक प्रमाणित हुई है।... क्या ऐसा जनसमूह जो अन्ध-विश्वासों से ग्रस्त है, अज्ञान और अन्धकार में धँसा जा रहा है और अशिक्षित है, न्याय का उत्तरदायित्व निभाने योग्य है ? ऐसे पंचों के हाँथों में अपना जीवन, आज़ादी तथा सम्पत्ति को सौंपना अक्लमंदी नहीं है।"[1] डॉ. आम्बेडकर बढ़ते हुये भ्रष्टाचार के प्रति बहुत चिन्तित थे। वे मानते थे कि भ्रष्टाचार संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिये हानिकारक है। भ्रष्टाचार बढ़ेगा तो लोकतंत्र घट जायेगा वे नहीं चाहते थे कि लोकतंत्र मात्र शब्द बनकर रह जाये। उनका राजनीतिक लक्ष्य था :-

1) पद-दलितों को राजनीतिक अधिकार दिलवाना।
2) राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक संतुलन बनाते हुये इन क्षेत्रों में लोकानुभूति को लोकतंत्र का आधार देना।
3) जाति व धर्म के भेदभाव के बिना मज़दूर मोर्चे का संगठन करना।
4) राजनीतिक शक्ति से जनशक्ति का आभास देना।
5) शिक्षित, संगठित और संघर्षशीलता का लक्ष्य प्राप्त करना।

दलित तथा निर्धन वर्ग के प्रति डॉ. आम्बेडकर बहुत जागरूक रहते थे अतः उनको दमन चक्र से मुक्त कराने के लिये सदा संघर्षानुरत रहते थे। उनकी राजनीतिक मंशा मानव को समाज में प्रतिष्ठित करने की थी। वे मानववादी राजनीतिज्ञ थे।

डॉ. आम्बेडकर क्षेत्रवाद एवं वर्गवाद के विरुद्ध थे क्योंकि इससे राष्ट्रीय एकता को आघात पहुंचता है। इस देश का नागरिक पहले भारतीय है, बाद में हिन्दू, सिन्धी, पंजाबी, कर्नाटकी आदि। वे भारतीय राजनीति को संकीर्णता, परम्परावाद तथा अर्थवाद से मुक्त कराने के पक्ष में थे। राष्ट्रीय एकता के लिये उन्होंने व्यावहारिक शक्तियों को ही महत्व दिया।[2] उन्होंने कहा था कि संविधान में यह व्यवस्था होनी चाहिये कि हर राज्य की सरकारी भाषा वही हो जो केन्द्र सरकार की है।[3] संविधान भाषा के आधार पर नहीं होना चाहिये। भाषावाद को वे

---

1. राजेन्द्र मोहन भटनागर, डॉ. आम्बेडकर : चिन्तन और विचार, पेज सं.- 108 (2002)
2. डॉ. डी. आर. जाटव, द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ डॉ. आम्बेडकर।
3. भाषायी प्रान्त आयोग के समक्ष डॉ. आम्बेडकर का विचार।

साम्प्रदायिकता का प्रतिरूप मानते थे। उन्होंने सचेत किया था कि भाषायी साम्प्रदायिकता ने जन्म ले लिया है। यदि इस विषैले विचार को पनपने से अभी से नहीं रोका गया तो आगे चलकर इस देश को कठिनाई में पड़ना होगा।

देश के संविधान में डॉ. आम्बेडकर ने वे सब व्यवस्थाएं की थी जिनसे एक राष्ट्र, एक कौम, एक समाज, एक सभ्यता और एक संस्कृति का उदय होता है और पृथकतावाद, अति स्थानीयतावाद, जातिवाद अलगावाद तथा अति-व्यक्तिवाद का अवसान होता है। संविधान नवीन भारत की नींव का पत्थर है। उसका तनिक सा भी दुरुपयोग व्यक्ति तथा लोकतांत्रिक समाज के लिये हानिकारक है और हानिकारक भी इतना कि पुनः लोकतांत्रिक अनुभवों, पीड़ाओं तथा चीत्कारों से यह देश गुज़रा है, को अनुभव कर सकता है। फिर नाम का लोकतंत्र रहेगा, अन्दर से वह खोखला हो जायेगा और उसमें संकीर्णतावाद, अति-स्थानीयतावाद, पूंजीवाद, संशोधित सामंतवाद, घोर व्यक्तिवाद तथा जातीयतावाद अपनी जड़ें गहरी कर लेंगे। वे बराबर उन खतरों की ओर संकेत करते रहे, जिनके कारण संविधान की मर्यादा निष्क्रिय सिद्ध हो सकती है और यह भ्रामक मुगालता टूट सकता है कि जनता का राज्य है।

डॉ. आम्बेडकर ने समाजवादी समाज की स्थापना पर इसीलिये जोर दिया ताकि मानवता की रक्षा हो सके। उन्होंने कहा कि समाजवादी समाज केवल उसी समय सम्भव हो सकता है जब राज्य करने वाले लोग दिल और दीमाग से उसकी सफलता के लिये कार्य करें। राजनैतिक शक्ति उन लोगों के हांथो में नहीं जानी चाहिये जो समाजवादी आदर्शों के विरुद्ध हैं अथवा उनकी उपेक्षा करते हैं। यदि ऐसे ही लोग शासन करेंगे तो समाजवाद नहीं आ सकता है और साथ ही साथ शोषण करने वालों की सुरक्षा होगी।

डॉ. आम्बेडकर का राजनैतिक जीवन दलित तथा पीड़ित मानव का सविवेक संघर्ष है। वे राजनीति करने के लिये नहीं जिये बल्कि उन्होंने अपने नहीं औरों के जीने के लिये जो मूक और पद-दलित थे, जीवन-पर्यन्त घोर संघर्ष किया। इसमें दो मत नहीं है कि वे भारतीय राजनीति पर ही नहीं, समग्र मानवीय राजनीति पर सूर्य चन्द्र की तरह प्रकाशित हुये थे और जन-धन के मन में आलोक की अनहद वर्षा की

थी।

डॉ॰ आम्बेडकर ने ऐसे मानव-समाज की स्थापना की चेष्टा की थी जो समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व भावना पर खड़ा हो और जिसकी नींव त्याग, बलिदान, समर्पण, सत्य, अहिंसा और प्यार पर रखी गयी हो। चूंकि हिन्दू समाज व्यवस्था असमानता एवं ऊँच-नीच पर आधारित है इसीलिये उन्होंने इसका विरोध किया। वे चतुर्वर्ण व्यवस्था को न्यायोचित एवं वैज्ञानिक व्यवस्था नहीं मानते थे क्योंकि यह सामाजिक भेदभाव को बढ़ावा देती है, ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्रदान करती है, शूद्रों की दासता की प्रतीक है, यह असमान दण्ड का निर्धारण करती है, वर्गीय असमानता को प्रोत्साहन देती है, इससे सृजनशील शक्तियों का ह्रास होता है एवं पृथकता एवं विघटन को प्रोत्साहन मिलता है जो मानवता के हित में नहीं है। डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार पुराने छापे का यह चतुर्वर्ण नाम मुझे बिल्कुल नापसन्द है। मेरा रोम-रोम इसका विद्रोही है। सामाजिक संगठन की एक व्यवस्था के रूप में यह पूर्णरूप से अव्यावहारिक, हानिप्रद तथा असफल सिद्ध हुआ है।

डॉ॰ आम्बेडकर का दृढ़ मत था कि, परम्परागत हिन्दू समाज एक जर्जर, रूढ़ व अप्रगतिशील समाज है इस ढाँचे के रहते न तो यह आत्मरक्षा कर सकता है और न ही प्रहार कर सकता है। इसलिये जब तक इस समाज का ढाँचा मौलिक रूप से नहीं बदल दिया जाता तब तक इसकी प्रगति संभव नहीं है।[1] चतुर्वर्ण से ही अनेक जातियां बनी और डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार जाति प्रथा ने भारतीय समाज की रीढ़ की हड्डी तोड़ डाली है। चतुर्वर्ण व्यवस्था सबसे गिरी हुई व्यवस्था है। यही वह व्यवस्था है, जो मानव का विनाश करती है। अन्तर्जातीय विवाह तथा सहभोज इसका पक्का इलाज नहीं है। व्यक्ति को गुण से नहीं बल्कि जाति के आधार पर समाज में स्थान दिया जाना, व्यक्ति व समाज दोनों का उपहास उड़ाना है। अछूत वर्ण या अस्पृश्य वर्ण जाति-पांति प्रणाली की उपज है। जब तक जातियां हैं, तब तक अछूत भी रहेंगे। जात-पांत को समाप्त किये बिना अछूतोद्धार संभव नहीं है। हिन्दू इस घृणित तथा दूषित सिद्धान्त को हिन्दू धर्म से निकाले बिना आने वाले संघर्ष में जीवित नहीं रह सकते और न ही कोई हिन्दुओं का मददगार होगा। डॉ॰

---

1. बाबा साहब आम्बेडकर, राइटिंग्स एण्ड स्पीच, खण्ड-1, पेज सं॰- 66.

आम्बेडकर चाहते थे कि हिन्दू समाज की नींव हिन्दू धर्म पर रखी हुई है अतः हिन्दू धर्म में से उन बिन्दुओं को निकाल दें, जिनसे समाज में अमानवीय स्तर जन्मे है ताकि समरसता की सम भूमि को तैयार होने से एकमत हुआ जा सके।

डॉ॰ आम्बेडकर नारी जाति की उन्नति में बहुत विश्वास करते थे। वे समाज की उन्नति को नारी की उन्नति से तौलते थे। वे स्त्री व पुरुष दोनों को समान मानते थे और चाहते थे कि स्त्रियों को हिन्दू समाज में पुरुषों के बराबर अधिकार मिलें। उनका मत था कि भारतीय नारी को स्वच्छ रहना चाहिये, पढ़ना चाहिये, अपने बच्चों को शिक्षा देनी चाहिये। हीनता की भावना से ऊपर उठना चाहिये और शादी कम उम्र में नहीं करनी चाहिये।[1] वे नारी जाति की दुर्दशा से बहुत चिन्तित थे। उनकी मान्यता थी कि नारी जाति को यथोचित सम्मान दिये बिना हिन्दू समाज का कल्याण संभव नहीं है। डॉ॰ आम्बेडकर संसद में हिन्दू कोड विल इसीलिये लाये थे ताकि कानून द्वारा उनको शोषण-मुक्त किया जा सके और उन्हें पर्याप्त अधिकार मिल सकें। इसमें महिलाओं को सम्पत्ति के समग्र अधिकार की व्यवस्था थी, पिता की सम्पत्ति पर पुत्री के अधिकार की बात थी और तलाक की व्यवस्था थी। इसके द्वारा वे हिन्दू समाज को एक संगठन सूत्र में बाँधना चाहते थे। इसी प्रकार दलितों की मुक्ति के लिये डॉ॰ आम्बेडकर पूर्णतया समर्पित थे। परम्परागत दासता से मुक्त होकर दलित सामाजिक विकास में अन्य लोगों के साथ समान रूप से भागीदार बनें यह डॉ॰ आम्बेडकर के चिन्तन एवं कार्य का प्रमुख लक्ष्य था। इस लक्ष्य की पूर्ति तब तक संभव नहीं थी जब तक कि दलितों की परम्परागत निर्योग्यताओं को समाप्त कर उनकी विविध समस्याओं का निराकरण नहीं किया जाता। डॉ॰ आम्बेडकर की दृढ़ मान्यता थी कि जब दलित एकजुट होकर राजनैतिक सत्ता प्राप्त कर अपने उद्धार के लिये पहल करेंगे तभी दलित समस्या मिटेगी। इसके लिये उन्होंने दलितों को "शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो" का नारा दिया।

डॉ॰ आम्बेडकर एक व्यावहारिक अर्थवेत्ता थे। उन्होंने अपने अर्थचिन्तन को मानव विकास पर केन्द्रित बनाया था। आर्थिक स्वाधीनता के क्षेत्र में उन्होंने अपने मौलिक चिन्तन से गांधी जी के चरखावादी अर्थतंत्र को बेकार प्रमाणित कर दिया

---

1. डब्लू. एन. कुबेर, डॉ. आम्बेडकर : ए क्रिटिकल स्टडी, पेज सं.- 290 (1979).

और साथ ही ब्रिटेन सरकार की अर्थलोलुपता तथा अर्थचक्रव्यूह रचना को दुनिया के सामने ला दिया था ताकि ब्रितानिया सरकार का प्रचार का सम्मोहन टूट सके। वे अर्थशास्त्र के मेधावी विद्यार्थी रहे थे। उन्होंने अर्थ को जीवन में एक मज़दूर की स्थिति में जिया था। लोकतंत्र के विकास के लिये तथा मानवता की रक्षा के लिये उन्होंने अर्थतंत्र की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला।

डॉ॰ आम्बेडकर का कहना है कि, हिन्दू समाज के आर्थिक ढाँचे की रचना वर्ण, जाति एवं जजमानी से सम्बन्धित नियमों पर आधारित है। इन नियमों के तहत व्यक्ति को अपनी योग्यता व रुचि के अनुसार व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता नहीं होती और न ही वह अपना व्यवसाय बदल सकता है। व्यक्ति का व्यवसाय उसके जन्म अर्थात माँ के गर्भ में आने के साथ निश्चित हो जाता है। व्यक्ति वही व्यवसाय अपना सकता है जो उसके पिता का अर्थात उसकी जाति का होता है। जाति न केवल व्यक्ति के पेशे का निर्धारण करती है बल्कि उसे जीवन भर के लिये एक पेशे से बाँध देती है।[1] जाति व्यवस्था जनित आर्थिक भेद अन्यायपूर्ण है। क्योंकि जातियों के बीच पेशे के विभाजन में भेदभाव व पक्षपात बरता गया है।उच्च जातियों के पास प्रतिष्ठित व लाभकारी व्यवसाय है जबकि नीच जातियों को हीन व अलाभकारी व्यवसाय मिले हैं। वर्ण एवं जाति के आधार पर समाज में एक ओर तो ऐसे वर्ग हैं जो उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्षतः कोई भाग नहीं लेते और न किसी प्रकार का शारीरिक श्रम करते हैं। दूसरी ओर सवर्णों की सेवा करने वाला वर्ग अधिक से अधिक श्रम तो करता है पर उसके नसीब में कम से कम इतना पारिश्रमिक भी नहीं मिलता कि वह सम्मानपूर्वक अपना जीवन-निर्वाह कर सके। इस श्रम विभाजन को डॉ॰ आम्बेडकर अस्वाभाविक और दोषपूर्ण मानते हैं। वर्ण एवं जाति व्यवस्थाओं में श्रम-विभाजन को धर्मशास्त्रों में सम्मिलित कर लिखित, स्थायी व कठोर बना दिया गया है। जातिगत श्रम विभाजन श्रमिकों का न केवल अपारगम्य वर्गों में अस्वाभाविक विभाजन करता है अपितु उन्हें एक दूसरे की तुलना में ऊंचा-नीचा भी करार देता है। यह श्रम-विभाजन अस्वाभाविक इसलिये भी है क्योंकि यह व्यक्ति की रुचि, कुशलता एवं समता पर आधारित नहीं है।

---

1. एम. के. डोगरे, इकोनॉमिक थॉट्स ऑफ डॉ. बी. आर. आम्बेडकर, पेज सं.- 27-29 (1974).

दलितों एवं अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से डॉ॰ आम्बेडकर ने संविधान में 'राज्य समाजवाद' को सम्मिलित किये जाने की सिफारिश की थी, जिससे समाज के कमज़ोर वर्ग के लोगों को आर्थिक शोषण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की जा सके। डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, जनतंत्र की आत्मा 'एक मनुष्य, एक मूल्य' के सिद्धान्त में निहित है किन्तु दुर्भाग्य से जनतांत्रिक, राजनैतिक ढांचे ने 'एक मनुष्य एक वोट' के सिद्धान्त को अपना रखा है। यदि जनतंत्र को वास्तविक व प्रभावकारी बनाना है तो राजनैतिक ढांचे को 'एक मनुष्य एक मूल्य' के सिद्धान्त को अपनाना चाहिये। ऐसा न करके उसने जनतंत्र के आर्थिक ढाँचे को पूर्णतया लोगों की मर्जी पर छोड़ दिया जो उसे जब जैसा चाहें वैसा मोड़ लें। डॉ॰ आम्बेडकर की राज्य समाजवाद सम्बन्धी योजना की मूल व्यवस्थाएं निम्नलिखित हैं :-

1) सभी मूल उद्योग अथवा जिन्हें इस रूप में घोषित किया जा सकता है, राज्य स्वामित्व के अधीन हों और उन्हें राज्य द्वारा चलाया जाये।

2) वे सभी उद्योग जो मूलभूत उद्योग तो नहीं है परन्तु बुनियादी उद्योग हैं, राज्य के अधीन हों, और उन्हें राज्य द्वारा अथवा राज्य द्वारा स्थापित निगमों द्वारा संचालित किया जाये।

3) बीमा पर राज्य का अधिकार हो।

4) कृषि राज्य उद्योग हो। कृषि फार्म बनाये जायें। राज्य इन फार्मों पर खेती के लिये आवश्यक सुविधा- पानी, बीज, खाद, औज़ार आदि उपलब्ध कराने में काश्तकारों की मदद करे। फार्मों पर खेती सामूहिक ढंग से की जांये। मालगुजारी तथा उत्पादन व्यय में की गयी मदद आदि की वापसी के बाद कृषि से जो लाभ हो उसे काश्तकार परिवार में नियमानुसार विभाजित कर दिया जाये।

5) राज्य को यह अधिकार हो कि इन उद्यमो, बीमा और कृषि भूमि को निजी व्यक्तियों से चाहे वे उसके स्वामी, असामी अथवा बंधककार हों, उन्हें भूमि के उनके अधिकार के अनुसार नियम पत्र के रूप में क्षतिपूर्ति का भुगतान कर अपने अधिकार में ले सके।

राज्य समाजवाद योजना के अन्तर्गत बेहतर उत्पादन की दृष्टि से डॉ॰

आम्बेडकर चाहते थे कि कृषि और उद्योग दोनों स्रोतों में पूँजी निवेश का दायित्व राज्य पर हो।

डॉ. लोहिया ने राजनीतिक क्षेत्र में मानववाद के अन्तर्गत लोकतंत्र, विकेन्द्रीकरण, समानता, स्वतंत्रता, मानव अधिकार तथा समाजवाद के आधार पर विश्व मानवता, संस्कृति, सभ्यता तथा व्यवस्था की बात कही है। वे देश में शुद्ध राजनीतिक जीवन की कल्पना के लिये समाज की पुरातनपंथी व्यवस्थाओं को समूल नष्ट किये जाने के पक्ष में थे। उन्होंने चौखम्भा योजना के द्वारा सत्ता को छोटी से छोटी इकाइयों में विकेन्द्रित करने का प्रयास किया और सप्तक्रान्तियों के माध्यम से समाज में व्याप्त विभिन्न प्रकार के विभेदों को समाप्त करने की बात कही। उन्होंने युद्ध की तुलना में महात्मा गाँधी की अहिंसा को वरीयता दी जिससे मानवता की रक्षा की जा सके। डॉ. लोहिया समाजवाद के माध्यम से जीवन के विभिन्न पक्षों में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहते थे। वे वर्ग-विहीन, जाति-विहीन, धर्म-विहीन, भेदभाव रहित और गुट-विहीन लोकतांत्रिक व्यवस्था में विश्वास रखते थे। उनकी पूरी राजनीति, अशिक्षित, अभागों, पिछड़े हुये, सताये हुये, निर्बल लोगों के लिये थी।

डॉ. आम्बेडकर एक मानववादी राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने राजनीतिक व्यवस्था में लोकतांत्रिक प्रणाली का समर्थन दलित एवं कमज़ोर वर्ग के हितों एवं अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिये किया। उन्होंने इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में विकेन्द्रीकरण का समर्थन नहीं किया क्योंकि वे इसे दलितों एवं पिछड़ों के शोषण को बढ़ावा देने वाली मानते थे। परन्तु वर्तमान समय में विकेन्द्रीकरण की नीति दलितों, कमज़ोर एवं पिछड़े वर्ग के लोगों का उत्थान करने के लिये अच्छी साबित हुई है। वास्तव में विकेन्द्रीकरण लोकतंत्र की आत्मा है। अतः इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। डॉ. आम्बेडकर का राजनीतिक लक्ष्य था पद-दलितों को राजनीतिक अधिकार, जाति व धर्म के भेदभाव के बिना मज़दूर मोर्चे का संगठन करना, राजनीतिक शक्ति से जनशक्ति का आभास देना और शिक्षित, संगठित एवं संघर्षशीलता का लक्ष्य प्राप्त करना। उनकी राजनीतिक इच्छा मानव को समाज में प्रतिष्ठित करने की थी। वे भारतीय राजनीति को संकीर्णता, परम्परावाद और अर्थवाद से मुक्त कराने के पक्ष में थे। भाषावाद को वे साम्प्रदायिकता का प्रतिरूप मानते थे। देश के संविधान

में उन्होंने वे सब व्यवस्थाएं की थी जिनसे एक राष्ट्र, एक कौम, एक समाज, एक सभ्यता और एक संस्कृति का उदय होता है तथा पृथकतावाद, अतिस्थानीयतावाद, जातिवाद, अलगाववाद, अतिव्यक्तिवाद का अवसान होता है। उन्होंने समाजवादी व्यवस्था पर जोर दिया जिससे मानवता की रक्षा हो सके। डॉ. आम्बेडकर का राजनीतिक जीवन दलित तथा पीड़ित मानव का सविवेक संघर्ष रहा है।

डॉ. लोहिया ने सामाजिक मानववादी के रूप में वर्णवाद, जातिभेद, अस्पृश्यता, नारीभेद जैसी सामाजिक कुरीतियों की समाप्ति और कमज़ोर व पिछड़े वर्ग के लोगों के उत्थान हेतु प्रयास किया। वे भारत में व्याप्त वर्ण व्यवस्था के खिलाफ थे क्योंकि यह मानव-मानव में असमानता स्थापित करती है। वर्णों से ही भेदभावमूलक जाति प्रथा की उत्पत्ति हुई है। जाति-प्रथा ने जिस आत्मीयता और शौहार्द्र को खो दिया है, उसे मानव समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये डॉ. लोहिया ने दो प्रमुख सुझाव- अन्तर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह प्रस्तुत किये। जाति प्रथा ने समाज में अस्पृश्यता नामक ऐसे कोढ़ को जन्म दिया जिसके कारण व्यक्ति, व्यक्ति के स्पर्श को पापमूलक अवधारणा से सम्बद्ध करके चलने लगा। इस छुआछूत के भेदभाव के कारण समाज पतनोन्मुख अवस्था की ओर गया। वास्तव में यह देश जब तक अस्पृश्यता की समस्या को पूर्णतः नहीं सुलझा लेता तब तक उसके लिये विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आना एक कठिन चुनौती है। डॉ. लोहिया ने नारी भेद को समाज की कटु बुराई माना और निर्बल व कमज़ोर लोगों के लिये कर्तव्य की बात को गौण माना तथा उन्हें अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करने हेतु प्रेरित किया।

डॉ. आम्बेडकर ऐसी सामाजिक व्यवस्था के समर्थक थे, जो समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की भावना पर आधारित हो। हिन्दू समाज व्यवस्था असमानता और ऊँच-नीच पर आधारित होने के कारण, उन्होंने इसका विरोध किया। वे चतुर्वर्ण व्यवस्था को न्यायोचित और वैज्ञानिक व्यवस्था नहीं मानते थे क्योंकि यह सामाजिक भेदभाव को बढ़ावा देती है, इससे सृजनशील शक्तियों का ह्रास होता है एवं पृथकता व विघटन को प्रोत्साहन मिलता है जो मानवता के हित में नहीं है। चतुर्वर्ण से अनेक जातियाँ बनीं हैं और जाति प्रथा ने भारतीय समाज को पतन की ओर ढकेल

दिया है। व्यक्ति को उसके गुण से नहीं वरन जाति के आधार पर समाज में स्थान दिया जाना व्यक्ति व समाज दोनों का उपहास उड़ाना है। जात-पाँत को समाप्त किये बिना अछूतोद्धार सम्भव नहीं है। डॉ॰ आम्बेडकर सामाजिक व्यवस्था में समाज की उन्नति को नारी की उन्नति से तौलते थे। वे दलितों की मुक्ति के लिये पूर्णतया समर्पित थे। परम्परात्मक दासता से मुक्त होकर दलित सामाजिक विकास में अन्य लोगों के साथ समान रूप से भागीदार बने यह डॉ॰ आम्बेडकर के चिन्तन एवं कार्य का प्रमुख लक्ष्य था।

आर्थिक क्षेत्र में मानववाद के अन्तर्गत डॉ॰ लोहिया ने गरीबी मिटाओ, दाम बाँधो, खर्च पर सीमा लगाओ, खाद्यान्न का बँटवारा जैसे आन्दोलन चलाये। भूमि के पुनर्वितरण, आर्थिक विकेन्द्रीकरण, अन्न नीति, व भू-सेना के द्वारा गरीबी-अमीरी की खांई को पाटने का प्रयास किया। उनकी सप्त-क्रान्तियों का लक्ष्य पूँजीपति तथा मज़दूरों के बीच पैदा हुई असमानता को दूर करना था। वे लघु मशीनों के पक्ष में थे क्योंकि भारी मशीनों से समाज में असमानता व्याप्त होती है जिससे समाज यातना गृह में बदलने लगता है। अपनी समाजवादी व्यवस्था में उन्होंने व्यक्ति व समाज दोनों की समन्वित चेष्टाएं उभारने का प्रयास किया, जिसमें सम्पत्ति पर न समाज का ही अधिकार रह पाता है और न व्यक्ति का, क्योंकि दोनों का एकाधिकार समाज के लिये कष्टदायक कभी भी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार डॉ॰ लोहिया का आर्थिक चिन्तन भी राजनीतिक एवं सामाजिक चिन्तन की भांति मानववादी धरातल पर आधारित है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने अपने आर्थिक चिन्तन में मानव विकास को केन्द्र बिन्दु बनाया। उन्होंने हिन्दू समाज में वर्ण, जाति एवं जजमानी से सम्बन्धित नियमों पर आधारित आर्थिक व्यवस्था की आलोचना की, क्योंकि इन नियमों के अन्तर्गत व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुसार व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता नहीं होती और न ही वह अपना व्यवसाय बदल सकता है। जातियों के बीच पेशे के विभाजन में पक्षपात व भेदभाव बरते जाने के कारण डॉ॰ आम्बेडकर ने जाति जनित आर्थिक भेद को अन्यायपूर्ण कहा है। उन्होंने दलितों का आर्थिक उत्थान करने के लिये बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना एवं दलितों को शहरों में रहकर काम करने का

समर्थन किया है। परन्तु हम कह सकते हैं कि औद्योगीकरण से पूँजीवादी व्यवस्था मज़बूत होती है। इस व्यवस्था ने निम्न वर्ग के लोगों के कष्टों को बढ़ाने का कार्य किया है। शहरीकरण से भी सभी कमज़ोर वर्ग के लोगों के कष्ट दूर हो जायेंगे यह भ्रामक है। अतः इसके स्थान पर यह अच्छा हो सकता है कि दलितों एवं निर्बलों को स्थानीय स्तर पर लघु उद्योगों के माध्यम से रोज़गार प्रदान किया जाये जिससे उनकी आर्थिक प्रगति हो सकेगी। डॉ. आम्बेडकर के द्वारा दलितों को भूमि के पुनर्वितरण की सिफारिश करना इस दिशा में अच्छा कदम साबित हो सकता है। उन्होंने 'राज्य समाजवाद' को स्वीकार किया जिससे समाज के कमज़ोर वर्ग के लोगो, दलितों, अल्पसंख्यकों को आर्थिक शोषण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की जा सकती है। राज्य समाजवाद के अन्तर्गत डॉ. आम्बेडकर ने सभी उद्योगों तथा बीमा को राज्य के स्वामित्व के अधीन रखने की बात कही। कृषि को राज्य उद्योग के रूप में प्रतिस्थापित करने की सिफारिश की। इतना ही नहीं ऐसे उद्योगों, बीमा एवं कृषि भूमि जो कि निजी हांथों में हो राज्य को यह अधिकार भी दिया कि वह जब चाहे तब सम्बन्धित व्यक्ति को आवश्यक क्षतिपूर्ति का भुगतान करके उसे अपने कब्ज़े में कर सकता है। ऐसा राज्य द्वारा तभी किया जा सकेगा जब इससे कमज़ोर एवं निर्बलों को लाभ पहुँचे। इस प्रकार डॉ. आम्बेडकर के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक चिन्तन में मानववादी तत्व देखने को मिलते हैं।

7.4. विश्व राज्यवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद-

डॉ. लोहिया विश्व के उन लोगों में से थे जो विश्व-सरकार की कल्पना करते थे। उन्होंने '**फ्रेग्मेन्ट्स ऑफ वर्ल्ड माइण्ड**' में 'विश्व नागरिकता' की या 'विश्व सरकार' की या 'विश्व संसद' की या 'विश्व बन्धुत्व' की बात को समाजवाद का उत्सर्जित अविभाज्य अंग माना है। 'व्यक्ति', 'समाज', 'राज्य', 'राष्ट्र' और 'विश्व' के अविभाज्य रूप का जो अध्ययन उन्होंने प्रस्तुत किया है, उससे उनके व्यक्तित्व का एक बड़ा ही समग्र एवं ओजपूर्ण स्वरूप सामने आता है।

डॉ. लोहिया के अनुसार विश्व व्यवस्था की स्थापना के लिये साम्यवाद और पूंजीवाद दोनों ही अपर्याप्त हैं। ये दोनों ही आर्थिक एवं राजनीतिक केन्द्रीकरण के प्रतीक हैं। "पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों ही व्यवस्थाओं में जन संस्कृति स्थूल

और रूढ़िग्रस्त होती जाती है, और जन-जीवन को एक भद्दापन घेर लेता है।"[1] उन्होंने कहा कि "सारे मानवों को 'पेट भर अन्न', 'मन की आजादी की प्यास' और 'युद्धबन्दी' की तीन प्रमुख समस्याओं का समाधान न सोवियत गुट दे सकता है और न ही अमरीकी गुट।"[2]

अपने विश्व-समाजवाद के अन्तर्गत डॉ. लोहिया ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में समता, सम्पन्नता और विश्व परिवार के विचार प्रस्तुत किये। वह विभिन्न गुटों के हानिकारक द्वन्द्वों को समाप्त कर 'अधिकतम कौशल' की जगह 'सम्पूर्ण कौशल' की सभ्यता को लाना चाहते थे, ताकि लोगों का जीवन-स्तर मात्र राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर न बढ़कर, सभी राष्ट्रों में एक अच्छा जीवन-स्तर हो। यह नई सभ्यता मानव प्राणियों की समीपता स्थापित करेगी, और वर्ण, वर्ग तथा क्षेत्रीय विषमता का अन्त करने का प्रयत्न करेगी। विकेन्द्रित संस्थाएं शासन चलायेंगी। मनुष्य समूह में और व्यक्तिगत रूप में अन्याय के विरुद्ध सविनय अवज्ञा का प्रयोग कर सकेगा।[3] विश्व व्यवस्था के अन्तर्गत सार्वभौमिक नागरिकता, मानवाधिकारों का संरक्षण प्रजातांत्रिक प्रतिनिधित्व, श्रम की प्रतिष्ठा, समता और सम्मान सभी को सुलभ होंगे। विश्व की समाजवादी व्यवस्था में सच्चे समाजवादी की भूमिका को स्पष्ट करते हुये डॉ. लोहिया ने कहा था कि, "कोई भी समाजवादी नहीं है, जब तक कि वह समानतः सभी राष्ट्रों और सभी चमड़ी वालों के साथ स्वतंत्र, स्पष्ट और दोस्ताना नहीं है।"[4]

डॉ. लोहिया तीसरे खेमे, तृतीय सभ्यता अथवा नव-समाजवादी दर्शन के समर्थक थे। वह 'तटस्थ गुट' को मानते थे, जिसकी वास्तविकता समदृष्टि पर आधारित है। तटस्थ राज्यों की भूमिका, जैसा कि डॉ. लोहिया चाहते थे, निष्क्रिय, खोखली, सिद्धान्तहीन तथा भयातुर न होकर ठोस, सक्रिय, निर्भीक और सम्पूर्ण कौशल से युक्त होनी चाहिये। तटस्थ राष्ट्रों का मतलब रूसी और अमेरिकी खेमों

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, कांचन-मुक्ति, पेज सं.- 30.
2. डॉ. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म, पेज सं.- 243 (1963).
3. डॉ. लोहिया, नया समाज : नया मन, पेज सं.- 11.
4. डॉ. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म, पेज सं.- 340 (1963).

के बीच झूलते रहना नहीं है, अपितु उनका तटस्थ गुट निस्वार्थ ढंग से अन्तर्राष्ट्रीय समता के व्यावहारिक दर्शन पर आधारित होगा, जिसे डॉ. लोहिया ने नव-समाजवादी दर्शन कहा और यह आशा प्रकट की कि साम्यवादी और पूंजीवादी गुट अपने द्वन्द्व भूलकर सम्भवतः उसी में समाहित हो जायेंगे। इसी से शक्तिपूर्ण संयुक्त राष्ट्रों के संघ का निर्माण होगा।

अपने विश्व समाजवादी विचार के अनुकूल ही, डॉ. लोहिया ने संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन के आधार सुझाये। वह चाहते थे कि संयुक्त राष्ट्र संघ राजनीति का अखाड़ा, जाति प्रथा का गढ़, रंग-भेद का मन्दिर, दबाव एवं दमन का केन्द्र न बने। उसका संगठन समता और द्वन्द्व रहित व्यवहार पर आधारित हो, सभी मानव जाति के दिल व दिमाग को स्वीकार्य हो, और वह राष्ट्रों के मध्य व्याप्त आर्थिक और सैनिक विषमताओं को समाप्त करे। साथ ही, डॉ. लोहिया ने यह भी कहा कि संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय जाति प्रथा अर्थात रंग-भेद और विशेषाधिकारों की नीति को समाप्त करने के लिये सम्यक् दृष्टि और विवेक-बुद्धि से काम करने का प्रयास करे। इसका मुख्य लाभ यह होगा कि जाति-रंग-भेद की समाप्ति करके मानव एकता और समता को बल मिलेगा। इसी क्रम में डॉ. लोहिया ने विश्व विकास समितियों की स्थापना पर बल दिया जो सहयोग और सद्भाव से काम करें, ताकि सभी राष्ट्रों की आर्थिक विपन्नता समाप्त हो सके। इसी प्रकार विश्व सरकार की स्थापना के स्वप्न को साकार बनाने के लिये उन्होंने राष्ट्रों में मतैक्य की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने निःशस्त्रीकरण का सशक्त समर्थन किया, ताकि विभिन्न देशों के बीच युद्ध न हों। अपने विश्व व्यवस्था के चिन्तन के अन्तर्गत, डॉ. लोहिया ने 'साक्षात्कार के सिद्धान्त' का महत्व बतलाया और कहा कि इसकी दृष्टि से "हर काम का औचित्य स्वयं उसी में होता है और यहाँ अभी जो काम किया जाता है, उसका औचित्य सिद्ध करने के लिये बाद के किसी काम का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं।"[1] साक्षात्कार पद्धति के अनुसार, सभी के सामान्य लक्ष्य हों, परस्पर सहयोग और समझ हों, तो सभी कार्यों तथा परिणामों का औचित्य स्पष्ट हो सकेगा। अतः निरंकुशता, स्वेच्छाचारिता और अराजकता की स्थिति नहीं आ

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, पेज सं.- 92 (1955).

पायेगी।

स्पष्ट है कि डॉ. लोहिया का विश्व समाजवादी चिन्तन अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना से ओत-प्रोत है। इसका अर्थ है व्यक्ति अपने राष्ट्र के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों से भी प्रेम करें। अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना विश्व के राष्ट्रों के बीच शान्तिपूर्ण सहयोग और परस्पर सद्भाव की वृद्धि करती है। डॉ. लोहिया ने अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना को समृद्ध बनाने के लिये नवीन विश्व-व्यवस्था के सृजन हेतु चार सूत्रीय योजना प्रस्तुत की -

1) एक देश की जो पूंजी आर्थिक शोषण के लिये लगी है उसे जब्त करना,

2) विश्व भर के लोगों को संसार में कहीं भी जाने और बसने का अधिकार हो,

3) विश्व के सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता कायम रहे और

4) विश्व नागरिकता का प्रावधान सबको सुलभ हो।[1]

साथ ही, डॉ. लोहिया ने अपने अन्तर्राष्ट्रीयवाद के विचार को साकार बनाने के लिये राष्ट्रों की सर्वांगीण समानता, जाति-प्रथा का उन्मूलन, रंग-भेद की नीति की समाप्ति और विश्व सरकार पर अत्यधिक बल दिया। उनकी दृष्टि से, ऐसी सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था ग्राम, मण्डल, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व जैसे पाँच खम्भों पर निर्मित होगी। प्रत्येक स्तर के अधिकार एवं प्रतिनिधि समान रूप से काम करेंगे। विश्व व्यवस्था की अपनी एक विश्व-संसद दो सदनों वाली होगी जिसके अधीन प्रत्येक राष्ट्र की सेना पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित किया जायेगा।[2] डॉ. लोहिया के अन्तर्राष्ट्रीयवाद का स्वरूप सकारात्मक होगा और निःशस्त्रीकरण का अनिवार्यतः पालन किया जायेगा। संक्षेप में उनका अन्तर्राष्ट्रीयवाद सम्यक् दृष्टि, शान्ति और आशावाद का प्रतीक है।

डॉ. आम्बेडकर के मानववादी दर्शन का मुख्य ध्येय मानव प्रगति, मानव आनन्द, मानव कल्याण, मानव सम्बन्ध तथा मानव पद्धति है यह ध्येय केवल किसी एक क्षेत्र या राष्ट्र की सीमाओं में परिबध्य नहीं है वरन यह विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक रूप से फैला हुआ है। दूसरे शब्दों में डॉ. आम्बेडकर

---

1. डॉ. राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म, पेज सं.- 152-153 (1963).

2. इन्दुमती केलकर, लोहिया : सिद्धान्त और कर्म, पेज सं.- 402 (1963).

की दृष्टि मानव मात्र के प्रति थी वह मानव चाहे विश्व के किसी भी राज्य का निवासी हो। परन्तु इस प्रकार की उद्देश्य पूर्ति में, उनका मार्ग बहुत ही कठिन रहा है। उनके मार्ग में अनेक बाधाएं लोगों के द्वारा उपस्थित की गयी। अन्धकार के बादल उनकी ओर छोंडे तथा कहीं-कहीं पर उनका जीना भी दूभर कर दिया। यह उनकी क्रान्तिकारी नीति का प्रभाव था कि धर्मान्धी तथा परम्परावादी लोग उनके विरोधी बन गये। उन्होंने अपने मानववादी दर्शन को लेकर दोषपूर्ण सम्बन्धों तथा सामाजिक सिद्धान्तों पर तीखे एवं सीधे प्रहार किये। डॉ॰ आम्बेडकर ने बर्बरता, अन्याय तथा असमानता के प्रति खुलकर विद्रोह किया और उन कानूनों तथा अधिकारों का प्रतिपादन किया जो मानव सम्मान एवं गौरव पर आधारित हैं।[1]

उनका सामाजिक मानववाद एक बन्द कोठरी नहीं है, वरन एक ऐसा मार्ग है जो अच्छे से अच्छे मानव सम्बन्धों की ओर ले जाता है। उनके मानववादी दार्शनिक विचार अपनी व्यवस्था में मनुष्य को प्रमुख स्थान प्रदान करते हैं। उसकी भौतिक प्रगति तथा समृद्धि में पूर्ण आस्था रखते हैं। लेकिन डॉ॰ आम्बेडकर के मानववाद में, आध्यात्मिक मूल्यों को भी उचित स्थान दिया गया है। इन आध्यात्मिक मूल्यों में, सर्वप्रथम 'प्रेम' है। इसका प्रयोग अथवा अर्थ वही है जो करुणा का बौद्ध धर्म में है। यह निःस्वार्थ प्रेम है जिसका सीधा सम्बन्ध समाज में रहने वाले लोगों की भलाई एवं एकता से है। जिस व्यक्ति के हृदय में ऐसा प्रेम है वह धर्म, जाति एवं जन्म के आधार पर भेदभाव नहीं कर सकता। यह प्रेम भावात्मक है। साथ ही साथ व्यावहारिक भी है। यह व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही हैं। डॉ॰ आम्बेडकर ने इसका अनुकरण महात्मा बुद्ध से किया है जिसकी जड़ें सहयोग, मित्रता, स्वतंत्रता, समानता आदि में निहित हैं। इस प्रेम की सीमाएं नहीं हैं। इसे कहीं तक भी प्रसारित किया जा सकता है। राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक।

डॉ॰ आम्बेडकर के अनुसार, द्वितीय आध्यात्मिक मूल्य 'आदर की भावना' है। इसका वही अर्थ है जो बौद्ध धर्म में मैत्री का है। यह व्यक्तिगत अथवा संस्थागत पूजा-पाठ नहीं है। संसार के समस्त जीव-प्राणियों के प्रति यह आदर एवं दया की भावना है। इस भावना का होना तो कठिन है, लेकिन जिनमें इसका उदय हो जाता

---

1. आर॰ आर॰ भोले, डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा रचित बुद्ध और उनका धर्म, पेज सं.-6 (1957).

है वे लोग महान होते हैं। प्रेम के समान ही इसकी भी सीमाएं नहीं है और न इसकी प्रेम के साथ कोई स्पर्धा है। दोनों ही एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, जो लोग महान धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं उनमें इन दोनों का बाहुल्य होता है।

डॉ. आम्बेडकर के अनुसार प्रत्येक समाज यदि वह अपनी जनतांत्रिक व्यवस्था को बनाये रखना चाहता है तो उसे तीन विकल्पों में से एक को चुनना पड़ेगा-

1) सामाजिक सम्बन्धों को नियमित करने के लिये साधन के रूप में कोई समाज धर्म (धम्म) का चयन न करे। लेकिन मानव-मानव के बीच अच्छे सम्बन्धों का नाम ही धम्म है। यदि धम्म प्रशासन का आधार न बने तो उसका कोई महत्व ही नहीं होगा।

2) समाज चाहे तो पुलिस को सरकारी प्रशासन का उपकरण बना सकता है अर्थात वह पुलिस अधिनायकत्व स्थापित कर सकता है, शक्ति के आधार पर वह व्यवस्था बनाये रख सकता है, और

3) समाज चाहे तो धम्म और मजिस्ट्रेट को व्यवस्था रखने का उपकरण बना सकता है। सामान्यतः लोग धम्म का अनुसरण करें, लेकिन नैतिक नियमों तथा कानूनों के उल्लंघन पर मजिस्ट्रेट का सहारा लें।

प्रथम दो विकल्पों में, समाज अराजकता तथा अधिनायकत्व का मार्ग स्वीकार करता है। अराजकता तथा अधिनायकत्व में स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। तीसरे विकल्प में, स्वतंत्रता जीवित रह सकती है। अतः जो स्वतंत्रता के प्रेमी हैं, नैतिकता या धर्म को अपना सकते हैं।

स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तों के माध्यम से जनसाधारण का कल्याण ही जनतांत्रिक सभ्यता का सार है। कोई भी सभ्य समाज सच्चे अर्थों में जनतांत्रिक समाज नहीं है यदि अपने सदस्यों को जीवन की आवश्यक भौतिक सुविधाओं को प्रदान नहीं करता है। डॉ. आम्बेडकर मानते हैं कि, कोई राज्य उसी स्थिति में जनतांत्रिक तथा व्यावहारिक है, जब वह सभी नागरिकों के जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं संतुष्ट कर सके। आधुनिक राज्य का तो यह महत्वपूर्ण कर्तव्य है कि वह सभी स्त्री-पुरुषों के मानवीय अधिकारों की सुरक्षा एवं देखभाल

करे।[1] प्रत्येक जनतांत्रिक समाज को यह चाहिये कि वह मनुष्य-मनुष्य के बीच सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के लिये स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के समन्वित मानदण्ड को बनाये रखें, अन्यथा उसे समतावादी जनतांत्रिक समाज की संज्ञा देना न्यायोचित नहीं होगा।

भ्रातृत्व का अर्थ "सभी मनुष्यों में प्रेम एवं भाईचारे की भावना" से है, जिसके आधार पर सब लोग मिलकर शान्तिपूर्वक रहते हैं। विभिन्न सामाजिक इकाइयों एवं विभिन्न देशों में एकता की भावना भ्रातृत्व का ही प्रदर्शन है यह भावना तभी ठीक तरह अनुभव की जा सकती है जब विचार विनिमय भली प्रकार से हों। जिसके द्वारा सभी सामाजिक परिवर्तन एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से जा सकें। विचार-विनिमय से विभिन्न प्रकार की बातों का ज्ञान होता है इससे लोगों में निकटता के भाव का संचार होता है। कुछ लोगों को ज्ञान एवं शिक्षा से वंचित रखना भ्रातृत्व की भावना का गला घोटना है।

सामाजिक गतिशीलता के सिद्धान्त का भ्रातृत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार गतिशीलता से तात्पर्य यह है कि, सब वर्ग आपस में प्रेम भाव से रहें और समयानुसार इधर-उधर घूमकर अच्छे सम्बन्ध स्थापित करें। उनमें ऊँच-नीच का कोई भाव न हो। व्यक्ति को एक ही स्थान पर उसके जन्म की वजह से निश्चित नहीं कर देना चाहिये। वह एक ऐसी समाज व्यवस्था में विश्वास करते थे, जिसमें एक व्यक्ति का स्तर उसकी योग्यता के आधार पर स्वतंत्रतापूर्वक परिवर्तित होता रहे। भ्रातृत्व का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि, लोगों में एक ऐसा सामाजिक प्रवाह रहे कि विचार एवं घटनाओं का विनिमय होता रहे। डॉ. आम्बेडकर ने सदैव नवीन बातों को उत्साहित किया। अतः सामाजिक गतिशीलता रखने के लिये विचार एवं संस्थाओं में मनुष्यों की आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहना चाहिये।[2]

डॉ. आम्बेडकर अपने परिवार और समाज से कहीं अधिक अपने देश को प्रेम करते थे और अपने देश से भी अधिक मानवता को। संकुचित विचारधारा संकुचित

---

1. बी.आर. आम्बेडकर, मि. गाँधी एण्ड द इमैन्सिपेशन ऑफ द अण्टचेबिल्स, पेज सं.-55 (1943)
2. बी. आर. आम्बेडकर, एनिहीलेशन ऑफ कास्ट, पेज सं.- 38 (1936).

संघर्ष तथा कलह उत्पन्न करती है जिससे समाज, देश और मानवता को हानि उठानी पड़ती है। उदार मन और विचार ही संसार में शान्ति ला सकते हैं। सामाजिक प्रगति, आर्थिक समृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय मेल-मिलाप के लिये शान्ति अत्यधिक आवश्यक है।

विश्व-बन्धुत्व अर्थात सह-अस्तित्व और सहयोग के रूप में अन्तर्राष्ट्रीयवाद सामाजिक मानववाद का व्यापक, संतुलित तथा उत्कृष्ट लक्ष्य है, जो विश्व-शान्ति का मूलाधार है।

डॉ॰ लोहिया का मानववादी दर्शन किसी एक देश या क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं था वरन वह मानव मात्र के लिये था। वे विश्व व्यवस्था की स्थापना के लिये साम्यवाद और पूँजीवाद दोनों को अपर्याप्त मानते थे क्योंकि वे इन दोनों व्यवस्थाओं को आर्थिक एवं राजनीतिक केन्द्रीकरण का प्रतीक मानते थे। उन्होंने अपने विश्व समाजवाद के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में समता, सम्पन्नता और विश्व परिवार के विचार को प्रस्तुत किया। उनकी विश्व-व्यवस्था में सार्वभौमिक नागरिकता, मानवाधिकारों का संरक्षण, प्रजातांत्रिक प्रतिनिधित्व, श्रम की प्रतिष्ठा, समता और सम्मान सभी को सुलभ होंगे। उन्होंने 'तटस्थ गुट' को स्वीकार किया तथा तटस्थ राज्यों की भूमिका को निष्क्रिय, खोखली, सिद्धान्त-विहीन व भयातुर न होकर ठोस, सक्रिय, निर्भीक और सम्पूर्ण कौशल से युक्त माना। उनको यह आशा थी कि साम्यवादी और पूँजीवादी गुट सम्भवतः अपने द्वन्द्व भूलकर तीसरे खेमें में समाहित हो जायेंगे परन्तु डॉ॰ लोहिया की यह आशा अभी तक पूर्ण नहीं हो सकी है। डॉ॰ लोहिया चाहते थे कि, संयुक्त राष्ट्र संघ राजनीति का अखाड़ा, जाति-प्रथा का गढ़, रंग-भेद का मन्दिर तथा दबाव व दमन का केन्द्र न बने। उन्होंने विश्व विकास समितियों के गठन पर बल दिया जो सहयोग एवं सद्भाव से काम करें जिससे सभी राष्ट्रों की आर्थिक विपन्नता समाप्त हो सके। उन्होंने निःशस्त्रीकरण का समर्थन किया जिससे विभिन्न देशों के बीच युद्ध न हों और मानवता की रक्षा हो सके।

वास्तव में डॉ. लोहिया विश्व राज्यवादी थे, उनका चिन्तन अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना से ओत-प्रोत है। इसमें व्यक्ति अपने राष्ट्र के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों से भी प्रेम करने के लिये अग्रसर होगा। यह अन्तर्राष्ट्रीयवाद की भावना विश्व के राष्ट्रों

के बीच शान्तिपूर्ण सहयोग और परस्पर सद्भाव की वृद्धि करती है। डॉ॰ लोहिया ने अपने अन्तर्राष्ट्रवाद के विचार को साकार बनाने के लिये राष्ट्रों की सर्वांगीण समानता, जाति-प्रथा का उन्मूलन, रंग-भेद की नीति की समाप्ति और विश्व सरकार पर अत्यधिक बल दिया, जो वर्तमान समय में उतना ही उपयोगी है जितना कि पहले थे। वर्तमान में विश्व की मानवता के लिये सबसे गम्भीर समस्या परमाणु अस्त्रों की होड़ तथा विश्व में फैला अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद है। इन दोनों को विश्व स्तर पर रोका जाना चाहिये क्योंकि इनसे मानवता को सर्वाधिक हानि है जिससे पूरा विश्व परिचित है। इनके रहते हुये विश्व शान्ति व सद्भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः इन्हें रोकने के लिये समूचे विश्व को एक-जुटता के साथ पक्षपात रहित होकर आगे आना होगा तभी विश्व में शान्ति, सद्भाव और भाईचारे का पर्यावरण बनेगा तथा मानवता की रक्षा की जा सकेगी।

डॉ॰ आम्बेडकर का मानववादी दर्शन भी विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव में आस्था प्रकट करता है। इसका मुख्य ध्येय मानव प्रगति, मानव आनन्द, मानव कल्याण, मानव सम्बन्ध तथा मानव पद्धति है। डॉ॰ आम्बेडकर के मानववाद में आध्यात्मिक मूल्यों को उचित स्थान दिया गया है। ये आध्यात्मिक मूल्य 'प्रेम' और 'आदर की भावना' हैं। इन दोनों की कोई सीमाएं नहीं हैं इन्हें कहीं तक भी प्रसारित किया जा सकता है राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक। संसार के समस्त जीव-प्राणियों के प्रति यह प्रेम और आदर की भावना होती है। डॉ॰ आम्बेडकर की दृष्टि में प्रत्येक जनतांत्रिक समाज को यह चाहिये कि वह मनुष्य-मनुष्य के बीच सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के लिये स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के समन्वित मानदण्ड को बनाये रखें। भ्रातृत्व का अभिप्राय सभी मनुष्यों में प्रेम एवं भाईचारे की भावना से है। विभिन्न सामाजिक इकाइयों एवं विभिन्न देशों में एकता की भावना 'भ्रातृत्व' का ही प्रदर्शन है। सामाजिक गतिशीलता का भ्रातृत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसका तात्पर्य है सभी मनुष्य प्रेमभाव से रहें और समयानुसार इधर-उधर घूमकर अच्छे सम्बन्ध स्थापित करें, उनमें ऊँच-नीच का कोई भाव न हो, व्यक्ति का स्तर उसकी योग्यता के आधार पर स्वतंत्रतापूर्वक परिवर्तित होता रहे।

निःसंदेह डॉ॰ आम्बेडकर के सामाजिक मानववाद का व्यापक, संतुलित तथा उत्कृष्ट लक्ष्य विश्व-बन्धुत्व या सह-अस्तित्व और सहयोग के रूप में अन्तर्राष्ट्रीयवाद की स्थापना है। उन्होंने प्रेम और आदर की भावना जैसे मूल्यों के साथ-साथ स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व जैसे सामाजिक मूल्यों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्थापित करके विश्व मानववादी होने का संदेश दिया है। यदि पूरे विश्व में इन मूल्यों को अमल में लाया जाये तो निश्चित रूप से मानवता की रक्षा हो सकेगी।

अष्ठम् अध्याय

"निष्कर्ष"

अष्ठम् अध्याय

"निष्कर्ष"

डॉ॰ राममनोहर लोहिया एवं डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर के विचारों के गहन तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि, वर्तमान कालीन बदलते राजनीतिक परिदृश्य में दोनों विचारकों के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विचारों की प्रासंगिकता एवं उपादेयता बनी हुई है क्योंकि वर्तमान में भारत की ही नहीं वरन पूरे विश्व की समस्या है- मानवाधिकारों की रक्षा किया जाना। दूसरे शब्दों में आज समाज के निम्न तबके के व्यक्ति को विकास की मुख्य धारा में जोड़ने की समस्या व्यापक स्तर पर दिखायी देती है। डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर ने अपने विचारों में समाज के शोषित, उपेक्षित, कमज़ोर, दलित, प्रताड़ित एवं गरीब वर्ग के लोगों के उत्थान का मार्ग प्रशस्त किया है और मानव मात्र के अधिकारों को सुलभ बनाने के लिये अपने चिन्तन को केन्द्रित किया है। मनुष्य चाहे विश्व के जिस हिस्से का निवासी हो दोनों के लिये सभी मनुष्य समान थे। सभी के प्रति उनमें सहानुभूति थी, निष्ठा थी। दोनों मानववादी चिन्तक थे।

डॉ॰ लोहिया मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण आस्था प्रकट करते हैं। उन्होंने मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में कोई दखल स्वीकार नहीं की है। व्यक्ति और प्रकृति के सम्बन्ध में उन्होंने सांस्कृतिक और शारीरिक सीमाओं एवं आकांक्षाओं में ऐसा अनुपातात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है जिससे जैविक, मानसिक और आध्यात्मिक

स्तर पर मनुष्य स्वतंत्रता का अनुभव कर सके। मन के स्तर पर वे व्यक्ति की सोचने-विचारने और बोलने की पूरी आज़ादी के समर्थक थे परन्तु कर्म को मर्यादित करने के लिये उन्होंने केवल आत्म-अनुशासन को स्वीकार किया है। वे मनुष्य की आर्थिक स्वतंत्रता को अनुशासित किये जाने के पक्ष में रहे हैं, क्योंकि ऐसा न होने से वे मनुष्य के स्वाभिमान पर ठेस पहुंचने का ख़तरा महसूस करते थे। उन्होंने वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार के महत्व को कोई क्षति नहीं पहुंचाना चाहा। वैयक्तिक स्वतंत्रता के साथ-साथ व्यक्ति के लिये आध्यात्मिक स्वतंत्रता अन्याय के विरुद्ध निरन्तर लड़ते रहने की स्वतंत्रता तथा बौद्धिक स्वतंत्रता को उन्होंने आवश्यक माना।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भी मनुष्य को ही अपने सम्पूर्ण चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु बनाया। उनकी दृष्टि में प्रकृति, जगत, समाज तथा अन्य विषयों का अध्ययन अन्ततः मनुष्य के ही अध्ययन का साधन है। उन्होंने मानव की प्रतिष्ठा पर अत्यधिक जोर दिया। वे मनुष्य की वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं सामाजिक, आर्थिक समानता एवं स्वतंत्रता के समर्थक थे। वे मनुष्य के अन्य अधिकारों के साथ-साथ सम्पत्ति के अधिकार को भी सुरक्षित करना चाहते थे। उनका प्रयास था कि मनुष्य को अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करते हुये, नैतिक एवं सदाचारी रहते हुये आत्मसम्मान के साथ जीना चाहिये।

राजनीतिक क्षेत्र में डॉ॰ लोहिया एवं डॉ॰ आम्बेडकर का चिन्तन इस बात पर बल देता है कि लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है। इसके अन्तर्गत ही जनता का राज-व्यवस्था के प्रति विश्वास को कायम रखा जा सकता है क्योंकि लोकतंत्रात्मक प्रणाली चाहे वह प्रत्यक्ष लोकतंत्र हो या अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में, शासन कार्य में जनता की भागीदारी महत्वपूर्ण होती है। इस प्रणाली में लोगों में शासन-व्यवस्था के प्रति आक्रोश और कुण्ठा व्याप्त होने की संभावना भी कम होती है। इसमें जनता का जनता के लिये जनता द्वारा शासन स्थापित किया जाता है।

डॉ॰ लोहिया ने एक ऐसी लोकतांत्रिक प्रणाली का समर्थन किया है जिसमें भेदभाव, असमानता, वर्गवाद और धर्मान्धता के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता है। ऐसे लोकतंत्र में राज-व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है। इस लोकतंत्र को स्थापित करने के लिये तथा उसे सफल बनाने के लिये डॉ॰ लोहिया ने विलासी खर्चों पर रोक लगाने, ऊँचे लोगों के खर्च की सुविधाएं घटाने, निम्न लोगों के बोनस बढ़ाने, खर्च पर सीमा लगाने और 'सप्त-

क्रान्तियों' को संचालित करने पर ज़ोर दिया है। ऐसी लोकतांत्रिक प्रणाली जिसमें राज्य द्वारा जन इच्छा का आदर किया जायेगा तो निश्चित रूप से जनता का विश्वास स्थिर हो सकेगा। वास्तव में जब तक राज्य द्वारा जन इच्छा का आदर किया जाता है तभी तक लोकतंत्र सफल होता है, अतः जनशक्ति इतनी सशक्त होनी चाहिये कि वह जब चाहे यह परिवर्तन ला सके।

डॉ॰ आम्बेडकर ने संसदीय लोकतंत्र को सर्वश्रेष्ठ पद्धति माना और संघात्मक एवं एकात्मक प्रणाली के मिश्रित स्वरूप का समर्थन किया। संसदीय लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली में शासन के तीन प्रमुख अंग- व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका होंगे जिनका क्रमशः कार्य होगा- कानून बनाना, कानून को कार्यान्वित करना तथा जो कानून को भंग करे उसे दण्ड देना। ये तीनों अंग अपने-अपने सर्वोत्कृष्ट कार्यों को सम्पादित करके जनता के कल्याण के लिये हमेशा तत्पर रहेंगे। इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में कोई दासता नहीं होगी, कोई जातिवाद नहीं होगा तथा किसी भी प्रकार का अनावश्यक भेदभाव नहीं होगा। दूसरे शब्दों में प्रजातंत्र को स्थायी रूप से कायम रखने के लिये या उसकी सफलता के लिये कुछ आवश्यक शर्तों का होना अनिवार्य है। ये शर्तें हैं- समाज में अधिक विषमता न हो, एक से अधिक राजनीतिक दल हों, आर्थिक समानता हो, समाज में जागरूकता हो, समाज में नैतिक व्यवस्था का पालन हो, संवैधानिक उपायों को अपनाया जाय, व्यक्ति पूजा का त्याग किया जाय तथा राजनीतिक जनतंत्र से सामाजिक जनतंत्र की ओर झुकाव हो आदि। यदि ये शर्तें विद्यमान होंगी तो निश्चित रूप से लोकतंत्र सफल एवं स्थायी होगा तथा लोगों का इस लोकतंत्र में विश्वास बना रहेगा। इसलिये राज-व्यवस्था को इन शर्तों का पालन आवश्यक रूप से करना चाहिये। उसे ऐसी परिस्थितियों को जो लोकतंत्र के लिये घातक हैं या प्रतिकूल हैं उन्हें हटाना चाहिये तथा लोकतंत्र की सफलता के लिये उसके अनुकूल परिस्थितियों का विकास करना चाहिये। लोकतंत्र के मौलिक तत्वों के रूप में शान्ति, सहयोग, सहनशीलता, सहिष्णुता, वाद-विवाद तथा स्वीकृति आदि के होने से व्यावहारिक स्तर पर राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना सम्भव हो सकेगी। इसके अतिरिक्त संसदात्मक सरकार में विरोधी-दल व निष्पक्ष चुनाव के बिना लोकतंत्र का सच्चा स्वरूप प्रकट नहीं हो सकेगा अतः लोकतंत्र में विपक्षी दल एवं स्वतंत्र व निष्पक्ष निर्वाचन का होना बहुत जरूरी है।

डॉ. लोहिया ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया तथा इस बात पर बल दिया कि सत्ता का स्रोत नीचे से ऊपर की ओर बहना चाहिये न कि ऊपर से नीचे की ओर। उन्होंने चौखम्भा योजना प्रस्तुत करके, प्रशासनिक अधिकारियों को जनता के नियंत्रण में रखकर यथार्थ लोकतंत्र के निर्माण का प्रयास किया। इस यथार्थ लोकतंत्र में केन्द्र, राज्य, मण्डल तथा ग्राम नामक इकाइयां एक दूसरे की सहयोगी होंगी और ऐसी व्यवस्था में नागरिक स्वतंत्रतापूर्वक देश को एक सूत्र में बाँधे रह सकेंगे, देश के विकास को गति दे सकेंगे तथा अपना हाँथ बटा सकेंगे। डॉ. लोहिया की इस विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में नौकरशाही पर तो अंकुश लग जाता है परन्तु बेईमानी व भ्रष्टचार को बढ़ावा देने की सम्भावनाएं बनी रहती हैं।

डॉ. आम्बेडकर ने डॉ. लोहिया के विपरीत सत्ता के केन्द्रीकरण या मज़बूत केन्द्र का समर्थन किया क्योंकि उनकी दृष्टि में गाँव रूढ़िवादिता एवं अन्ध-विश्वास का गढ़ है जिन्हें शक्ति प्रदान करना खतरे से खाली नहीं होगा। दलित वर्ग के लोग अपनी कमज़ोर सामाजिक, आर्थिक स्थिति के कारण स्थानीय आधार पर सशक्त वर्ग के लोगों से न्याय एवं नैतिकता की उम्मीद नहीं कर सकते हैं और न ही स्थानीय आधार पर उनकी सत्ता में सार्थक भागीदारी हो सकती है। गाँव मोह, अज्ञान, संकीर्णता और साम्प्रदायिकता की गुफा हैं। यह हिन्दुओं का उपनिवेशवाद है, जिसकी रचना हिन्दुओं द्वारा अछूतों के शोषण एवं उन पर अत्याचार करने के लिये की गयी है।

लेकिन आज के परिवर्तनशील भारतीय परिप्रेक्ष्य में हम डॉ. आम्बेडकर की उक्त दृष्टि का समर्थन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि भारत गाँवों का देश है और जब तक गाँव के लोगों का विकास नहीं किया जायेगा, ग्राम पंचायतों को शक्तियाँ प्रदान नहीं की जायेंगी, तब तक पूरे भारत का विकास सम्भव नहीं है। इसी कारणवश ग्राम पंचायतों व नगर निकायों को शक्तियाँ व अधिकार प्रदान करने के लिये भारत सरकार को संविधान में 73वाँ एवं 74वाँ संवैधानिक संशोधन करना आवश्यक हो गया था। वर्तमान समय में केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा अधिकाधिक आर्थिक व्यय गाँवों के विकास हेतु किया जा रहा है क्योंकि आज यह महसूस किया जा रहा है कि, जब तक गाँवों में रहने वाले लोग शिक्षित नहीं होंगे, स्वस्थ्य नहीं रहेंगे, वहाँ से निर्धनता, बेरोज़गारी जैसी समस्याएं दूर नहीं होंगी, वहाँ के लोग देश व समाज के प्रति जागरूक होकर अपने कर्तव्यों का निर्वहन नहीं करेंगे

तथा ग्राम पंचायतों को राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अधिकार प्रदान नहीं किये जायेंगे तब तक हमारे देश में लोकतंत्र की जड़ें मज़बूत नहीं हो पायेंगी।

वास्तव में लोकतंत्र को मज़बूत बनाने के लिये केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण के मध्य संतुलन स्थापित करने की आवश्यकता है। केन्द्रीय सरकार को इतनी शक्तियाँ व अधिकार नहीं प्रदान किये जाने चाहिये जिससे जनता के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का हनन होने लगे और लोकतंत्र केवल नाममात्र के लिये ही रह जाये। साथ ही विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत केन्द्र सरकार को अत्यन्त निर्बल कर देना भी ठीक नहीं होगा। इससे प्रशासनिक व्यवस्था में अनेक असावधानियाँ उत्पन्न हो सकती हैं और केन्द्र की सरकार समूचे देश की सुरक्षा की दृष्टि से असफल सिद्ध हो सकती है। अतः उसे पर्याप्त मात्रा में शक्तियाँ एवं अधिकार सौंपना भी आवश्यक होता है।

समाजवादी समाज की स्थापना के लिये डॉ॰ लोहिया ने विभिन्न प्रकार के विभेदों पर प्रहार करना आवश्यक माना तथा एक ऐसी भू-सेना तैयार करने पर ज़ोर दिया जो भूमि-सुधार का कार्य करे। उन्होंने सभी वर्ग के लोगों के लिये उत्पादन के समान वितरण की आवश्यकता बतलायी। अमीर और गरीब के मध्य खांई को पाटने के लिये डॉ॰ लोहिया ने अमीरों के खर्च पर सीमा लगाने तथा गरीबों का बोनस बढ़ाने की बात करके यथार्थ में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने की कल्पना की। इस व्यवस्था में असमानता न पैदा हो इसके लिये उन्होंने भारी उद्योगों की तुलना में लघु एवं कुटीर उद्योगों को स्थापित करना जरूरी बतलाया। क्योंकि भारी उद्योगों के स्थापित होने से पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म होता है जबकि डॉ॰ लोहिया पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध समाजवाद लाना चाहते थे। समाजवादी समाज में पूँजीवाद की तुलना में लोगों के शोषण की सम्भावनाएं नहीं रहेंगी। वास्तव में वर्णभेद, जातिभेद, रंगभेद, अस्पृश्यता, लिंगभेद, निर्धनता, साम्प्रदायिकता एवं आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक असमानता के रहते हुये समाजवादी समाज की स्थापना सम्भव नहीं है। समाजवादी व्यवस्था को कायम करने के लिये इन विकृतियों को खत्म करना आवश्यक है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भी समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये समाज से निर्धनता को दूर करना आवश्यक माना तथा निर्धनता को दूर करने के लिये भूमि वितरण तथा गरीबों को अतिरिक्त भूमि आवंटित करने और राजनैतिक शक्ति समाजवादी समाज के

अनुरूप चलने वालों के हांथों में होने पर ज़ोर दिया। उन्होंने गरीबी बढ़ाने के लिये केवल पूँजीवादी व्यवस्था को जिम्मेदार नहीं माना। वास्तव में डॉ॰ आम्बेडकर ने धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में व्यक्तिवादी व्यवस्था का समर्थन किया तथा आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी व्यवस्था का समर्थन किया। वे समाजवाद एवं पूँजीवाद की मिश्रित व्यवस्था के पक्ष में थे। उन्होंने कमज़ोर वर्ग के कष्टों को दूर करने के लिये राज्य-समाजवाद का सिद्धान्त बतलाया जिसके अन्तर्गत उन्होंने प्रबल केन्द्रीयकरण करने, औद्योगीकरण एवं शहरीकरण को बढ़ावा देने, बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण करने, व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त न करके उस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने पर ज़ोर दिया।

समाजवादी समाज की स्थापना के लिये गरीबी हटाना निहायत जरूरी है इसके लिये डॉ॰ लोहिया व डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा बताये गये उपायों की सार्थकता इनके सही क्रियान्वयन में निहित है। केन्द्रीयकरण की तुलना में विकेन्द्रीकरण की नीति को अपनाकर, लघु उद्योगों व भारी उद्योगों में संतुलन स्थापित करके जनता का कल्याण अधिक मात्रा में किया जा सकता है। भारत जैसे देश में शुद्ध समाजवाद की कल्पना वर्तमान परिप्रेक्ष्य में निरर्थक है। अतः यहाँ पूँजीवाद एवं समाजवाद की मिश्रित व्यवस्था सफलता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है।

डॉ॰ लोहिया ने साम्यवादी विचारधारा को स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसमें व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिये हिंसक मार्ग का समर्थन किया गया है जबकि डॉ॰ लोहिया ने इसके विपरीत महात्मा गाँधी के 'अहिंसा' और 'सिविल नाफरमानी' को समाजवादी आन्दोलन से जोड़कर उसमें नया प्राण फूँकने का काम किया। मार्क्सवाद को उन्होंने भारत एवं एशिया के संदर्भ में अप्रासंगिक घोषित किया क्योंकि जिस स्थान विशेष के संदर्भ में इसे निरूपित किया गया था वहाँ जैसी परिस्थितियाँ भारत तथा अन्य एशियाई देशो में नहीं हैं। उन्होंने साम्यवाद एवं पूँजीवाद में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं माना क्योंकि दोनो में कमियाँ विद्यमान रह जाती हैं। डॉ॰ लोहिया ने परम्परागत समाजवादियों द्वारा समाज को बदलने के लिये बतलाये गये बाह्य परिवर्तनों के साथ-साथ मनुष्य के मन के परिवर्तन या आन्तरिक परिवर्तन को आवश्यक माना। बाह्य क्रान्तिकारिता तो मनुष्य के मन की क्रान्तिकारिता के आने के साथ ही आ जायेगी।

डॉ॰ आम्बेडकर ने साम्यवाद से अंशतः प्रभावित होने के बावजूद उसे विश्व के लिये खतरा माना। वे मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त और सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति द्वारा राज्य प्राप्त करने के सिद्धान्त से सहमत नहीं थे वरन उनका विश्वास शान्तिपूर्ण ढंग से तथा कानूनी तरीके से राज्य में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन लाने पर था जिससे कमज़ोर एवं निर्धन वर्ग के लोगों को आगे बढ़ने के लिये समान और विशेष अवसर मिल सकें। डॉ॰ आम्बेडकर ने मार्क्स के मार्ग की तुलना में बुद्ध के मार्ग को ठीक माना।

वास्तव में मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी विचारधारा समय और परिस्थितियों की देन थी। इसकी सार्थकता आज की तुलना में पहले अधिक थी। वर्तमान समय में इस विचारधारा का विकृत रूप भी सामने आने लगा है जिसके कारण विश्व पटल से ज्यादातर देशों द्वारा इसे अस्वीकार किया जाने लगा है। भारत जो कि शान्ति एवं अहिंसा में विश्वास करने वाला देश है के लिये साम्यवाद को प्रासंगिक नहीं कहा जा सकता है।

डॉ॰ लोहिया ने साम्प्रदायिकता नामक विघटनकारी शक्ति को नियंत्रण में रखने के लिये क्षेत्रीयतावादी एवं अलगाववादी ताकतों पर अंकुश लगाना आवश्यक माना। वे वृहत्तर भारत के साथ-साथ विश्व राज्य एवं विश्व सरकार का सपना देखते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में विश्व के सभी मानव एक हैं जिन्हें आपस में एक दूसरे का सम्मान करते हुये एकता के साथ रहना चाहिये। उन्होंने क्षेत्रीयतावाद के आधार पर भारत का हिन्दुस्तान व पाकिस्तान के रूप में हुये विभाजन का असफल विरोध किया। वे अन्ततः भारत-पाक महासंघ का सुझाव देते हैं इसके लिये वे हिन्दुओं व मुसलमानों में भाईचारा स्थापित करने की सिफारिश करते हैं। निःसंदेह क्षेत्रीयतावादी, अलगाववादी एवं साम्प्रदायिकता जैसी विघटनकारी ताकतों का विरोध करना राष्ट्र की एकता व अखण्डता के लिये आवश्यक है परन्तु डॉ॰ लोहिया की यह कल्पना कि भविष्य में भारत व पाक का महासंघ बनेगा, वर्तमान में एवं आने वाले समय में साकार होती नहीं प्रतीत होती है। उनकी विश्व सरकार की कल्पना एक अच्छी दृष्टि का परिचायक है और हम उसे सिद्धान्ततः स्वीकार भी कर सकते हैं परन्तु ऐसा व्यवहार में सफलतापूर्वक संचालित करना बहुत ही कठिन एवं असम्भव है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने साम्प्रदायिकता नामक शक्ति का कभी समर्थन नहीं किया वरन इसे रोकने के लिये उन्होंने भारत का हिन्दुस्तान व पाकिस्तान के रूप में विभाजन का समर्थन किया। इस तरह उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से क्षेत्रीयतावादी एवं अलगाववादी शक्तियों

का समर्थन किया। उन्होंने अविभाज्य भारत के लिये आने वाले संघ राज्य में कमियां होने की दुहाई दी और 'सांस्कृतिक विद्वेष की भावना' एवं 'वित्तीय भार'' की दृष्टि से भारत के विभाजन को जरूरी माना। निश्चित रूप से डॉ. आम्बेडकर ने क्षेत्रीयतावादी एवं अलगाववादी शक्तियों का समर्थन साम्प्रदायिकता नामक जहरीली समस्या के निदान के लिये किया था और उन्हें यह आशा थी कि मुसलमानों के पृथक पाकिस्तान के बन जाने से साम्प्रदायिकता का अन्त हो जायेगा जिससे हिन्दू व मुसलमान सुख-शान्ति से रहेंगे। परन्तु यदि हम आज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो पाकिस्तान के अलग राज्य बन जाने के बावजूद भी समस्या का समाधान नहीं हो पाया है। साम्प्रदायिकता की आग आज भी जल रही है तथा सुख व शान्ति कोसों दूर है। डॉ. आम्बेडकर द्वारा सांस्कृतिक विद्वेष व वित्तीय भार की दुहाई देकर भारत विभाजन का समर्थन करना ठीक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि एक राष्ट्र में अनेक संस्कृतियां साथ-साथ एकता से रहती रही हैं, रह रही हैं और रह सकती हैं। कोई भी राष्ट्र क्षेत्रफल की दृष्टि से चाहे कितना ही व्यापक क्यों न हो वहाँ की अर्थव्यवस्था का सुदृढ़ होना वहाँ के नियम-कानूनों एवं प्रशासनिक तंत्र के ठीक ढंग से कार्य करने पर निर्भर करता है। अतः इन दोनों दृष्टिकोणों से अलगाववादी शक्तियों का समर्थन नहीं किया जा सकता है।

'अधिकारों' के सम्बन्ध में डॉ. लोहिया ने संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों से एक कदम आगे बढ़कर मानव अधिकारों के सुरक्षा की बात की है। उनकी दृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति को एक हद तक अपने जीवन को अपने मन के मुताबिक चलाने का अधिकार होना चाहिये। उसकी व्यक्तिगत जिन्दगी में कोई दखल नहीं होनी चाहिये जैसे- व्यक्ति को विवाह करने या न करने के लिये बाध्य नहीं किया जाना चाहिये। सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं का सदस्य होने के लिये बाध्य नहीं किया जाना चाहिये आदि। डॉ. लोहिया मृत्यु दण्ड को अमानवीय मानते थे लेकिन आत्महत्या के अधिकार का समर्थन करते थे। वे व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार को सीमित करना चाहते थे तथा राजनीति में धर्म के हस्तक्षेप को अस्वीकार करते थे। उन्होंने व्यक्ति के वैधानिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक व आध्यात्मिक समता के अधिकार का समर्थन किया और गरीबों व कमज़ोर वर्ग के लोगों को कर्तव्य करने की हिदायत देने के पहले अधिकार सौंपने पर ज़ोर दिया।

वास्तव में यदि हम संवैधानिक चिन्तन की दृष्टि से विचार करें तो पायेंगे कि डॉ. लोहिया के संवैधानिक विचार ज्यादा विकसित नहीं हो पाये क्योंकि वे राजनीतिक आन्दोलन

में अधिक व्यस्त थे। इसका एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि उन्हें इस कार्य को करने का मौका नहीं मिला। भारत में स्वतंत्रता के समय व उसके बाद जिस समय संविधान निर्माण का कार्य हो रहा था, उसके कुछ समय पूर्व तक डॉ. लोहिया को ब्रिटिश शासन ने जेल में बन्द करके कठोर शारीरिक, मानसिक यातनाएं दी, जिससे वे काफी कमज़ोर पड़ गये थे। उनके द्वारा ब्रिटिश शासन की कठोर नीतियों का विरोध करना और व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के साथ-साथ मानवाधिकारों का समर्थन करना लोकतांत्रिक राज्य के संविधान के अनुकूल है।

डॉ. आम्बेडकर ने मौलिक अधिकारों को भारतीय संविधान की प्रस्तावना की बुनियाद कहा है। उनकी दृष्टि में मौलिक अधिकारों के दो लक्ष्य हैं- प्रथम प्रत्येक नागरिक स्वयं इन अधिकारों को प्रस्थापित करे और द्वितीय देश या प्रदेश की विधायिका को मौलिक अधिकारों के विरुद्ध कोई भी कानून बनाने का अधिकार न हो। डॉ. आम्बेडकर ने संविधान में मुख्य रूप से सात प्रकार के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की थी जिनमें समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, संस्कृति व शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन का अधिकार तथा संवैधानिक उपचारों का अधिकार प्रमुख थे। उनकी दृष्टि में मौलिक अधिकार निरपेक्ष नहीं हैं। अर्थात् समय व परिस्थितियों के बदलने पर अथवा यदि समाज व राज्य के हित की रक्षा के लिये जरूरी हो तो राज्य को मौलिक अधिकारों को सीमित करने की शक्ति होनी चाहिये परन्तु इस शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिये तभी लोगों का राज्य में पोषण हो सकेगा। इस प्रकार डॉ. आम्बेडकर ने संविधान में मौलिक अधिकारों को महत्वपूर्ण स्थान देकर तथा उनका उल्लंघन समान्य परिस्थितियों में राज्य के द्वारा न करने की व्यवस्था करके वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना की है। इससे देश का प्रत्येक नागरिक भयमुक्त स्वतंत्र वातावरण में रहते हुये जीवन-यापन कर सकेगा परन्तु उन्होंने सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन के अधिकार को प्रदान करके समाज में व्यक्तियों के बीच आर्थिक गैर-बराबरी की सम्भावना को बढ़ाने की भूल कर दी है। इससे समाज में एक ओर धनी तो दूसरी ओर निर्धनों की संख्या में वृद्धि होगी। इसी कारण से इस अधिकार को 44वें संवैधानिक संशोधन के माध्यम से निरसित करके केवल कानूनी अधिकार बना दिया गया है।

संवैधानिक चिन्तन की दृष्टि में डॉ. आम्बेडकर के विचार डॉ. लोहिया की तुलना में बहुत व्यापक हैं। उन्होंने भारतीय संविधान के निर्माण में अपना व्यापक योगदान दिया है। संविधान में सभी प्रकार के भेदभावों को खत्म करके लोकतांत्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत संसदीय शासन प्रणाली अपनाने का समर्थन किया है। वे जनतंत्र को एक मनुष्य एक मूल्य के सिद्धान्त तक जीवित रखने के लिये संविधान में न केवल राजनीतिक ढाँचा को निर्धारित करने के इच्छुक थे वरन आर्थिक ढाँचे के स्वरूप को भी निर्धारित करने के इच्छुक थे और उन्होंने ऐसा किया भी। उनकी दृष्टि में संविधान कितना भी अच्छा क्यों न हो, यदि उसे कार्यान्वित करने वाले लोग अच्छे नहीं होंगे तो वह संविधान अच्छा नहीं साबित हो सकता। अतः संविधान की सफलता या असफलता उसको व्यवहार में प्रयोग करने वाले मनुष्यों की बुद्धिमत्ता एवं विवेक पर निर्भर करती है। डॉ. आम्बेडकर यद्यपि राज्य समाजवाद को संविधान का अंग बनाये जाने के पक्ष में थे तथापि उन्होंने 'धर्म-निरपेक्ष', 'समाजवादी' शब्दों को संविधान में जोड़े जाने का विरोध किया था क्योंकि उनकी दृष्टि में इससे लोगों की स्वतंत्रता और उनके लोकतांत्रिक अधिकारों में हस्तक्षेप हो सकता है। परन्तु इसे सही नहीं माना जा सकता है क्योंकि भारत एक बहुधर्मावलम्बी देश है, जहाँ किसी विशेष धर्म को संरक्षण नहीं प्रदान किया जा सकता है। भारत में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि यहाँ पूँजीपतियों को पूरी तरह से उखाड़ फेंका जायेगा, वरन यहाँ एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना है जिसमें गरीबी, शोषण, असमानता, अत्याचार और गुलामी न हो। इसीलिये 1976 ई. में 42वें संवैधानिक संशोधन के माध्यम से इन शब्दों को संविधान में जोड़ा गया।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना संविधान के उद्देश्यों के प्रस्तावों पर आधारित है जिसे डॉ. आम्बेडकर ने अत्यन्त एकाग्रता, विवेक एवं मानवीय मूल्यों को ध्यान में रखकर तैयार किया था। उनकी दृष्टि में संविधान का उद्देश्य राज्य के विभिन्न अवयवों के कार्यों को नियमित करना है। उन्होंने संविधान में 'संघराज्य' स्वरूप का समर्थन किया, जिसमें शासन की दो पद्धतियों- केन्द्रीय एवं प्रान्तीय शासन को रखा गया है। लेकिन सम्पूर्ण भारत में नागरिकता एक ही प्रकार की 'भारतीय नागरिकता' रखी गयी। राज्य की एकता व अखण्डता को कायम रखने के लिये उन्होंने केन्द्र को मज़बूत बनाने का प्रयास किया है।

संविधान में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों को उचित स्थान देकर डॉ. आम्बेडकर ने आर्थिक लोकतंत्र स्थापित करने का प्रयास किया है। परन्तु उन्होंने इन तत्वों के क्रियान्वयन के लिये राज्य को बाध्य करना उचित नहीं समझा। साथ ही साथ संविधान में राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि वह कानून बनाते समय इन तत्वों को ध्यान में रखे। डॉ. आम्बेडकर ने ग्राम पंचायतों के बजाय 'व्यक्ति' को इकाई के रूप में स्वीकार किया क्योंकि उनकी दृष्टि में ग्राम पंचायते गन्दगी से मुक्त अज्ञान व अन्धकार की गुफा हैं, संकुचितता व जातिवाद की प्रतीक हैं अतः इन्हें इकाई नहीं माना जा सकता। उन्होंने केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत प्रधानमंत्री को सर्वाधिक अधिकार दिये जाने का समर्थन किया और सामूहिक जिम्मेदारी के सिद्धान्त को मंत्रिमण्डल की आत्मा कहा। उन्होंने भारतीय संघ में एक ही प्रकार के न्यायमण्डल का समर्थन किया। उन्होंने संविधान को अपरिवर्तनीय नहीं माना तथा उसमें समय और परिस्थितियों के अनुसार बदलाव लाना अवश्यम्भावी माना अतः उन्होंने संवैधानिक संशोधन का समर्थन किया।

वास्तव में संविधान में निर्देशक तत्वों का समावेश जनकल्याण हेतु आवश्यक है परन्तु डॉ. आम्बेडकर ने संविधान में ग्राम पंचायतों की स्थिति को कमज़ोर बना दिया है जिसे सही नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि हम भारत के गाँवों का विकास नहीं करेंगे तो निश्चित रूप से हम भारत की समृद्धि को ऊपर नहीं उठा सकते हैं। यदि हम गाँवों में समुचित सुविधाएं मुहैया करवा दें, वहाँ के विकास को वरीयता दें, तो गाँव अन्धकार व अन्ध-विश्वास की गुफा नहीं रहेंगे। वहाँ जन-जागृति अवश्य होगी। वर्तमान में जबकि पंचायतों को सशक्त बनाया जा चुका है तो वहाँ अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन देखने को मिल रहा है। डॉ. आम्बेडकर के द्वारा संविधान बन जाने के बाद की गयी यह टिप्पणी कि संविधान अच्छा तभी साबित हो सकता है जब उसको क्रियान्वित करने वाले लोग अच्छे होंगे अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे योग्य एवं व्यावहारिक अनुभव से युक्त राजनीतिज्ञ शासन सत्ता पर आयें जो इस संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत यथार्थ लोकतंत्र को स्थापित करके गरीबों के दुख-दर्द को दूर कर सकें।

भारतीय विदेश नीति के सम्बन्ध में स्वतंत्रता के पूर्व डॉ. लोहिया ने कांग्रेस के परराष्ट्र विभाग में मंत्री पद पर रहते हुये कुछ ऐसी प्रतिस्थापनाएं निर्धारित की थीं जो विदेशी राष्ट्रों के साथ भारत के सम्बन्धों की व्याख्या करती हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान का

इंग्लैण्ड के साथ विदेशी सम्बन्ध तोड़ देने की वकालत की क्योंकि ये सम्बन्ध केवल इंग्लैण्ड का ही हित साधन करते थे। विशेषकर आर्थिक, व्यापारिक क्षेत्र में। इसी समय उन्होंने भारतीय जनता का आह्वान किया कि ब्रिटिश साम्राज्य की विदेश नीति से अपने आपको पूरी तरह अलग करके अपने को पूर्ण रूप से आज़ादी की लड़ाई एवं जनतंत्र को स्थापित करने के लिये लगायें। आज़ादी के बाद डॉ. लोहिया ने पं. नेहरु की विदेश नीति की कठोर आलोचना की। उनकी दृष्टि में हिन्दुस्तान की विदेश नीति भयशून्य नहीं है, इसलिये वह सफल नहीं हो सकती ओर देश का भला नहीं कर सकती। विदेश नीति का सिद्धान्त सुनिश्चित होना चाहिये, उसकी सोच और सपना होना चाहिये जिससे हम राष्ट्र हित में स्वतंत्र रूप से अन्य देशों के साथ मधुर सम्बन्धों की स्थापना कर सकें।

वास्तव में डॉ. लोहिया की दृष्टि दूरगामी हित की ओर संकेत करती है, क्योंकि किसी भी देश की विदेश नीति की सफलता के लिये पहली आवश्यकता 'राष्ट्र हित' होती है और दूसरी आवश्यकता है- अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के बिना अपनी स्वतंत्र विदेश नीति का प्रतिपादन करना। डॉ. लोहिया ने पं. नेहरु की विदेश नीति की आलोचना में मुख्य रूप से इन दो बातों को उठाया था। राष्ट्र हित के मामले में भारत-सरकार की स्थिति यह थी कि जहाँ एक ओर पाकिस्तानी सीमा में उसे अपनी भूमि का नुकसान उठाना पड़ा वहीं चीन के हमले द्वारा भी उसे अपनी भूमि खोनी पड़ी। चीन हमारी भूमि पर अब भी कब्ज़ा जमाये हुये है। यह भारतीय विदेश नीति की सफलता नहीं कही जा सकती। दूसरी ओर स्वतंत्रता के बाद भारत की विदेश नीति विदेशी शक्तियों से प्रभावित हुई जान पड़ती है, इसीलिये डॉ. लोहिया ने भारतीय विदेश नीति को 'भयमुक्त' नहीं माना। आज़ादी के बाद भारत एक स्वतंत्र, सम्प्रभु-सम्पन्न देश था इसलिये यह उसके हक में नहीं कहा जा सकता कि वह अपनी विदेश नीति का निर्धारण विश्व की शक्तियों के दबाव में करे। ऐसा करना हमारे राष्ट्र हित में नहीं होगा। यद्यपि इसीलिये भारत ने गुट-निरपेक्षता की नीति पर चलने का प्रयास किया था परन्तु यह सत्य है कि भारत की गुट-निरपेक्षता की नीति समय और परिस्थितियों के अनुसार किसी न किसी गुट की ओर झुकी हुई दिखाई देती है।

डॉ. आम्बेडकर तानाशाही के विरोधी और संसदीय जनतंत्र के समर्थक थे। उन्हें जब यह आभास हुआ कि भारत-सरकार की विदेश नीति सही दिशा की ओर आगे नहीं बढ़ रही है तो उन्होंने पं. नेहरू मंत्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया। उनकी दृष्टि में देश की विदेश नीति

'विस्मार्क' और 'बर्नार्ड शॉ' द्वारा दिये गये बुद्धिमत्तापूर्ण उपदेशों के विरुद्ध है। इन दोनों का विचार था कि जो सम्भव हो वही करना चाहिये तथा अत्यधिक अच्छा बनना खतरनाक होता है। डॉ. आम्बेडकर ने पं. नेहरु सरकार द्वारा किये जा रहे रक्षा व्यय की आलोचना की। उन्होंने इसमें कटौती करने तथा करोड़ों भूखों मरती जनता के लिये खाद्यान्न जुटाने की बात कही। उन्होंने भारत की तत्कालीन विदेश नीति को देश के लिये हानिकारक कहा क्योंकि विश्व में भारत के कोई मित्र नहीं रह गये और भारत इतना शक्तिहीन हो गया कि सारा संसार उसकी उपेक्षा कर रहा है।

निःसंदेह गरीबी दूर करना, देश का विकास करना एवं समृद्धि दर को ऊपर उठाना अच्छा और देश के हित में है परन्तु डॉ. आम्बेडकर का यह अभिमत कि रक्षा व्यय में कटौती करके गरीबी निवारण एवं देश का विकास किया जाये, स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक देश की विदेश नीति का प्रथम लक्ष्य राष्ट्र हित होता है और पहला राष्ट्र हित 'देश की सुरक्षा' होता है। यदि हम देश की सुरक्षा को वरीयता नहीं देंगे तो अन्य हितों को प्राप्त करने में भी असफल रहेंगे अतः पहली ज़रूरत देश की सुरक्षा है। भारत को उसके पड़ोसी देशों पाकिस्तान व चीन की ओर से बराबर खतरा बना रहता है और इन्होंने भारत के ऊपर कई बार हमला करने की कोशिश भी की। अतः भारत को इस विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है। यद्यपि यह हो सकता है कि सुरक्षा व्यय, गरीबी निवारण एवं देश के विकास में एक संतुलन स्थापित किया जाये, परन्तु यह ध्यान रहे कि राष्ट्र की एकता व अखण्डता के लिये देश की आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की सुरक्षा अपरिहार्य है।

कुशल विदेश नीति उसी को कहा जा सकता है, जब हम विश्व के देशों से अपने राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित करवा लेने के बावजूद भी अपनी स्वतंत्र विदेश नीति में किसी प्रकार की आँच न आने दे। साथ ही साथ अपने देश की सुरक्षा को सर्वोपरि रखते हुये उसकी एकता व अखण्डता को बनाये रखें। आज जबकि भारत की आज़ादी के 60 वर्ष हो चुके हैं और भारत लगभग सभी क्षेत्रों में अपना विकास करने में समर्थ है तो उसे राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखकर दबाव से मुक्त विदेश नीति का संचालन करने की आवश्यकता है।

भारत का विभाजन करके पाकिस्तान के रूप में एक पृथक देश का निर्माण हो यह डॉ. लोहिया को क़भी स्वीकार नहीं था लेकिन विभाजन हो जाने के बाद वे पाकिस्तान के साथ भारत की विदेश नीति को बुनियादी आधारों पर स्थापित किये जाने के इच्छुक थे।

उनकी दृष्टि में पाकिस्तान कश्मीर को किसी भी तरह हासिल करना चाहता है और भारत सरकार के लचीले रुख के कारण 1947 ई॰ में ही कश्मीर में आधी लड़ाई हारी जा चुकी है। उन्होंने कश्मीर समस्या का हल कश्मीर के विभाजन द्वारा नहीं, वरन भारत-पाकिस्तान को मिलाकर एक संघ बनाकर हल करने का सुझाव दिया। इसके लिये उन्होंने हिन्दू व मुसलमानों को एक दूसरे के समीप आने तथा भारत को मुस्लिम हितैषी और पाकिस्तान विरोधी नीति चलाने पर बल दिया। डॉ॰ लोहिया का यह कहना ठीक है कि भारत-पाकिस्तान दोनों को विश्व के दोनों गुटों से अलग रहकर गुट-निरपेक्षता की नीति पर चलना चाहिये। वे कश्मीर मुद्दे को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाने को एक भयंकर भूल मानते थे, जो कि यथार्थतः सत्य है।

भारत की एकता, अखण्डता और उसको सम्प्रभु सम्पन्न राष्ट्र बनाये रखने के लिये डॉ॰ लोहिया द्वारा सुझाया गया कश्मीर समस्या का हल ठीक है परन्तु ऐसा व्यवहार में हो पाना कठिन प्रतीत होता है। उनके द्वारा हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाने एवं भाईचारा स्थापित करने की सिफारिश भी साम्प्रदायिकता नामक ज़हर को फैलने से रोकने के लिये एक अच्छा उपाय है। परन्तु उनके द्वारा पाकिस्तान के अन्त व भारत-पाक संघ बनाने की, की गयी भविष्यवाणी आज तक व्यावहारिक रूप में सम्भव नहीं हो सकी है। साथ ही आने वाले समय में ऐसी सम्भावनाएं नहीं हैं कि पाकिस्तान का अन्त होकर भारत-पाक एक संघ का रूप धारण कर सकें क्योंकि प्रथमतः पाकिस्तान में जितने भी शासक हुये हैं वह किसी भी कीमत पर भारत के साथ संयुक्त होने के पक्ष में कभी भी दिखायी नहीं दिये हैं। द्वितीयतः भारत एवं पाकिस्तान में समाजवादी क्रान्ति एक साथ आना केवल कल्पना है जिसे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में साकार होना बहुत मुश्किल है। तृतीयतः यदि भारत अपने जवाबी हमले के द्वारा पाकिस्तान को भारत का अंग बनाने की कोशिश करता है तो वर्तमान 'परमाणु अस्त्र' के युग में दोनों देशों का विनाश अवश्यम्भावी है, साथ ही अनतर्राष्ट्रीय वातावरण भारत के खिलाफ हो जायेगा और भारत के अस्तित्व को ही खतरा हो सकता है। आज भी पाकिस्तान भारत को शत्रु के रूप में देखता है, वह कश्मीर को किसी भी कीमत पर हासिल करना चाहता है। वहाँ पर लोकतंत्र की स्थापना स्थायी रूप से अभी तक सम्भव नहीं हो सकी है। पाकिस्तान में पनाह पाये हुये आतंकवादी भारत में घुसपैठ करके यहाँ की शान्ति एवं व्यवस्था को भंग करने की कोशिश करते हैं जो भारत

व पाकिस्तान दोनों के हित में नहीं है। पाकिस्तान के प्रति भारतीय विदेश नीति ऐसी होनी चाहिये कि हमारा पड़ोसी हमारे ऊपर कभी आक्रामक न हो सके और यदि वह ऐसा कदम उठाये तो हम उसे मुँह तोड़ जवाब दे सकें यद्यपि दोनों देशों के बीच शान्ति व भाईचारे की नीति सबसे अच्छी नीति हो सकती है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने पाकिस्तान के अलग राज्य बनने का समर्थन तो किया परन्तु हिन्दुस्तान की पाकिस्तान के प्रति विदेश नीति से सहमत नहीं थे और पाकिस्तान के साथ भारत के बिगड़े हुये सम्बन्धों के लिये दो कारणों को जिम्मेदार माना- प्रथम कश्मीर की समस्या और द्वितीय पूर्वी बंगाल की समस्या। उनकी दृष्टि में, यदि 1947 ई॰ में हुये पाकिस्तान के साथ संघर्ष को कुछ दिन और जारी रखा जाता तो पूरा कश्मीर भारत के कब्ज़े में होता परन्तु पं॰ नेहरू को उसी समय 'शान्ति की नीति' याद आयी और युद्ध विराम रेखा का निर्माण किया गया। इस प्रकार कश्मीर का काफी भू-भाग पाकिस्तान का गुलाम हो गया। डॉ॰ आम्बेडकर ने कश्मीर समस्या का समाधान 'कश्मीर का विभाजन' करके सुझाया है क्योंकि उनकी दृष्टि में जो समस्या धर्म के आधार पर तय की गयी है, उसे उसी आधार पर हल करनी होगी। उन्होंने भी कश्मीर के प्रश्न को यू.एन.ओ. में ले जाने को गलत कहा तथा उनके द्वारा की गयी यह भविष्यवाणी कि सं.रा.संघ में यह सवाल हल तो नहीं होगा वरन उलझता जायेगा, आज सच साबित हुई है।

कश्मीर समस्या के समाधान के लिये डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा सुझाया गया हल कि 'कश्मीर का विभाजन' करके मुस्लिम बहुल जम्मू व लद्दाख को पाकिस्तान को दे देना चाहिये, ठीक नहीं कहा जा सकता है। आज की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुये हमें यह नहीं लगता कि इस समस्या का पूर्णरूपेण हल इस समाधान में निहित है। इससे भारत की एकता व अखण्डता को खतरा तथा क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा मिलेगा। साम्प्रदायिक हिंसा, लूट, उपद्रव, भय, आतंक और विनाश का पुनः वातावरण बनने की आशंका है जैसा कि भारत-पाकिस्तान विभाजन के समय सन् 1947 ई॰ में हुआ था। इसके साथ-साथ यह भी निश्चित है कि जिस राष्ट्र को आत्मसंतोष नहीं होता वह कभी संतुष्ट नहीं हो सकता वह आगे भी अपनी इसी प्रसारवादी नीति पर चलता रहेगा। कश्मीर का विभाजन करने से पूरे देश का जनमत प्रभावित होगा और आगे आने वाली सरकार इस कार्य को अंजाम देकर अपने पैरों में कुल्हाड़ी नहीं मार सकती क्योंकि पूरा देश सम्बन्धित सरकार के खिलाफ हो

जायेगा।

निश्चित रूप से भारत-पाकिस्तान के बीच मधुर सम्बन्ध स्थापित न हो पाने के पीछे सबसे बड़ा उत्तरदायी कारण कश्मीर का मुद्दा ही है और इस समस्या का समाधान आज तक नहीं हो सका है। इसका समाधान भारत-पाकिस्तान के संघ बनाने पर तो हो जायेगा। परन्तु संघ बनाना ही व्यावहारिक रूप से सम्भव नहीं है। दूसरी ओर कश्मीर का विभाजन भी इस समस्या का उचित हल नहीं है अतः अन्त में जो परिस्थिति बनती है, वह यह है कि भारत व पाकिस्तान दोनों को वास्तविक युद्ध विराम रेखा को सीमा रेखा के रूप में स्वीकार कर लिया जाना चाहिये और पाकिस्तान द्वारा कश्मीर एवं भारत में जारी आतंकवादी हिंसा को प्रोत्साहन देना बन्द किया जाना चाहिये जिससे दोनों देशो के मध्य मधुर सम्बन्धों की स्थापना हो सके, दोनों देश विकास के पथ पर आगे बढ़ सकें और दोनों देशों की जनता भयमुक्त वातावरण में सुख-शान्ति एवं अमन चैन के साथ रह सकें।

डॉ. लोहिया चीन की साम्राज्यवादी, प्रसारवादी नीति के विरोधी थे और चीन के प्रति भारत-सरकार द्वारा अपनायी जा रही विदेश नीति से असंतुष्ट थे। उन्होंने तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता को स्वीकार करने को भारत-सरकार की एक बहुत बड़ी भूल कहा। वास्तव में इस भूल का परिणाम यह हुआ कि चीन भारत की सीमा में अपनी चौकियाँ बनाने में सक्षम हो गया और 1962 ई. में उसने भारत पर खतरनाक आक्रमण कर दिया। डॉ. लोहिया ने पंचशील सिद्धान्त को धोखा कहा और ऐसी स्थिति में जबकि चीन भारत पर आक्रामक होता जा रहा था, उसने भारत की भूमि के लद्दाख और नेफा के कुछ इलाको पर कब्ज़ा स्थापित कर रखा था- भारत सरकार चीन के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्यता प्राप्त करवाने के लिये प्रयास कर रही थी जिसे डॉ. लोहिया ने अच्छा नहीं माना। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा भारत चीन के बीच निर्धारित की गयी मैकमोहन रेखा को भी गलत करार दिया क्योंकि मैकमोहन रेखा के उत्तर में 60-70 मील तक की दूरी पर स्थित मनसर गाँव पर भारत का कब्ज़ा था। उन्होंने अणुबम के सहारे चीन से लड़ाई का समर्थन नहीं किया। वे चाहते थे कि भारत को विश्व बिरादरी के सामने इस बात को रखना चाहिये कि चीन आक्रामक है, उसने हमारी ज़मीन छीनी है। वास्तव में यह डॉ. लोहिया की अहिंसावादी, शान्तिवादी दृष्टि है।

डॉ॰ आम्बेडकर भी विश्व में साम्यवाद के प्रसार को खतरनाक मानते थे और पं॰ नेहरू की चीन के प्रति विदेश नीति से सहमत नहीं थे। उनकी दृष्टि में साम्यवाद और स्वतंत्र लोकतंत्र दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते हैं। उन्होंने पंचशील को अव्यावहारिक माना। वास्तव में राजनीति में पंचशील का कोई स्थान नहीं है। डॉ॰ आम्बेडकर ने पं॰ नेहरू के शान्ति सिद्धान्त की समीक्षा की और शान्ति की नीति की आड़ में साम्यवादी देशों के सामने समर्पण नहीं कर देने की सिफारिश की उन्होंने सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को अपने पड़ोसियों विशेषकर चीन के संदर्भ में प्रयोग किये जाने को ठीक नहीं माना। डॉ॰ आम्बेडकर ने पं॰ नेहरू की सीटों के प्रति नीति का समर्थन नहीं किया क्योंकि उनकी दृष्टि में सीटों जैसे संगठन का सदस्य बनने से भारत को कोई हानि नहीं है, यह स्वतंत्र देशों पर होने वाले आक्रमणों को रोकने के लिये बनाया गया संगठन है। उन्होंने तिब्बत के ऊपर चीन के आधिपत्य को स्वीकार करने को चीन के लिये भारत के ऊपर आक्रमण करने को रास्ता देना कहा जो कि 1962 ई॰ में सच साबित हुआ। हम डॉ॰ आम्बेडकर की इस बात से सहमत हैं कि साम्यवादी देश एक राक्षस की भाँति होता है, जिसे चाहे जितना खाना दो वह कभी तृप्त नहीं होता और अन्त में वह हमें खाने के लिये दौड़ता है इसलिये साम्यवादी चीन से सदैव सावधान रहने की आवश्यकता है।

यह सत्य है कि चीन एक ऐसा साम्यवादी देश रहा है जो स्वतंत्रता के बाद से भारत के ऊपर आक्रामक रहा है इसलिये भारतीय विदेश नीति निर्माताओं को चीन के साथ सम्बन्धों को स्थापित करते समय हमेशा सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। आज भी चीन हमारी भूमि को अपने कब्ज़े में किये हुये है अतः भारतीय नेतृत्व को चीन के सामने दोस्ती का हांथ फैलाने से पहले उससे यह कहना होगा कि वह भारत की भूमि को खाली करे तथा विश्व में यह संदेश दे कि वह आक्रामक नहीं है। साथ ही भारत-सरकार 1947 ई॰ में निर्धारित सीमा रेखा को मानने के लिये चीन को बाध्य करने का प्रयास करें। यद्यपि चीन के साथ भारत के मधुर सम्बन्धों की स्थापना से आर्थिक, व्यापारिक एवं तकनीकी क्षेत्र में दोनों देशों को लाभ पहुंच सकता है तथा दोनों देशों के लोग लाभान्वित हो सकते हैं मगर यह तभी सम्भव हो सकता है जब चीन अपनी प्रसारवादी नीति पर अमल करना बन्द कर दे। वर्तमान में भारतीय विदेश नीति में मौलिक परिवर्तनों की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नवीन दृष्टिकोण से देखे जाने की जरूरत है। भारतीय नेतृत्व को यह दिखा

देने की आवश्यकता है कि भारतायी शान्ति की नीति भय एवं कमज़ोरी की नीति नहीं है, वरन एक साहसी देश की नीति है।

गोवा को पुर्तगालियों ने अपना उपनिवेश बना रखा था और वहाँ नागरिक स्वतंत्रताओं एवं अधिकारों का हनन करके निरंकुश शासन स्थापित कर रखा था। डॉ. लोहिया अत्याचार एवं अन्याय के विरोधी थे इसलिये उन्होंने गोवा के राष्ट्रीय जीवन के लिये नागरिक स्वातंत्र्य का अपहरण करने वाले बदनाम काले कानूनों को हटाना अपना फर्ज़ समझा जो कि एक सही कदम था। उन्होंने इस कार्य को गोवा के कल्याण की ही दृष्टि से नहीं, वरन भारत की आज़ादी के लिये भी करना आवश्यक समझा। उन्होंने पं. नेहरू व सरदार पटेल की गोवा के प्रति लचीली नीति की कटु आलोचना की तथा गोवा जैसे मुद्दे के प्रति सकारात्मक रुख अपनाने का आह्वान किया। वास्तव में गोवा के प्रति डॉ. लोहिया के लगाव को इतिहास सदैव याद रखेगा।

डॉ. आम्बेडकर ने गोवा मामले में पं. नेहरू सरकार के हस्तक्षेप को देर से की गयी कार्यवाही कहा तथा गोवा को पुर्तगालियों से मुक्ति का समर्थन किया। गोवा की पुर्तग़ाली कुशासन से मुक्ति के लिये उन्होंने दो सुझाव दिये- पहला- गोवा को भारत सरकार द्वारा खरीद लिया जाये या फिर दूसरा- गोवा को लीज़ पर ले लिया जाये। उन्होंने सरकार से आशा की कि दो में से किसी एक सुझाव पर अवश्य अमल किया जायेगा और गोवा को निरंकुश शासन से मुक्ति मिलेगी।

निःसंदेह साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी शक्तियाँ अत्याचार और शोषण पर आधारित होती हैं। यह अत्याचार और शोषण विश्व में चाहे जिस मुल्क में हो मानवता के लिये इसका विरोध अवश्य किया जाना चाहिये। डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर दोनों ही ऐसे विचारक थे जो साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, शोषण, अत्याचार, गरीबी, असमानता आदि के खिलाफ आजीवन संघर्ष करते रहे। गोवा चूँकि भारतीय भू-भाग पर स्थित ऐसा क्षेत्र था जिस पर पुर्तगालियों ने वर्षों से कब्ज़ा कर रखा था इसलिये उसकी स्वतंत्रता भी भारत की स्वतंत्रता के साथ-साथ अनिवार्य थी। भारत की आज़ादी के बाद यदि पुर्तगाली शासन गोवा से नहीं हटता तो भी देर सबेर उसको गोवा को मुक्त करना ही पड़ता क्योंकि गोवा को उपनिवेश बनाये रखना भौगोलिक दृष्टि से सम्भव नहीं हो पाता। आज गोवा भारत का अविभाज्य हिस्सा बन चुका है जिस पर केवल भारत का शासन स्थापित है।

डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर दोनों के विचारों में राष्ट्रवाद एवं विश्वराज्यवाद के तत्व देखने को मिलते हैं। डॉ. लोहिया ने राष्ट्रवाद की नींव को मज़बूत बनाने के लिये भारत जैसे विशाल देश में पददलित, शोषित एवं पीड़ित लोगों को ऊपर उठाना आवश्यक माना, वर्ण एवं जाति व्यवस्था को जड़ से खत्म करना चाहा, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समानता स्थापित करने पर बल दिया, अस्पृश्यों को सामाजिक न्याय दिलाने का प्रयास किया व सामाजिक कुरीतियों पर आन्दोलनात्मक प्रहार किया। उन्होंने राष्ट्र की एकता व अखण्डता को बनाये रखने के लिये साम्प्रदायिक एवं क्षेत्रीयतावादी शक्तियों का विरोध किया। डॉ. लोहिया ने माना कि राष्ट्रवादी संस्कृति विकसित करने के लिये गरीबी, बेरोज़गारी, अशिक्षा, नर-नारी असमानता, अस्पृश्यता, जातिवाद को भारतीय समाज से खत्म करना आवश्यक है। उन्होंने अंग्रेजी का विरोध और 'हिन्दी' भाषा के व्यापक प्रयोग का आह्वान किया क्योंकि हिन्दी भाषा से यहां का जन-जन परिचित है जबकि अंग्रेजी भाषा दासता की प्रतीक है।

डॉ. आम्बेडकर ने राष्ट्रवाद को मानव समाज के लिये अत्यन्त आवश्यक माना तथा इसे मानव जीवन में एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया। उनके अन्दर राष्ट्रवाद की भावना का उदय उन लोगों में आस्था के साथ हुआ जो निर्धन, शोषित एवं अछूत थे। उनके हृदय में राष्ट्रीय भावनाओं का जागरण दो बातों के विरोध में हुआ- प्रथम वे ब्रिटिश राज्य का अन्त चाहते थे और द्वितीय वे भारत में व्याप्त आन्तरिक शोषण को भी समाप्त करवाना चाहते थे। वास्तव में बाह्य शासन के समान ही कष्टकारी आन्तरिक शोषण अर्थात भारत में विद्यमान सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक असमानता, अन्याय, शोषण, दासता, अस्पृश्यता, जातिवाद, गरीबी, बेगारी आदि थे जिसके रहते हुये बाह्य शासन से मुक्ति का कोई मतलब नहीं था। डॉ. आम्बेडकर ब्रिटिश तटस्थतावाद के विरोधी थे क्योंकि ब्रिटिश तटस्थतावाद के कारण भारत के शोषित वर्ग के लोगों में कोई परिवर्तन नहीं आया और उनकी स्थिति जैसी थी वैसी ही बनी रही। उनके हृदय में अपने देश के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। अपने देश की भावी प्रगति में उनका पूर्ण विश्वास था। उन्होंने सदैव विघटनकारी, अन्यायपूर्ण तथा दमनकारी तत्वों की आलोचना की और साहस के साथ सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता पर बल दिया। वे राजनैतिक क्षेत्र में उद्दण्डता के कट्टर विरोधी थे क्योंकि राजनैतिक उद्दण्डतावादी लोग सामाजिक संघर्षों तथा झगड़ों को बढ़ावा देते हैं, इससे जान-माल की बहुत हानि होती है

तथा अनेक बेगुनाह लोग भी मारे जाते हैं। इसीलिये डॉ. आम्बेडकर ने इसे अमानुषिक माना। उन्होंने तुष्टीकरण की नीति का विरोध किया तथा स्पष्ट निर्णय लिये जाने पर ज़ोर दिया क्योंकि तुष्टिकरण की नीति से राजनैतिक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं और सामाजिक प्रगति में भी बाधाएं आती हैं, समय-समय पर इससे उपद्रव भी उत्पन्न होते हैं। डॉ. आम्बेडकर भारतीय जन-जीवन के लिये धर्म को आवश्यक मानते थे क्योंकि धर्म से सामान्य संस्कृति का विकास होता है। उन्होंने धर्म-निरपेक्षता की नीति को भारत के लिये ठीक बतलाया। इसी नीति के द्वारा यहाँ सब धर्म सम्मानपूर्वक रह सकते हैं और राष्ट्रवादी संस्कृति विकसित हो सकेगी। उनकी दृष्टि में सच्चे राष्ट्रवाद की अनुभूति उसी समय हो सकती है जब पूर्ण रूप से सामाजिक एकता एवं भाईचारे की भावना लोगों में बिना जातीय रंग और धार्मिक भेदभाव के आ जाये।

निश्चित रूप से राष्ट्रवाद सम्बन्धी विषय पर डॉ. लोहिया एवं डॉ. आम्बेडकर के विचार देश में राष्ट्रवादी संस्कृति को विकसित करने में सहायक हो सकते हैं, आवश्यकता है इन पर अमल किये जाने की। भारत में मौजूद अनेक समस्याएं राष्ट्रवादी संस्कृति को विकसित होने में बाधक बनी हुई हैं। इसीलिये डॉ. लोहिया ने राष्ट्रवाद की नींव को मज़बूत बनाने के लिये भारतीय समाज से वर्ण एवं जाति व्यवस्था, छुआछूत, अस्पृश्यता, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक असमानता, गरीबी, बेरोज़गारी, दासता, शोषण, अत्याचार, सामाजिक अन्याय, अशिक्षा, स्त्री-पुरुष असमानता को समाप्त करना आवश्यक माना। उनके द्वारा भारतीय समाज में विद्यमान साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रीयतावाद जैसी विघटनकारी ताकतों का विरोध करना भी राष्ट्रवाद की नींव को मज़बूत बनाने हेतु आवश्यक है। इन विकृतियों के रहते हुये भारत में राष्ट्रवादी संस्कृति का विकसित होना असम्भव है।

डॉ. आम्बेडकर ने राष्ट्रवाद की नींव को मज़बूत बनाने के लिये विदेशी शासन को समाप्त किये जाने के साथ-साथ आन्तरिक शोषण को भी समाप्त किया जाना आवश्यक माना। वास्तव में यदि बाह्य आज़ादी मिल जाय और देश के उच्च वर्ग एवं जाति के लोगों द्वारा निम्न वर्ग एवं जाति के लोगों का शोषण, दमन किया जाता रहे तो किसी भी तरह से राष्ट्रवादी संस्कृति विकसित नहीं हो सकती। इससे समाज में विषमता एवं आक्रोश जन्म लेगा तथा राष्ट्र की एकता व अखण्डता को खतरा के साथ-साथ पुनः स्वतंत्रता के अपहरण का डर बना रहेगा। इसलिये जितना अधिक महत्वपूर्ण बाह्य शासन से मुक्ति है उतना ही

महत्वपूर्ण आन्तरिक शोषण से छुटकारा पाना है। राष्ट्रवाद के लिये जरूरी है कि देश में सभी प्रकार के विभेदों का अन्त व सभी लोगों में भाईचारे की भावना हो। डॉ. आम्बेडकर द्वारा ब्रिटिश तटस्थतावाद, राजनीतिक उद्दण्डता तथा तुष्टिकरण की नीति का विरोध करना भी ठीक ही है क्योंकि इन तत्वों के रहते हुये किसी समस्या का समाधान न होकर वह समस्या और जटिल एवं व्यापक होती जाती है।

डॉ. लोहिया विश्वराज्यवादी थे। वे सम्पूर्ण मानव जाति को एक मानते थे। उनकी दृष्टि में पूरी मानव सभ्यता को यह अनुभव करना चाहिये कि सारे संसार में मनुष्य मात्र की एक जाति या बिरादरी है। वे पूरे विश्व में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे। उन्होंने विश्व स्तर पर नये प्रकार की जातियों की व्याख्या की है जैसे- रंग के आधार पर गोरी व रंगीन दुनिया, तकनीक के आधार पर विकसित व अनभिज्ञ पिछडे देश तथा एक ओर साम्राज्यवादी देश तो दूसरी ओर उपनिवेश में बँटे देश। वे मानते थे कि समस्त विश्व किसी न किसी प्रकार की जाति व्यवस्था में फँसा हुआ है और इसी कारण विश्व का विकास अवरुद्ध है। डॉ. लोहिया ने विश्व सरकार की कल्पना की थी। वे मानते थे कि जब मन और मानसिकता के आधार पर विश्व के समस्त राष्ट्रों का नया संगठन बनेगा, उदात्त मानव मूल्यों के आधार पर मुक्ति कामना से विश्व संगठन रूप लेगा तभी विश्व स्तर पर वास्तविक समता स्थापित होगी। उन्होंने इसके लिये संयुक्त राष्ट्र संघ को अपर्याप्त माना क्योंकि इसमें प्रभुता सम्पन्नता का सर्वथा अभाव है। वास्तव में किसी भी राष्ट्र में न्याय और समता तब तक नहीं स्थापित हो सकती जब तक कि विश्व स्तर पर भी लोग न्याय और समता स्थापित करने की ओर कदम नहीं बढ़ायेंगे। डॉ. लोहिया राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध एवं शस्त्रीकरण के खिलाफ थे क्योंकि इससे भय एवं आतंक व्याप्त होता है और मानवता का विनाश होता है इसीलिये उन्होंने 'अहिंसा' के मार्ग को ठीक बतलाया जो कि आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। उन्होंने विश्व की अर्थव्यवस्था से असमानता एवं शोषण को खत्म करने के लिये उसे एक नया रूप देने का प्रयास किया जिससे बँधुवा और महाजन ये दो विपरीत स्थितियाँ बनने की नौबत ही न आये। इसके लिये उन्होंने 'विश्व विकास समिति' का सुझाव रखा। यह समिति सारे विश्व को विकसित करने का संकल्प लेकर योजनाबद्ध ढंग से काम करेगी।

डॉ. आम्बेडकर ने भी स्वीकार किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रवाद का आधार मानव प्रगति एवं भलाई होना चाहिये अन्यथा संकुचित राष्ट्रवाद संघर्ष एवं युद्धों को जन्म दे सकता है। डॉ. आम्बेडकर के विश्वराज्य सम्बन्धी विचार डॉ. लोहिया की तुलना में पिछड़े हुये हैं फिर भी उन्होंने अपने विचारों में अत्याचार, शोषण और दासता का समर्थन कतई नहीं किया। यह शोषण, अत्याचार, दासता व असमानता विश्व के चाहे जिस हिस्से में हो उन्होंने इसका विरोध ही किया है।

यद्यपि डॉ. लोहिया के विश्वराज्य से सम्बन्धित विचार मानवता के हित में हैं और यदि इनके अनुसार कार्य किया जाय तो मानवाधिकारों की रक्षा की जा सकती है परन्तु दुर्भाग्यवश आज तक डॉ. लोहिया की कल्पना की विश्व सरकार निर्मित या विकसित नहीं हो पायी है इसके लिये विकासशील या पिछड़े देशों से कहीं अधिक विकसित देश जिम्मेदार हैं। विकसित देश अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर प्रत्येक कार्य करना चाहते हैं इसीलिये विश्व स्तर पर अनेक प्रकार की असमानताएं व्याप्त हैं। इन असमानताओं को खत्म करने के लिये तथा मानवता की रक्षा के लिये विकसित देशों को इस संदर्भ में गहराई से चिन्तन करने की आवश्यकता है।

भारत में प्राचीनकाल से ही आर्थिक चिन्तन का स्वरूप सुदृढ़ था। यहाँ का आर्थिक चिन्तन आध्यात्मिकता, धर्म और नैतिकता से सदैव जुड़ा रहा है। आर्थिक चिन्तन का प्रारम्भ ऋग्वेद और अथर्ववेद की ऋचाओं से हुआ है। कौटिल्य विश्व के प्रथम अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने ऋग्वेद और अथर्ववेद, पुराण और पाली, प्राकृत के अनेक प्रसंगों में और बिखरे हुये सूत्रों से राजनीतिक अर्थशास्त्र की रचना की। प्रारम्भ से ही भारतीय आर्थिक चिन्तन लोक-कल्याण से जुड़ा हुआ था तथा नीति शास्त्र, राजधर्म, दण्डनीति आदि से सम्बन्धित रहा है। पर्यावरण, संतुलन, विश्व-कल्याण एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम' की कल्पना प्राचीनकालीन भारतीय आर्थिक चिन्तन में देखने को मिलती है। परन्तु इसके बावजूद भी ब्रिटिश शासन द्वारा ऐसे आर्थिक चिन्तन के स्वरूप को छिपाने या दबाने की कोशिश की गयी क्योंकि अंग्रेज शासक एवं प्रशासक यह नहीं प्रमाणित होने देना चाह रहे थे कि आर्थिक चिन्तन की दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप यूरोप से कहीं आगे है। इसीलिये उन्होंने भारत में उपलब्ध अनेक महत्वपूर्ण प्राचीनकालीन लिपिबद्ध साहित्य व सामग्री को यूरोप ले जाकर वहाँ उसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करवाकर उसका अंग्रेजी संस्करण भारत में उपलब्ध

करवाया जिससे यह आभास हो सके कि भारत में आर्थिक चिन्तन बहुत पिछड़ा हुआ है। लेकिन यह ब्रिटिश शासन की चाल थी। यहाँ पर उपलब्ध अनेक धर्म-ग्रन्थ जिनमें आर्थिक चिन्तन बिखरे हुये रूप में उपलब्ध है, इस बात के प्रमाण हैं कि भारत में प्राचीनकाल से ही आर्थिक चिन्तन का स्वरूप सशक्त था। यद्यपि प्राचीनकाल में आर्थिक चिन्तन ज्ञान की एक विशेष शाखा अर्थशास्त्र के रूप में उपलब्ध नहीं था और इसीलिये उसे अर्थशास्त्र, दण्ड-विद्या, नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजशास्त्र आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया तथापि इनमें आर्थिक चिन्तन की झलक स्पष्टतः देखने को मिलती है। वर्तमान समय में भारत एक सशक्त अर्थव्यवस्था वाले देश के रूप में विश्व पटल पर उभरा है। इस उभरती अर्थव्यवस्था की साख विश्व में अत्यधिक बढ़ी है जिससे विदेशी पूँजी निवेशकों की संख्या में दिन-प्रति-दिन वृद्धि हो रही है। इसके पीछे भारतीय आर्थिक चिन्तन के स्वरूप का स्थायी रूप से विकसित होना रहा है।

डॉ॰ लोहिया ने किसी देश की आर्थिक स्थिति को मज़बूत बनाने के लिये लोकतांत्रिक व्यवस्था तथा इसके अन्तर्गत विकेन्द्रीकरण की नीति का समर्थन किया। विकेन्द्रीकरण नीचे से ऊपर की ओर अर्थात ऊर्ध्वमुखी होगा। डॉ॰ लोहिया आर्थिक ढाँचा को मज़बूत बनाना चाहते थे इसके लिये उन्होंने गाँवों की पारम्परिक संरचना में निहित आत्म-निर्भरता के भाव फिर से जागृत करके गाँवों की उन निर्जीव संस्थाओं में प्राण फूँकना चाहते थे जो शिथिल पड़ चुकी थीं। उन्होंने प्रजातांत्रिक आर्थिक व्यवस्था में भारी मशीनों के उपयोग की निन्दा की क्योंकि ये मशीनें आम आदमी को छोटा एवं असहाय बनाती हैं, अतः इनका उपयोग सीमित करके छोटी मशीनों को ग्रामोद्योग तथा कुटीर उद्योग के स्तर पर इस्तेमाल करने को डॉ॰ लोहिया एक क्रान्तिकारी कदम मानते थे। उन्हें विश्वास था कि छोटी मशीनों के उपयोग से न केवल लोगों की दशाओं में सुधार होगा वरन पिछड़े देशों का आर्थिक संकट भी दूर होगा तथा समाज के बहुत से लक्ष्यों की सिद्धि होगी।

वास्तव में डॉ॰ लोहिया जहाँ एक ओर छोटी मशीनों के माध्यम से गाँव के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन लाना चाहते थे, वहाँ दूसरी ओर विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के द्वारा पंचायतों के माध्यम से गाँव को स्वायत्त बनाकर उसे सत्ता और विधि के क्षेत्र में सशक्त संस्था के रूप में विकसित करना चाहते थे। उनका यह विश्वास कि स्वायत्त पूर्ण स्वावलम्बी गाँवों के माध्यम से सत्ता ऊर्ध्वमुखी होकर प्रदेश और केन्द्र को शक्ति प्रदान की जा सकती

है परन्तु इसे यथार्थ में लागू करने के लिये गाँव के लोगों को जागरूक होना पहली शर्त है। क्योंकि जब तक जनता जागरूक नहीं होगी तब तक वह अपने अधिकारों का ठीक ढंग से प्रयोग नहीं कर सकेगी। ऐसा यदि सम्भव हो जाये तो वह यथार्थ में लोकतांत्रिक प्रणाली होगी। आर्थिक विकेन्द्रीकरण उस सम्पूर्ण योजना का एक निर्णायक अंग है जिससे एक लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकृत ढाँचा का निर्माण सम्भव हो सकेगा और गाँवों का विकास होने के साथ-साथ पूरे भारत का विकास सम्भव होगा। इस व्यवस्था में जिसमें वास्तविक लोकतांत्रिक प्रणाली कार्य करेगी, निश्चित रूप से आर्थिक ढाँचा मज़बूत होगा। निम्न, कमज़ोर, पीड़ित दलित एवं पिछड़े वर्ग के लोगों को रोज़गार मिलेगा। उनके शोषण का अन्त होगा तथा उनका जीवन स्तर उच्च होगा।

डॉ. आम्बेडकर आर्थिक ढाँचा को मज़बूत बनाने के लिये संसदीय प्रजातांत्रिक पद्धति के अन्तर्गत आर्थिक समानता तथा आर्थिक आज़ादी को जीवित रखना चाहते थे। उन्होंने संसदीय प्रजातंत्रात्मक पद्धति में सशक्त विपक्ष और निष्पक्ष निर्वाचन को महत्वपूर्ण माना। क्योंकि इससे प्रथमतः सत्ताधारी दल की अनुचित नीतियों का विरोध हो सकेगा और द्वितीयतः बिना किसी रक्तपात के सत्ता परिवर्तन हो सकेगा। उन्होंने 'कालेधन' (जो कि राजनीतिक दलों द्वारा चुनावी खर्चे के लिये पूँजीपतियों से लिया जाता है) के प्रयोग और उसके खतरे से सावधान किया क्योंकि इसके कारण सम्बन्धित राजनीतिक दल पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाता है जिससे गरीब, दलित और कमज़ोर वर्ग के लोगों के हितों की हानि होगी एवं उनका आर्थिक विकास अवरुद्ध होगा। डॉ. आम्बेडकर ने जनतंत्र में सुविधाओं के बँटवारे में समानता लाने की बात कही, क्योंकि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच की दरार, सफलता में सबसे बड़ी बाधा है। उनकी दृष्टि में जनतंत्र को चलाने वाले, आर्थिक और सामाजिक स्थिति में बिना रक्तपात किये बुनियादी परिवर्तन उत्पन्न कर सकें, तो वही सच्चे अर्थ में जनतंत्र होगा। उन्होंने गाँव की सीमित आवश्यकताओं से घिरी जिन्दगी को अगतिशीलता का जीवन कहा तथा आर्थिक विकास के लिये मज़बूत केन्द्र, औद्योगीकरण और शहरीकरण का समर्थन किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में बड़े उद्योग स्थापित होने से ही दलितों एवं निर्बलों को काम मिलेगा, उन्हें दासता से मुक्ति मिलेगी और उनका आर्थिक विकास होगा। इस प्रकार संसदीय प्रजातांत्रिक स्वरूप में आर्थिक ढाँचा मज़बूत होने की कल्पना डॉ. आम्बेडकर ने की।

लेकिन डॉ. आम्बेडकर द्वारा गाँवों की उपेक्षा करना और अति-केन्द्रीकरण, औद्योगीकरण एवं शहरीकरण का समर्थन करना कुछ शंकाओं को जन्म देता है। वास्तव में देश की सम्प्रभुता की रक्षा एवं उसकी एकता व अखण्डता को मज़बूत बनाने के लिये केन्द्रीकरण हो परन्तु भारत के गाँवों की उपेक्षा करके नहीं। गाँव सीमित आवश्यकताओं एवं गतिहीनता का केन्द्र नहीं रहेंगे, यदि हम वहाँ समुचित सुविधाएं उपलब्ध करवा दें। यदि गाँवों की उपेक्षा होगी तो वहाँ रहने वाले गरीब व कमज़ोर वर्ग के लोगों के कष्ट कैसे दूर हो सकते हैं ? इसी प्रकार औद्योगीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके प्रारम्भ होने के बाद पूँजीपति अधिकाधिक धनाढ्य बनते जाते हैं तथा कमज़ोर वर्ग के लोगों के कष्टों में बढ़ोत्तरी होती जाती है। इससे समाज में विषमता फैलती है और हम जिस लक्ष्य के लिये औद्योगीकरण का समर्थन कर रहे होते हैं उसे पाने में असफल रह जाते हैं। शहरीकरण के द्वारा लोग शहरों में बसना शुरू करेंगे जो कि उच्च वर्ग के लोगों के लिये तो फायदे की बात होगी परन्तु निम्न वर्ग के लोगों के कष्टों में कमी आयेगी ऐसा सोचना भ्रामक होगा क्योंकि गाँव की भोली गरीब जनता जो केवल मज़दूरी करना जानती है, उसके पास कोई हुनर नहीं होता, जब वह शहर में आती है तो स्वाभाविक रूप से उसके खर्च में वृद्धि होगी और यदि उसे अपने काम की उचित मज़दूरी नहीं मिलती तो, या तो वह बेरोज़गार रहेगी जो उसके लिये अधिक कष्टदायक होगा या फिर वह कम मज़दूरी में काम करने के लिये बाध्य होगी। शहर में चूँकि मज़दूरों की संख्या अधिक होगी इसलिये सभी को काम मिले यह सम्भव नहीं होगा। ऐसी स्थिति में गाँव की तुलना में उनका जीवन-स्तर निम्न होगा। इतना ही नहीं उससे कम मज़दूरी में अधिक काम लिये जाने से उसका शोषण होगा, अतः शहरीकरण से भी आवश्यक नहीं है कि कमज़ोर व निम्न वर्ग के लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि हो और उनका शोषण खत्म हो जाये। अन्तिम उपाय यही है कि विकेन्द्रीकरण की नीति को प्रोत्साहन देते हुये लघु एवं कुटीर उद्योगों द्वारा गाँव में स्थानीय स्तर पर गाँव के लोगों को रोज़गार देकर उनका विकास किया जाय। ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था में आर्थिक ढाँचा मज़बूत होगा।

डॉ. लोहिया ने एक अच्छे आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण के निर्माण के लिये समाज में फैली विषमताओं को दूर करने का आह्वान किया इसके लिये उन्होंने अनेक नीतियों एवं आन्दोलनों को चलाया। उन्होंने 'जाति नीति' के अन्तर्गत 'जाति तोड़ो आन्दोलन' चलाया और जातिवाद को खत्म करने के लिये सामूहिक सहभोज एवं अन्तर्जातीय विवाह पर बल

दिया। उन्होंने 'भूमि नीति' में भूमि संग्रह की प्रवृत्ति के खिलाफ राष्ट्रीय स्तर पर भूमि वितरण और भूमि के राष्ट्रीयकरण पर विशेष बल दिया। वे ऐसी भू-सेना बनाना चाहते थे, जो प्रत्येक गाँव में सामूहिक रूप से भूमि का सुधार करे और उसे खेती के लिये उपयुक्त बनाये। यह भू-सेना देश के अन्न उत्पादन के सही वितरण में भी प्रभावी भूमिका निभायेगी। डॉ॰ लोहिया ने मूल्य नीति एवं आय नीति के अन्तर्गत क्रमशः मूल्य एवं आय पर नियंत्रण रखने की बात कही क्योंकि वस्तुओं के मूल्य पर नियंत्रण न होने पर पूँजीपति सस्ते तैयार माल को ऊँचे दाम में बेचता है, जिसे खरीदना गरीब व कमज़ोर वर्ग के लिये कष्टदायक होता है। इससे समाज में विषमता फैलती है। यह स्थिति आय पर नियंत्रण न रखने पर होती है। एक ओर धनिक वर्ग की आय अधिक होने के कारण वे अमीर बनते जाते हैं, तो दूसरी ओर गरीब वर्ग के लोगों की आय कम होने के कारण वे गरीब व कमज़ोर ही बने रहते हैं। इसीलिये डॉ. लोहिया ने न्यूनतम आधार पर अधिकतम आय निर्धारित करने की बात कही, आय पर नियंत्रण और न्यूनतम आय बढ़ाने के लिये धनिक वर्ग के 'खर्च की सीमा' को बाँधना आवश्यक माना, व्यक्तिगत व सार्वजनिक स्थानों से बड़े अधिकारियों को दी जाने वाली सुविधाओं को घटाने पर बल दिया, विदेशी आयात पर रोक लगाकर देशी वस्तुओं के उपभोग को बढ़ावा देने पर ज़ोर दिया। वे राज्य को सर्वशक्तिशाली रूप में तो देखना चाहते थे, परन्तु संकीर्ण राष्ट्रीयता से हटकर। वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पूरा-पूरा लाभ उठा पाने की स्थिति में ही राज्य की शक्ति का समर्थन करते थे।

आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण के निर्माण में डॉ॰ लोहिया द्वारा बताये गये उपाय सहायक सिद्ध हो सकते हैं परन्तु आवश्यकता है उन्हें यथार्थ स्तर पर लागू करने की। देश के नीति निर्माताओं एवं आने वाली सरकारों को चाहिये कि वे आम लोगों के कल्याण के लिये, उनकी गरीबी, बेरोज़गारी, पिछड़ापन, शोषण एवं दासता को दूर करने के लिये डॉ॰ लोहिया द्वारा बतायी गयी नीतियों पर अमल करें। इसके साथ ही साथ देश के उच्च वर्ग के लोगों को भी स्वतः इस बात को सोचना होगा कि पूरे समाज एवं देश का उत्थान करने के लिये निम्न वर्ग के लोगों का उत्थान करना बहुत जरूरी है।

डॉ॰ आम्बेडकर ने आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण को व्यक्ति और समाज के विकास के लिये उत्तरदायी माना है। उनकी दृष्टि में असमानता एवं ऊँच-नीच पर आधारित हिन्दूवादी संस्कृति ने आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषित किया है। अतः राष्ट्र यदि संकीर्ण

सामाजिक बन्धनों से मुक्त हो जायें, ऊँच-नीच के भेदभाव से ऊपर उठ जायें तो विकास का उचित पर्यावरण बन सकता है। उनका निष्कर्ष था कि राजनैतिक प्रजातंत्र की बुनियाद जब तक सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र पर खड़ी नहीं होगी, तब तक वह सफल नहीं हो सकता है। सामाजिक प्रजातंत्र का अर्थ है जाति-विहीन, वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन समाज की रचना तथा आर्थिक प्रजातंत्र का आशय आर्थिक उत्थान के समान अवसर उपलब्ध कराना भूमि का समान वितरण एवं विकास के साधनों का विकेन्द्रीकरण करना। आर्थिक, सामाजिक प्रजातंत्र स्थापित करने के लिये आर्थिक, सामाजिक क्षेत्र में स्वतंत्रता, समानता ओर न्याय का प्राप्त होना बहुत ज़रूरी है। डॉ. आम्बेडकर व्यक्तिगत सम्पत्ति के समर्थक होने के बावजूद समता की स्थापना के लक्ष्य की पूर्ति के लिये उत्तराधिकार के नियमों में संशोधन करना चाहते थे जिससे धन का न्यायपूर्ण वितरण हो सके। यदि धन का वितरण उत्पादन के साधनों के अनुरूप होगा तो इससे सामाजिक उपभोग स्तर भी बढ़ेगा। परन्तु धन का वितरण उत्पादन के साधनों के अनुरूप होने के लिये तथा सामाजिक उपभोग स्तर बढ़ाने के लिये सामाजिक संरचना एवं अन्ध-मनोवृत्ति में परिवर्तन होना बहुत ज़रूरी है। डॉ. आम्बेडकर गरीबी, न्यून उत्पादकता, छोटा उत्पादन, गुणहीन उत्पादन, बेरोज़गारी, बेगारी, दुर्भिक्ष तथा उत्पादन तकनीक की अगतिशीलता को आर्थिक संकट के रूप में निरूपित करते हैं। इसका कारण वे भारतीय समाज में विद्यमान जाति प्रथा और कुरीतियों, ब्राह्मण और गैर ब्राह्मणवाद दलित और सामन्तवाद, छूत और अछूत की उपस्थिति को मानते हैं। आर्थिक संकटों से मुक्ति के लिये इन कुरीतियों से मुक्त होना आवश्यक है।

निश्चित रूप से डॉ. आम्बेडकर द्वारा बताये गये आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले तत्वों की आलोचना की जानी चाहिये। चाहे वह जातिवाद हो, वर्णवाद या वर्गवाद हो, किसी भी प्रकार की असमानता, भोगवृत्ति एवं भौतिक समृद्धि की लालसा हो या फिर रूढ़िवाद एवं अन्ध-विश्वास के कारण निम्न वर्गों का किया जाने वाला शोषण हो। इन सबके रहते हुये अच्छे आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण का निर्माण सम्भव नहीं है। वास्तव में हमें राजनैतिक प्रजातंत्र को मज़बूत बनाने के लिये आर्थिक, सामाजिक प्रजातंत्र रूपी नींव को मज़बूत करना आवश्यक है इसके लिये हमें अपने देश व समाज में विद्यमान अनेक कुरीतियों पर अंकुश लगाना होगा। यह अंकुश तभी लग सकता है जब समाज का हर छोटा-बड़ा व्यक्ति विशेष रूप से उच्च वर्ग का व्यक्ति इनके प्रति स्वयं चिन्तन व विचार

करे कि ये चुनौतियां किस प्रकार से हमारे समाज के पतन के लिये उत्तरदायी रही हैं और आज भी बनी हुई हैं। समाज में विद्यमान आर्थिक संकट इन्हीं की वज़ह से हैं। अतः इन्हें खत्म करके ही एक स्वस्थ आर्थिक, सामाजिक पर्यावरण का निर्माण सम्भव हो सकता है। हमें जनसमुदाय को नैतिकता, धर्म, समता, बन्धुत्व और सामाजिक न्याय की शिक्षा देनी होगी जिससे सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक पर्यावरण को स्वस्थ्य बनाया जा सके तथा समाज में प्रेम और उत्साह की भावना को प्रबल बनाया जा सके।

डॉ. लोहिया ने देश की आर्थिक स्थिति को मज़बूत बनाने के लिये राज्य समाजवाद के सिद्धान्त की प्रतिस्थापना की। इसके द्वारा ही लोकतांत्रिक अर्थव्यवस्था का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। अपने प्रजातांत्रिक समाजवाद के अन्तर्गत डॉ. लोहिया राज्य के व्यक्तियों की आय के अधिकतम व न्यूनतम अन्तर को सीमित करना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने गरीबों व कमज़ोर वर्ग के लोगों को भूमि वितरण का समर्थन किया, राजकीय सेवा में वेतन एवं सुविधाओं के अन्तर को खत्म करना चाहा क्योंकि यह अन्तर विषमता को बढाने वाला है और समाज में व्याप्त असमान खर्च लोगों को वर्गों में बाँट्ने वाला है। वे सरकारी कार्यालयों में किये जाने वाले अनावश्यक शाही खर्चे के खिलाफ थे क्योंकि एक ओर देश का गरीब वर्ग दो वक्त की रोटी के लिये मुहताज़ है तो दूसरी ओर धन को पानी की तरह बहाया जा रहा है जो कि उचित नहीं है। उनकी दृष्टि में देश की आमदनी का 67 प्रतिशत व्यय विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग पर होता है और मात्र 33 प्रतिशत व्यय आम लोगों पर यह अन्तर खत्म किया जाना आवश्यक है। डॉ. लोहिया देश में लोगों की औसत आय की वृद्धि के पक्ष में थे क्योंकि यह सम्पन्नता का सूचक है। डॉ. लोहिया के राज्य समाजवाद की अवधारणा भारत में प्रचलित दशाओं- गरीबी, शोषण, अस्पृश्यता, असमानता, अन्याय, बेरोजगारी, जातिभेद, लिंगभेद, वर्गभेद, साम्प्रदायिकता, दासता आदि से उत्पन्न हुई है। अपने समाजवाद को वे भारतीय लोगों के दुखों की समाप्ति के ढंग और भारतवर्ष का गौरवमयी अतीत की वापसी के रूप में देखते हैं।

डॉ. लोहिया ने राज्य समाजवाद को स्वीकार करके दुखी, शोषित, पीड़ित, निर्धन लोगों के दुख-दर्द को दूर करने का प्रयास किया है। यदि समाज से सभी प्रकार की विषमताओं का अन्त हो जाये और निर्बल वर्ग को उसका उचित हक प्राप्त हो जाये तो निश्चित रूप से डॉ. लोहिया के सपनों का भारत निर्मित होगा। ऐसे भारत में वे विकृतियाँ

नहीं होंगी जिनके कारण डॉ. लोहिया को राज्य समाजवाद की प्रतिस्थापना करने के लिये बाध्य होना पड़ा।

डॉ. आम्बेडकर भी राज्य समाजवाद के माध्यम से देश की आर्थिक स्थिति मज़बूत बनाना चाहते थे। वे अपने राज्य समाजवाद में न तो पूँजीपतियों का उन्मूलन करना चाहते थे और न ही श्रमिकों के हाँथों में सरकार का हस्तान्तरण करने के इच्छुक थे। उन्होंने सभी आधारभूत उद्योगों एवं बीमा के राष्ट्रीयकरण करने की बात कही, ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में लोकसेवाओं का विकास राज्य के अधीन होने तथा समस्त भूमि राज्य के अधिकार के अन्तर्गत होने की बात कही, भूमि प्रबन्धन में जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करने की सिफारिश की और कृषि को राष्ट्रीय उद्योग के रूप में विकसित करना चाहा, लोगों को परम्परागत व्यवसायों को छोड़कर नये कौशल स्वीकार करने की हिदायत दी। वे जनसंख्या नियंत्रण के पक्ष में थे क्योंकि जनसंख्या वृद्धि को वे दरिद्रता का कारण मानते थे। वे औद्योगिक क्षेत्र को गति प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने समाजवाद और वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिये संविधान में संसदीय जनतंत्र एवं राज्य समाजवाद का समावेश करने का समर्थन किया। उनकी दृष्टि में संसदीय लोकतंत्र के साथ राज्य समाजवाद को वैधानिक रूप देकर ही समाजवाद की स्थापना, संसदीय लोकतंत्र की सुरक्षा एवं तानाशाही का उन्मूलन जैसे उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव हो सकती है।

डॉ. आम्बेडकर ने जिस राज्य समाजवाद को स्वीकार किया है, हो सकता है कि उसमें समाज के सभी लोगों का कल्याण निहित हो परन्तु इसमें कुछ विरोधाभास है। उन्होंने औद्योगीकरण का समर्थन करके पूँजीपतियों को बनाये रखने एवं निजी सम्पत्ति के अधिकार में कटौती न करने की बात कही। इससे सम्भव है अमीरी-गरीबी के बीच की खाईं और बढ़े तथा समाज के निम्न वर्ग के लोगों के हितों को हानि पहुंचे। ऐसी व्यवस्था में निम्न व कमज़ोर वर्ग के लोगों की समस्याएं घटने की अपेक्षा बढ़ने की आशंका है। उद्योग, बीमा एवं भूमि पर राज्य का स्वामित्व हो यह ठीक है परन्तु इससे जनकल्याण को क्षति नहीं पहुंचना चाहिये। कमज़ोर एवं गरीब वर्ग के लोगों का उत्थान करने के लिये राज्य को सम्पत्ति के अधिकार पर नियंत्रण लगाना आवश्यक है। गाँव के लोगों का आर्थिक विकास उन्हें स्थानीय स्तर पर छोटे-छोटे उद्योगों द्वारा रोज़गार उपलब्ध करवाकर किया जा सकता है। जिससे समाज में व्याप्त शोषण, दासता, बेरोज़गारी, सामाजिक, आर्थिक असमानता तथा

अन्याय का अन्त हो सकेगा और स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुत्व की स्थापना हो सकेगी।

डॉ॰ लोहिया आर्थिक विकास में महिलाओं की ज्यादा से ज्यादा भागीदारी के समर्थक थे। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि औरतें शारीरिक एवं प्राकृतिक रूप से पुरुषों के मुकाबले कुछ कमज़ोर हैं। यह इसलिये है क्योंकि, औरतों को समानता का अधिकार प्राप्त नहीं है, उसे पुरुष प्रधान समाज में निम्न व कमज़ोर समझा जाता है। यही कारण है कि अभी तक आर्थिक विकास में महिलाओं की भूमिका गौण रही है, अतः प्रथम आवश्यकता यह है कि समाज में नारी को पुरुषों के समान आर्थिक, सामाजिक अधिकार प्रदान किये जायें। इतना ही नहीं डॉ॰ लोहिया महिलाओं को कुछ विशेष अवसर देने तथा कर्तव्य करने के पहले उन्हें अधिकार देने के हिमायती थे। उनकी दृष्टि में औरत, शूद्र, हरिजन, आदिवासी और अल्पसंख्यकों को विशेष अवसर दिया जाना चाहिये, इसके बिना ये ऊँचे नहीं उठ सकते हैं।

वास्तव में डॉ॰ लोहिया के द्वारा आर्थिक विकास में महिलाओं की भागीदारी बढ़ाने के लिये उन्हें कुछ विशेष अवसर देने की सिफारिश करना तथा कर्तव्य करने के पहले उन्हें अधिकार सौंपने की बात करना उनकी दूरगामी दृष्टि का परिचायक है, क्योंकि हिन्दुस्तान में नारी की स्थिति इतनी कमज़ोर है कि उसकी आर्थिक विकास में भागीदारी बढ़ाने के लिये उसे विशेष अवसर एवं अधिकार दिये बिना कर्तव्य करने की बात करना निरर्थक कदम होगा। जब नर-नारी में समानता स्थापित हो जायेगी, महिलाओं को उनके अधिकार सौंप दिये जायेंगे तो निश्चित रूप से औरतें किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं रहेंगी।

डॉ॰ आम्बेडकर ने भी यह स्वीकार किया है कि सामाजिक क्षेत्र में महिलाओं को समानता दिये बिना आर्थिक विकास में महिलाओं की भागीदारी नहीं हो सकती है। उन्होंने परिवार में स्त्रियों को विवाह के पूर्व सलाहकार और विवाह के पश्चात पति के मित्र और सहयोगी प्रबन्धक के रूप में स्थान दिये जाने की आवश्यकता बतलायी। उन्होंने राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को समृद्ध बनाने के लिये परिवार अर्थव्यवस्था को मज़बूत होना ज़रूरी समझा। परिवार अर्थव्यवस्था से गरीबी की छाया तभी मिट सकती है जब उसमें महिलाएं अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करें और महिलाएं ऐसा तभी कर सकती हैं, जब उन्हें अधिकार सम्पन्न बनाया जायेगा। अतः पुरुषों और महिलाओं में आर्थिक विकास को लेकर समानता स्थापित की जानी चाहिये। शिक्षा और आत्म-निर्णय का अधिकार महिलाओं को

दिया जाना चाहिये। नारी को स्वावलम्बी बनाने का प्रयास होना चाहिये क्योंकि नारी स्वावलम्बन के विरुद्ध 'आर्थिक पराधीनता' ही सबसे बड़ी बाधा के रूप में स्त्रियों की अवनति के लिये उत्तरदायी है। आर्थिक विकास के क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी बढ़े उसके लिये डॉ॰ आम्बेडकर ने महिलाओं को आर्थिक जिम्मेदारी सौंपने, उन्हें अपना संगठन बनाने और नेतृत्व करने की सिफारिश की। दलित महिलाओं को ऊपर उठाने के लिये उन्होंने महिलाओं को स्वतंत्र जीवन जीने दुराचारों से दूर रहने तथा शिक्षित होने की सलाह दी। उन्होंने महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार दिये जाने की सिफारिश की तथा सम्पत्ति का अधिकार दिये बिना स्वतंत्रता तथा समानता के अधिकार को अर्थहीन माना। इतना ही नहीं उन्होंने महिलाओं को खुद संघर्ष करके अपने सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया।

निश्चित रूप से डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा महिलाओं की आर्थिक विकास में भागीदारी हेतु तथा महिलाओं को सशक्त बनाने हेतु जो भी उपाय बताये गये हैं उनके माध्यम से इस दिशा में आवश्यक सुधार सम्भव है, आवश्यकता है उन पर अमल किये जाने की। इससे महिलाओं की आर्थिक सामाजिक स्थिति में तो सुधार आयेगा ही, उनकी आर्थिक विकास में भागीदारी भी बढ़ेगी जिससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था मज़बूत होगी।

आज़ादी के 60 वर्ष बीत जाने के बाद आज भी भारतीय समाज में नर-नारी में असमानता खत्म नहीं हो पायी है। लिंग-भेद आज भी देखने को मिल रहा है इतना ही नहीं उसका विकृत रूप सामने आ रहा है। यह लिंग-भेद गरीब, कमज़ोर एवं अशिक्षित लोगों के साथ-साथ अमीर एवं शिक्षित लोगों में भी देखने को मिल रहा है। वर्तमान में भ्रूण हत्यायें बढ़ रही हैं, लड़की जन्म लेते ही उसके जीवन का अन्त कर देने की घटनाएं अभी भी देखने को मिलती हैं। यह एक नैतिक एवं वैधानिक अपराध है और इसका परिणाम समाज में नर-नारी असंतुलन के रूप में मानव समाज को ही भुगतना पड़ेगा। यथार्थ सत्य यह है कि यदि लड़की का पालन-पोषण लड़के की तरह किया जाये, उसे शिक्षित एवं सुसंस्कृत किया जाये, उसे उसके अधिकार प्रदान किये जायें तो वह किसी भी क्षेत्र में अपना अच्छा प्रदर्शन कर सकती है। अतः आज आवश्यकता यह है कि, समाज के लोग इस दिशा में जागरूक हों तथा दूसरों को जागरूक करें। केवल वैधानिक प्रावधान लिंग-भेद को समाप्त करने के लिये शायद पर्याप्त नहीं है, इसलिये हम सबको अपनी मानसिकता में परिवर्तन लाना होगा

और नारी भेद को खत्म करके उन्हें उनके अधिकार देना होगा।

डॉ॰ लोहिया दलितों का आर्थिक उत्थान चाहते थे परन्तु वे इसमें सबसे बड़ी बाधा आर्थिक विषमता को मानते थे अतः वे आर्थिक विषमता नामक ज़हर को समाज से दूर किये जाने तथा आर्थिक समानता की स्थापना किये जाने पर बल देते थे। उनकी दृष्टि में जाति-व्यवस्था के कारण भारत में गरीब-गरीब बने रहें और अमीर-अमीर। अतः गरीब एवं अमीर के मध्य संतुलन स्थापित किये जाने की आवश्यकता है। डॉ॰ लोहिया दलितों के आर्थिक उत्थान के लिये छोटी मशीनों द्वारा चालित उद्योग स्थापित करके दलितों को रोज़गार दिये जाने के पक्ष में थे। वे उत्पादन मूल्य एवं विक्रय मूल्य में एक आनुपातिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे, उनकी दृष्टि में यह अनुपात एक और डेढ़ से अधिक नहीं होना चाहिये। उन्होंने मूल्य वृद्धि पर रोक तथा खर्च की सीमा को निर्धारित किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया। आय और व्यय की सीमा को निर्धारित करने तथा गरीब व अमीर के मध्य एक और दस के अनुपात से अधिक का अन्तर नहीं होने का आह्वान किया। उन्होंने कृषि में अनुसंधान एवं तकनीकी प्रयोग के द्वारा क्रान्तिकारी परिवर्तन करने तथा भूमिहीनों को अतिरिक्त भूमि देने की सिफारिश की। उनकी दृष्टि में भूमि को भू-सेना द्वारा खेती योग्य बनाया जाना चाहिये, दलितों को लाभप्रद व्यवसायों में विशेष अवसर दिया जाना चाहिये, उन्हें कर्तव्य करने को कहने के पहले अधिकार प्रदान किये जाने चाहिये। डॉ॰ लोहिया ने अकाल व भुखमरी को दूर करने के लिये दलितों में अन्न बाँटो आन्दोलन चलाये जाने तथा राज्य की ओर से मुफ्त रसोई घर बनाये जाने का आह्वान किया। उन्होंने भ्रष्ट परिवेश को दूर करने के लिये उच्च स्तर पर जीवन के उदात्त एवं नैतिक मूल्य स्थापित किये जाने की आवश्यकता बतलायी तथा दलित व कमज़ोर वर्ग लाभान्वित हो सकें, इसके लिये वितरण की समुचित व्यवस्था पर बल दिया।

निःसंदेह दलितों की निम्न आर्थिक स्थिति के लिये आर्थिक, सामाजिक विषमता मुख्य रूप से जिम्मेदार रही है। भारतीय समाज में वर्ण एवं जाति व्यवस्था के कारण दलितों को अपनी इच्छानुसार कोई कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं थी। फलस्वरूप उन्हें अपने परम्परागत निम्न कोटि के कार्यों को करने के लिये बाध्य रहना पड़ा और वे विकास की प्रक्रिया में पीछे रह गये। यह सत्य है कि यदि उन्हें भी समाज में बराबरी का हक प्रारम्भ से ही मिला होता तो वे भी अपना आर्थिक विकास करके राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की समृद्धि

में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते। डॉ. लोहिया ने दलितों के आर्थिक उत्थान हेतु जो भी उपाय बताये हैं वे अत्यन्त लाभदायक हैं। यदि उन्हें सफलतापूर्वक लागू किया जाये तो निश्चित रूप से दलितों की आर्थिक दशा में सुधार होगा और आर्थिक विकास में उनकी भागीदारी बढ़ सकेगी।

डॉ. आम्बेडकर भी आर्थिक विकास में दलितों की भागीदारी के समर्थक थे। दलितों को लगातार शोषण का शिकार होने के लिये उन्होंने शक्तिशाली एवं सम्पत्तिशाली लोगों द्वारा बनायी गयी अहस्तान्तरणीय वर्ण-व्यवस्था को जिम्मेदार माना, जिसने शूद्रों को निम्न व अधम बनाये रखने के लिये विवश कर दिया। उनकी दृष्टि में दलितों का आर्थिक उत्थान करने के लिये उन्हें सम्पत्ति, आय, रोज़गार और जीवन के सुखकर साधनों के बँटवारों में समानता का अधिकार दिये जाने की आवश्यकता है, इतना ही नहीं जब तक दलित आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर एवं स्वावलम्बी नहीं होंगे तब तक उनकी सामाजिक और राजनीतिक दलितता खत्म नहीं होगी। इसके लिये उन्हें स्वयं के हुनर, स्वयं के उद्यम एवं स्वयं की उत्पादन प्रणाली को विकसित करना चाहिये। डॉ. आम्बेडकर ने दलितों के आर्थिक उत्थान के लिये राज्य को प्रयास करने की सिफ़ारिश की। उन्होंने राज्य द्वारा दलितों को अतिरिक्त भूमि दिये जाने तथा उन्हें लाभप्रद व्यवसायों में विशेष अवसर दिये जाने का समर्थन किया। उन्होंने दलितों को स्वयं संघर्ष का रास्ता अपनाने की सलाह दी। दलितों को सबसे पहले अपने आपसे संघर्ष करना होगा। उन्हें बाल-विवाह, शराब, दहेज-प्रथा, विधवा-विवाह, तलाक, अधिक सन्तानोत्पत्ति और स्वयं की हीन भावना जैसी सामाजिक कुरीतियों से संघर्ष करना होगा और तत्पश्चात उन्हें अपने अधिकारों को पाने के लिये समाज व राज्य से संघर्ष करना होगा। डॉ. आम्बेडकर ने दलितों के आर्थिक उत्थान के लिये औद्योगीकरण एवं शहरीकरण का समर्थन किया तथा उन्हें शहरी क्षेत्रों में रोज़गार के अवसर ढूँढ़ने की हिदायत दी है।

इसमें संदेह नहीं है कि दलितों की कमज़ोर आर्थिक स्थिति का कारण प्राचीनकाल से भारत में विद्यमान वर्ण एवं जाति व्यवस्था रही है। यह व्यवस्था असमानता एवं शोषण पर आधारित है। उच्च जाति के लोगों को अच्छा व्यवसाय एवं निम्न जाति के लोगों के लिये निम्नकोटि के व्यवसाय करने के लिये बाध्य करती है। अतः दलितों का उत्थान करने के लिये इस भेदभावपूर्ण जाति-व्यवस्था का अन्त होना बहुत ज़रूरी है। डॉ. आम्बेडकर द्वारा

दलितों की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिये उन्हें आर्थिक, सामाजिक समानता व स्वतंत्रता के अधिकार देने के साथ-साथ उन्हें स्वावलम्बी व आत्म-निर्भर बनाने के लिये स्वयं संघर्ष का रास्ता अपनाने की सलाह देना एक सही दिशा में उचित कदम है, परन्तु ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब दलितों में जागरूकता हो, अतः सर्वप्रथम दलितों को शिक्षित होने की आवश्यकता है, ताकि वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो सकें। लेकिन डॉ. आम्बेडकर ने दलितों के आर्थिक उत्थान हेतु औद्योगीकरण एवं नगरीकरण का समर्थन किया है जिसका वर्तमान परिस्थितियों में पूर्ण रूप से समर्थन नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि कुछ लोगों का हित औद्योगीकरण के द्वारा साध्य हो जाये लेकिन यह व्यवस्था गरीबों, निर्बलों एवं दलितों के दुखों को बढ़ाने वाली एवं पूंजीपतियों का निर्माण करने वाली साबित हुई है अतः इससे अच्छा यह हो सकता है कि दलितों एवं कमज़ोर वर्ग के लोगों को स्थानीय स्तर पर लघु उद्योगों के माध्यम से रोज़गार उपलब्ध कराये जायें, इससे उनकी आर्थिक दशा में सुधार सम्भव हो सकेगा और उनका आर्थिक उत्थान होगा।

वास्तव में यदि हमें देश का आर्थिक उत्थान करना है तो उसमें निवास करने वाले लोगों के अन्तिम स्तर के लोगों का विकास करना होगा। यदि दलित या निचले वर्ग का व्यक्ति विकास की प्रक्रिया से हट जाता है, तो हमें देश की समृद्धि को बढ़ाने में अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा और शायद ही हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पायें। अतः कमज़ोर एवं दलित, पिछड़े एवं शोषित, गरीब एवं बेरोज़गार लोगों का आर्थिक उत्थान बहुत आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्ध किसी भी देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को ऊर्जा प्रदान करते हैं। ऐसे सम्बन्ध स्थापित करते समय किसी भी देश का पहला उद्देश्य राष्ट्रीय हित होता है। इस तत्व को ध्यान में रखते हुये भारत जैसे देश को अन्य राष्ट्रों के साथ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। भारत के पास पर्याप्त मात्रा में समुद्रतटीय क्षेत्र है, अतः वह पड़ोसी राष्ट्रों से अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करके समूची अर्थव्यवस्था को लाभ पहुंचा सकता है। हमें खाद्यान्नों के मामले में पश्चिमी राष्ट्रों पर निर्भर नहीं रहना चाहिये तथा विदेशी सहायता पर निर्भरता में कमी लाने का प्रयास करना चाहिये। हमें विश्व में भारत का स्थान एक विकसित एवं सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में बनाने का प्रयास करना चाहिये। निष्क्रियता और कायरता राष्ट्र को सुदृढ़ स्थान नहीं दिला सकती हमें कृषि और औद्योगिक

विकास में आत्म-निर्भरता लाने का प्रयास करना होगा।

यह सब तभी सम्भव हो सकेगा जब हम एक ऐसी आर्थिक नीति का पालन करें जिसमें कृषि और औद्योगिक क्षेत्र में नये-नये अनुसंधान करके अच्छी तकनीक का प्रयोग किया जाये जिससे कम उत्पादन लागत में बढ़िया एवं अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सके। समाज से गरीबी, शोषण, दासता, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, अस्पृश्यता एवं सामाजिक आर्थिक असमानता जैसे भयंकर रोगों को दूर किया जाये। सभी बेरोज़गारों, विशेषकर निम्न तबके के व्यक्तियों को रोज़गार के अवसर प्रदान किये जायें क्योंकि बेरोज़गारी से निष्क्रियता और अकर्मण्यता बनी रहती है जिससे व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र का आर्थिक उत्थान नहीं हो सकता। यदि समुचित आर्थिक नीति को अपनाया जाये, सभी को रोज़गार मिले तथा समुन्नत उत्पादन के साधन हों तो निश्चित रूप से उत्पादन में वृद्धि होगी। इससे देश की अर्थव्यवस्था मज़बूत होगी और हम अन्य देशों के साथ आर्थिक व्यापारिक सम्बन्ध विकसित करने में सफल होंगे। यह सम्बन्ध भारत के हितों की पुष्टि करेंगे तथा उसे विश्व स्तर पर आर्थिक दृष्टि से एक विकसित राष्ट्र के रूप में स्थापित करेंगे। विश्व का कोई भी देश जब आर्थिक रूप से शक्तिशाली होता है तो उसकी विश्व में राजनीतिक साख बनी रहती है तथा वह मज़बूत आर्थिक स्थिति से अपने सैन्य क्षेत्र में विस्तार व विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में प्रगति करता है जिससे उसे उसके पड़ोसी देश तथा विश्व की अन्य शक्तियाँ दबाने की कोशिश नहीं करती और उस देश के ऊपर बाह्य आक्रमण का खतरा दूर-दूर तक टला रहता है।

डॉ. लोहिया भारतीय समाज में विद्यमान कुरीतियों के सर्वथा खिलाफ थे। उनकी दृष्टि में भारतीय समाज में सब कुछ है, परन्तु सब कुछ विघटित होने के साथ-साथ असंगठित है। उन्होंने भेदभाव पर आधारित वर्ण-व्यवस्था पर कठोर प्रहार किया। वे दमनकारी नीति के सख्त खिलाफ थे और गतिशीलता को महत्वपूर्ण मानते थे। वे सभी वर्गों एवं वर्णों का अन्त करना चाहते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में अब तक का विश्व इतिहास वर्गों और वर्णों के मध्य परस्पर बदलाव का, वर्गों को जकड़कर वर्ण बनने का और वर्णों के ढीले पड़कर वर्ग बनने का इतिहास है। वर्ण व्यवस्था से उत्पन्न जाति प्रथा को डॉ. लोहिया समानता का अन्त करने वाला मानते थे तथा जितनी भी निष्क्रियता देश में है उसका मुख्य कारण जातिप्रथा को ही मानते थे। उनकी दृष्टि में भारतीय समाज में जाति की जकड़बन्दी

के कारण व्यक्ति का आत्म-सम्मान और उसकी स्वतंत्रता सब कुछ नष्ट हो गया है। जाति प्रथा को समाप्त करने के लिये उन्होंने अन्तर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह की आवश्यकता पर बल दिया।

जातिप्रथा ने समाज में छुआछूत या अस्पृश्यता नामक कोढ़ को जन्म दिया है, जिससे व्यक्ति-व्यक्ति के स्पर्श को पापमूलक अवधारणा से सम्बद्ध करके चलने लगा। इस कुरीति ने समाज की रही-सही गतिशीलता को चेतना शून्य कर दिया। छुआछूत भारतीय समाज में एक कलंक है इसे दूर करके ही हम आगे बढ़ सकते हैं। अस्पृश्यता की समस्या भारतीय समाज से तभी दूर होगी जब भारतीयों में पुराने संस्कार, परम्परा, परिपाटियों और आदतों को बदलकर नई आदतों और नये संस्कारों जो भेदभाव रहित हों को अपनाया जायेगा। अस्पृश्यता की समस्या को सुलझाये बिना विश्व पंचायत में भारत को सम्माननीय स्थान नहीं मिल सकता है। डॉ. लोहिया भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष के बीच विद्यमान असमानता से भी चिन्तित थे। उनकी दृष्टि में जब तक भारत में स्त्रियों को समानता का अधिकार नहीं मिलेगा तब तक देश का स्वस्थ्य विकास हो ही नहीं सकता है। भारतीय समाज ही एक ऐसा समाज है जहाँ भीख मांगना भी गौरव की बात मानी जाती है। जहाँ श्रम न करना जीवन मूल्य बन जाता है और जहाँ धर्म से लोगों में धूर्तता आती है। डॉ. लोहिया इन विसंगतियों के सख्त खिलाफ थे क्योंकि ये विसंगतियाँ धब्बे के रूप में हैं जो चाहे धर्म के क्षेत्र में हो, सामाजिक रूढ़ियों में हों, आर्थिक शोषण में हो, जातियों के विषमताओं के कारण हो या फिर राजनैतिक नासमझी के कारण हों। यह सब इसलिये है क्योंकि समाज में भयंकर असमानता है। जब तक भारतीय समाज को एक समग्र इकाई के रूप में नहीं देखा जायेगा तब तक इस समाज का समग्र उत्थान सम्भव नहीं है।

सामाजिक कुरीतियाँ चाहे जिस समाज में हों वह उस समाज के पतन का कारण बनती हैं। डॉ. लोहिया ने भारतीय समाज में प्रारम्भ से ही विद्यमान वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, अस्पृश्यता, नारी-भेद, शोषण, दासता, गरीबी, अन्ध-विश्वास, रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता तथा विश्व स्तर पर व्याप्त रंगभेद के खिलाफ जो आवाज़ बुलन्द की है, वह इसलिये ताकि विश्व पटल एवं भारतीय समाज से सभी प्रकार की सामाजिक कुरीतियों का अन्त हो सके और एक ऐसे समाज का निर्माण सम्भव हो सके जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वाभिमान एवं सम्मान के साथ जी सके। सामाजिक कुरीतियों को समाज से दूर करने के

लिये राज्य द्वारा किये गये उपायों के अतिरिक्त जनमानस में चेतना एवं जागरूकता उत्पन्न होना जरूरी है। उच्च वर्ग के लोगों में यह धारणा बननी चाहिये कि समाज के सभी मनुष्य समान हैं, निम्न वर्ग के लोगों को भी सम्मान के साथ जीने का हक है, शोषण, गरीबी, अत्याचार किसी भी समाज के पतन के लिये उत्तरदायी होते हैं, अतः समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिये उन्हें आगे आना चाहिये। साथ ही निम्न वर्ग के लोगों को भी शिक्षित एवं जागरूक होकर अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिये संगठित होकर संघर्ष करना चाहिये, उन्हें अपनी हीन भावना को दूर करना चाहिये, बुरी प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिये, रूढ़िवादिता एवं अन्ध-विश्वास को खत्म करने का प्रयास करना चाहिये और देश व समाज के प्रति सकारात्मक सोच विकसित करना चाहिये।

डॉ. आम्बेडकर का जन्म अछूत जाति में हुआ और उन्हें भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों का स्वयं शिकार होना पड़ा इसलिये उन्होंने समाज में विद्यमान सामाजिक कुरीतियों का विरोध जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक किया। उनकी दृष्टि में चतुर्वर्ण अप्राकृतिक एवं अव्यावहारिक है। इसमें श्रम-विभाजन व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं पसन्द पर आधारित नहीं है। इसमें न केवल कृतिम श्रम-विभाजन मिलता है वरन श्रमिकों का भी स्थायी श्रम-विभाजन हो जाता है। डॉ. आम्बेडकर ने वर्ण-व्यवस्था को आर्थिक संस्था के रूप में असफल माना है, क्योंकि इसके कारण व्यक्ति की कार्य करने की स्वेच्छा, कार्य कुशलता और व्यावसायिक स्वतंत्रता का हनन हो गया है जिससे उसका आर्थिक उत्थान नहीं हो सका है। डॉ. आम्बेडकर ने हिन्दू धर्म की आश्रम व्यवस्था को भी ठीक नहीं माना क्योंकि यह असमानता पर आधारित है तथा ऐसे समय मनुष्य के लिये वानप्रस्थी एवं सन्यासी होने का प्रावधान करती है जब उन्हें परिवार के सहारे की सख्त ज़रूरत होती है।

वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न जाति-व्यवस्था को डॉ. आम्बेडकर ने सामाजिक एकता एवं सुदृढ़ता के विपरीत माना। उनकी दृष्टि में वर्ण-व्यवस्था को अकाट्य, ईश्वरीय, पवित्र या दैवीय मानना जाति-प्रथा की निरन्तरता का मूलाधार है। जाति-प्रथा ने जनचेतना को नष्ट कर दिया है। समाज में समानता स्थापित करने के लिये भेदभाव पर आधारित जाति-प्रथा का अन्त करना आवश्यक है। डॉ. आम्बेडकर इस कुरीति का अन्त सहभोज या अन्तर्जातीय विवाह या जातियों की संख्या कम करने से सम्भव नहीं मानते। उन्होंने जाति व्यवस्था को खत्म करने के लिये धार्मिक शास्त्रों के प्रति पवित्रता की भावना को नष्ट करना आवश्यक

माना क्योंकि उनकी दृष्टि में हिन्दू अपने व्यवहार को उस समय तक नहीं बदल सकते जब तक शास्त्रों के प्रति पवित्रता के भाव का अन्त नहीं किया जायेगा। डॉ॰ आम्बेडकर ने अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का एक रोग निरूपित किया क्योंकि इसके कारण भारत में निम्न जाति के अनेक लोग शोषित प्रताड़ित एवं यातनाओं को सहते हुये जीवन यापन करने को बाध्य हैं। इसके कारण गरीबी, बेरोज़गारी, पिछड़ापन, भुखमरी, बीमारी जैसी समस्याएं पैदा हुई हैं। भारत का वर्षों तक विदेशियों के हांथों गुलाम बना रहने का एक कारण अस्पृश्यता भी थी। क्योंकि यदि अछूतों को हथियार रखने का अधिकार दिया गया होता तो भारत के सभी लोगों में एकता होती और संगठित शक्ति होने के कारण शायद भारत क़भी गुलाम नहीं होता। अतः अस्पृश्यता नामक ज़हर को समाप्त किया जाना भारतीय समाज के उत्थान के लिये अत्यन्त आवश्यक है। डॉ॰ आम्बेडकर भारतीय समाज में नर-नारी असमानता एवं महिलाओं की गिरी हुई स्थिति के खिलाफ थे। उन्होंने नर-नारी में समानता स्थापित करने के लिये महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार सौंपने, उन्हें स्वावलम्बी एवं आत्म-निर्भर बनाने, उन्हें शिक्षित करने, उनकी हीन भावना को दूर करने की बात पर ज़ोर दिया जिससे देश के सामाजिक आर्थिक विकास में उनकी भागीदारी बढ़ सके।

भारतीय समाज में विद्यमान सामाजिक कुरीतियों में से आश्रम व्यवस्था तो लुप्तप्राय हो चुकी है लेकिन अन्य सामाजिक कुरीतियों का पूरी तरह से अन्त अभी तक नहीं हो सका है। इन सामाजिक कुरीतियों से उच्च वर्ण एवं जाति का व्यक्ति तो लाभान्वित होता है किन्तु निम्न जाति का व्यक्ति शोषित एवं प्रताड़ित होता है। जाति व्यवस्था में यद्यपि मामूली परिवर्तन देखने को मिल रहा है तथापि आज भी यह भारतीय समाज को अपनी गिरफ्त में कैद किये हुये है। शहरों में तो कम परन्तु गाँवों में अभी भी अस्पृश्यता की घटनाएं देखी जा सकती हैं। वर्तमान में परम्परागत दासता तो कम परन्तु उसका दूसरा रूप देखने को मिलता है। भारत में जनसंख्या वृद्धि के कारण बेरोज़गारी की समस्या बढ़ी है लोग जीवित रहने के लिये कम मज़दूरी पर काम करने के लिये बाध्य हैं। इतना ही नहीं होटल एवं रेस्त्रां में नाबालिग बालकों को काम करते हुये देखा जा सकता है जो कि भारतीय संविधान का खुलेआम उल्लंघन है यह भी दासता का बदला हुआ रूप है। वास्तव में भारतीय समाज का उत्थान करने के लिये सामाजिक कुरीतियों को दूर करना आवश्यक है और उसके लिये हमें

दृढ़-संकल्प होकर एक संघर्षात्मक आन्दोलन छेड़ना होगा। जब इन्हें समाप्त करने में हमें पूर्ण सफलता मिल जायेगी तो निश्चित रूप से एक ऐसे समाज की स्थापना सम्भव हो सकेगी जिसमें किसी भी प्रकार की असमानता, अत्याचार, शोषण, गरीबी, दासता, बेरोज़गारी, वर्ण-भेद, जाति-भेद, लिंग-भेद, अन्ध-विश्वास, रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता आदि विकृतियाँ नहीं होंगी। इससे समाज में एकता एवं भाईचारे का सूत्रपात होगा और देश व समाज के उत्थान के साथ-साथ राष्ट्र की एकता व अखण्डता कायम रह सकेगी।

डॉ. लोहिया महिला अधिकारों के पूर्ण समर्थक थे, इसीलिये उन्होंने सात क्रान्तियों में से एक क्रान्ति नर-नारी में समता स्थापित करना माना है। उनकी दृष्टि में नर-नारी भेद को खत्म किये बिना दूसरी असमानताओं को खत्म करना असम्भव है। उन्होंने माना कि भारतीय समाज रूढ़िवादी है, परिणामतः उसके सोचने का ढंग बदल गया है। एक समय वह था जब नारी की पूजा होती थी और एक समय अब है जबकि उसे प्रताड़ित किया ज़ाता है। जब तक यह घोर असमानता का साम्राज्य अपने देश में व्याप्त है तब तक देश की प्रगति एक दिव्य स्वप्न है। डॉ. लोहिया एक विवाह के समर्थक और बहुविवाह के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने 'झूंठ बोलने' और 'किसी पुरुष के साथ जबरदस्ती' करने को महिलाओं के सबसे बड़े अपराध माने हैं। वे शरीर संरचना एवं प्राकृतिक रूप से स्त्री को कमज़ोर मानते थे इसलिये उसके उत्थान हेतु उसे कुछ विशेष अवसर दिये जाने के इच्छुक थे। उनकी दृष्टि में महिलाओं को पहले अवसर देना पड़ेगा और तब बाद में उनकी योग्यता देखनी होगी। उन्होंने सती-प्रथा या ज़ौहर प्रथा को गलत कहा और स्त्रियों को पुरुषों की तरह ही पूरा जीवन जीने का अवसर दिये जाने का समर्थन किया। डॉ. लोहिया का निष्कर्ष था कि, नारी को गठरी के समान नहीं बनाना है, बल्कि नारी को इतना स्वयं काबिल होना चाहिये कि वक्त पड़ने पर पुरुष को गठरी बनाकर अपने साथ ले सके।

वास्तव में नारी का उत्थान करने के लिये नारी अधिकारों का समर्थन किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। नारी समाज का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है, नारी के बिना पुरुष और पुरुष के बिना नारी का अस्तित्व असम्भव है। दूसरे शब्दों में ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं फिर इनमें एक ऊँचा और दूसरा निम्न कैसे हो सकता है ? परन्तु दुर्भाग्य से लिंग-भेद समाज में देखने को मिलता है। भारत में लिंग-भेद या महिलाओं की दुर्बल स्थिति के लिये यहाँ का रूढ़िवादी समाज एवं वर्षो से स्थापित विदेशियों का शासन जिम्मेदार रहा है। अब

जबकि यह सत्य दुनिया के सामने आ चुका है कि महिलाओं का उत्थान किये बिना पूरे समाज का उत्थान सम्भव नहीं है, तो महिलाओं को पुरुषों के समान सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक अधिकार सौंपना अत्यधिक आवश्यक है। इतना ही नहीं चूँकि महिलाओं की स्थिति पुरुषों की तुलना में पिछड़ी हुई है इसलिये उसे आगे बढ़ाने के लिये कुछ विशेष अवसर भी दिये जाने की आवश्यकता है। महिलाओं को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार सौंपकर उसे स्वावलम्बी एवं आत्म-निर्भर बनाया जाना चाहिये तथा उसकी हीन व दुर्बल स्थिति को दूर करने के लिये उसे शिक्षित व सुसंस्कृत बनाया जाना चाहिये। लिंग-भेद को समाप्त करने के लिये यह उपाय तभी कारगर होंगे जब पुरुष प्रधान समाज में उच्च एवं निम्न वर्ग के सभी लोगों के सोचने के ढंग में परिवर्तन आये। आज लोगों को अपनी मानसिकता में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। उन्हें यह बात अपने दीमाग में बैठानी होगी कि महिलाएं किसी भी दृष्टि से कमज़ोर नहीं है। यदि उन्हें उनके अधिकार प्रदान कर दिये जाये तो नारी वह सब कुछ कर सकती है जो पुरुष कर सकता है। इसका जीता जागता उदाहरण है भारतीय मूल की अमेरिकी अन्तरिक्ष यात्री 'सुनीता विलियम्स' जिन्होंने सबसे अधिक 6 महीने से ऊपर अन्तरिक्ष में रहने का रिकार्ड कायम किया है। अतः हमें महिलाओं को उसके अधिकार सौंपकर उसके उत्थान का प्रयास करना होगा जिससे पूरे देश व समाज का उत्थान हो सके।

डॉ॰ आम्बेडकर भी महिलाओं का उत्थान चाहते थे और उनको अधिकार सम्पन्न बनाना चाहते थे। उनकी दृष्टि में जब भारतीय समाज में नारी को स्वतंत्रता थी और उसे पुरुषों के समान अपना विकास करने के अवसर प्राप्त थे तब भारतीय समाज प्रगति पर था। परन्तु जैसे ही नारी के अधिकारों का हनन हुआ वैसे ही समाज में रुकावट आयी। डॉ॰ आम्बेडकर ने यह माना कि महात्मा बुद्ध ने समाज में नारी की स्थिति को उठाने के लिये अनेक प्रयास किये जबकि प्राचीन मनीषी 'मनु' ने मानव धर्मशास्त्र के रूप में सामाजिक विधान की रचना की जो महिलाओं के पतन का कारण बनी। भारत में नारी का पतन ब्राह्मणवाद के उत्थान से शुरू होता है और ब्राह्मणवाद ही नारी की अवनति के लिये उत्तरदायी है। डॉ॰ आम्बेडकर ने महिलाओं को अपने अधिकार प्राप्त करने के लिये स्वयं संघर्ष का रास्ता अपनाने की सलाह दी तथा नारी की समृद्धि में आस्था प्रकट करते हुये उन्हें अच्छाइयों को अपनाने तथा बुराइयों से दूर रहने की सलाह दी। उन्हें खुद शिक्षित होने तथा

अपने बच्चों को शिक्षित होने के लिये कहा। उन्होंने लड़कियों का विवाह जल्दी न करने की सीख दी क्योंकि बाल-विवाह से अनेक बुराइयों का प्रादुर्भाव होता है। उन्होंने नारी को विवाह के बाद अपने पति का दास नहीं बनने की सिफारिश की। डॉ॰ आम्बेडकर ने भारतीय संविधान तथा 'हिन्दू कोड बिल' के माध्यम से नारी को सशक्त बनाने का प्रयास किया। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत अनुच्छेद 14 एवं 15 में लिंग के आधार पर पुरुष एवं स्त्री के बीच सामाजिक भेदभाव को समाप्त कर दिया गया है तथा अनुच्छेद 23 में बच्चों एवं स्त्रियों की बिक्री व उनसे बेगार लेने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। हिन्दू कोड बिल में लड़की के विवाह की तत्कालीन आयु में वृद्धि करना, एक विवाह का अनिवार्य किया जाना, अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता, स्त्रियों को तलाक का अधिकार, विधवा पुनर्विवाह को मान्यता, स्त्री को पुत्री, पत्नी व माँ के रूप में पारिवारिक सम्पत्ति पर अधिकार आदि का प्रावधान किया गया था। वर्तमान में यह संविधान का अंग बन चुके हैं।

डॉ॰ आम्बेडकर के द्वारा नारी के उत्थान का समर्थन करना ठीक है क्योंकि समाज में व्याप्त किसी भी प्रकार का विभेद उसके उत्थान में बाधक सिद्ध होता है। परन्तु उन्होंने नारी के पतन के लिये प्राचीन मनीषी एवं चिन्तक 'मनु' को उत्तरदायी ठहराया है जिसे स्वीकार करना कठिन है क्योंकि किसी भी समय में कोई एक व्यक्ति अकेले नारी के पतन के लिये जिम्मेदारी नहीं हो सकता। वास्तव में भारत में नारी के पतन के लिये यहाँ का अन्ध-विश्वासी, रूढ़िवादी समाज और विदेशी शासन जिम्मेदार रहा है। इसी कारणवश नारी की अवनति हुई है। भारत में स्थापित विदेशी शासन ने यह कभी नहीं चाहा कि यहाँ नारी को अधिकार प्रदान करके सशक्त एवं जागरूक किया जाये। उसने सिर्फ यहाँ की औरतों का शोषण किया जिससे नारी की स्थिति अत्यन्त दुर्बल होती गयी। वैसे डॉ॰ आम्बेडकर द्वारा महिलाओं के उत्थान हेतु किये गये प्रयास इस दिशा में उपयोगी साबित हुये हैं और स्वतंत्रता के पूर्व भारत में विद्यमान महिलाओं की स्थिति की तुलना में वर्तमान में काफी परिवर्तन देखा जा सकता है। महिलाओं को समानता का अधिकार दिये जाने से भारत में कोई भी ऐसा क्षेत्र शेष नहीं है जिसमें महिलाओं की भागीदारी न बढ़ी हो, यद्यपि अभी भी पुरुषों का प्रतिशत अधिक है जिसमें धीरे-धीरे सुधार आने की सम्भावना है। महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार दिये जाने से वे आत्म-निर्भर व स्वावलम्बी बन सकी हैं। परन्तु अभी भी दूरस्थ इलाकों में महिलाओं की दशा दयनीय है, वहाँ महिलाओं में शिक्षा एवं

जागरूकता की आवश्यकता है जिसका प्रबन्ध सरकार द्वारा किया जाना चाहिये। हिन्दू समाज में एक विवाह का अनिवार्य किया जाना एवं लड़की के विवाह की न्यूनतम आयु 18 वर्ष निर्धारित किये जाने से भी महिलाओं की स्थिति में सुधार आया है, उनके शोषण में कमी आयी है। बुद्धिजीवियों को चाहिये कि नारी वर्ग के कल्याण के लिये भारत के दुर्गम इलाकों में जहाँ नारी की स्थिति अभी भी दयनीय है वहाँ शिक्षा का प्रसार करें व नारी को उनके अधिकारों से अवगत करवायें जिससे उनका उत्थान सम्भव हो सके। साथ ही साथ ऐसे लोग जो अभी भी परम्परागत विचारधारा से ग्रस्त हैं जिनके लिये नारी निम्न, कमज़ोर अबला व असहाय है, उन्हें अपनी सोच में परिवर्तन लाना होगा और देश व दुनिया में उपलब्ध महिलाओं में हो रही प्रगति के उदाहरणों से सीख लेनी होगी। तभी नारी को अधिकार सम्पन्न बनाया जा सकेगा और देश की प्रगति हो सकेगी।

डॉ॰ लोहिया के ह्रदय में जन्म से ही दीन-दुखियों, दलितों, पीड़ितों एवं अपाहिजों के प्रति करुणा एवं सहानुभूति थी। उन्होंने सदैव शोषण, अन्याय और गुलामी का विरोध किया। वे निम्न जाति के लोगों में अधिकार बोध एवं स्वाभिमान को जगाना चाहते थे। उनकी दृष्टि में दलितों के लिये कर्तव्य की बात गौण है, वे अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करें, उसी से उनका पिछड़ापन दूर होगा। उन्होंने दलितों की विमुक्ति हेतु उन्हें कुछ विशेष अवसर दिये जाने की आवश्यकता बतलायी तथा दलितों के पास तीन गुणों- जातीय स्वाभिमान, अर्थसम्पन्नता और आंग्लभाषा का अवबोध का होना ज़रूरी माना। जातीय स्वाभिमान के लिये डॉ॰ लोहिया ने जाति प्रथा के नाश की बात कही। इसके लिये उन्होंने अन्तर्जातीय सहभोज एवं अन्तर्जातीय विवाह पर जोर दिया, जिससे अस्पृश्यता का अन्त हो सके और सभी लोग भेदभाव मुक्त वातावरण में रह सकें। दलितों की अर्थसम्पन्नता के लिये डॉ॰ लोहिया ने समाजवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया और अनेक कार्यक्रमों व नीतियों का समर्थन किया। उन्होंने न्यूनतम व अधिकतम आय में अन्तर खत्म करने के लिये कहा, सम्पत्ति पर विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का अन्त करना चाहा, खर्च की सीमा को निर्धारित करना चाहा और विलासितापूर्ण खर्च पर रोक लगाने का समर्थन किया। वे दलितों एवं कमज़ोर वर्ग के लोगों को अतिरिक्त भूमि वितरित किये जाने के पक्ष में थे। डॉ॰ लोहिया लघु और कुटीर उद्योगों के माध्यम से स्थानीय स्तर पर दलितों को रोज़गार देने के पक्ष में थे जिससे वे अपना समुचित उत्थान कर सकें। आंग्ल-भाषा के अवबोध के अन्तर्गत

वे अंग्रेजी भाषा को पूर्णतः हटाने के पक्ष में तथा हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाये जाने के इच्छुक थे।

दलित वर्ग समाज का वह वर्ग है जो सदियों से शोषित, उपेक्षित, कुत्सित और प्रताड़ित रहा है, उसे उच्च वर्ग की दासता, गुलामी और अत्याचार का शिकार होना पड़ा है। भारतीय समाज में दलितों की संख्या का प्रतिशत उच्च वर्ग से कहीं अधिक रहा है और ऐसी स्थिति में भारत की आधे से अधिक जनता को अकर्मण्य बनाकर बैठा दिया जाना भारत के पतन का द्योतक है। भारत के उत्थान के लिये दलितों का उत्थान किया जाना तथा उन्हें सामाजिक, आर्थिक पराधीनता से मुक्ति दिलाना अत्यन्त आवश्यक है। दलितों की विमुक्ति के लिये आज भी उन्हें कुछ विशेष अवसर दिये जाने की आवश्यकता है क्योंकि उनकी पूर्ण विमुक्ति सम्भव नहीं हो सकी है। दलितों की विमुक्ति के लिये संवैधानिक प्रावधानों के साथ-साथ समाज में चेतना और जागरूकता आने की आवश्यकता है, प्रशासनिक मशीनरी का चुस्त-दुरुस्त तथा भ्रष्टाचार से मुक्त होने की ज़रूरत है इसी से जातिभेद की दीवार टूट सकती है, अस्पृश्यता का अन्त सम्भव हो सकेगा और शोषण, दासता, अत्याचार, गरीबी तथा बेरोज़गारी में कमी आ सकेगी।

डॉ॰ आम्बेडकर दलितों की विमुक्ति के लिये पूर्णरूपेण समर्पित थे। उनकी दृष्टि में दलितों की मुक्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उनकी परम्परात्मक निर्योग्यताओं को समाप्त कर उनकी विविध समस्याओं का निराकरण नहीं किया जायेगा। उन्होंने दलितों की हीन व दुर्बल स्थिति के लिये सामाजिक ऐतिहासिक कारणों को जिम्मेदार माना। उनकी दृष्टि में अस्पृश्यता सहित दलितों की विभिन्न निर्योग्यताओं को समाप्त करने के लिये समाज से जातिभेद को समाप्त करना आवश्यक है। जब तक जातिप्रथा रहेगी तब तक दलितों की पूर्ण विमुक्ति सम्भव नहीं है। इसे खत्म करने के लिये अन्तर्जातीय विवाह के साथ-साथ प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्रों के बन्धन से मुक्त किया जाना चाहिये तथा उनके दीमाग को साफ किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त डॉ॰ आम्बेडकर ने दलितों को निम्न कोटि के गन्दे व अपवित्रकारी एवं घृणित कार्य न करने तथा अपनी जीविका लौकिक व्यवसायों जैसे दफ्तर, कारखाना, व्यापार, कृषि आदि से कमाने की सलाह दी। उन्होंने दलितों को मांस, मदिरा आदि का सेवन न करने, स्वच्छता व सफाई के साथ रहने और राजनीतिक इकाई के रूप में संगठित होकर, संवैधानिक दायरे के अन्दर रहकर लोकतांत्रिक

प्रक्रिया के द्वारा राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने की सलाह दी। डॉ. आम्बेडकर ने दलितों की समस्याओं को दूर करने और शोषण से मुक्ति के लिये उन्हें पृथक गाँव बनाने हेतु सरकार को भूमि आवंटित करने की सिफारिश की तथा दलितों को स्थायी रूप से शहरों में बसने की सलाह दी। उन्होंने दलितों को स्वप्रयास द्वारा आत्म-निर्भर बनने के लिये कहा। उनकी दृष्टि में दलितों को स्वयं अपना उद्धार करना होगा। इसके लिये उन्होंने दलितों को 'शिक्षित बनो', 'संगठित हो' और 'संघर्ष करो' का मंत्र दिया। दलितों के विकास में वे अशिक्षा को बहुत बड़ी बाधा मानते थे। इसलिये उन्होंने दलितों के उत्थान सम्बन्धी कार्यक्रमों में शिक्षा के प्रसार को महत्व दिया। उन्होंने दलितों की आध्यात्मिक विमुक्ति के लिये महात्मा बुद्ध के मार्ग का अनुसरण करने के लिये कहा।

निःसंदेह डॉ. आम्बेडकर स्वयं दलित जाति में जन्म लेने के कारण दलितों की समस्याओं से पूर्णतः परिचित थे। इसीलिये वे दलितों का उद्धार करने के लिये पूरी तरह समर्पित थे। उनके द्वारा दलितों की विमुक्ति के लिये बताये गये अनेक उपाय इस दिशा में अच्छे साबित हो सकते हैं, लेकिन उन्होंने इस संदर्भ में औद्योगीकरण एवं नगरीकरण का समर्थन किया है जिसे उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इसमें अमीर-गरीब के मध्य की खाईं गहरी होती है और अमीर-अमीर व दलित निरन्तर गरीब बनते जाते हैं। इसके स्थान पर यदि दलितों को स्थानीय स्तर पर लघु एवं कुटीर उद्योगों के माध्यम से रोज़गार प्रदान किये जायें तो वह अधिक अच्छी स्थिति में रहकर अपना विकास कर सकेंगे। वर्तमान समय में शहरों में निम्न वर्ग के लोगों का जीवन नारकीय बन चुका है, इतना ही नहीं बड़े-बड़े उद्योग धन्धों में काम करना उनके लिये एक अन्य प्रकार के शोषण व दासता का सामना करना होगा। अतः दलितों को स्थानीय स्तर पर समुचित रोज़गार देना उनकी आर्थिक विमुक्ति का एक बेहतर विकल्प होगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि दलितों को यथार्थ स्तर पर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय प्रदान किया जाये जिससे समतामूलक समाज की स्थापना सम्भव हो सके।

डॉ. लोहिया हिन्दी भाषा के प्रति गहरी आस्था रखते थे और उन्होंने हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का ज़ोरदार समर्थन किया तथा 'अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन' के माध्यम से अंग्रेजी भाषा का प्रखर और मुखर विरोध किया था। उनका यह विरोध अंग्रेजों के सार्वजनिक क्षेत्र जैसे विधायिकाओं, सरकारी दफ्तरों, अदालतों तथा दैनिक समाचार-पत्रों आदि में

प्रयोग पर था। उन्होंने दक्षिण भारतीय भाषाओं का कभी विरोध नहीं किया क्योंकि ये भाषाएं एकता, सभ्यता, संस्कृति साहित्य, समानता और चरित्र के निर्माण में बहुत ही सहायक हैं। डॉ॰ लोहिया हिन्दी को इसलिये प्रतिस्थापित करना चाहते थे क्योंकि वह करोड़ों लोगों की भाषा थी और इस भाषा को लोग आसानी से समझते थे। उनकी दृष्टि में अंग्रेजी को हटाये बिना समाजवाद, जनतंत्र और ईमानदारी के पहले कदम भी असम्भव हैं। अंग्रेजी को बनाये रखने से देश को अपार क्षति उठानी पड़ रही है। इसके प्रयोग से प्रशासनिक अव्यवस्था व्याप्त है, शोध व प्रज्ञामूलक प्रगति अवरुद्ध है, आर्थिक प्रगति रुकी हुई है, राष्ट्रीय स्वाभिमान को ठेस पहुंच रही है तथा संस्कृति, सभ्यता और साहित्य के विकास में यह बहुत बड़ी बाधा बनी हुई है। अंग्रेजी भाषा ने देश के लोगों के दीमाग और पेट दोनों पर लात मारी है, दीमाग व पेट एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इनके पृथक हो जाने पर देश की प्रगति सम्भव नहीं है। डॉ॰ लोहिया अंग्रेजी को हटाने के लिये कहीं-कहीं भारत की क्षेत्रीय भाषाओं का समर्थन करते नज़र आते हैं, परन्तु साथ ही वह यह चेतावनी भी देते हैं कि इससे देश की अखण्डता को खतरा एवं क्षेत्रीयतावाद को बढ़ावा मिल सकता है। वे अंग्रेजी को हर कीमत पर हटाकर हिन्दी को उसके प्रकृत रूप में प्रतिस्थापित करना चाहते थे।

निश्चित रूप से, हिन्दुस्तान के लोगों के लिये हिन्दी को बढ़ावा देना अनिवार्य है क्योंकि यह बहुसंख्यकों की भाषा है, यहाँ का जन-जन इसे समझ सकता है, आत्मसात कर सकता है तथा हिन्दी भाषा में लिपिबद्ध नियमों, कानूनों व अन्य सामग्री को पढ़कर अमल में ला सकता है। जबकि अंग्रेजी भाषा पराधीनता, शोषण, दासता, अत्याचार और साम्राज्यवाद का प्रतीक है। इसे गिने-चुने उच्च वर्ग के लोग ही प्रयोग करते हैं। यह भाषा भारत के आम लोगों के हितों की सुरक्षा नहीं कर सकती है। साथ ही देश की अन्य क्षेत्रीय भाषाएं भी राष्ट्र की एकता व अखण्डता को सुनिश्चित नहीं कर सकती हैं। अतः डॉ॰ लोहिया द्वारा भारत में समाजवादी जनतंत्र की स्थापना तथा देश की एकता व अखण्डता को बनाये रखने के लिये हिन्दी के प्रति प्रेम व उसे राष्ट्रभाषा बनाये जाने का समर्थन करना ठीक ही है। अब जबकि भारत की आज़ादी के 60 वर्ष हो चुके हैं तो भी यहाँ सार्वजनिक स्थलों एवं व्यक्तिगत रूप में अंग्रेजी का प्रयोग बढ़ता ही जा रहा है और हिन्दी मात्र 'सहभाषा' बन गयी प्रतीत होती है। लोगों में अंग्रेजी के प्रति आकर्षण तीव्र हुआ है और क्षेत्रीय भाषाओं के प्रयोग

को बढ़ावा मिला है। यद्यपि अंग्रेजी व अन्य भाषाओं का प्रयोग बुरा नहीं है परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हम पहले हिन्दुस्तानी है और बाद में उसके किसी क्षेत्र के निवासी हैं, हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी है अतः हिन्दुस्तान में हिन्दी भाषा को सशक्त बनाये जाने की आवश्यकता है। यही हमारा सच्चा राष्ट्र प्रेम होगा और उन वीर सपूतों को सच्ची श्रद्धांजलि भी होगी। जिन्होंने हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिये हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि दे दी थी।

डॉ. आम्बेडकर भी 'एक राज्य एक भाषा' का सिद्धान्त राष्ट्रीय एकता एवं प्रशासनिक सहूलियत की दृष्टि में अच्छा मानते थे और 'हिन्दी' को पूरे राष्ट्र की भाषा बनाये जाने के विरोधी नहीं थे। उनकी दृष्टि से जब तक हिन्दी सामान्य माध्यम के रूप में स्वीकार किये जाने योग्य नहीं बन जाती तब तक अंग्रेजी का प्रयोग सह-राष्ट्रभाषा के रूप में जारी रखा जा सकता है। प्रारम्भ में डॉ. आम्बेडकर राज्यों का सीमांकन केवल जनसंख्या तथा आर्थिक संसाधनों को ध्यान में रखकर किये जाने के इच्छुक थे तथा भाषा, जाति, धर्म अथवा संस्कृति के आधार पर राज्यों का गठन किये जाने के पक्ष में नहीं थे परन्तु बाद में उन्होंने भाषा के आधार पर राज्यों के गठन को स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में भाषायी राज्यों का गठन तो हो परन्तु सभी राज्यों की राजभाषा या सरकारी काम-काज की भाषा हिन्दी ही हो क्योंकि बहुभाषा होने से राज्य सदैव अस्थिर होंगे, लोकतंत्र को खतरा होगा तथा जातीय व सांस्कृतिक विवाद पनपेंगे। अतः इन समस्याओं को दूर रखने के लिये 'एक राज्य एक भाषा' का होना आवश्यक है। कोई भी राज्य अपनी स्वयं की राष्ट्रीयता के साथ एक भाषा के ही आधार पर जो वहाँ की क्षेत्रीय और राजकीय भाषा भी हो, आसानी से प्रगति कर सकता है। डॉ. आम्बेडकर प्रादेशिक भाषाओं को राजभाषाओं के रूप में स्वीकार करने पर अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी महसूस कर रहे थे उनकी दृष्टि से इससे प्रशासनिक कार्यों के सम्पादन में कठिनाई आयेगी, कानून व न्याय प्रक्रिया के सम्पादन में कठिनाई आयेगी, संघ लोकसेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षाओं में अलग-अलग माध्यमों का सवाल उत्पन्न होगा और इससे देश की एकता व अखण्डता को खतरा पहुंचेगा अतः पूरे देश की एक ही राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' का डॉ. आम्बेडकर ने समर्थन किया।

वास्तव में डॉ. आम्बेडकर के भाषायी विचार समय-समय पर बदलते रहे हैं, परन्तु उन्होंने अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण राष्ट्र की एक भाषा 'हिन्दी' का समर्थन किया है। उनका 'एक

राज्य एक भाषा' का विचार ठीक है क्योंकि एक भाषा देश की एकता को कायम रखती है जबकि दो या अधिक भाषाएं देश के विभाजन को बढ़ावा देती हैं या देश की एकता को खतरा पैदाकर सकती हैं। अतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने से भारत में लोकतांत्रिक प्रणाली मज़बूत हो सकेगी, हमारी संस्कृति सुरक्षित रह सकेगी। देश के लोग विकास के रास्ते पर आगे चल सकेंगे जिससे पूरे देश की समृद्धि होगी, कानून न्याय एवं प्रशासनिक कार्यों में कठिनाई नहीं आ सकेगी। डॉ. आम्बेडकर के भाषा के आधार पर राज्यों के गठन सम्बन्धी विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इससे पृथकतावाद को बढ़ावा मिलेगा और भारत की सम्प्रभुता को खतरा हो सकता है। आज आवश्यकता यह है कि 'हिन्दी' के प्रयोग को सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत स्तर पर अधिक से अधिक बढ़ावा दिया जाये, इतना ही नहीं चूँकि हिन्दी हमारी पहचान है इसलिये इसे अन्तर्राष्ट्रीय भाषा भी बनाया जाना चाहिये। इसके लिये भारतीय नेतृत्व को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी के प्रति जनचेतना तैयार करके आन्दोलनात्मक प्रयास करना चाहिये।

डॉ. लोहिया भारत में विद्यमान जाति प्रथा के सर्वथा विरुद्ध थे, उन्होंने भारत की जातियों को एक आकांक्षाहीन और जड़ वर्ग माना है। उनकी दृष्टि में भारतीय जाति-व्यवस्था केवल वर्णाश्रम धर्म से नहीं बनी है, वरन इसके पीछे ऐतिहासिक वक्रता भी है, जिसमें वर्ग से जाति और जाति से वर्ग के रूप में परिवर्तन होता रहा है। डॉ. लोहिया भारत में जातीय भेदभाव को बढ़ाने में जन्मना रूढ़िवादिता का सबसे बड़ा हाँथ मानते थे। इसके ही कारण निम्न जातियों को सामाजिक स्तर पर निरन्तर अपमानित होना पड़ा। देश के आर्थिक और धार्मिक अधिकारों से उन्हें वंचित रखा गया। ऐसी स्थिति में उनकी राजनैतिक भागीदारी किसी भी स्तर पर सम्भव नहीं हो सकी। डॉ. लोहिया का मानना था कि हिन्दुस्तान की लगभग एक हजार वर्ष तक गुलामी का कारण केवल यह जाति प्रथा ही थी क्योंकि देश की 90 प्रतिशत जनता को हथियार छूने का अधिकार न देकर उन्हें अकर्मण्य बनाकर बैठा दिया गया था। उन्होंने जाति प्रथा का नाश करने के लिये पूरा राजनीतिक अभियान शुरू करके 'जाति तोड़ो आन्दोलन' चलाया। उनकी दृष्टि से जातियों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उन्नत कर दिया जाये तो जाति पर निर्भर वर्ग निर्मूल हो सकते हैं। इसके विनाश के लिये डॉ. लोहिया ने 'अन्तर्जातीय सहभोज', 'अन्तर्जातीय विवाह' और ऐसे 'सामूहिक उत्सव सम्मेलन' एवं 'सहकार' पर बल दिया जिससे नये समाज

के नये संस्कारों में आदान-प्रदान हो। यहाँ तक कि उन्होंने अन्तर्जातीय विवाहों को नौकरियों में प्राथमिकता दिये जाने की सिफारिश की जिससे जाति प्रथा को खत्म किया जा सके।

निश्चित रूप से भारत में समाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था की यथार्थ में स्थापना के लिये और उसमें निवास करने वाले लोगों में किसी भी प्रकार की दासता, शोषण, अत्याचार, अस्पृश्यता, सामाजिक, आर्थिक असमानता तथा बेरोजगारी को खत्म करने के लिये जातिभेद व वर्गभेद दोनों का उन्मूलन होना आवश्यक है। डॉ. लोहिया ने जाति और वर्ग को एक-दूसरे का परिवर्तित रूप माना है जो कि ठीक है क्योंकि आज तक के मानव इतिहास से यह सिद्ध है कि जब वर्ग स्थिर हो जाता है तो वह जाति का रूप ले लेता है और जब जाति की पकड़ ढीली पड़ने लगती है तो वह वर्ग का रूप ले लेती है। अतः व्यक्ति और समाज के उत्थान के लिये जाति और वर्ग दोनों का विलोप होना आवश्यक है। इसके लिये सर्वप्रथम समाज में शिक्षा और जागरूकता आना चाहिये जिससे रूढ़िवाद, अन्ध-विश्वास और परम्परागत दृष्टिकोण का पूर्णतः अन्त हो सके। साथ ही लोगों को अपनी मानसिकता बदलनी होगी। आज जबकि विश्व के अन्य देश विकास की होड़ में सबसे आगे हैं तो भारत जैसे विशाल देश का सामाजिक, आर्थिक उत्थान न होना यहाँ जाति प्रथा जैसी व्यवस्था के विद्यमान होने के ही कारण है। आज भी सार्वजनिक स्तर पर कम किन्तु व्यक्तिगत स्तर पर अधिक मात्रा में लोगों में जातिभेद की दीवारें खड़ी हैं। इस दिशा में डॉ. लोहिया द्वारा सुझाया गया उपाय अन्तर्जातीय सहभोज और अन्तर्जातीय विवाह तभी उपयोगी हो सकता है जब लोगों के दीमाग की खिड़कियाँ खुलें और वे यह समझें कि सभी मानव एक हैं सभी को प्रकृति ने बनाया है फिर मानव-मानव में फर्क क्यों ? सरकार को अन्तर्जातीय विवाह करने वालों को नौकरियों में प्राथमिकता देनी चाहिये। यह एक कारगर उपाय होगा और इससे निश्चित रूप से जाति भेद की दीवारें टूटेंगी।

डॉ. आम्बेडकर ने भारत में जाति व्यवस्था को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से एक जटिल समस्या के रूप में निरूपित किया है। उनकी दृष्टि में वर्ण और जाति दोनों समीपवर्ती संकल्पनाएं हैं और कालान्तर में ही दोनों अलग-अलग होती हैं, बन्द या जमा हुआ वर्ग ही जाति है। उन्होंने जाति प्रथा के अस्तित्व को प्राचीन मनीषी एवं चिन्तक मनु के पहले से माना। उनकी दृष्टि में जाति प्रणाली में ऐसी कठोर व्यवस्था की गयी थी कि जाति के भीतर जाने के प्रतिबन्ध के साथ-साथ बाहर जाने पर भी प्रतिबन्ध था। जाति के इस

कठोर तर्कशास्त्र ने जाति के बहिष्कृत होने वाले व्यक्तियों के नये-नये समूह बनाने के लिये विवश किया। इन सामाजिक समूहों से असंख्य जातियों का निर्माण हुआ। डॉ. आम्बेडकर यह मानते थे कि हिन्दू समाज जाति-व्यवस्था के चौखट में बँधा हुआ है, जिसमें एक जाति सामाजिक प्रतिष्ठा में दूसरी जाति से निम्न है, और प्रत्येक जाति में अपने स्थान के अनुपात में विशेषाधिकार निषेध और असमर्थताएं हैं। उन्होंने जाति प्रथा को असमानता, अन्याय और अत्याचार का हेतु माना। उनकी दृष्टि में जाति-पाँति के कारण हिन्दू बर्बाद हुये और हिन्दू वंश नष्ट हो गया। जाति के आधार पर हिन्दू समाज का पुनर्गठन सम्भव नहीं है। जाति-व्यवस्था ने शूद्रों को शिक्षा एवं आर्थिक अधिकारों से वंचित रखा। भारत की बराबर पराजय का कारण जाति-व्यवस्था ही थी। डॉ. आम्बेडकर ने हिन्दुस्तान से जाति प्रथा खत्म करने का समर्थन किया। वे जातिवाद का अन्त करने के पहले उपजातियों के नष्ट करने के सुझाव को उचित नहीं मानते थे। वे अन्तर्जातीय भोज व्यवस्था को भी इसके लिये अपर्याप्त मानते थे परन्तु डॉ. आम्बेडकर जाति प्रथा का अन्त करने के लिये अन्तर्जातीय विवाह के सुझाव से पूर्णतः सहमत थे। उनकी दृष्टि में जब तक विभिन्न जातियों में पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित नहीं होंगे, तब तक पूर्ण एकता एवं सामंजस्य का होना असम्भव है। रक्त सम्बन्धों के द्वारा ही पृथकता, घृणा, ऊँच-नीच आदि भावनाओं का अन्त हो सकता है। डॉ. आम्बेडकर ने जाति प्रथा से लड़ने के लिये चारो ओर से प्रहार करने पर जोर दिया। उनकी दृष्टि में वास्तविक उपाय यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को शास्त्रों के बन्धन से मुक्त किया जाये, उनकी पवित्रता को नष्ट किया जाये तभी वे जाति-पाँति का भेदभाव बन्द करेंगे और भारत से जातिभेद खत्म हो सकेगा।

निःसंदेह भारत में जाति-व्यवस्था के कारण ही अनेक समस्याओं, असमानताओं एवं कुरीतियों का जन्म हुआ है। जातिभेद से अस्पृश्यता नामक ज़हर ने समाज को विषाक्त करके छुआछूत पैदा की है। इसके ही कारण निम्न जाति के लोगों का शोषण और उन पर अमानवीय अत्याचार किये गये हैं। जातिभेद ने निम्न जातियों को गरीब व बेकार बने रहने के लिये बाध्य किया, शूद्र वर्ण के लोग शिक्षा प्राप्ति से वंचित रहे जिससे उनका जीवन अन्धकारमय हो गया। जाति प्रथा की वजह से निम्न जातियों की स्वतंत्रता एवं समानता का अपहरण हो गया और उन्हें दास एवं पराधीन बनाये रखा गया। इन सबके होते हुये भारत पतन की ओर गया और वर्षों तक गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहा। डॉ. आम्बेडकर का यह

विचार कि 'जाति-व्यवस्था ने हिन्दू समाज को पतन की ओर ढकेला' गलत नहीं है क्योंकि यदि भारतीय समाज में जाति-भेद न होता तो निश्चित रूप से आज हिन्दुस्तान विकसित देशों की जमात में सबसे ऊपर होता और आज भी भारत सोने की चिड़िया कहा जाता। भारत के उत्थान के लिये असमानता, अन्याय, शोषण व अत्याचार पर आधारित जाति-व्यवस्था का अन्त होना ही चाहिये। इसके अन्त के लिये डॉ. आम्बेडकर ने जो उपाय बताये हैं उन्हें यदि अमल में लाया जाये तो वे उपयोगी साबित हो सकते हैं।

आज़ादी मिलने के बाद भारत में संविधान के द्वारा सभी को स्वतंत्रता एवं समानता का अधिकार प्रदान किये जाने तथा अस्पृश्यता एवं शोषण का अन्त किये जाने के बाद वर्तमान समय में स्थिति यह है कि भारत के विकसित क्षेत्रों में जाति की जड़ें कमज़ोर तो हुई हैं परन्तु पूर्णरूप से खत्म नहीं हुई हैं। अभी भी जातीय संज्ञा की मानसिकता लोगों के दीमाग में बनी हुई है जिसे पूर्णतः खत्म होना आवश्यक है। दूसरी ओर ऐसे क्षेत्र जो इस मामले में काफी संवेदनशील हैं, विशेष रूप से भारत के दूर-दराज क्षेत्रों में जातिभेद की जड़ें अभी भी गहराई से जमी हुई हैं। यद्यपि यहाँ पर भी जाति-व्यवस्था का वह रूप नहीं रह गया है जो आज़ादी के पूर्व था। इसमें परिवर्तन आया है परन्तु उतना नहीं जितना आज के वर्तमान संदर्भ में आवश्यक है। अतः ऐसे क्षेत्रों में संवैधानिक कानून को कड़ाई से लागू करने, प्रशासनिक तंत्र को सक्रिय करने और वहाँ शिक्षा के प्रसार व जागरूकता की आवश्यकता है जिससे वहाँ के लोगों में से रूढ़िवादी प्रवृत्ति का अन्त हो सके और जातिभेद पर कुठाराघात किया जा सके। यदि ऐसा सम्भव हो सकेगा तो निश्चित रूप से एक स्वस्थ्य और विकसित भारत का निर्माण सम्भव हो सकेगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ सूची-

1) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, इतिहास चक्र, लोकभारती प्रकाशन 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद (1955)

2) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, अर्थशास्त्र मार्क्स से आगे, लोकभारती प्रकाशन, 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद (1980)

3) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, इन्टरवल ड्यूरिंग पोलिटिक्स, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1965)

4) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, जातिप्रथा, समता प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड पूर्वी लौहानापुर, पटना (1981)

5) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, द विल टू पॉवर, नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद (1956)

6) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, देश गरमायौ, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1970)

7) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, देश विदेश नीति के कुछ पहलू, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1970)

8) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, धर्म पर एक दृष्टि, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1962)

9) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी एण्ड सोशलिज़्म, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास सुल्तान बाज़ार, हैदराबाद (1963)

10) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, भारत में समाजवाद, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1973)

11) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, भारत विभाजन के अपराधी, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1970)

12) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, भारत, चीन और उत्तरी सीमाएं, नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद (1965)

13) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, सात क्रान्तियाँ, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1966)

14) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, समाजवाद की रानजीति, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1969)

15) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, समाजवाद की अर्थनीति, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1973)

16) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, समाजवादी आन्दोलन का इतिहास, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास बेगम बाज़ार, हैदराबाद (1969)

17) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, हिन्दू पाक एका, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1970)

18) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, अंग्रेजी हटाओ, गंगा प्रसाद तिवारी, चौखम्भा प्रकाशन 8/5 जवाहर मार्ग, इन्दौर (1982)

19) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, क्रान्ति के लिये संगठन, नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद (1963)

20) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, खर्च पर सीमा, क्विज ढाढनिया कलकत्ता द्वारा प्रकाशित।

21) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, नरम और गरम पंथ, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1969)

22) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, फ्रेगमेण्ट्स ऑफ ए वर्ल्ड माइण्ड, मैलयानी, 19सी राजेन्द्रलाल स्ट्रीट, कलकत्ता।

23) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, मार्क्स, गाँधी और सप्त क्रान्ति, प्रताप संतोषकर, राममनोहर लोहिया स्मृति केन्द्र 101 सिद्ध रत्नाकर हाउसिंग सोसाइटी, बम्बई (1981)

24) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, मर्यादित उन्मुक्त व शोभित व्यक्तित्व और रामायण मेला, समता विद्यालय न्यास, सुल्तान बाजार, हैदराबाद (1969)

25) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, रागजिम्मेदारी की भावना एवं अनुपात की समझ, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास बेगम बाज़ार, हैदराबाद (1971)

26) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, सगुण और निर्गुण, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1969)

27) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, सच कर्म प्रतिकार और चरित्र निर्माण आह्वान, समाजवादी प्रकाशन हिमायत नगर, हैदराबाद (1950)

28) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, समाजवाद का सगुण रूप, प्रताप संतोषकर, राममनोहर लोहिया स्मृति केन्द्र 101 सिद्ध रत्नाकर हाउसिंग सोसाइटी, बम्बई।

29) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, हिन्दू बनाम हिन्दू, समता संतोषकर, राममनोहर लोहिया स्मृति केन्द्र, 101 सिद्ध रत्नाकर हाउसिंग सोसाइटी, बम्बई।

30) डॉ॰ राममनोहर लोहिया, हिन्दू मुसलमान, नवहिन्द प्रकाशन, बेगम बाज़ार, हैदराबाद (1963)

31) डॉ. राममनोहर लोहिया, विदेश नीति लोहिया बहुआयामी व्यक्तित्व, लोहिया स्मारिका समिति सी-2 पार्क रोड, लखनऊ (1984)

32) डॉ. राममनोहर लोहिया, समदृष्टि, समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद (1966)

33) डॉ. राममनोहर लोहिया, भारत माता धरती माता, ओंकार शरद लोकभारती प्रकाशन 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, (2002)

34) डॉ. राममनोहर लोहिया, समता और सम्पन्नता, ओंकार शरद लोकभारती प्रकाशन 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1 (1996)

35) डॉ. राममनोहर लोहिया, भारत के शासक, ओंकार शरद लोकभारती प्रकाशन 15 ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, (1999)

36) डॉ. राममनोहर लोहिया, लोकसभा में लोहिया (भाग-1 से 16 तक) सम्पादक बदरी विशाल पित्ती, अध्यात्म त्रिपाठी तथा ओमप्रकाश निर्मल, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास बेगम बाज़ार, हैदराबाद (सन् 1971-1986)

37) डॉ. लोहिया, अविश्वास क्यों, लोहिया : बहुआयामी व्यक्तित्व, राममनोहर लोहिया स्मारिका समिति, सी-2 पार्क रोड, लखनऊ (1984)

38) डॉ. लोहिया, कुछ का वैभव या सबका सुधार, जन. सितम्बर, 1968 जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

39) डॉ. लोहिया, दाम और जाति की नाइन्साफी, जन. नवम्बर 1970 जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

40) डॉ. लोहिया, न झूँठ और न हत्या, जन. नवम्बर 1970- जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

41) डॉ. लोहिया, नर-नारी समता और सिविल नाफरमानी, जन. अगस्त 1970 जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

42) डॉ. लोहिया, पूर्ण कौशल, जन. मई 1964- जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

43) डॉ. लोहिया, बिना हथियारों की दुनिया और सात क्रान्तियाँ, जन. मार्च 1970 जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

44) डॉ. लोहिया, मार्क्सवाद और समाजवाद, चौखम्भा चुनाव विशेषांक, फरवरी 1962, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद।

45) डॉ॰ लोहिया, भौगोलिक परिवर्तन, जन॰ जनवरी-फरवरी, 1969 जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

46) डॉ॰ लोहिया, लंगड़ी विदेश नीति, चौखम्भा दीपावली विशेषांक 1963 राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद।

47) डॉ॰ लोहिया, लोकसभा, जन॰ अगस्त 1968, जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

48) डॉ॰ लोहिया, लोकसभा, जन॰ अगस्त, 1969, जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

49) डॉ॰ लोहिया, लोकसभा विधानसभा एक आइना है, साप्ताहिक राष्ट्रवादी, कानपुर लोहिया स्मृति अंक (1971)

50) डॉ॰ लोहिया, वर्ण और यौनि के दो कटघरे, जन॰ गाँधी शताब्दी अंक, सितम्बर अक्टूबर 1969, जनेश्वर मिश्र सरयू कुटीर, मधवापुर, इलाहाबाद।

51) डॉ॰ लोहिया, सम्पत्ति और सिविल नाफरमानी, जन॰ जनवरी 1970, जनेश्वर मिश्र सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

52) डॉ॰ लोहिया, समाजवादी सिद्धान्त का धरातल, समाजवादी आन्दोलन के दस्तावेज़ सी.पी. 39 प्रीतमपुरा दिल्ली, नागरी प्रिन्टर्स नवीन साहदरा दिल्ली।

53) डॉ॰ लोहिया, स्वराज्य क्यों और कैसे, लोहिया : बहुआयामी व्यक्तित्व, लोहिया स्मारिका समिति सी-2 पार्क रोड, लखनऊ (1984)

54) डॉ॰ लोहिया, सिविल नाफरमानी, जन॰ अगस्त 1970, जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

55) डॉ॰ लोहिया, सोशलिस्ट सिविल नाफरमानी, जन॰ सितम्बर-अक्टूबर, 1970 जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

56) डॉ॰ बी.आर॰ आम्बेडकर, 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट, थैकर एण्ड कम्पनी (1937).

57) डॉ॰ बी.आर॰ आम्बेडकर, द इवोल्यूशन ऑफ प्रोविंशियल फाइनेन्स इन ब्रिटिश इण्डिया, पी.एस॰ किंग, लन्दन (1923)

58) डॉ॰ बी.आर॰ आम्बेडकर, रॉनाडे, गाँधी एण्ड जिन्ना, थैकर एण्ड कम्पनी, बम्बई (1943)

59) डॉ॰ बी.आर॰ आम्बेडकर, कम्यूनल डेडलॉक एण्ड वे टू साल्व इट, एफ॰ एण्ड ओ॰ प्रिंटिंग (1945)

60) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, हू वेयर दी शूद्राज, थैकर एण्ड कम्पनी (1946)

61) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अनटचेबल्स, थैकर एण्ड कम्पनी (1946)

62) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, पाकिस्तान आर द पीर्टीशन ऑफ इण्डिया, थैकर एण्ड कम्पनी (1946)

63) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन करेंसी एण्ड बैंकिंग थैकर एण्ड कम्पनी (1946)

64) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, द अनटचेबल्स, अमृत बुक कम्पनी (1948)

65) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, थाट्स ऑन लिगुस्टिक स्टेट्स, कृष्णा प्रेस (1955)

66) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, द बुद्धा एण्ड हिज़ धम्मा, सिद्धार्थ पब्लिकेशन (1956)

67) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, डॉ. आम्बेडकर एण्ड इण्डियन कांस्टियूशन बुद्ध बिहार, रिसाल दार पार्क (1972)

68) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, कॉस्ट इन इण्डिया, भीम पत्रिका प्रकाशन (1977)

69) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, द राइज एण्ड फाल ऑफ हिन्दू वुमैन, भीम पत्रिका प्रकाशन (1977)

70) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, ह्वाट पाथ साल्वेशन, आम्बेडकर साहित्य प्रकाशन (1979)

71) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, धर्म परिवर्तन (धर्म परिवर्तन सम्बन्धी भाषणों का अनुदित हिन्दी संकलन) आम्बेडकर साहित्य रक्षक परिषद्, झींझक (1981)

72) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, आम्बेडकर स्पीच इन पार्लियामेन्ट (नवम्बर 25, 1982) वी. के. अहलूवालिया एण्ड शशि अहलूवालिया द्वारा संकलित, विवेक पब्लिकेशन हाउस (1981)

73) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, स्टेट्स एण्ड माइनारिटीज, थैकर एण्ड कम्पनी, बम्बई (1947)

74) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, महाराष्ट्र एज ए लिंगुइस्टिक स्टेट, थैकर एण्ड कम्पनी, बम्बई (1948)

75) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, बुद्धा एण्ड द फ्यूचर ऑफ हिज रेलिजन, भीम पत्रिका प्रकाशन, जालंधर (1980)

76) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, सोर्स मैटेरियल ऑन डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर एण्ड द मूवमेन्ट्स ऑफ अनटचेबल्स, बाम्बे गवर्नमेन्ट ऑफ महाराष्ट्र पब्लिकेशन (1982)

77) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, जातिभेद का उच्छेद, एनिहिलेशन ऑफ कास्ट का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक- आनन्द कौशल्यायन, आम्बेडकर साहित्य रक्षक परिषद् (1974)

78) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, अछूत कौन और कैसे ? द अनटचेबल्स का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक- आनन्द कौशल्यायन, आम्बेडकर साहित्य रक्षक परिषद् (1976)

79) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, शूद्रों की खोज़, हू वेयर द शूद्राज का हिन्दी अनुवाद, बहुजन कल्याण प्रकाशन (1979)

80) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, भगवान बुद्ध और उनका धर्म, बुद्धा एण्ड हिज धम्मा का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक- आनन्द कौशल्यायन, सिद्धार्थ प्रकाशन (1979)

81) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, हिन्दू नारी का उत्थान और पतन, राइजिंग एण्ड फाल ऑफ हिन्दू वूमेन का हिन्दू अनुवाद, अनुवादक श्री वर्धन, बहुजन कल्याण प्रकाशन (1979)

82) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, कांग्रेस और गाँधी ने अछूतों के लिये क्या किया, ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अनटचेबल्स का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक श्री वर्धन, बहुजन कल्याण प्रकाशन (1979)

83) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, बुद्धा आर कार्लमार्क्स, (हिन्दी) आनन्द साहित्य सदन सिद्धार्थ मार्ग, छावनी-20, अलीगढ़ (1989)

84) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, अछूतों की विमुक्ति और गाँधी जी, हिन्दी अनुवाद श्री खेमचन्द्र सौगत, बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ (1966)

85) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, मानसिक गुलामी से मुक्ति का मार्ग, अनुवादक गजाधर प्रसाद आर्य, भारतीय बौद्ध समिति, लखनऊ (1985)

86) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, गाँधी जी और उनका आमरण अनशन, अनुवादक जगन्नाथ प्रसाद कुरील, समता साहित्य प्रकाशन, लखनऊ- 226018

87) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, हिन्दुत्व का दर्शन, अनुवादक मोहनदास नैमिशराय, आनन्द साहित्य सदन, सिद्धार्थ मार्ग, छावनी-20, अलीगढ़ (1991)

88) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, बाबा साहब आम्बेडकर के पत्र, सम्पादक डॉ. विमल कीर्ति, राहुल प्रकाशन, विश्वास नगर, दिल्ली (1999)

89) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, मूल खोज़ो, विवाद मिटेगा, (मूकनायक पत्र में डॉ. आम्बेडकर के सम्पादकीय) संकलन एवं अनुवाद श्योराज सिंह, माण्डवी प्रकाशन (1995)

90) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, डॉ. आम्बेडकर के क्रान्तिकारी भाषण, अनुवादक डॉ. कुसुम

'वियोगी', ग्रन्थ भारती, दिल्ली (2001)

91) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज (खण्ड 1 से 15 तक), महाराष्ट्र शासन शिक्षा विभाग बम्बई द्वारा प्रकाशित (सन् 1979-1997 ई. तक)

92) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, बाबा साहब डॉ. आम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (खण्ड 1 से 14 तक) डॉ. आम्बेडकर प्रतिष्ठान कल्याण मंत्रालय भारत सरकार नई दिल्ली। (सन् 1993-1998 ई. तक)

93) डॉ. बी.आर. आम्बेडकर, बाबा साहब डॉ. आम्बेडकर सम्पूर्ण वांङ्मय (खण्ड 15, 16 एवं 17) डॉ. आम्बेडकर प्रतिष्ठन सामाजिक न्यास एवं अधिकारिता मंत्रालय भारत-सरकार, नई दिल्ली (सन् 2000 ई.)

सहायक ग्रन्थ सूची-

1) इन्दुमती केलकर, लोहिया सिद्धान्त और कर्म, नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद (1963)

2) ओंकार शरद, लोहिया के विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (1969)

3) ओमप्रकाश दीपक, लोहिया एक असमाप्त जीवनी, समता अध्ययन न्यास (प्रकाशन विभाग) मुद्रित कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, 15वाँ रास्ता जयप्रकाश नगर, गोरेगाँव, बम्बई (1978)

4) डॉ. राजेन्द्र मोहन भटनागर, समग्र लोहिया, किताब-घर, नई दिल्ली (1982)

5) डॉ. कृष्ण नन्दन ठाकुर, डॉ. राममनोहर लोहिया के आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विचार, एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी लि., रामनगर, नई दिल्ली (1979)

6) गणेश मंत्री, मार्क्स, गाँधी और सामयिक संदर्भ, नेशनल पब्लिसिंग हाउस, 23 दरियागंज, नई दिल्ली (1983)

7) मधुलिमये, चौखम्भा राज्य : एक रूपरेखा, समता प्रकाशन, कलकत्ता (1973)

8) मधुलिमये, भारतीय राजनीति का नया मोड़, समता पुस्तक माला ए-45 न्यूफ्रेन्डस कॉलोनी, नई दिल्ली।

9) मधुलिमये, समस्याएं और विकल्प, समता पुस्तक माला, ए-45, न्यूफ्रेन्ड्स कॉलोनी, नई दिल्ली (1982)

10) मधुदण्डवते, गाँधी, लोहिया और दीनदयाल, दीनदयाल शोध संस्थान, स्वामी रामतीर्थ नगर, नई दिल्ली, 1978

11) भगवान सिंह, डॉ॰ राममनोहर लोहिया, समता प्रकाशन, बलिया (1972)

12) डॉ॰ यतीन्द्र शर्मा, डॉ॰ लोहिया का अर्थदर्शन, चित्रा प्रकाशन, शास्त्रीनगर, कानपुर-5 (1979)

13) विनोद प्रसाद सिंह एवं सुनील मिश्र, समाजवादी आन्दोलन के दस्तावेज, 1934-52 प्रतिपदा प्रकाशन सी.पी॰ 39, प्रीतमपुरा दिल्ली-34, (1985)

14) लक्ष्मीकान्त वर्मा, समाजवादी दर्शन एवं डॉ॰ लोहिया, सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ (1991)

15) लक्ष्मीकान्त वर्मा, समाजवादी आन्दोलन लोहिया के बाद, सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग (उ.प्र.), लखनऊ (1995)

16) ओंकार शरद, लोहिया (एक प्रमाणिक जीवनी), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (2001)

17) राजेन्द्रमोहन भटनागर, अवधूत लोहिया, शिवानी बुक्स, दरियागंज, नई दिल्ली (2003)

18) मस्तराम कपूर, वर्तमान सभ्यता का संकट और गाँधी लोहिया, लेखक मंच, 79 बी, पोकट-3, मयूर बिहार-1, दिल्ली- 110091 (1994)

19) अनिल कुमार, गाँधी और लोहिया और चिन्तन के स्तर पर जन॰ सितम्बर-अक्टूबर 1970, जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

20) ओमप्रकाश दीपक, 'नई सभ्यता का सपना', लोहिया बहुआयामी व्यक्तित्व, लोहिया स्मारिका समिति, सी-2, पार्क रोड, लखनऊ (1984)

21) कृष्णनाथ ठाकुर, गाँधी, लोहिया और सत्याग्रह, लोहिया बहुआयामी व्यक्तित्व, राममनोहर लोहिया स्मारिका समिति सी-2, पार्क रोड, लखनऊ (1984)

22) डॉ॰ कृष्णनन्दन, डॉ॰ लोहिया मानवतावादी राजनीति, कादम्बिनी, मार्च 1972 हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली।

23) कृष्णनाथ ठाकुर, भाषा का सवाल और न्यायालय जन॰ नवम्बर 1970 जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर, मधवापुर, इलाहाबाद।

24) दिनकर, 'स्वर्गीय लोहिया साहब' लोहिया बहुआयामी व्यक्तित्व, लोहिया स्मारिका समिति, सी-2, पार्क रोड, लखनऊ (1984)

25) निर्मल कुमार बौस, 'गाँधी और लोहया' जन॰ गाँधी शताब्दी अंक सितम्बर-अक्टूबर 1979, जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

26) मुख्तार थनीस, लोहिया की धार्मिक निरपेक्षता, रविवार मार्च 1985, आनन्द बाज़ार प्रकाशन 6 एवं 9 प्रफुल्ल सरकार स्ट्रीट, कलकत्ता।

27) मधुलिमये, लोहिया के बगैर भारत, रविवार मार्च, 1985 आनन्द बाज़ार प्रकाशन 6 एवं 9 प्रफुल्ल सरकार स्ट्रीट, कलकत्ता।

28) मधुलिमये, लोकसभा लोहिया के बिना, जन॰ दिसंम्बर 1967, जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

29) रामचन्द्र प्रधान, 'भारतीय राजनीतिक दल और विदेश नीति', जन॰ अगस्त 1969 जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

30) शिवप्रताप सिंह, 'लोहिया का सांस्कृतिक मानव, लोहिया बहुआयामी व्यक्तित्व लोहिया स्मारिका समिति, सी-2, पार्क रोड, लखनऊ (1984)

31) शक्तिप्रसाद पाण्डेय, 'सिविल नाफरमानी और लोहिया', जन॰ गाँधी शताब्दी अंक, सितम्बर-अक्टूबर 1969, जनेश्वर मिश्र, सरयू कुटीर मधवापुर, इलाहाबाद।

32) स्वराज्य कुमारी, नर और नारी एक राजनीतिक और सामाजिक समीक्षा, चौखम्भा दीपावली विशेषांक 1962, राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, बेगम बाज़ार हैदराबाद।

33) सोशलिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र, चौखम्भा चुनाव विशेषांक, फरवरी 1962 राममनोहर लोहिया, समता विद्यालय न्यास बेगम बाज़ार, हैदराबाद।

34) धनंजय कीर, डॉ॰ आम्बेडकर : लाइफ एण्ड मिशन, पापुलर प्रकाशन, बम्बई (1981)

35) विजय कुमार पुजारी, डॉ॰ बाबा साहेब आम्बेडकर : जीवन दर्शन, भारतीय बौद्ध महासभा दिल्ली प्रदेश, बुद्ध विहार, आम्बेडकर भवन, नई दिल्ली (1988)

36) डी.आर॰ निम, डॉ॰ आम्बेडकर : जीवन दर्शन, विद्या विहार कूचा दखनी राय दरियागंज, नई दिल्ली (1985)

37) मधुलिमये, बाबा साहब आम्बेडकर- एक चिंतन, आत्माराम एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली (1991)

38) डॉ॰ धर्मवीर, डॉ॰ आम्बेडकर एवं दलित आन्दोलन, शेष साहित्य प्रकाशन 30/40 गली नं.-8 विश्वास नगर, शाहदरा नई दिल्ली- 110032 (1990)

39) चन्द्रा मेरिल, सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज ऑफ डॉ॰ बी.आर॰ आम्बेडकर, आलेख पब्लिशर्स (1967)

40) डी.सी. अहिर, बुद्धिज्म एण्ड आम्बेडकर, अजय प्रकाशन, नई दिल्ली (1968)

41) जी.एस. लोखण्डे, भीमराव आम्बेडकर ए स्टडी इन सोशल डेमोक्रेसी, इन्टेलेक्चुअल पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली (1977)

42) डॉ. ज्ञानचन्द्र खिमेसरा, डॉ. आम्बेडकर का आर्थिक चिन्तन, मध्य-प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी रवीन्द्रनाथ ठाकुर मार्ग, भोपाल- 462002 (1995)

43) डॉ. रामगोपाल सिंह, डॉ. आम्बेडकर के सामाजिक विचार, मध्य-प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (1991)

44) डॉ. रामगोपाल सिंह, डॉ. आम्बेडकर का विचार दर्शन, मध्य-प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (2002)

45) डी.डी. राउत, नारी उत्थान आन्दोलन के अग्रगण्य दूत डॉ. आम्बेडकर, विधायनी 6(4) (1979)

46) डॉ. राजेन्द्र मोहन भटनागर, डॉ. आम्बेडकर : जीवन दर्शन किताब घर, नई दिल्ली।

47) डॉ. डी.आर. जाटव, द सोशल फिलासफी ऑफ डॉ. आम्बेडकर, बौद्ध साहित्य सम्मेलन, नई दिल्ली (1965)

48) एम.के. डोंगरे, इकोनॉमिक थॉट्स ऑफ डॉ. आम्बेडकर, आम्बेडकर समाज, नागपुर (1974)

49) हरिश्चन्द्र ऋषि, मानव अधिकारों के प्रबल पक्षधर डॉ. आम्बेडकर, विधायनी 6(4) (1989)

50) एम.ए. राजशेखरैया, एक विश्लेषण, द लीगेसी ऑफ डॉ. आम्बेडकर, बी.आर. पब्लिशर्स (1990)

51) डी.सी. अहिर, गाँधी एण्ड आम्बेडकर, अजय प्रकाशन, नई दिल्ली (1969)

52) डी.सी. अहिर, डॉ. आम्बेडकर एण्ड इण्डियन कॉन्स्टिटट्यूशन, बुद्ध विहार, लखनऊ (1972)

53) डी.सी. अहिर, द लीगेसी ऑफ डॉ. आम्बेडकर, बी.आर. पब्लिकेशन, नई दिल्ली (1990)

54) धनंजय कीर, डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर जीवन-चरित (अनुदित) गजानन सुर्वे, पाप्युलर प्रकाशन, नई दिल्ली (1996)

55) डब्लू.एन. कुबेर, डॉ. आम्बेडकर : ए क्रिटिकल स्टडी, पीपुल पब्लिशिंग हाउस, नई

दिल्ली (1979)

56) डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. आम्बेडकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, समता साहित्य सदन, जयपुर (1988)

57) डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. आम्बेडकर का समाज-दर्शन, समता साहित्य सदन, जयपुर (1990)

58) डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. बी.आर. आम्बेडकर का राजनीति-दर्शन, समता साहित्य सदन, जयपुर (1990)

59) डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. आम्बेडकर का विधि दर्शन, समता साहित्य सदन, जयपुर (1996)

60) डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. बी.आर. आम्बेडकर का नैतिक दर्शन, समता साहित्य सदन, जयपुर (1990)

61) डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. आम्बेडकर का धर्म-दर्शन, समता साहित्य सदन, जयपुर (1993)

62) डॉ. डी.आर. जाटव, राष्ट्रीय आन्दोलन में डॉ. आम्बेडकर की भूमिका, समता साहित्य सदन, जयपुर (1989)

63) डॉ. डी.आर. जाटव, विश्वधर्म और आम्बेडकर, सबलाइम पब्लिकेशन, जयपुर (2001)

64) डॉ. डी.आर. जाटव, डॉ. आम्बेडकर के आलोचक (एक प्रत्युत्तर),समता साहित्य सदन, जयपुर (1989)

65) डॉ. राजेन्द्र मोहन भटनागर, डॉ. आम्बेडकर चिंतन और विचार, जगतराम एण्ड संस गाँधी नगर, दिल्ली- 110031 (2002)

66) चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासु, बाबा साहेब के पन्द्रह व्याख्यान, बहुजन कल्याण प्रकाशन, लखनऊ (1980)

67) बी.डी. नागर (सम्पादक), सामाजिक न्याय के सजग प्रहरी, सेगमेन्ट, नई दिल्ली (1990)

68) पी.टी. बरोले, डॉ. आम्बेडकर एण्ड द कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, विश्निल प्रकाशन, पुणे (1989)

69) एल.आर. बाली, डॉ. आम्बेडकर और भारतीय संविधान, भीम पत्रिका प्रकाशन, जालंधर (1980)

70) डी.के. बैसन्त्री, डॉ. आम्बेडकर : इण्डियाज वार टाइम लेबर मिनिस्टर, भगवानदास (संपा) थाट्स ऑन डॉ. आम्बेडकर, भीम पत्रिका प्रकाशन, जालंधर।

71) डी.के. बैसन्त्री, आम्बेडकर : द टोटल रिबोल्यूशनरी, सेगमेन्ट, नई दिल्ली (1991)

72) भगवानदास (संक), दस स्पोक आम्बेडकर (खण्ड-1), बुद्धिस्ट पब्लिसिंग हाउस, जालंधर (1963)

73) भगवान दास, दस स्पोक आम्बेडकर (खण्ड-2) बुद्धिस्ट पब्लिशिंग हाउस, जालंधर (1968)

74) भगवानदास, दस स्पोक आम्बेडकर (खण्ड-3), बुद्धिस्ट पब्लिसिंग हाउस, जालंधर (1979)

75) भगवानदास, दस स्पोक आम्बेडकर (खण्ड-4) आम्बेडकर साहित्य प्रकाशन, बंगलौर (1980)

76) के.एस. भारती, फाउण्डेशन ऑफ आम्बेडकर थॉट, दत्त संस प्रकाशन, नई दिल्ली (1990)

77) बसंत मून, डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर (अनूदित) प्रशांत पाण्डे, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली (1991)

78) ए.एम. राजशेखरइय्या, डॉ. आम्बेडकर एण्ड पोलिटिकल मोबिलाइजेशन ऑफ द शिड्यूल कास्ट्स, विश्वनिल पब्लिशिंग, पुणे (1989)

79) ए.एम. राजशेखरइय्या, डॉ. आम्बेडकर : द क्वेस्ट फॉर सोशल जस्टिस, उप्पल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली (1989)

80) जगजीवनराम, भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली (1981)

81) एम.एल. सहारे, डॉ. भीमराव आम्बेडकर : हिज लाइफ एण्ड मिशन, नेशनल कौंसिल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग, नई दिल्ली (1987)

82) रामगोपाल सिंह, डॉ. आम्बेडकर का भारतीय सामाजिक संरचना का प्रारूप : एक विश्लेषण, विधायनी 6(4) (1989)

83) रामगोपाल सिंह, डॉ. आम्बेडकर : समाज वैज्ञानिक, मध्य-प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल (1922)

84) धनराज डाहाट, डॉ. आम्बेडकर और कश्मीर समस्या, (अनूदित) मोहनदास नैमिशराय,

संकेत प्रकाशन, 128, शिवाजी नगर, नागपुर- 10 (1997)

85) डॉ. म.ला. शहारे एवं डॉ. नलिनी अनिल, डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर की संघर्ष यात्रा एवं संदेश, सेगमेन्ट बुक्स, नई दिल्ली (1993)

86) सी.डी. नाईक, बौद्धवचन तथा आम्बेडकर विचार, क्लपाज पब्लिकेशन, दिल्ली-110052

87) डॉ. एल.जी. मेश्राम, 'विमलकीर्ति, बौद्ध धर्म के विकास में डॉ. बी.आर. आम्बेडकर का योगदान, संगीता प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली (2000)

88) गणेश मंत्री, गाँधी और आम्बेडकर, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली (1999)

89) डॉ. बी.एल. मेहरदा, डॉ. पचौरी एवं डॉ. रविप्रकाश मेहरदा, आम्बेडकर और सामाजिक न्याय, रावत पब्लिकेशन, जयपुर (1992)

90) राजेश गुप्ता, डॉ. आम्बेडकर और सामाजिक न्याय, मानक पब्लिकेशन्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली (1994)

91) भरतराम भट्ट, शिक्षामनस्वी आम्बेडकर, साहित्य केन्द्र प्रकाशन, कृष्णनगर, दिल्ली (1987)

92) डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन, गाँधी-आम्बेडकर, हरिजन-जनता, समता प्रकाशन, दिल्ली (1997)

93) शंकरानन्द शास्त्री, युगपुरुष बाबा साहेब डॉ. भीमराव आम्बेडकर, अमृत बुक कम्पनी, नई दिल्ली (1990)

विभिन्न पत्र एवं पत्रिकाएं-